जीवनसंगिनी गुणवंती को

विषय-सूची

विषय-सूची

प्रस्तावना

भारत अनेक वर्णों, वर्गों, धर्मों और भाषाओं का देश है। इसके बाह्य स्वरूप में नाना प्रकार की भिन्नताएँ और विचित्रताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। परन्तु इसका आभ्यंतर रूप एक एवम् अखंड है। इसकी सांस्कृतिक चेतना और रागात्मक भावना में पूर्ण अभिन्नता है। "भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओं में अभिव्यक्त एक ही विचार है।" इस सत्य का अनुसंधान करने की आकांक्षा विगत कुछ वर्षों से मेरे मन में जागी थी। सन् १६५७ में जब मैंने अपनी यह आकांक्षा श्रद्धेय गुरुवर डॉ० सोमनाथ जी गुप्त एम० ए० पी-एच० डी० के समक्ष प्रगट की तो उन्होंने इसका सहर्ष स्वागत किया और मुझे अपनी पी-एच० डी० की उपाधि के लिए इसी से सम्बन्धित 'हिन्दी और गुजराती नाट्य साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन' शीर्षक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने का आदेश दिया। डाक्टर साहब की आज्ञा शिरोधार्य कर मैं अनुसंधान कार्य में जुट गया। यह प्रबन्ध उसी का फल है।

प्रस्तुत प्रबंध हिन्दी गुजराती साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन का दूसरा प्रयास है। इसके पूर्व डॉ० जगदीश गुप्त का 'गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन' नामक शोधग्रंथ प्रकाशित हो चुका है। उसे ही आदर्श मानकर इस प्रबन्ध की रचना की गई है। मेरे शोध-कार्य में सर्वाधिक कठिनाई गुजराती नाटकों के अध्ययन में उपस्थित हुई। गुजराती में अब तक नाटक के उद्भव और विकास पर कोई प्रामाणिक ग्रंथ प्रणीत नहीं हुआ है। इधर-उधर कुछ फुटकर लेख ही उपलब्ध होते हैं। हिन्दी में नाटक साहित्य पर कई शोध-ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। दोनों भाषाओं के नाटकों की तुलना का यह प्रथम प्रयत्न है।

इस अध्ययन की काल-मर्यादा १६०० से १६६० ई० तक स्वीकार की गई है; परंतु प्रतिपाद्य विषय के सातत्य-निर्वाह तथा नाट्य विकास की अक्षुण्ण धारा के रेखांकन के निमित्त १६०० ई० के पूर्व के हिन्दी-गुजराती नाटकों की विवेचना करना आवश्यक एवम् अनिवार्य प्रतीत हुआ है। अतएव दोनों भाषाओं के समग्र नाट्य साहित्य के अध्ययन को इस प्रबन्ध में समाविष्ट करना पड़ा है। भारतेन्दु-नर्मद-युग के हिन्दी-गुजराती नाटकों का विवरण पूर्व-पीठिका के रूप में अंकित किया गया है। तदंतर दोनों भाषाओं के अन्य सभी नाटकों का तुलनात्मक विवेचन एवम् विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

प्रबंध का विषय अतिशय विस्तृत एवम् व्यापक है। विगत सौ वर्षों में हिन्दी और गुजराती में रचे गये नाटकों की संख्या बहुत ही अधिक है। इस प्रबन्ध में दोनों के समस्त नाटकों या नाटककारों पर विस्तारपूर्वक लिखने का अवकाश नहीं था। पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक इत्यादि आलोच्य नाट्य-विषयों में से प्रत्येक विषय पर गम्भीर एवम् व्यापक तुलनात्मक अध्ययन कर स्वतंत्र प्रबंध की रचना की जा सकती है। इसी प्रकार दोनों भाषाओं के एकांकी नाटक और नाटककार भी तुलनात्मक अध्ययन के विषय हैं। मैंने अपने इस प्रबन्ध में अनावश्यक विस्तार से बचते हुए दोनों भाषाओं के सभी महत्त्वपूर्ण नाटकों का अध्ययन

ने १८६७ मे और गुजराती म गणपतराम राजाराम भट्ट ने १८८३ मे नाट्य रचना की। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की गणपतराम राजाराम से उदयपुर मे प्रत्यक्ष भेंट हुई थी और भट्टजी ने अपना गुजराती 'प्रतापनाटक' उन्हे सुनाया था। भारतेन्दु ने उस नाटक स सम्बन्धित अपने हर्षोद्गार भट्टजी का पत्र द्वारा प्रेषित किये थे जो इस प्रबन्ध मे अन्यत्र अकित है। राधाकृष्णदास को 'महाराजाप्रतापसिंह' नाटक लिखने मे गणपतराम राजाराम भट्ट के गुजराती नाटक 'प्रताप' से भी बहुत कुछ सहायता मिली थी। इसका स्वीकार उन्होन अपने नाटक के निवेदन म किया है। दानो भाषा-प्रदेशो के साहित्यिक आदान प्रदान का यह एक सुन्दर उदाहरण है। दोना भाषाओ के मूर्द्धन्य ऐतिहासिक नाटककारो को विशाखदत्त प्रणीत 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक की खोज ने नाट्य-लेखन की ओर प्रवृत्त किया। महाकवि जयशकर-प्रसाद ने सन् १६३३ मे 'ध्रुवस्वामिनी' की और कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी ने सन्-१६२६ मे 'ध्रुवस्वामिनी देवी' की रचना की। यह कहना कि 'श्री कन्हैयालाल मुशी का 'ध्रुवस्वामिनी नाटक' प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी के सोलह वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुआ" ठीक नही है। दोनो भाषाओ के ऐतिहासिक धारा क नाटककारो मे जयशकरप्रसाद का स्थान अन्यतम है।

प्रस्तुत प्रबध का आठवाँ अध्याय सामाजिक नाटको से सम्बन्धित है। दोनो भाषाओ के समस्त नाटको मे अधिक सख्या सामाजिक नाटको की है। इसम कई प्रकार के नाटको का समावेश हुआ है। यथा समस्या प्रधान नाटक, प्रहसन, प्रेममूलक नाटक आदि। हिन्दी और गुजराती के सामाजिक नाटको की विषय वस्तु और शिल्प शैली मे अद्भुत समानता है। हिन्दी मे समस्या नाटकों के प्रारभकर्ता और पुरस्कर्ता लक्ष्मीनारायण मिश्र है। गुजराती मे उनकी तरह एक ही विषय—'सैक्स' को लेकर कई बहुअकी नाटक किसी ने नही लिखे। यहा रमणभाई नीलकठ कृत 'राईनो पर्वत' उत्कृष्ट नाटक के रूप मे विशेष उल्लेखनीय है।

नवें अध्याय मे उन सभी नाटको का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जो उपरिनिर्दिष्ट विषयो के अतर्गत समाविष्ट नही होते। जीवनीपरक और प्रतीकवादी नाटक भी इसी अध्याय मे विवेचित हैं।

दसवाँ अध्याय हिन्दी-गुजराती एकाकियो का है। दानो भाषाओ के सभी पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक एवम् अन्य विषयक एकाकियो का तुलनात्मक अध्ययन इस अध्याय मे प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी और गुजराती के गीति नाट्य और रेडियो नाटक भी इसी अध्याय के अतर्गत समीक्षित हैं

का गुजराती रूपान्तर "लक्ष्मी नाटक" (१८५१) है। इसके रूपान्तरकार कवि दलपतराम हैं। दोनो नाटकों के कथानक पौराणिक हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि गुजराती नाटक का जन्म हिन्दी नाटक से बारह वर्ष पूर्व हुआ। इस दृष्टि से गुजराती नाटक अग्रज है।

पाँचवा अध्याय नाटको के वर्गीकरण से सम्बन्धित है। नाटकों के विकासक्रम की दृष्टि से हिन्दी मे सर्वप्रथम भारतेन्दु युग आता है। तदतर द्विवेदीयुग, प्रसादयुग आदि का आगमन होता है। गुजराती मे नर्मदयुग से अर्वाचीन नाटको का प्रारम्भ होता है। उसके पश्चात् गोवर्धनयुग, गाँधीयुग आदि आते है। मेरा विचार आलोच्य दोनो भाषाओ के नाटको का उपर्युक्त युगो के आधार पर वर्गीकरण कर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का था। परन्तु अधिकाश नाटको का अध्ययन करने के बाद मुझे यह अनुभव हुआ कि हिन्दी और गुजराती के इस वर्गीकरण मे न रचनाकाल की दृष्टि से कोई समानता है और न हर युग की कृतियो एवम् कृतिकारो की प्रवृत्ति तथा प्रकृति मे ही साम्य है। विषय की दृष्टि से दोनो भाषाओ के इन नाटको का अध्ययन करने पर मुझे अनेक समानताएँ स्पष्टत दृष्टि-गत हुईं। अत मैंने आलोच्य नाटको का वर्गीकरण विषयो के आधार पर किया और उसी क्रम से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। वह वर्गीकरण इस प्रकार है—

(१) पौराणिक नाटक
(२) ऐतिहासिक नाटक
(३) सामाजिक नाटक
(४) अन्य विषयक नाटक

छठे अध्याय मे हिन्दी और गुजराती के समस्त पौराणिक नाटको का अध्ययन है। इसे विशेष विश्लेषणात्मक बनाने के निमित्त कथानको के आधार पर पौराणिक नाटको को तीन भागो मे विभक्त कर दिया है (१) रामकथाश्रित (२) कृष्णकथाश्रित और (३) अन्य कथाश्रित। इसी क्रम से समस्त हिन्दी और गुजराती के पौराणिक नाटको की विवेचना की गई है। यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा ने अधिकाश भारतीय भाषाओ के नाटककारो को आकृष्ट किया है। हिन्दी मे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का 'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८७५) और गुजराती में दीवान बहादुर रणछोड-भाई उदयराम का 'हरिश्चन्द्र नाटक' (१८७१) उपलब्ध होता है। भारतेन्दु का नाटक सस्कृत नाटक 'चडकौशिक' का और रणछोडभाई का नाटक एक तमिल नाटक के अग्रेजी अनुवाद का रूपातर है। गुजराती 'हरिश्चन्द्र' का प्रणयन हिन्दी नाटक से चार वर्ष पूर्व हुआ है। इसलिए डॉ० दशरथ ओझा का यह कथन कि "(भारत की) अन्य भाषाओ के नाटककारो ने इसकी (भारतेन्दु कृत 'सत्यहरिश्चन्द्र' की) अभिनेयता पर रीझकर अपनी-अपनी भाषाओ मे इसका रूपातर कर डाला" युक्तियुक्त प्रतीत नही होता। हरिश्चन्द्र सम्बन्धी गुजराती और बगला नाटक हिन्दी 'सत्य हरिश्चन्द्र' से पूर्व प्रणीत हुए। उनका शैली शिल्प भी स्वतन्त्र है। पौराणिक धारा मे राम और कृष्ण कथाश्रित हिन्दी नाटको की सख्या गुजराती से अधिक है। दोनो भाषाओ मे अन्य कथाश्रित नाटक काफी सख्या मे हैं। कन्हैयालाल मुशी के पौराणिक नाटक इस धारा मे विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं।

सातवें अध्याय मे हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओ के ऐतिहासिक नाटको का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। गुजराती की अपेक्षा हिन्दी म बहुत ही अधिक सख्या म ऐतिहासिक नाटक लिखे गए हैं। महाराणा प्रतापसिंह से सबधित हिन्दी म राधाकृष्णदास

प्रस्तुत किया है। उनकी समान प्रवृत्तियो और प्रेरणाओ का निर्देश किया है और असमानताओ का भी उल्लेख किया है। तदुपरात हिन्दी गुजराती के महत्त्वपूर्ण नाटककारो की विशिष्टताओ का स्वतत्र निरूपण भी किया गया है। ग्रन्थ के आकार-विस्तार के भय से कतिपय अत्यन्त सामान्य कोटि की महत्त्वहीन रचनाओ को छोड दिया है। यहाँ यह निवे न है कि इस प्रबन्ध मे मेरा विशेष ध्यान दोनो भाषाओ के आलोच्य नाटको की प्रमुख प्रवृत्तियो, समस्याओ और विकास रेखाओ का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने पर केन्द्रित रहा है। निर्णयो एव निष्कर्षों पर पहुँचने मे मैंने यथाशक्ति तटस्थ एवम् निस्सग रहने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत प्रबध ग्यारह अध्यायो मे विभाजित है।

पहला अध्याय नाटक की सैद्धान्तिक समीक्षा से सम्बन्धित है। इसम काव्य, काव्य के प्रकार दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य, दृश्य काव्य अर्थात् रूपक के भेद, नाटक, नाटक के लक्षण इत्यादि की मीमासा की गई है। फिर सस्कृत यूनानी, अग्रेजी आदि के नाट्य लक्षणों का इसलिए निरूपण किया गया है कि उनके आधार पर प्रस्तुत प्रबन्ध के नाट्य-साहित्य की समालोचना की जा सके।

दूसरे अध्याय मे "नाटक" के आद्यरूप 'लोकनाटक' का विवरण और विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। सर्वप्रथम अपभ्रश नाट्य परम्परा के 'रास', 'फागु' और 'चर्चरी' की शिल्प विधियो और लक्षणो की स्पष्टता करके उनसे सम्बन्धित आधुनिक लोकनाटको की व्याख्या की गई है। इसमे यह विशेष रूप से निर्देश किया गया है कि तेरहवी शती मे विरचित 'अपभ्रश रास' हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओ से सम्बन्धित हैं। यह रास परम्परा आज तक अक्षुण्ण रूपेण चली आ रही है। गुजरात म रास गरबे, राजस्थान के घुम्मर और रास तथा ब्रजभूमि के लीला नाटक इसी परम्परा मे अवशिष्ट रूप है। इसी अध्याय मे लोकनाटक और शिष्टनाटक का भेद भी स्पष्ट किया गया है। तदतर हिन्दी में लोकनाटक रामलीला, रासलीला तथा स्वाँग और गुजराती के लोकनाटक भवाई क विषय, शिल्प, शैली इत्यादि का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। अत मे कठपुतली, यात्रा, गभीरा, अकियानाट, तमाशा, यक्षगान आदि अन्य भारतीय लोकनाटको का सक्षिप्त परिचय दिया गया है।

तीसरा अध्याय ब्रजभाषा नाटको से सम्बन्धित है। इसमे सबसे पहले ऐतिहासिक पृष्ठभूमि दी गई है। भारत म अग्रेजी शासन के सुदृढ होने के पश्चात् १६ वी शती की हमारी राजनैतिक, सास्कृतिक और शैक्षणिक परिस्थितियो का अवलोकन कर इस नवीन वायुमडल मे दोनो भाषाओं के गद्य विकास की रूप रेखा इस अध्याय में अकित की गई है। इस अनुकूल स्थिति के कारण हिन्दी और गुजराती नाटको को पनपने का जो सुअवसर प्राप्त हुआ उसका सकेत करते हुए रीवाँ नरेश महाराजा विश्वनाथसिंह जी कृत 'आनद रघुनदन', भारतेन्दु के पिता गिरधरदास कृत 'नहुष' और काशी नरेशाश्रित कवि गणेशकृत प्रद्युम्नविजय' का सक्षेप मे परिचय दिया गया है। समस्त ब्रजभाषा नाटको के सामान्य लक्षणो का निर्देश कर इन 'लीलाशैली' के नाटकों को "आधुनिक हिन्दी नाटको के पूर्व रूप" माना गया है। यहाँ यह ज्ञात होता है कि गुजराती मे इस काल मे कोई साहित्यिक नाटक नही रचा गया। केवल 'भवाई वेशो' का ही प्रचार रहा।

चौथा अध्याय हिन्दी और गुजराती के आदि नाटको के तुलनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित है। खडी बोली हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनूदित 'शकुन्तला' नाटक (१८६३) है। गुजराती मे जो पहला नाटक उपलब्ध होता है वह एक यूनानी नाटक

का गुजराती रूपान्तर "लक्ष्मी नाटक" (१८५१) है। इसके रूपान्तरकार कवि दलपतराम है। दोनो नाटको के कथानक पौराणिक हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि गुजराती नाटक का जन्म हिन्दी नाटक से बारह वर्ष पूर्व हुआ। इस दृष्टि से गुजराती नाटक अग्रज है।

पाँचवा अध्याय नाटकों के वर्गीकरण से सम्बन्धित है। नाटको के विकासक्रम की दृष्टि से हिन्दी मे सर्वप्रथम भारतेन्दु युग आता है। तदतर द्विवेदीयुग, प्रसादयुग आदि का आगमन होता है। गुजराती मे नर्मदयुग से अर्वाचीन नाटको का प्रारम्भ होता है। उसके पश्चात् गोवर्धनयुग, गाँधीयुग आदि आते हैं। मेरा विचार आलोच्य दोनो भाषाओ के नाटको का उपर्युक्त युगो के आधार पर वर्गीकरण कर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का था। परन्तु अधिकाश नाटको का अध्ययन करने के बाद मुझे यह अनुभव हुआ कि हिन्दी और गुजराती के इन वर्गीकरण मे न रचनाकाल की दृष्टि से कोई समानता है और न हर युग की कृतियो एवम् कृतिकारो की प्रवृत्ति तथा प्रकृति मे ही साम्य है। विषय की दृष्टि से दोनो भाषाओ के इन नाटको का अध्ययन करने पर मुझे अनेक समानताएँ स्पष्टत दृष्टिगत हुईं। अत मैंने आलोच्य नाटको का वर्गीकरण विषयो के आधार पर किया और उसी क्रम से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। वह वर्गीकरण इस प्रकार है—

(१) पौराणिक नाटक
(२) ऐतिहासिक नाटक
(३) सामाजिक नाटक
(४) अन्य विषयक नाटक

छठे अध्याय मे हिन्दी और गुजराती के समस्त पौराणिक नाटको का अध्ययन है। इसे विशेष विश्लेषणात्मक बनाने के निमित्त कथानको के आधार पर पौराणिक नाटको को तीन भागो मे विभक्त कर दिया है (१) रामकथाश्रित (२) कृष्णकथाश्रित और (३) अन्य कथाश्रित। इसी क्रम से समस्त हिन्दी और गुजराती के पौराणिक नाटको की विवेचना की गई है। यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा ने अधिकाश भारतीय भाषाओ के नाटककारो को आकृष्ट किया है। हिन्दी मे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का 'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८७५) और गुजराती मे दीवान बहादुर रणछोडभाई उदयराम का 'हरिश्चन्द्र नाटक' (१८७१) उपलब्ध होता है। भारतेन्दु का नाटक सस्कृत नाटक 'चडकौशिक' का और रणछोडभाई का नाटक एक तमिल नाटक के अग्रेजी अनुवाद का रूपातर है। गुजराती 'हरिश्चन्द्र' का प्रणयन हिन्दी नाटक से चार वर्ष पूर्व हुआ है। इसलिए डॉ० दशरथ ओझा का यह कथन कि "(भारत की) अन्य भाषाओ के नाटककारो ने इसकी (भारतेन्दु कृत 'सत्यहरिश्चन्द्र' की) अभिनेयता पर रीझकर अपनी-अपनी भाषाओ मे इसका रूपातर कर डाला।" युक्तियुक्त प्रतीत नही होता। हरिश्चन्द्र सम्बन्धी गुजराती और बगला नाटक हिन्दी 'सत्य हरिश्चन्द्र' से पूर्व प्रणीत हुए। उनकी शैली शिल्प भी स्वतत्र है। पौराणिक धारा मे राम और कृष्ण कथाश्रित हिन्दी नाटको की सख्या गुजराती से अधिक है। दोनो भाषाओ मे अन्य कथाश्रित नाटक काफी सख्या में हैं। कन्हैयालाल मुशी के पौराणिक नाटक इस धारा मे विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं।

सातवें अध्याय मे हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओ के ऐतिहासिक नाटको का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। गुजराती की अपेक्षा हिन्दी मे बहुत ही अधिक सख्या मे ऐतिहासिक नाटक लिखे गए हैं। महाराणा प्रतापसिह से सबधित हिन्दी मे राधाकृष्णदास

ने १८६७ मे और गुजराती मे गणपतराम राजाराम भट्ट ने १८८३ मे नाट्य रचना की। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की गणपतराम राजाराम से उदयपुर मे प्रत्यक्ष भेंट हुई थी और भट्टजी ने अपना गुजराती 'प्रतापनाटक' उन्हें सुनाया था। भारतेन्दु ने उस नाटक स सम्बन्धित अपने हर्षोद्गार भट्टजी को पत्र द्वारा प्रेषित किये थे जो इस प्रबन्ध मे अन्यत्र अंकित है। राधाकृष्णदास को 'महाराजाप्रतापसिंह' नाटक लिखने मे गणपतराम राजाराम भट्ट के गुजराती नाटक 'प्रताप' से भी बहुत कुछ सहायता मिली थी। इसका स्वीकार उन्होंने अपने नाटक के निवेदन मे किया है। दोनो भाषा-प्रदेशो के साहित्यिक आदान प्रदान का यह एक सुन्दर उदाहरण है। दोनों भाषाओ के मूर्द्धन्य ऐतिहासिक नाटककारो को विशाखदत्त प्रणीत 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक की खोज ने नाट्य-लेखन की ओर प्रवृत्त किया। महाकवि जयशंकरप्रसाद ने सन् १९३३ मे 'ध्रुवस्वामिनी' की और कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने सन् १९२९ मे 'ध्रुवस्वामिनी देवी' की रचना की। यह कहना कि "श्री कन्हैयालाल मुंशी का 'ध्रुवस्वामिनी नाटक' प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी' के सोलह वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुआ" ठीक नही है। दोनो भाषाओ के ऐतिहासिक धारा के नाटककारो मे जयशंकरप्रसाद का स्थान अन्यतम है।

प्रस्तुत प्रबंध का आठवां अध्याय सामाजिक नाटको से सम्बन्धित है। दोनो भाषाओ के समस्त नाटको मे अधिक संख्या सामाजिक नाटको की है। इसमे कई प्रकार के नाटको का समावेश हुआ है। यथाः समस्या प्रधान नाटक, प्रहसन, प्रेममूलक नाटक आदि। हिन्दी और गुजराती के सामाजिक नाटको की विषय वस्तु और शिल्प शैली मे अद्भुत समानता है। हिन्दी मे समस्या नाटको के प्रारंभकर्ता और पुरस्कर्ता लक्ष्मीनारायण मिश्र है। गुजराती मे उनकी तरह एक ही विषय—'सेक्स' को लेकर कई बहुअंकी नाटक किसी ने नहीं लिखे। यहा रमणभाई नीलकंठ कृत 'राईनो पर्वत' उत्कृष्ट नाटक के रूप मे विशेष उल्लेखनीय है।

नवें अध्याय मे उन सभी नाटको का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जो उपरिनिर्दिष्ट विषयों के अंतर्गत समाविष्ट नही होते। जीवनीपरक और प्रतीकवादी नाटक भी इसी अध्याय मे विवेचित हैं।

दसवाँ अध्याय हिन्दी-गुजराती एकांकियो का है। दोनो भाषाओ के सभी पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक एवम् अन्य विषयक एकांकियो का तुलनात्मक अध्ययन इस अध्याय मे प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी और गुजराती के गीति-नाट्य और रेडियो नाटक भी इसी अध्याय के अंतर्गत समीक्षित हैं

ग्यारहवां अध्याय 'रंगमंच' से सम्बन्धित है। समस्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे बंगला का रंगमंच सबसे प्राचीन एवम् अत्यंत समृद्ध है। २७ नवम्बर १७९५ के रोज हेरेसिम लेबेडेफ नामक रूसी यात्री ने कलकत्ता में एक नाट्यगृह स्थापित कर बंगाली पुरुषो और स्त्रियो की सहायता से 'छद्मवेशी' नामक बंगला भाषा का नाटक खेला। तत्पश्चात् सन् १८५२ में कतिपय पारसी नवयुवको ने बबई मे अव्यावसायिक पारसी-गुजराती नाटक मंडलियो की स्थापना की और शौकिया तौर पर पश्चिमी ढग के अंग्रेजी के साथ पारसी मिश्रित गुजराती के भी नाटक खेलने शुरू किये। इसी प्रवृत्ति ने आगे जाकर अत्यंत व्यापक रूप ग्रहण किया और कई व्यावसायिक पारसी नाटक मंडलियाँ अस्तित्व मे आई। इस पारसी रंगमंच का संबंध पश्चिमी रंगमंच से है। यह वस्तुत. गुजराती रंगमंच है जिसका

प्रारंभ गुजराती भाषी पारसी सज्जनों ने किया । बंबई में इस पारसी-गुजराती रंगमंच पर हिन्दी-उर्दू नाटकों का सर्वप्रथम अभिनय १८७१ में प्रारंभ हुआ और कालान्तर में उसने अखिल भारतीय रूप ग्रहण किया । इसी पारसी गुजराती रंगमंच का इतिहास हिन्दी व्यावसायिक रंगमंच का इतिहास है । "हिन्दी का अपना कोई रंगमंच नहीं है ।"

लखनऊ में अमानत कृत 'इन्दर सभा' ने सन् १८५३ ई० में अपना विशिष्ट रंगमंच खड़ा किया जिसकी विशद विवेचना इसी अध्याय में की गई है । हिन्दी विद्वानों का यह कथन कि 'इन्दर सभा (१८५३) को देखकर बंबई के कतिपय उत्साही पारसी सज्जनों ने एक थियेट्रिकल कंपनी खोलने का संकल्प किया" युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता । वस्तुतः बंबई के यूरोपियन अफसरों के मनोरंजनार्थ खोले गये ड्रामेटिक क्लबों तथा परदेशों से आने वाली नाटक कंपनियों की देखादेखी पारसी युवकों ने १८५२ में शौकिया नाटक मंडलियाँ खोली थीं जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है । इस विषय से संबंधित प्रचुर प्रामाणिक सामग्री इस अध्याय में प्रस्तुत की गई है ।

हिन्दी नाट्य साहित्य के लगभग सभी शोध प्रबंधों में यह निर्देश है कि "पेस्तनजी फरामजी ने १८७० ई० के आसपास बंबई में 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कंपनी' नामक सबसे पहली पारसी नाटक मंडली खोली ।" यह स्थापना पुनः विचारणीय है । बंबई की सबसे पहली नाटक मंडली 'विक्टोरिया' थी जिसकी स्थापना सन् १८६७-६८ में हुई थी और जिसके मालिक थे दादाभाई रतनजी ठूठी और खुरशीद बालीवाला, मेरवानजी बालीवाला, पेस्तनजी फरामजी मादन आदि उसके अभिनेता थे । 'ओरिजिनल विक्टोरिया नाटक मंडली' (न कि ओरिजिनल थियेट्रिकल कंपनी) की स्थापना १८७४-७५ के आस-पास हुई थी । इस कंपनी के मालिक दादाभाई ठूठी के अवसान (१८७६) के पश्चात् पेस्तनजी फरामजी मादन इसके स्वामी बने थे । खुरशीद बालीवाला सन् १८८१ में (विक्टोरिया) के मालिक हुए ।

बंबई और गुजरात के पारसी-गुजराती अभिनेतागण, दिग्दर्शक, लेखक और कंपनियों के मालिक आदि से प्रत्यक्ष मिलकर पारसी-गुजराती और हिन्दी-उर्दू रंगमंच के बारे में जो साहित्य एकत्रित किया गया है वह सर्वथा मौलिक है । उसे सर्वप्रथम इस प्रबंध में प्रस्तुत किया गया है । संभवतः इस दिशा में यह पहला प्रयास है । बंबई, गुजरात और महाराष्ट्र में 'इन्दर सभा' की लोकप्रियता पर इसी अध्याय में प्रकाश डाला गया है । तदंतर हिन्दी और गुजराती के प्रमुख रंगमंचीय नाटक लेखकों का परिचय दिया गया है और पेशेवर और शौकिया नाटक मंडलियों की भी चर्चा की गई है । अंत में रंगमंचीय नाटकों की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए 'पृथ्वी थियेटर' का पुण्यस्मरण कर इस अध्याय की समाप्ति की गई है ।

'उपसंहार' में समस्त प्रबंध का सिंहावलोकन है । परिशिष्ट में गुजराती नाटकों में प्रयुक्त कुछ "हिन्दी" अंशों को प्रस्तुत किया गया है ।

इस प्रबंध को तैयार करने में मुझे सर्वाधिक सहायता अपने श्रद्धेय गुरुवर डॉ० सोमनाथ जी गुप्त से प्राप्त हुई है । उन्हीं की कृपा का यह फल है । उन्होंने सर्वत्र मेरा मार्ग-प्रदर्शन किया है । जयपुर का उनका व्यक्तिगत पुस्तकालय तो मेरा अपना निजी पुस्तकालय ही बन गया था । मैं किन शब्दों में उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करूँ ? उनके ऋण से उऋण होना मेरे लिए कदापि संभव नहीं है । 'रंगमंच' शीर्षक अध्याय के लिए नटाचार्य श्री जयशंकरभाई 'सुंदरी', श्री जनवंतभाई ठाकर, श्री मूलजीभाई शाह तथा श्री रमणिक-

लालभाई दलाल का विशेष आभारी हूँ। अपने शोधकार्य मे मुझे श्री उमाशकर जोशी, श्री रसिकलाल छोटालाल पारीख, श्री रा० व० आठवले, श्री एफ० सी० दावर, श्री मसीहुज्जमाँ आदि अनेक विद्वानो का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इसके लिए मैं उनके प्रति अत करण से अपनी कृतज्ञता प्रगट करता हूँ।

गुजरात विद्यासभा पुस्तकालय, गुजरात विद्यापीठ पुस्तकालय, माणिकलाल जेठालाल पुस्तकालय, गुजरात विद्यापीठ कापी राइट विभाग, एल० डी० आर्ट्‌स कॉलिज लायब्रेरी आदि के पुस्तकाध्यक्षो के प्रति यहाँ आभार प्रदर्शन करता हूँ जिन्होने मुझे अप्राप्य एवम् अमूल्य पुस्तकें देकर मेरी सहायता की। यदि उनकी कृपा प्राप्त नही होती तो यह प्रबध समाप्त नही हो पाता। अत मे उन सभी महानुभावो का हृदय से उपकार मानता हूँ जिन्होने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मुझे सहयोग प्रदान करने की कृपा की है।

—रणधीर उपाध्याय

पहला अध्याय

नाटक की सैद्धान्तिक समीक्षा

काव्य

समस्त चराचर जगत् मे मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसमे सत् असत् का विवेक रहता है। उसमे मनन करने की क्षमता है। 'मनन करे वही मनुष्य।' 'मनुष्य' शब्द मे ही मनन की क्रिया निहित है। इस विवेकशील, प्रज्ञावान् मनुष्य को हमारे मनीषियो ने सर्वश्रेष्ठ प्राणी उद्घोषित किया है "न मानुषात् श्रेष्ठतरम् हि किञ्चित्।" मनुष्य मस्तिष्क एव हृदय से सयुक्त है। अपने मस्तिष्क की उर्वरा शक्ति द्वारा मानव ने ज्ञान विज्ञान के विविध विषयो का आविष्कार किया। उन्हे लिपिबद्ध किया। ज्ञान विज्ञान की सभी शाखाओ से सम्बन्धित साहित्य को 'ज्ञानलक्षी साहित्य' कहते है। यहाँ 'साहित्य' शब्द बडे ही व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। इस साहित्य का कार्य मानव को शिक्षा देना, ज्ञान देना और विविध विषयो से परिचित कराना है। इसम स्थूल उपयोगितावादी दृष्टि है। हृदय के कोमल भावो की कलात्मक अभिव्यक्ति भावलक्षी साहित्य के अन्तर्गत आती है। भावलक्षी साहित्य का उद्देश्य अलौकिक आनन्द की उपलब्धि कराना है। यह भौतिक लाभालाभ के परे की वस्तु है। प्रसिद्ध पाश्चात्य समीक्षक द क्विन्सी (De Quincey) का उल्लेख करते हुए आर० ए० स्कोट जेम्स ने अपने समीक्षा ग्रथ (The Making of Literature) में साहित्य के दो विभाग किये है ज्ञानलक्षी साहित्य और भावलक्षी साहित्य[१]। ज्ञानलक्षी साहित्य के अन्तर्गत दर्शन, धर्मशास्त्र, विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास, जीवनचरित्र, आदि कई विषयो के ग्रथ सम्मिलित किय जाते है। हमारा जिस साहित्य से सम्बन्ध है वह भावलक्षी साहित्य है। इसी भावलक्षी साहित्य के विशिष्ट अर्थ मे 'साहित्य' शब्द का प्रयोग यहाँ किया गया है। इसी साहित्य को द क्विन्सी "Literature" कहता है। हमारा भी इसी साहित्य (Literature) से सम्बन्ध है।

'साहित्य' शब्द सस्कृत के 'सहित' शब्द से बना है जिसका अर्थ है 'साथ-साथ'। सहित रहने का भाव 'साहित्य' शब्द म निहित है सहितस्य भाव साहित्यम्। अलकार

---

१ The main distinction is that laid down by De Quincey between the 'Literature of Knowledge' and the 'Literature of Power' the function of the first being to teach, the function of the second to move

All that is literature seeks to communicate power, all that is not literature to communicate knowledge

—'The Making of Literature' R. A Scott James, Ed 1946, P 22

शास्त्र मे शब्द और अर्थ के साथ-साथ रहने के भाव को 'साहित्य' कहा है। कुतक ने अपने ग्रंथ 'वक्रोक्तिजीवितम्' मे कहा है—

साहित्यमनयो॰ शोभाशालिता प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थिति ॥१ : १७॥

अर्थात् जिसमे शब्द और अर्थ, दोनो की न्यूनता और आधिक्य से रहित, परस्पर स्पर्द्धापूर्वक मनोहारिणी, श्लाघनीय स्थिति हो वह 'साहित्य' है।[४]

भामह ने 'काव्यालकार' मे 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (१ १६) कहकर काव्य की वही परिभाषा दी है जो साहित्य की है। सस्कृत मे साहित्य और काव्य शब्द बहुधा समान अर्थ मे प्रयुक्त हुए है। भर्तृहरि के प्रसिद्ध श्लोक "साहित्य सगीत कला विहीन " मे 'साहित्य' को काव्य का ही समानार्थक शब्द माना है। 'साहित्यदर्पण', 'काव्यप्रकाश' आदि ग्रथो के नामो से भी इस बात की पुष्टि होती है। डा० भगवानदास न अपने 'रस-मीमासा' मे एक स्थान पर उल्लेख किया है कि "बिना विशेषण के 'साहित्य' शब्द जब कहा जाता है तब प्राय उसका अर्थ 'काव्य साहित्य' ही समझा जाता है।"[१] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'साहित्य' शब्द 'काव्य' का ही बोधक है।

काव्य मे शब्द और अर्थ सपृक्त रहते है। परन्तु ऐसा कोई सार्थक वाक्य हो ही नही सकता जिसमे शब्द और अर्थ साथ-साथ न हो। सभी वाक्यो को काव्य नही कहा जा सकता। इसीलिए भामह[२] और मम्मट[३] की केवल शब्दार्थ के समवाय रूप-काव्य की परिभाषा की आलोचना करते हुए 'रसगगाधरकार' पडित जगन्नाथ ने उस रचना को काव्य माना है जिसमे रमणीयता उत्पन्न करने मे शब्द और अर्थ एक-दूसरे से स्पर्द्धा करते हुए साथ-साथ आगे बढ़ें।[४] कालिदास ने इसी शब्द और अर्थ के सयोग की तुलना पार्वती और परमेश्वर के सयोग के साथ की है

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगत पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥[१]

और आत्मा, शब्द और अर्थ यहां-वहां, सर्वत्र सुदृढ रूप से साथ-साथ चलते हैं।[१] कविता उत्तमोत्तम शब्दो का उत्तमोत्तम क्रम-विधान है।[२] इस प्रकार काव्य की परिभाषा देते हुए कौलरिज ने अभिव्यक्ति तत्त्व को प्रधानता दी है।

संस्कृत साहित्य में साहित्य की आत्मा का उद्घाटन करने के लिए अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि आदि संप्रदाय सचेष्ट रहे पर साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने संस्कृत के इन सभी सम्प्रदायो के काव्यलक्षणो का सार लेकर अतिव्याप्ति दोष से बचकर यह कहा है कि 'रसात्मक वाक्य काव्य' है।[३] अग्निपुराण भी रस को काव्य की आत्मा मानता है।[४] भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र मे रस को ही काव्य का आत्मतत्त्व माना है और रस की विशद विवेचना प्रस्तुत की है। 'रस' आनन्दरूप है। रसानुभूति आनन्दानुभूति है। काव्य के पढने, सुनने या उसका अभिनय देखने पर विभावादि के सयोग से निष्पन्न होने वाली आनन्दात्मक चित्तवृत्ति ही रस है। यह रस अखंड एवं अलौकिक है। इसीलिए रसानन्दन को ब्रह्मानंद-सहोदर कहा है। "रसो वै स." कहकर तैत्तिरीय उपनिषद् मे ब्रह्म को ही आनन्द या रस-रूप माना है। रसोपलब्धि—आनन्दोपलब्धि ही काव्य का प्रयोजन है। जिन स्थायी भावों के भार से मनुष्य-जाति संत्रस्त रहती है, कवि उन्हीं भावो को अपने काव्य द्वारा भावक, प्रमाता के लिए आस्वाद्य बनाता है। साधारणीकृत होकर कवि संविद भावक सविद बनता है।[५] रस का अस्तित्व भावक मे ही है। कवि में भी भावक विद्यमान है। कवि त्रासदायी स्थायी भावो को रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया द्वारा आनन्दरूप बनाता है। इसलिए युगों से मानव-जाति कवि की पूजा करती चली आ रही है। कवि क्रान्तदर्शी होता है : "कवय: क्रान्तदर्शिन."। उसकी सवेदन-शक्ति इतनी पैनी होती है कि वह आगत के साथ अनागत को भी दूर से ही परख लेता है। कवि की अनुभूतियों में जीवन का रस और उसकी अभिव्यंजना में स्वानुभूत सौन्दर्य की आत्मा रहती है। इसीलिए तो कवि अमिट सौन्दर्य की सृष्टि करता है। यही अमिट सौन्दर्य काव्य को अमरता प्रदान करता है। 'उत्तररामचरित' के प्रारम्भ मे भवभूति प्रार्थना करते है—'अमृत-स्वरूप आत्मा की कला वाग्देवी को हम प्राप्त करें।' [वन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्।[६]] यहां काव्य की अमरता को दृष्टि-समक्ष रखकर काव्य को 'आत्मा की कला' कहा है। आचार्य आनंदशंकर बापुभाई ध्रुव भी काव्य को 'आत्मा की अमर कला' कहते हैं।[७] आत्मा की यह अमर कला हमे अपने क्षुद्र स्वार्थों से मुक्त कर प्राणिमात्र के दुःख-सुख, राग-विराग, आह्लाद-आमोद को अपनाने की चेतना प्रदान करती है। हम प्राणिमात्र के साथ आत्मीयता का भाव अनुभव करने लगते हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ठीक ही कहते है कि "साहित्य-साधना निखिल विश्व के साथ 'एकत्व' की साधना है।"

---

१. For body and soul, word and idea go strongly together here and everywhere. —Carlyle.

२. Poetry is the best words in the best order. — Colridge.

३. वाक्यं रसात्मकं काव्यम् —'साहित्यदर्पण'

४. वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस रूपात्र जीवितम् —'अग्निपुराण', प्रथम अध्याय, ३३वां श्लोक

५. 'कविकर्म' लेख 'हिन्दी अनुशीलन': धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, अंक १-२ (जनवरी-जून) वर्ष १३, (ले० उमाशंकर जोशी) पृ० ३२१।

६. 'उत्तररामचरितम्' प्रथमोऽङ्क, श्लोक १।

७. काव्यतत्त्व विचार—१९३९ की आवृत्ति, पृ० ५।

पश्चिमी लेखकों ने भी काव्य की परिभाषा देते समय भावतत्त्व पर अवश्य प्रकाश डाला है। वर्ड्स्वर्थ ने 'भाव' को प्रधानता देते हुए लिखा है कि काव्य शांति के समय में स्मरण किए हुए प्रबल मनोवेगों का स्वच्छंद प्रवाह है।[१] एडगर एलन पो ने काव्य को सौन्दर्य की लयात्मक सृष्टि कहा है,[२] जबकि स्कोट जेम्स ने आनन्द प्रदान करना ही कवि-कर्म माना है।[३] इस प्रकार काव्यगत आनन्द को भाव, सौन्दर्य आदि तत्त्वों के आधार पर पूर्व और पश्चिम दोनों ने समान रूप से स्वीकार किया है, अन्तर उनकी व्याख्या और व्याप्ति में है।

काव्य के प्रकार : श्रव्य और दृश्य

काव्य के अनेक प्रकारों का वर्णन संस्कृत अलंकारशास्त्र में मिलता है। इन्द्रियों की मध्यस्थता के विचार से काव्य के दो भेद किये जाते हैं : श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य। श्रव्य काव्य वह है जिसका आनन्द श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से प्राप्त किया जाता है। दृश्य काव्य में प्रधानतः नेत्र-पथ से सामाजिक के हृदय में रस का संचार होता है। रूपक, नाटक आदि दृश्य काव्य हैं।

श्रव्य काव्य

श्रव्य का अर्थ है सुनने योग्य। जिस काव्य का हम कानों से सुनकर आनन्द उठाते हैं वह है **श्रव्य काव्य**। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने श्रव्य काव्य की इस प्रकार परिभाषा दी है : जो केवल सुने जा सकें वे—गद्य और पद्यमय प्रकार—श्रव्य काव्य है।[४] लिपि-संकेतों एवं मुद्रण-यन्त्रों के आविष्कार के पूर्व तो समस्त साहित्य कंठस्थ ही रहता था। वक्ता उसे बोलता था और श्रोता सुनकर उसका अर्थ समझता था और आनन्द उठाता था। लेखन और मुद्रण की सुविधा के पश्चात् श्रव्य काव्य सबके लिए पाठ्य भी बन गया। फिर भी श्रव्य काव्य की लोकप्रियता एवं सार्थकता कम नहीं हुई है।

श्रव्य काव्य के प्रमुख भेद

गद्य : पद्य—काव्य के और भी कई भेद हैं जो श्रव्य काव्य के अन्तर्गत आते हैं। शैली की दृष्टि से श्रव्य काव्य के गद्य, पद्य और चम्पू ये तीन विभाग किये जाते हैं। छन्दोविहीन रचना 'गद्य' तथा छन्दोबद्ध रचना 'पद्य' कहलाती है। जिस काव्य में गद्य तथा पद्य का मिश्रण रहता है उसे चम्पू काव्य कहते हैं। काव्य की इस विधा का उल्लेख साहित्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों—भामह, दंडी, वामन आदि ने नहीं किया है। यों गद्य-पद्यमय शैली का

---

१ Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotions recollected in tranquility.

—Wordsworth

२ It (poetry) is the rhythmic creation of beauty.

—Edgar Allan Poe

३ 'It is the business of the poet, as a poet to cause delight.

—'The Making of Literature' Scott James, P. 141

४ श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ॥

—साहित्यदर्पण ६।३१३

प्रयोग वैदिक साहित्य, बौद्ध जातक आदि अति प्राचीन साहित्य-ग्रंथो मे मिलता है। दसवी शताब्दी के प्रसिद्ध चम्पू ग्रंथ 'नल चम्पू' (त्रिविक्रम भट्ट) से चम्पू काव्य-परम्परा का दर्शन होता है। परन्तु यह काव्य-प्रकार आज तक लोकप्रिय नहीं बन सका।

गद्य—संस्कृत आलकारिकों ने गद्यकाव्य के दो मुख्य प्रकार माने है—कथा और आख्यायिका। इनकी स्वतन्त्र विशेषताओं के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। जो भी हो, प्राचीन काल मे गद्य की रचना पद्य-रचना से भी कठिन मानी जाती थी। गद्य कवियो की शक्ति की कसौटी मानी जाती है।[1]

संस्कृत मे इन दोनों प्रकारो की रचनाएँ प्रस्तुत करने का श्रेय महाकवि बाण भट्ट को ही है। इन्होंने 'कादम्बरी' को 'अतिद्वयी कथा' और हर्षचरित को आख्यायिका' नाम से सम्बोधित किया है। 'कादम्बरी' एक प्राचीन दन्तकथा पर आधृत है। और 'हर्ष-चरित' इतिहास-प्रसिद्ध चरित है। संस्कृत साहित्य मे मुद्रण-यन्त्र की सुविधा के अभाव मे पद्य-विधा की प्रधानता रही। आधुनिक वैज्ञानिक युग मे सभी भाषाओं मे गद्य ने अत्यन्त लोक-प्रियता प्राप्त की है। नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना, जीवनचरित्र आदि इसके महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

पद्य—साहित्य क्षेत्र मे पद्य का प्रचलन गद्य से पहले हुआ। संसार का सारा पुराना साहित्य पद्य मे है। कंठस्थ करने की सरलता के कारण संस्कृत के सभी शास्त्र और काव्य-ग्रंथ पद्य में हैं। बन्ध की दृष्टि से पद्यकाव्य के दो भेद है प्रबन्ध और मुक्तक।

प्रबन्धकाव्य पद्यबद्ध तथा सर्गबद्ध कथात्मक काव्य होता है, पर कुछ प्रबन्धकाव्य सर्गों या अध्यायों मे विभक्त नही भी होते। प्रबन्धकाव्य अपनी अलंकृत शैली और रसात्मक घटनाओं के कारण कथाकाव्य के अधिक निकट है।[2] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्धकाव्य के सम्बन्ध मे लिखा है कि "प्रबन्धकाव्य मे मानव-जीवन का पूर्ण दृश्य होता है। उसमे घट-नाओं की सम्बन्ध-शृंखला और स्वाभाविक क्रम के ठीक-ठीक निर्वाह के साथ हृदय को स्पर्श करने वाले—उसे नाना भावो का रसात्मक अनुभव कराने वाले—प्रसंगो का समावेश होना चाहिए। इतिवृत्त मात्र के निर्वाह से रसानुभव नही कराया जा सकता।"[3] प्रबन्धकाव्य के दो भेद है—महाकाव्य और खण्डकाव्य। प्रबन्धहीन, स्फुट कविताएँ मुक्तक के अन्तर्गत आती हैं। वे अपने आप मे सम्पूर्ण या अन्य निरपेक्ष होती हैं। वे अनिबद्ध होती हैं। अंग्रेजी मे इन्हे लिरिक्स (Lyrics) कहते हैं। मुक्तकों में कुछ तो पाठ्य होते हैं और कुछ गेय। गेय को गीत भी कहते हैं। हमारे सन्तो के पद मुक्तको मे परिगणित होते हैं।

दृश्य काव्य

भोजदेव ने दृश्य काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है "दृश्य काव्य वह है जो अभिनेताओं द्वारा कथित, वाचिक आदि (अभिनयों) द्वारा निःसृत और आंगिक अभिनय से सम्पन्न होता है।"[4]

---

१. गद्य कवीनां निकषं वदन्ति—प्रसिद्धि।

२. 'हिन्दी साहित्य कोश'—प्रकाशक ज्ञानमण्डल लि० वाराणसी-१, प्र० सं०, संवत् २०१८, पृ० ४७७।

३. जायसी ग्रन्थावली, प्रथम संस्करण का वक्तव्य, पृ० ६७।

४. यदाङ्गिकैकनिर्वर्त्यमुज्झित्वा वाचिकादिभिः।
नर्तकैरभिधीयेत प्रेक्षणार्थ्वेटिकादि तत्॥ —सरस्वती कंठाभरणम् २।१४२

दृश्य काव्य के रसास्वाद का प्रधान माध्यम तो नेत्रेन्द्रिय ही है, परन्तु प्रदर्शन की प्रधानता के कारण दृश्य काव्य मे नेत्र और श्रवण दोनो के द्वारा सहृदय काव्यानन्द प्राप्त करता है। नेत्रो से अभिनय देखता है और कानो से सवाद सुनता है। इस प्रकार इसमे दोनो प्रमुख ज्ञानेन्द्रियो को आनन्द ग्रहण करने का समान रूप से अवसर मिलता है। श्रव्य काव्य की अपेक्षा, जिसमे केवल कर्णेन्द्रिय द्वारा आनन्दोपलब्धि होती है, दृश्य काव्य मे दो इन्द्रियों के माध्यम के कारण सामाजिक पर विशेष प्रभाव पडता है। सदैव मूर्त वस्तु सूक्ष्म से अधिक प्रभावोत्पादक होती है। दृश्य काव्य स्थूल एव प्रत्यक्ष होने के कारण उसका आस्वादन करने मे बालक, वृद्ध एव शिक्षित-अशिक्षित सभी को सुविधा रहती है, क्योकि इसमे दो माध्यम होने के कारण दर्शक की कल्पना पर कम बल पडता है और चलते-फिरते हाड-मास-चाम के भाव-भगिमामय पात्रो के क्रिया-कलापो का यथार्थ जगत् से सर्वथा सबध होने के कारण वह उपभोग्य बनता है। दृश्य काव्य सर्वसाधारण की वस्तु है। इसका प्रधान अग अभिनेयता है। अतः यह अन्य काव्य-भेदो से अधिक रोचक, अधिक रम्य और अधिक मनोज्ञ माना गया है।

रूपक—दृश्य काव्य को 'रूपक' भी कहते हैं।[1] व्याकरणानुसार 'रूप' धातु मे 'ण्वुल' प्रत्यय जोडने से 'रूपक' शब्द की व्युत्पत्ति होती है। सस्कृत-वाङ्मय मे 'रूपक' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों मे हुआ है

(१) 'रूपक' एक अलकार का नाम है।

(२) ध्रुवताल को सगीतशास्त्र मे 'रूपक' कहते है।

(३) 'रूपक' एक काव्य-प्रकार है जो 'रूपक-काव्य' के नाम से अभिहित है और जिसे अग्रेजी मे एलेगरी (Allegory) कहते है।

(४) रूपक का यह चौथा प्रयोग दृश्य काव्य के अर्थ को प्रकट करता है। यहाँ रूपक का अर्थ है—'रूपक का आरोप'। रूपक मे आगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक अभिनयो द्वारा अवस्था का अनुकरण होता है। दृश्य तत्राभिनेय स्याद्रूपारोपात्तु रूपकम्—साहित्यदर्पण। 'भरत-कोश' मे रूपक का विवेचन करते समय रूपक के दो प्रकार बताये गये हैं—नाट्य रूप और नृत्त रूप 'रूपकम् द्विविध नाट्यरूपेण नृत्तगीतरूपेणेति।' अर्थात् 'नाट्य' रूपक का एक प्रकार है जो नटो द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। 'नटैर्यत्प्रदर्श्यते तन्नाट्यम्।' सामान्यत 'रूपक' और 'नाट्य' दोनो शब्द पर्यायवाची माने जाते हैं, किन्तु उपर्युक्त विवेचन से यह फलित होता है कि 'नाट्य' और 'रूपक' मे सूक्ष्म अन्तर है। नाट्य मे अवस्थाओ की अनुकृति का प्रधानता दी जाती है। 'अवस्थानुकृति नाट्यम्।' रूपक मे अवस्थाओ की अनुकृति के साथ-साथ रूप का आरोप भी आवश्यक है अर्थात् 'अवस्थानुकृति और रूपानुकृति का मिश्रित रूप 'रूपक' है।

श्री डोलरराय माकड ने नाट्य और रूपक का इस प्रकार अन्तर स्पष्ट किया है 'नाट्य' मे नट किसी भाव की अनुभूति प्राप्त करता है और उसे अभिनय द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित करता है कि प्रेक्षक भी उससे तादात्म्य स्थापित कर उसी भाव का अनुभव करने लगता है।[2]

---

१. 'हिन्दी साहित्य कोश' पृ० ३३६ और 'रूपक रहस्य' डॉ० श्यामसुन्दर दास, तृतीय सस्करण, २००३ वि० स०, पृ० २

२ In 'नाट्य' the dancer experiences an emotion and so interprets it in acting that even the spectator looses his identity and feels that emotion

—The Types of Sanskrit Drama. D. R Mankad, 1936 Ed, P 33

यह कला अधिकांशतः परलक्षी है, किन्तु अंशतः आत्मलक्षी भी ।[1]

रूपक में नाट्याभिनय तो होता ही है, तदुपरांत वेशभूषा आदि द्वारा नट अनुकार्य का रूप भी प्रस्तुत करता है ।[2]

यह कला पूर्णतः परलक्षी कला है ।[3]

जब अभिनय एवं नृत्य का गीत एवं कथन से संयोग होता है तब रूपक का सम्पूर्ण रूप प्रत्यक्ष होता है । इसमें किसी पात्र का रूप लेकर नट उसके क्रिया-कलापों का मंच पर प्रदर्शन करता है, जिससे सामाजिक रसानुभूति प्राप्त करता है । सभी प्रकार के नाटक 'रूपक' हैं । अतः 'रूपक' शब्द 'नाट्य' से अधिक व्यापक है ।

दृश्य काव्य के दो भेद हैं : रूपक और उपरूपक । रस पर आधृत दृश्य काव्य रूपक कहलाते हैं और नृत्य, नृत्त आदि पर आधृत उपरूपक ।

संस्कृत नाट्यशास्त्र में रूपकों की संख्या के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है । किन्तु नाट्यशास्त्र और दशरूपक में वर्णित रूपकों के दस भेद प्रायः सभी को मान्य हैं । दशरूपक-कार ने रस के आश्रय पर रूपक के दस भेद किए हैं—

रूपकम् तत्समारोपात्, दशधैव रसाश्रयम्—दशरूपकम् ॥ १।७ ॥

रूपक के ये दस भेद निम्नांकित हैं —

(१) नाटक (२) प्रकरण (३) भाण (४) व्यायोग (५) समवकार (६) डिम (७) ईहामृग (८) अंक (९) वीथी (१०) प्रहसन ।

इन दशरूपकों में सर्वप्रमुख 'नाटक' है क्योंकि प्रकरणादि अन्य रूपकों के लक्षण नाटक के आधार पर ही निर्धारित किये गये हैं । इसके अतिरिक्त रूपक के प्राणभूत तत्त्व रस की पूर्ण प्रतिष्ठा भी इसी में पाई जाती है । रसनिष्पत्ति ही नाटक का लक्ष्य है । इस महान लक्ष्य के कारण नाटक को सर्वोपरिता प्रदान की गई है । आजकल रूपक के सभी प्रकारों के लिए 'नाटक' शब्द का प्रयोग होता है । नाटक और रूपक अब पर्यायवाची बन गये हैं ।

रूपकों की तुलना में उपरूपकों का अति अल्प महत्त्व आंका गया है । उपरूपकों का उल्लेख प्रारम्भिक नाट्याचार्यों ने कहीं नहीं किया । भरत के 'नाट्यशास्त्र' में भी उपरूपकों का उल्लेख नहीं मिलता । धनंजय ने भी 'दशरूपकम्' नामक अपने ग्रन्थ में उपरूपकों को कोई महत्त्व नहीं दिया । 'अग्निपुराण' में यद्यपि सर्वप्रथम १७ उपरूपकों के नाम प्राप्त होते हैं, किन्तु न तो उन्हें उपरूपक कहा गया है, न उनके लक्षण दिये गये हैं । आज जो १८ उप-रूपक सर्वमान्य बन गये हैं उनके नाम एवं लक्षण विश्वनाथकृत 'साहित्यदर्पण' में विस्तार से प्राप्त होते हैं । वे ये हैं :—

नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीस और

---

१. Here the art is mostly objective, but only partially subjective.
—Ibid, P. 33

२. This process (रूपक) includes the whole of the नाट्य process and adds to it the element of giving visibility to the part played by him by means of dress etc. —Ibid, P. 34.

३ This, therefore, is completely an objective art.
—Ibid, Foot Note 15, P. 34.

भाणिका। इन उपरूपको के प्रबन्ध नृत्य पर अवलम्बित रहते है और ये मच पर भाव-विशेष प्रदर्शित कर सदा ही प्रेक्षको के लिए प्रेक्षणीय एवं प्रिय बने रहे हैं।

नाटक :

'नाटक' और 'नाट्य' इन दोनो शब्दो मे प्रत्यय-भेद के अतिरिक्त और कोई अन्तर नही है। 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि के मतानुसार 'नट्' धातु से हुई है।[1] रामचन्द्र गुणचन्द्र इसे 'नाट्' धातु से व्युत्पन्न मानते है।[2] परन्तु यह मत सर्वमान्य नही है। पाणिनि के मत को अधिकाश विद्वानो ने स्वीकार किया है। 'नट्' धातु के साथ अन्य धातु 'नृत्' है जिसका अर्थ है 'अगो को फेकना, फैलाना।' इसी 'नृत्' धातु के विकसित रूप है, 'नृत्त' 'नृत्य' आदि। अभिनवगुप्ताचार्य ने 'नाट्यशास्त्र' के चौथे अध्याय के २६८वें श्लोक की टीका मे 'नृत्त' और 'नाट्य' मे कोई भेद नही माना है। दोनो का अर्थ गान-विक्षेपण और अभिनय है। कालातर मे ये दो शब्द भिन्नार्थी हो गये। 'नृत्' का अर्थ हुआ नृत्य करना और 'नट्' का अभिनय करना।

'नृत्त', 'नृत्य' और 'नाट्य' इन तीनो शब्दो का नाटक के साथ घनिष्ठतम सम्बन्ध है। दशरूपककार धनजय ने इन शब्दो की स्पष्टता अपने ग्रन्थ मे की है। 'नृत्त' ताल और लय पर आश्रित होता है।[3] 'नृत्य' भावाश्रित है।[4] 'नाट्य' अवस्था की अनुकृति को कहते है जो 'रसाश्रयी' है।[5]

इस प्रकार नृत्त और नृत्य 'नाट्य' की ही प्राथमिक भूमिकाएँ है। 'नृत्त' मे अभिनय नही है केवल नाचना है। 'नृत्य' मे अभिनय तत्त्व जुड गया है जिससे भावोन्मेष होता है। नाट्य मे नृत्य के 'भाव' तत्त्व ने 'रस' का रूप ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार नृत्त, नृत्य और नाट्य की विकास-सरणियो को क्रमशः पार करते हुए नाटक का विकास हुआ है। इसका अच्छा विवेचन आचार्य श्री डोलरराय माकड ने किया है।[6]

संस्कृत नाटक :

भारत मे नाट्यशास्त्र के आद्य आचार्य भरतमुनि है। उनके द्वारा रचित 'नाट्य-शास्त्र' सस्कृत भाषा का सर्वप्रथम समीक्षा-ग्रन्थ है। यह प्राचीन भारतीय प्रतिभा की उत्कृष्ट निष्पत्ति है। 'भरत-नाट्यशास्त्र' का समय प्रायः ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी एवं द्वितीय शताब्दी ईसवी के मध्य निश्चित किया गया है। इस बृहद्काय नाट्य-समीक्षा ग्रथ मे नाटक की उत्पत्ति, परिभाषा, महत्ता, व्यापकता आदि का बडा ही विशद विवेचन सैंतीस अध्यायो मे किया गया है। भारतीय दृष्टि से नाट्यवेद का सागोपाग सूक्ष्माति-सूक्ष्म विवेचन एवं विश्लेषण इस ग्रथ मे उपलब्ध होता है। कई विद्वान 'नाट्य-शास्त्र' को एक व्यक्ति द्वारा प्रणीत ग्रथ नही मानते है। किन्तु भिन्न-भिन्न समय मे कई आचार्यों द्वारा लिखे गए श्लोको का एक संग्रह-ग्रथ मानते है। नाट्यशास्त्र के कर्ता भरत भी एक व्यक्ति नही, किन्तु अभिनेताओ की जाति है—ऐसा भी कुछ शास्त्रज्ञो का मत है।

---

१. पाणिनिः ४।३।१२६।
२. 'नाट्यदर्पण'—रामचन्द्र गुणचन्द्र : गायकवाड ओरिएण्टल सीरिज : पृ० २८।
३. नृत्त ताललयाश्रयम्—'दशरूपकम्' १।६।
४. अन्यद्भावाश्रयम् नृत्यम्। ,, १।६।
५. अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्। ,, १।७।
६. The Types of Sanskrit Drama.

—D. R. Mankad : 1936 Ed. P. 4 to 22.

इन मतमतांतरो के विषय मे निर्णय दे सकना कठिन है, पर यह निर्विवाद है कि 'नाट्यशास्त्र' नाटक की समीक्षा करने वाला आद्य ग्रन्थ है। साथ ही हम यह भी कह सकते हैं कि भरत के पूर्व संस्कृत नाटकों का पूर्ण विकास हो चुका होगा और उनके समक्ष लक्ष्य-ग्रन्थो के रूप मे कई उत्तम नाटक होंगे जिनकी सहायता से नाटक का यह उत्तम लक्षण-ग्रथ रचा गया। दुर्भाग्य से वे नाटक उपलब्ध नही हैं।

व्याख्या—भरतमुनि ने नाटक को तीन लोक के भावो का अनुकीर्तन बताया है

"त्रैलोक्यस्य हि सर्वस्य नाट्य भावानुकीर्तनम्।"

(भरतनाट्यशास्त्र १।१०७१)

नाटक मे जनजीवन का निरूपण होता है। वह लोक स्वभाव से उत्पन्न होता है। नाट्यम् लोकस्वभावजम्। वह सार्ववर्णिक कला है। इसलिए उसम लोक जीवन का प्राधान्य रहता है। 'लोकवार्तानुकरण नाट्यम्।' (ना० शा० अ० १।११२) लोकवार्ता का अनुकरण करने के लिए नाट्योत्पत्ति हुई। नाटक का मुख्य लक्षण 'क्रीडनीयत्व' है। अत किसी का रूप लेकर अभिनय करने को रूपक या नाटक कहते हैं। यह 'दृश्य काव्य' है।। दृश्य तत्राभि-नेयम्, तद्रूपारोपात्तु रूपकम्। नाटक मे राम या सीता का रूप लेकर नट द्वारा उनकी अवस्था का अनुकरण किया जाता है। धनजय ने इसीलिए 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' और 'दशधैवरसा-श्रयम्।' (दशरूपक प्र० प्र० १।७) कहकर नाटक को रूपक के दसो प्रकारो को रसाश्रयी माना है। दशरूपककार का इस 'अवस्थानुकृति' से क्या अभिप्राय है इसे स्पष्ट करते हुए धनिक अपनी टीका म लिखते है

"काव्य मे जो नाटक की धीरोदात्त इत्यादि अवस्थाएँ बताई गई हैं उनकी एकरूपता जब नट अभिनय के द्वारा प्राप्त कर लेता है, तब वही एकरूपता की प्राप्ति 'नाट्य' कह-लाती है।"[1]

उसमे आंगिक अभिनय के साथ सात्विक अभिनय भी होता है। उसका विषय रस है, इसीलिए यह रसाश्रित कहलाता है।

इस प्रकार सुखदु खात्मक लोकदशा का चित्रण नाटक मे नितान्त आवश्यक होता है।[2] नाटक का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। यह सार्वभौम काव्य विधा है। इसमे सभी भावो, अवस्थाओ और वृत्ता का समावेश होता है। उनका अनुकरण कर रसोन्मेष ही नाट्य का चरम लक्ष्य है।

नाना भावोपसम्पन्न, नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरण नाट्यमेतन्मया कृत।

(ना० शा० १।१०८)

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिनव भारती' मे यह मत प्रकट किया है कि "नाटक वह दृश्य काव्य है जो प्रत्यक्ष, कल्पना एव अध्यवसाय का विषय बनकर सत्य रूपम् असत्य से समन्वित विलक्षण रूप धारण करके सर्वसाधारण को आनन्दोपलब्धि कराता है।" वस्तुत नाटक सर्वसाधारण के लिए है और इसका हेतु आनन्द की उपलब्धि है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ लिखते हैं "नाटक वह रचना है जिसकी कथावस्तु

---

१ हिन्दी दशरूपक—अनुवादक डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० ५।

२ अवस्था या तु लोकस्य सुखदु खसमुद्भवा।
नानापुरुषसचारा नाटके सम्भवेदिह॥ (भरत नाट्यशास्त्र २१।१०१)

रामायणादि एव इतिहास मे प्रसिद्ध हो, जिसमे विलास, समृद्धि आदि गुण तथा अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन हो, जहाँ सुख-दुःख की उत्पत्ति दिखाई जा सके और अनेक रसो का समावेश हो सके, जिसमे ५ से १० तक अक हो, जिसका नायक पुराणादि मे प्रसिद्ध, उच्च वश मे उत्पन्न, धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान, कोई राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष हो, जहाँ शृगार अथवा वीररस प्रधान हो तथा अन्य रस अगभूत हो, जिसकी निर्वहण सधि अत्यन्त अद्भुत हो, जिसमे चार या पाँच पुरुष प्रधान कार्य के साधन मे व्याप्त हो, गौ की पूँछ के अग्रभाग के समान जिसकी रचना हो।"

(साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद ७-११)

नाटक की इस व्याख्या मे सस्कृत नाटक के सभी लक्षण समाविष्ट हुए हैं जो भरत-मुनि के युग से प्रचलित थे। भारत मे नाटक का आदर्श अति उच्च रहा है। यह मानव-जीवन की शाश्वत प्रवृत्तियों को स्पर्श करने वाला एक सार्वभौम साधन माना गया है। नाटक की सृष्टि लोगो के मनोविनोद[1] के लिए तो की गई है ही, किन्तु उसी के साथ इसका उद्देश्य *'हितोपदेश जनन'* भी है। *इस प्रकार भारतीय नाटक का प्रयोजन नितान्त गभीर, व्यापक* और उच्च है। भिन्न-भिन्न रुचि को परितोष प्रदान करने वाला एकमात्र साहित्य-प्रकार नाटक है —

"नाट्यम् भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येक समाराधन।"

(कालिदास—मालविकाग्निमित्र)

नाटक का क्षेत्र बडा व्यापक है। ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और कर्म नही है जो नाटक मे न दिखाया जा सके।

न तज्ज्ञान न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते।

(नाट्यशास्त्र)

इसीलिए तो नाटक को सर्वश्रेष्ठ काव्य कहा है "काव्येषु नाटक रम्यम्।" नाटक की कला सामूहिक सहयोग से निर्मित होती है और सामूहिक रूप से ही वह आस्वाद्य है। यह सही अर्थों मे जनवादी कला है।

नाट्योत्पत्ति

भरत के नाट्यशास्त्र मे पहले ही अध्याय मे नाट्योत्पत्ति की रोचक कथा उल्लिखित है एक दिन नाट्याचार्य भरत के पास आत्रेय आदि मुनि उपस्थित हुए और उन्होने वेद-सम्मत नाट्यवेद की उत्पत्ति की कथा पूछी। मुनियों की जिज्ञासा-तृप्ति के लिए भरतमुनि बोले—"वैवस्वत मनु के त्रेता युग के आगमन पर समस्त ससार मे ऐसी दुर्व्यवस्था फैल गई कि जनसमुदाय काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्यादि मे लीन हो गया। इसे देखकर देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष और महारोगो ने जम्बूद्वीप पर आक्रमण कर अधिकार प्राप्त कर लिया। इसमे इन्द्रादि देव भयभीत हुए और दौडे-दौडे ब्रह्मा के पास गए। उन्हे सारी स्थिति सुनाकर शूद्रादि सहित सभी वर्णों के लोगो के लिए किसी सामूहिक उत्सव की रचना करने की उनसे प्रार्थना की। ब्रह्माजी ने 'एवमस्तु' कहकर देवों को विदा किया और योगस्थ होकर चारो वेदो का स्मरण किया। तत्पश्चात् ऋग्वेद से पाठ्य, *सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से*

---

[1] विनोदजनन लोके नाट्यमेतद् भविष्यति। —नाट्यशास्त्र

रस तत्त्व लेकर 'सार्ववर्णिक पचमवेद'—नाट्यवेद की सृष्टि की जो सभी वेदो और उपवेदो से सवधित है और 'ललितात्मक' है।[1] इसी कथा का नदिकेश्वर ने 'अभिनयदर्पण' मे, धनजय ने 'दशरूपक' मे और शारदातनय ने 'भावप्रकाश' मे समर्थन किया है।

नाट्योत्पत्ति-सम्बन्धी इस मनोरजक कथा से यह निष्कर्ष निकलता है कि—

(१) भारतीय नाटक के आदि तत्त्व चार थे—पाठ्य (सवाद) गीत, अभिनय और रस। इन्ही के आनुषगिक रूप मे अन्य तत्त्वो का समावेश हुआ है।

(२) नाटक और रगमच अन्योन्याश्रित थे।

(३) नाटक ही सर्ववर्णों और सर्ववर्गों की दुर्व्यवस्था मिटाकर उनमे सास्कृतिक एकता स्थापित करने का एकमात्र साधन था।

(४) नाटक वेदो के समकक्ष है और सर्वोच्च कोटि की साहित्य-विधा है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय सस्कृति की एकता का श्रेय भारतीय नाटक ही को प्राप्त है।[2]

नाट्योत्पत्ति से सम्बन्धित 'नाट्यशास्त्र' की इस कथा के अतिरिक्त अन्य कई विद्वानो के मत प्रवर्तित हैं जिनमे इस विषय पर काफी प्रकाश डाला गया है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रो० पिशेल, प्रो० फानश्रडेर आदि के मतो की विवेचना करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि ऋग्वेद मे पाये जाने वाले सवाद-सूक्त वस्तुत नाटक के अश ही हैं।[3] यम और यमी का सवाद[4], पुरुरवा और उर्वशी का सवाद[5], विश्वामित्र और नदियो का सवाद[6], वसिष्ठ और उनके पुत्रों का सवाद[7]—ये सभी सवाद ऋग्वेद मे सुरक्षित हैं। कही-कही तीन व्यक्तियो के भी सवाद मिलते हैं। चतुर्थ मडल के १८वें सूक्त मे इन्द्र, अदिति और वामदेव का सवाद है। ऐसे और भी बहुत से सूक्त हैं जिनमे देवी-देवताओ तथा ऋषियो का वार्तालाप मिलता है। मैक्समूलर का अनुमान है कि यही सवाद-सूक्त सस्कृत नाटको का प्रारम्भिक रूप प्रकट करते हैं।[8] डॉ० कीथ ने कार्य कारण सबध को देखते हुए यह तो स्वीकार किया है कि ऋग्वेद के इन सवाद-सूक्तो मे और वैदिक कर्मकाण्डो मे नाटक तो नही, किन्तु नाटक के बीज मौजूद हैं[9] जिन्होने आगे जाकर नाटक का रूप ग्रहण किया। सोमरस के पान करने के अवसर पर इन्द्र के अनुयायियो द्वारा किये गये एक लघु अभिनय का प्रसग कात्यायन श्रौतसूत्र मे प्राप्त होता है जिसका उल्लेख डॉ० दशरथ ओझा ने अपने ग्रन्थ—'हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास' मे किया है।[10] इन अभिनयात्मक सवादो के भीतर कोष्ठको मे नाटकीय निर्देशो का रूप दिखाई देता है। साथ ही इनमे कथा है और कार्य व्यापार है। अत यदि इन सवादो को अविकसित नाट्यकला के प्रारम्भिक अश माने तो असगत नही होगा।

१. 'भरत नाट्यशास्त्र' अध्याय १, श्लोक ८-१८।
२. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा, द्वितीय सस्करण, पृ० १६।
३. 'आलोचना' त्रैमासिक, अ० २१ वें में लेख : 'नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा—लेखक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ११।
४. ऋग्वेद : मडल १०, सूक्त १०।
५. ,, ,, १० ,, ६५।
६. ,, ,, ३ ,, ३३।
७. ,, ,, ७ ,, ३३।
८. Max Muller's Version of the Rigveda : Vol. I. P 173.
९. 'The Sanskrit Drama' —Dr A. B Keith 1924 Edition . P. 27.
१०. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा, द्वितीय सस्करण, पृ० २१।

डॉ० दासगुप्त का भी यह कथन है कि इसे स्वीकार करने म किसी को भी आपत्ति नही होनी चाहिए कि वैदिक मत्रों मे नाटकीय तत्त्व विद्यमान है और तत्कालीन धार्मिक सगीत और नृत्य के साथ नाटक का सम्बन्ध अवश्य रहा है।[1]

डा० रिजवे ने अपनी पुस्तक 'The Drama and Dramatic Dances of Non-European Races' मे नाट्योत्पत्ति के कई मतो का खडन करते हुए अत मे आदि मानव की वीरपूजा-भावना को नाटक की उत्पत्ति का मूल माना है। डॉ० रिजवे ने यह निष्कर्ष यूनानी दु खान्तकी की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे निकाला था। पर बाद मे उन्होंने इसे भारतीय नाटको की उत्पत्ति के लिए भी मान्य माना।[2] यह स्थापना नितात भ्रामक नही है। वीरपूजा भावना नाट्योत्पत्ति का एक कारण अवश्य रही है। किन्तु उसी को एकमात्र कारण मानना युक्तियुक्त प्रतीत नही होता। जर्मन समीक्षक डॉ० पिशेल न पुत्तलिका नृत्य तथा छाया-नाटको को नाटक की उत्पत्ति का स्रोत माना है। पर डॉ० रिजवे न अनेक तर्कों द्वारा यह सिद्ध किया है कि नाटक ही पुत्तलिका-नृत्य और छाया नाटको का उद्गम-स्रोत है। पुत्तलिका नृत्य और छाया-नाटको का प्रारम्भ नाटको के विकसित होने के बाद हुआ, क्योंकि वे तो नाटक के रचना-विधान (टेक्नीक) के भिन्न दिशा मे विकसित रूप हैं।

नाट्योत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न मतो और सिद्धान्तो के आकलन से यह स्पष्ट होता है कि नाटक की उत्पत्ति किसी एक स्रोत से नही हुई। वह वर्षों के विकास का गुणात्मक परिणाम है। नाटक उतना ही प्राचीन है जितना मानव-जीवन। जिस दिन किसी बालक न खेलते-खेलते अपने को किसी अन्य के रूप मे कल्पित किया, उसी दिन नाट्यकला की उत्पत्ति हुई।[3] तब से आज तक यह कला क्रमशः विकसित होती चली आ रही है। कविकुलगुरु कालिदास ने कहा है "मनुष्य स्वभाव से ही उत्सवप्रिय है।"—'उत्सवप्रिया हि मानवा'। किसी भी देश की जनता अपने विनोद के साधन किसी न किसी रूप मे ढूँढ ही लेती है। मानव-विकास के प्रारम्भिक काल मे नृत्य और गीत म सवादो के योग न क्रमश नाट्य को जन्म दिया होगा। प्रकृति परिवर्तन के समय नृत्यो का आयोजन तथा विविध उत्सवों और धार्मिक पर्वो के अवसर पर नृत्य, गीत और अभिनयो का प्रदर्शन करने की परम्परा मानव-विकास के इतिहास मे प्राचीनतम है। इसी का विकसित रूप नाटक है। वैदिक काल मे ऋग्वेद के सवाद, सामवेद के गीत-नृत्य, अथर्ववेद के अभिनय आदि तत्त्वों

---

१. *The History of Sanskrit Literature Vol I by Dr S N Das* Gupta and Dr S K De, University of Calcutta 1947 Page 44

२. "There can be no doubt that the desire to honour men who in their lives were famous for their valour, sanctity or sufferings, has been from earliest times to the present hour the leading factor in the origin of Hindu Drama"—
The Drama and Dramatic Dances of Non-European Races by William Ridgeway, 1915 Edition, P 209

३ "Drama could spring from the play of a child who imagines, for the time being, that he is someone else"—The Development of Dramatic Art —by Donald Clive, Princeton University Page 1.

को अंगीकार करता हुआ भारतीय नाटक महाकाव्यों के युग में अपने पूर्ण आविष्कार के लिए नटों का आधार लेता है।[1] कालान्तर में वह विकसित होकर अपने सर्वोत्कृष्ट रूप को प्राप्त करता है जिसके उदाहरण हैं कालिदास, भवभूति, भास आदि के नाटक।

संस्कृत नाटक के तत्त्व संस्कृत नाटक के तीन आधारभूत तत्त्व माने गए हैं वस्तु, नेता और रस।[2] वस्तु से अभिप्राय है कथानक या नाटकीय आख्यान। वस्तु के दो भेद हैं—आधिकारिक और प्रासंगिक। नाटक का फल 'अधिकार' कहलाता है। उस फल का भोक्ता—नायक 'अधिकारी' तथा अधिकारी से सम्बन्ध रखने वाली प्रधान घटना 'आधिकारिक' कही जाती है। नाटक में निरूपित मूल कथा की सहायक अन्य गौण घटनाएँ 'प्रासंगिक' कहलाती हैं। आधिकारिक घटना प्रख्यात, उत्पाद्य या मिश्र होती है। संस्कृत नाटकों का कथा-विन्यास पाँच कार्य-अवस्थाओं, पाँच अर्थप्रकृतियों और पाँच संधियों पर आवृत है। इस योजना द्वारा कथा संश्लिष्ट-रूपेण परिसमाप्ति तक अग्रसर होती है।

'नेता' तत्त्व के अंतर्गत सभी पात्रों का समावेश हो जाता है नायक, नायिका तथा अन्य छोटे-मोटे पात्र। संस्कृत नाट्यशास्त्र में 'पात्र-योजना' का बड़ा ही विशद विवेचन किया गया है। यहाँ केवल इतना संकेत करना पर्याप्त होगा कि नाटक का नायक जो उच्च गुणों से विभूषित भद्र परिवार का होता है वही फल का भोक्ता होता है। वह नाटक में प्रारम्भ से अन्त तक उपस्थित रहता है और अनेक घात-प्रत्याघातों को सहता है। संस्कृत नाटकों में 'विदूषक' एक निराला पात्र है जिसकी नाटकीय उपादेयता कम नहीं। संस्कृत नाटकों में चित्रित पात्र परम्परागत होते हैं। वे अपने समाज, वर्ग या वर्ण के प्रतिनिधि होते हैं। उनमें वैयक्तिकता का अभाव रहता है। संस्कृत नाटककार का दृष्टिकोण सदा ही आदर्शवादी रहा है। अतः नाटक का वातावरण भी नितांत सभ्य, उदात्त और सुरुचिपूर्ण रहता है।

भारतीय दर्शन आनन्दवादी है, अतः भारतीय दृष्टिकोण को प्रगट करने वाले आनन्ददायक उदात्त भावनाओं से संयुक्त संस्कृत नाटक सदा सुखान्त होते हैं। वे कभी दुःखान्त नहीं होते। उनका प्रधान उद्देश्य 'रसनिष्पत्ति' होता है। भरतमुनि ने 'रसनिष्पत्ति' ही नाटक का चरम लक्ष्य माना है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से सामाजिक के मन में नाट्याभिनय देखते-देखते 'रसनिष्पत्ति' होती है।[3] वस्तु और नेता इसी रसोन्मेष में सहायक होते हैं। रस नाटक का प्राणतत्त्व है। दुःखान्त नाटक उद्वेगजनक होने हैं, फलतः वे रसास्वाद में विघ्न एवं विरोध उत्पन्न करते हैं। सामाजिक का मन उनसे खिन्नता तथा क्लेश का अनुभव करता है। इसलिए वे वर्ज्य हैं। संस्कृत नाटकों की सृष्टि अभिनय के लिए ही हुई है। अतः ये नाटक रंगमंच, प्रेक्षागृह एवं अभिनयकला से अभिन्न रहे हैं। आंगिक, वाचिक, आहार्य एवं सात्त्विक अभिनयों द्वारा अवस्था का अनुकरण ही रूपक या नाटक है। संस्कृत नाटक में वीररस या शृंगार रस की अंगी-रूप में तथा अन्य रसों की अंग-रूप में प्रतिष्ठा होती है।[4] भरत ने केवल आठ रसों को ही मुख्य रस स्वीकार किया है। शान्त रस की गणना इनमें नहीं की है। संभवतः सामाजिक दृष्टि से अनुपयोगिता के कारण शान्त रस का नाटक में महत्त्व नहीं आंका गया। संस्कृत नाटक के पाँच या सात अंक होते हैं। उनका

---

१ 'The Origin of Hindu Drama'—Dr. M M Ghosh Page 10

२ वस्तु नेतारसस्तेषां भेदको। दशरूपकम् १।११

३ विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। नाट्यशास्त्रे, षष्ठाऽध्याय, श्लोक --।

४. दशरूपकम, तृतीय प्रकाश, श्लोक ३३।

'नादीपाठ' और 'प्रस्तावना' से प्रारम्भ होता है। अत मे 'भरतवाक्य' के पश्चात् उसकी ममाप्ति होती है। 'मधुरेण समापयेत्' नाटक के सुखान्त होने का द्योतक है।

यूनानी नाटक :

समस्त यूरोप मे नाटक का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम यूनान देश मे हुआ। अत नाट्यकला सम्बन्धी सिद्धान्त भी सर्वप्रथम वही प्रतिपादित हुए। अरस्तू पाश्चात्य नाट्य-समीक्षा के आद्य आचार्य माने जाते हैं। पाश्चात्य नाट्य समीक्षा मे अरस्तू का वही स्थान है जो हमारे यहाँ भरतमुनि का है। अरस्तू का जीवन काल ई० पू० ३८४ से ई० पू० ३२२ निर्णीत हुआ है। काव्यशास्त्र (Poetics) उनका प्रसिद्ध समीक्षा-ग्रथ है।

प्राचीन यूनान के लोग अपने देवता डायोनिसस का उत्सव बडे उल्लास एव उमग के साथ मनाते थे। डायोनिसस अथवा बैकस सुरा के देवता थे। साथ ही वे प्रकृति के वैभव तथा सौन्दर्य के प्रतीक भी थे। वे ही आनन्द तथा स्फूर्ति, नावीन्य तथा चेतना प्रदान करने वाले थे। समस्त प्रकृति उन्ही की कृपा से लहलहा उठती। जीवन उन्ही की अनुकम्पा से प्रस्फुटित होता। इसी मान्यता के कारण प्राचीन यूनानी लोग डायोनिसस की सामूहिक पूजा करते थे। यह पूजा-समारोह बसत के दिनो मे एथेन्स तथा एटिका मे भव्य रूप से होता। सर्वप्रथम जनसमूह मे से एक प्रमुख गायक अपनी टोली के साथ आगे आता और डायोनिसस की प्रशसा व समूह-गान तथा नृत्य करता। यही समूह-गान 'कोरस' (Chorus) नाम से विख्यात हुआ जिससे यूनानी नाटक का जन्म माना जाता है। थैस्पिस नामक एक व्यक्ति ने आगे जाकर 'कोरस' मे सवाद का समावेश किया। फलत इन उत्सवो को अभिनयात्मक रूप प्राप्त हुआ। देवी-देवताओ तथा राष्ट्रीय वीरो की कथाएँ विशिष्ट धार्मिक प्रसगो पर खुले मैदानो मे बहुत बडे जन-समुदाय के समक्ष विविध प्रकार के रूप धारण कर गायक तथा नर्तक-वृन्द प्रस्तुत करने लगे। ये समारोह हमारी रामलीला या रासलीला से विशेष भिन्न नही होते थे। कालान्तर मे इन्ही दु खात्मक एव सुखात्मक प्रदर्शनो मे से यूनानी दु खान्तकी (Tragedy) और सुखान्तकी (Comedy) का जन्म हुआ। प्रो० निकल ने भी इस मत का समर्थन किया है। उनका मानना है कि इसी मे गायन, वाद्य, नृत्य, सवाद कथा इत्यादि तत्त्वो का क्रमश समावेश हुआ।[१] 'ट्रेजेडी' यूनानी शब्द 'टैग्रास' से आया है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'अजगान' (Goat Song)।

यूनानी समारोहो मे बकरे की बलि दी जाती थी, उससे इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है। डॉ० रिजवे ने ट्रेजेडी की उत्पत्ति मृत वीरो के सम्मानार्थ किये जाने वाले नृत्यो से मानी है।[२] 'कॉमेडी' शब्द यूनानी 'कोमस' से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है हर्षोल्लास

१. "In Greece, both Comedy and Tragedy took their rise from religious ceremonial . . from a common chant the ceremonial soon developed into a primitive duologue between a leader and the chorus The song became elaborated, it developed narrative elements and soon reached a stage in which the duologue told in primitive wise some story of the diety"—British Drama—by A Nicoll P 15

२ The Drama and Dramatic Dances of Non-European Races • Dr. William Ridgeway, P 64

प्रदर्शित करना। 'कामेडी' का उद्भव धार्मिक समारोहों और आनन्दोत्सवों में माना जाता है। पाश्चात्य नाट्य-साहित्य के इतिहास में ये यूनानी नाटक ही सर्वप्रथम स्थान ग्रहण करते है। अरस्तू के मतानुसार दु खान्तकी (ट्रेजेडी) उत्कृष्टतम काव्यकला है।[1] और भारतीय आलकारिकों की तरह उन्होंने भी नाटक को काव्य ही माना है। अरस्तू के समय तक एस्किलस, सोफोक्लीज और यूरापाइडीज ये तीन महान नाटककार यूनानी दु खान्तकी को अत्यत समृद्ध बना चुके थे। उन्ही नाट्य ग्रन्थो को दृष्टि-समक्ष रखकर अरस्तू ने दु खान्तकी को सर्वश्रेष्ठ काव्य-प्रकार उद्घोषित कर नाट्य समीक्षा क अन्तर्गत उसी की विस्तृत विवेचना की है।

अरस्तू के मतानुसार काव्य जीवन का अनुकरण है। यह अनुकरण जीवन के केवल बाह्य उपकरणों का नहीं, अपितु आतरिक सम्बन्धो, मानसिक अवस्थाओ तथा रागात्मक प्रतिक्रियाओं का रहता है। यह अनुकरणात्मक कला चित्र हो या कविता—सौंदर्य-युक्त है और आनद प्रदान करती है।[2] उसमे मानव-जीवन के सर्वव्यापी एव स्थायी तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है। अत उस अनुकरणात्मक कला मे महाकाव्य और नाटक का सर्वोच्च स्थान है।

अरस्तू ने अपने 'काव्यशास्त्र' (Poetics) मे महाकाव्य और नाटक की तुलनात्मक विवेचना करते हुए यह प्रमाणित किया है कि दु खान्तकी (Tragedy) का महत्त्व महाकाव्य की अपेक्षा अधिक है क्योंकि दु खान्तकी मे भावकों के मन पर तीव्र प्रभाव उत्पन्न करने की असाधारण क्षमता है। अरस्तू ने दु खान्तकी की इस प्रकार परिभाषा दी है "त्रासदी किसी गभीर, स्वत पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है जिसका माध्यम नाटक के भिन्न भिन्न भागो मे भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलकृत भाषा होती है, जो समाख्यान रूप मे न होकर कार्य-व्यापार रूप मे होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारो का उचित विवेचन किया जाता है।[3] इस परिभाषा के अनुसार दु खान्तकी काव्य की एक अत्यन्त गम्भीर और सोद्देश्य विधा है जो दृश्य काव्य के अतर्गत आती है और जो रगमच पर अभिनीत होकर दर्शकों के मन मे अबाधित करुणा और त्रास के भावों को उत्तेजित कर विरेचन (Katharsis) की पद्धति से उनके मन को शुद्ध बनाकर शाति प्रदान करती है। 'विरेचन' का सिद्धात सर्वप्रथम अरस्तू

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र अनुवादक डॉ० नगेन्द्र, पृ० ७३, प्र० स० स० २०१४ वि०।

२ "A work of art, whether it be a picture or a poem, is a thing of beauty (Poetics vii, 1450) and it affords pleasure appropriate to its own kind (Poetics xiv, 1453)—Aristotle

३. यह अनुवाद 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' नामक हिन्दी ग्रन्थ से उद्धृत। अनुवादक डॉ० नगेन्द्र, पृ० ६५।

मूल पाठ इस प्रकार है 'Tragedy, then, is an imitation of an action that is serious, complete, and of a certain magnitude, in language embellished with each kind of artistic ornament, the several kinds being found in separate parts of the play, in the form of action, not of narrative, through pity and fear effecting the proper purgation of these emotions'—Prof Butcher's rendering in 'The Making of Literature' by Scott James, P 61

ने प्रस्थापित किया। अरस्तू ने स्वयं 'विरेचन' की कोई परिभाषा प्रस्तुत नहीं की, फलतः 'विरेचन' के परवर्ती व्याख्याताओं ने भिन्न-भिन्न शताब्दियों में इसके भिन्न-भिन्न अर्थ किये। "मूलतः यह शब्द चिकित्साशास्त्र का है जिसका अर्थ है रेचक औषधि के द्वारा शारीरिक विकारों—प्रायः उदर के विकारों—की शुद्धि। अरस्तू स्वयं वैद्य के पुत्र थे और इस प्रकार के उपचार आदि का उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव था, अतः यह शब्द निश्चय ही उन्होंने चिकित्साशास्त्र में ग्रहण कर इसका लाक्षणिक प्रयोग किया है। उनका विरेचन से अभिप्राय मनोविकारों के उद्रेक और उनके शमन से उत्पन्न मनःशांति है।"

['अरस्तू का काव्यशास्त्र' अनुवादक डॉ० नगेन्द्र, पृ० ८२, ८३]

अरस्तू ने दुःखान्तकी के छः तत्त्व माने हैं : कथानक, चरित्र-चित्रण, पद-रचना, विचार-तत्त्व, दृश्य विधान और गीत। इनमें कथावस्तु, चरित्र चित्रण और विचार तत्त्व अनुकरण के विषय होने से दुःखान्तकी के मूल तत्त्व माने गये हैं जिनकी तुलना भारतीय नाटक को अनुकरणमूलक मानने वाले दशरूपककार धनंजय[1] के नाट्यतत्त्वों वस्तु, नेता और रस (वस्तुनेता रसस्तेषां भेदकः) से की जा सकती है। अरस्तू ने वस्तु और नेता की लगभग वही विशेषताएँ आवश्यक मानी हैं जो भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में उल्लिखित की हैं। परन्तु अरस्तू ने कथावस्तु को दुःखान्तकी की आत्मा माना है। उनका कथन है कि चरित्र चित्रण के अभाव में दुःखान्तकी का सर्जन सम्भव है। किन्तु बिना कथावस्तु के वह कदापि हो नहीं सकती। अरस्तू के इस सिद्धांत को न उनके परवर्ती पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों ने मान्य रखा और न भारतीय नाट्य-समीक्षा इसकी पुष्टि करती है। यूरोप का परवर्ती समीक्षक-वृन्द चरित्र-चित्रण को नाटक का प्रमुख अंग मानता है। भारतीय नाट्यशास्त्र का साध्य तत्त्व रस है, वस्तु और नेता उसके साधन-मात्र हैं। रस ही नाटक का प्राणतत्त्व है। "अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त भरत के रस-सिद्धान्त से बहुत भिन्न नहीं है। यह कहना असंगत न होगा कि भारतीय रस-सिद्धांत में प्रकारान्तर से विरेचन सिद्धान्त अन्तर्भूत है। विरेचन प्रक्रिया के दो अंग हैं—(१) अतिशय उत्तेजना द्वारा मनोवेगों का शमन और (२) तज्जन्य मनःशान्ति। मनोवेगों की अतिशय उत्तेजना रस सिद्धांत के अंगभूत स्थायी भावों के चरम उद्घोष के समानान्तर है। शान्ति रस-सिद्धान्त की 'समाहिति' की अवस्था है, जब सहृदय श्रोता का मनोमुकुर भौतिक विकार-जन्य मलिनता से मुक्त सर्वथा निर्मल हो जाता है।"[2] अरस्तू की इस विवेचना में रजोगुण और तमोगुण के तिरोभाव और सतोगुण के आविर्भाव की स्थिति का समावेश होता है जिससे उद्वेग का शमन होता है। किन्तु भारतीय रस-सिद्धांत इससे अधिक व्यापक है। 'रस' मुक्त आत्मा का भोग माना गया है। उसमें तो अरस्तू के उद्वेग शमन से और आगे जाकर सात्त्विक भावाश्रित रस रूप आनंद की उपलब्धि स्थिति सन्निहित है।

अरस्तू ने नाटकों के प्रदर्शन में किसी प्रकार के दृश्य को व्यर्थ नहीं माना। युद्ध, हत्या, मृत्यु आदि के दृश्य पश्चिमी रंगमंच पर युगों से प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। यूनानी नाटक में ऐसे प्रसंग सर्वत्र सुलभ हैं और ये दुःखान्त वातावरण की सृष्टि में सहायक होते हैं। पर आदर्शवादी संस्कृत नाटककार रंगमंचीय शिष्टता पर बड़ा बल देता है। वह मृत्यु, हत्या, युद्ध आदि का दर्शकों के सामने कभी प्रदर्शन नहीं करता। उसको नाटक सदा ही

---

[1] अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्—दशरूपक प्र० प्र० ।७।

[2] 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' डॉ० नगेन्द्र, प्रथम संस्करण, सं० २०१४ वि०, पृ० १०१।

मुखान्त होते है। भासकृत 'ऊरुभंग' आदि नाटक तो इसके अपवाद मात्र हैं। यूनानी दु खान्त की जैसा नाट्य प्रकार हमारे यहां नही है, इसका कारण सम्भवत: दोनो देशों की भिन्न जीवन-दृष्टि है।

अरस्तू की दृष्टि मे 'दुःखान्तकी' कला का सर्वोत्कृष्ट रूप है। अतः 'दु खान्तकी' का उन्होने विस्तार से विवेचन किया है। किंतु सुखान्तकी का विवेचन उपलब्ध नही होता। अरस्तू के मतानुसार "सुखान्तकी का लक्ष्य होता है यथार्थ जीवन की अपेक्षा मानव का हीनतर चित्रण, और दु.खान्तकी का लक्ष्य होता है भव्यतर चित्रण। अर्थात् दुःखान्तकी की विषय-वस्तु और तदनुसार उसके पात्र गम्भीर एव उदात्त होते है। सुखान्तकी की विषयवस्तु और पात्र क्षुद्र तथा निकृष्ट होते है, किंतु वे दुष्ट नही होते; अभिहास्य होते है।" (काव्य-शास्त्र—अरस्तू पृ० ६६-६७, अनुवादक : डॉ० नगेन्द्र, पृ० ६४)। सुखान्तकी 'प्रहसन' का ही प्रकार है जिसमे पात्र दुष्टता लेकर नही आते, कुरूपता या विचित्रता लेकर आते है, जिमसे हास्य उत्पन्न होता है। यूनानी सुखान्तकी के अभिनेता एथेन्स नगर से अपमानपूर्वक निष्कासित किये गये थे। अत वे एक गाँव से दूसरे गाँव भटकते फिरते थे और अपने हास्योत्पादक स्थूल अभिनयो द्वारा ग्रामीण लोगों का मनोरजन कर जीविकोपार्जन करते थे। दु.खान्तकी की भाँति सुखान्तकी में वस्तु, पात्र आदि का समावेश होता है। पर उनका चुनाव निम्न कक्षा के जीवन से होता है।

आधुनिक पाश्चात्य नाटक :

सस्कृत एव यूनानी नाट्य-समीक्षा के पश्चात् पश्चिमी नाट्य-समीक्षा पर विचार करना आवश्यक है, क्योकि आधुनिक सभी भारतीय भाषाओ के नाटक पश्चिमी नाटकों और नाट्य-सिद्धान्तों से विशेषत: प्रभावित हैं। अतः हमारे आलोच्य नाटको की समीक्षा का अधिकाश आधार पश्चिमी नाट्य-समीक्षा ही है।

यद्यपि समस्त यूरोपीय नाट्य-समीक्षा का मूलाधार अरस्तू का नाट्यशास्त्र ही है तथापि देश एव काल की परिवर्तित परिस्थितियों के कारण अरस्तू के सिद्धान्तों में क्रमश: सशोधन तथा परिवर्द्धन होता रहा है। रोम के सुप्रसिद्ध कवि तथा आलकारिक होरेस ने अरस्तू के नाट्य-सिद्धान्तो की विशद विवेचना करते हुए सर्वप्रथम यह आदेश किया कि नाटक पाँच अको मे विभक्त होना चाहिए और साथ ही चरित्र-चित्रण के औचित्य का भी सर्वाधिक आग्रह रक्खा जाना चाहिए। नवजागरण युग मे समस्त यूरोप के नाट्य-साहित्य पर अरस्तू का प्रभाव अत्यधिक बना रहा। इटली, फ्रास, इग्लैण्ड आदि के सभी नाट्य-समीक्षक अरस्तू के सिद्धान्तो के कट्टर अनुयायी रहे। अरस्तू की ट्रैजेडी, कॉमेडी की व्याख्या तथा संकलनत्रय आदि को मूलरूप मे स्वीकार किया गया। तत्कालीन नवीन आवश्यकताओ के कारण कथानक, पात्र, विचार आदि की विशेषताओ के बारे मे नगण्य परिवर्तन किये गये। लेसिग-जैसा महान् चिंतक भी अरस्तू का अनुयायी था जिसने अठारहवी शती मे लिखित अपने नाट्य-शास्त्र मे अरस्तू के सिद्धान्तों का ही पुनरुच्चार किया। रोमाण्टिक युग मे नाटकों का नई दृष्टि और नई व्याख्या के साथ मूल्याकन हुआ। कालान्तर मे यथार्थवाद, अस्तित्ववाद आदि ने इसमे इतस्तत: परिवर्तन भी किये, जो आज तक विभिन्न रूपो मे परिलक्षित होते है।

यह कहा जा चुका है कि अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र (Poetics) मे दु.खान्तकी को सर्वश्रेष्ठ काव्य-प्रकार माना है और उसकी परिभाषा देते हुए यह मत प्रदर्शित किया है कि

दु खान्तकी अनुकृति है—व्यक्ति की नही, कार्य की तथा जीवन की।[1] नाटक, काव्य का वह रूप है जिसमे पात्र जीवित, जाग्रत और चलते-फिरते प्रस्तुत किये जाते है, अर्थात् जिसमें कार्य-व्यापार (Action) का प्रदर्शन रहता है।[2] इसीके साथ अरस्तू ने नाटक को अभिनेयात्मक काव्य-प्रकार माना है जिसे हम दृश्यकाव्य कहते हैं। अर्थात् नाटक के प्रारम्भ मे ही उसका रगमच से अपरिहार्य सम्बन्ध रहा है। यह एक ऐसा तत्त्व है जो उसे अन्य साहित्य-प्रकारो की अपेक्षा विशिष्टता प्रदान करता है। स्टेनलेदेस्की, एशली ड्यूक्स, एलार्डीस निकल आदि समीक्षक नाटक का रगमंच और अभिनय से अभिन्न सम्बन्ध मानते हैं। अभिनेयता ही किसी भी नाटक को 'नाटकत्व' प्रदान करती है। इसके विपरीत कुछ अल्पसख्यक समीक्षकों ने नाटक का खेला जाना आवश्यक नही माना है। पर नाटक वस्तुत रगमच की कला है। अभिनय उसका अविभाज्य अग है। इस प्रत्यक्षीकरण के साथ अरस्तू के कार्य-व्यापार और 'सघर्ष' तत्त्व भी आजतक नाटक के मूलाधार माने जाते हैं। 'सघर्ष मे से ही नाट्योत्पत्ति होती है।'[3] नाटक मे 'जीवन अपने सजीव रूप मे प्रत्यक्ष होता है। 'मनुष्य हृदय की अप्रत्यक्ष भावनाओं को प्रत्यक्ष करने के लिए ही नाटक का उद्भव हुआ है।'[4] नाटक की 'रसात्मकता' उसे काव्यत्व प्रदान करती है और 'अभिनेयता' उसे 'नाटकत्व' प्रदान करती है। नाटक 'सवाद' की कला है। नाटक मे कथावस्तु, पात्र, वातावरण आदि का 'सवाद' होता है और उसी के साथ भाषा का भी 'सवाद' सम्मिलित होता है। समस्त नाटक 'सवाद' पर आधारित रहता है। नाटकीय वस्तु, पात्र एवम् सवाद द्वारा जब मच पर जीवन का अभिनयात्मक अनुकरण होता है तब प्रेक्षक के चित्त मे ससार की सर्व अनुभूतियों से नितान्त भिन्न प्रकार की विशिष्ट अनुभूति का सक्रमण होता है जिसे जे० बी० प्रीस्टली ने 'नाट्यात्मक अनुभूति' (Dramatic Experience) कहा है।[5] 'नाटक मे मानव-जीवन की आत्मा की गति प्रतिबिम्बित होती है।'[6]

नाटक शब्द की कला है। कविता, उपन्यास और कहानी का भी माध्यम शब्द ही हैं पर इनके शब्द पाठ्य या श्रव्य रहते हैं। भाषा की सपूर्ण शक्ति का उपयोग नाटक द्वारा अधिक सभव है। भाषा की व्यजना शक्ति का, उसके आरोह-अवरोहात्मक रूपो का और उसकी अभिव्यक्ति की सार्थकता का उद्घाटन नाटक मे ही सभव है। शब्दो की मितव्ययिता का उत्तम उदाहरण हमे नाटक मे दृष्टिगत होता है। इसीलिए तो कहा गया है "No art is so rigidly economic as the drama" कहानी और उपन्यास की भाँति पाश्चात्य आलोचकों ने आधुनिक नाटक के भी छ तत्त्व माने हैं (१) कथावस्तु, (२) चरित्र-चित्रण,

---

१. Tragedy is an imitation not of men, but of actions (European Theories of the Drama, B H clark P 10

२. अरस्तू का काव्यशास्त्र, डॉ० नगेन्द्र, पृ० ६४।

३. "All drama ultimately arises out of conflict"—'The Theory of Drama' : A. Nicoll 1937, Edition. P 92

४. आचार्य आनदशकर ध्रुव, 'सस्कृति' पत्रिका, मार्च १६५६ का अक, पृ० ८६।

५. 'The Art of the Dramatist'—

J P. Priestly, 1957, Page 3

६. 'The Art (Drama) reflects the movement of the spirit of mankind,'
—'Drama' by Ashley Dukes P. 28,

(३) कथोपकथन या सवाद, (४) देश-काल या वातावरण, (५) भाषाशैली और (६) उद्देश्य। किन्तु नाटक के इन छ तत्वों की अपनी विशिष्टता एवम् पृथक्ता है। नाटक की कथावस्तु अत्यधिक ठोस एवम् सश्लिष्ट होती है। कथानक का दृश्यो मे विभाजित करना नाटक की एकान्तिक विलक्षणता है जो उसक विधान मे रगमचीय आवश्यकताओ को दृष्टि समक्ष रखने को बाध्य करती है। "नाटक की वस्तु सघर्ष पर आधारित है अत हम नाटक को 'सघर्षों की कला' कह सकते है।"[1] नाटक के पात्र पूर्णत सजीव और मानवीय गुणो से सयुक्त होते है। अभिनेयता के लक्षण के कारण नाटक की पात्रयोजना मे लेखक को अत्यधिक कौशल एवम् कला का अवलम्ब ग्रहण करना पडता है। नाटक मे सवादो की प्रधानता के कारण उनकी सरलता, स्वाभाविकता और सबलता पर नाटक की सफलता का आधार रहता है। समुचित दृश्यविधान, सोद्देश्य सवाद, सजीव पात्र सृष्टि तथा कौतूहलयुक्त वस्तु-विन्यास द्वारा ही नाटक के मूलभूत उद्देश्य की सिद्धि—प्रेक्षक-वृन्द के चित्त मे नाटकीय अनुभूति (Dramatic Experience) की सृष्टि सभव बनती है। ये शर्तें उपन्यास या कविता के लिए अपेक्षित नही हैं। नाटककार की एक और सीमा है। वह अपने पात्रों के रूप मे ही हमारे सामने आता है और पात्रो द्वारा ही अपने उद्देश्य को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार नाटक अपनी विशेषताओ और विचित्रताओं स सपृक्त साहित्य के अन्य सभी रूपो म अद्वितीय स्थान ग्रहण किये हुए है जिसकी रचना मे सभी उच्च और निम्न प्रकार की कलाएँ सहयोग प्रदान करती है।[2] मानव-मेधा द्वारा निर्मित सभी साहित्य-विधाओ मे नाटक ही नि शक रूप से अत्यन्त रसात्मक है।[3]

नाटक क य मूलभूत अपरिहार्य लक्षण सभी नाट्य प्रकारों मे समाविष्ट होते है जो भिन्नता दृष्टिगत होती है वह आभ्यतर नही, विषय या शैलीगत बाह्य विशिष्टता है। पश्चिमी नाट्य साहित्य मे इस प्रकार की विशेषताओ को लिये हुए कई नाट्य-प्रकार उपलब्ध होते है जिन्होंने हिन्दी, गुजराती आदि सभी भारतीय भाषाओ के नाटकों को समान रूप से प्रभावित किया है। उनम से सुखान्त और दुखान्त नाटको की तो विवेचना की जा चुकी है। सस्कृत क सुखान्त और पश्चिम क सुखान्त-दुखान्त नाटको का आलोच्य दोनो भाषाओं के नाटको पर जो प्रभाव पडा है उसका अध्ययन आगे के पृष्ठो मे किया जायगा। समस्या-नाटक, प्रहसन, एकाकी, गीतिनाट्य, नाट्यरूपक इत्यादि पश्चिमी नाट्यभेदो का समीक्षात्मक परिचय तथा उनका हिन्दी और गुजराती-नाटको पर प्रभाव भी परवर्ती अध्यायो मे यथास्थान प्रस्तुत किया जायगा।

---

१ "The drama may be called the art of crisis . "

—William Archer in European Theories of the Drama Page 479

२ Its (of drama) anatomy is composed of all the other arts, high and low, stripped to their elementals

—George Jean Nathan 'European Theories of Drama', P 504

3 It (drama) stands undoubtedly as the most interesting of all the literary products of the human intelligence

—Allardyce Nicall : The theory of Drama, P 9,

दूसरा अध्याय

लोक नाटक

शिष्ट नाटक और लोकनाटक

मनुष्य मनोरंजनप्रिय प्राणी है। जिस प्रकार उसके तन के लिए अन्न, जल और वस्त्र आवश्यक हैं, उसी प्रकार उसके मन की क्षुधा की परितृप्ति के लिए मनोविनोद, मनोरंजन आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए मानव अनादि काल से देश-कालानुसार रुचि और परिस्थिति के अनुरूप मनोरंजन के साधनों का आविष्कार करता चला आ रहा है। नृत्य, संगीत, त्यौहार, धार्मिक एवम् सामाजिक उत्सव, नाटक आदि उसी के विविध रूप हैं। मनोविनोद के इन साधनों में नाटक का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि नाटक आनंदोपलब्धि का प्रबलतम साधन है। इसमें सभी कलाओं और विद्याओं का समावेश होता है। यह सार्वजनिक और सार्ववर्णिक कला है। इसकी व्यापकता और उत्कृष्टता को देखकर ही 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' उक्ति प्रसिद्ध हुई है।

दीर्घकाल से मानव समाज दो वर्गों में विभक्त रहा है। एक संस्कृत-शिक्षित वर्ग और दूसरा ग्रामीण अशिक्षित वर्ग। इन दो वर्गों की रुचि तथा बुद्धि में तात्त्विक अंतर है, अतः दोनों के मनोरंजन के माध्यम में भी अंतर होना स्वाभाविक है। जो नाटक समाज के शिक्षित-संस्कृत वर्ग का मनोविनोद करते रहे हैं वे 'शिष्ट' (साहित्यिक) नाटक कहे गये हैं। वे साधारण जन-समाज से असंबद्ध रहे हैं। उनका प्रेक्षकवर्ग परिष्कृत अभिरुचि और उच्च रस वृत्ति का माना गया है। संस्कृत के सभी नाटक इसी श्रेणी में परिगणित होते हैं। ये नाटक अधिकतर या तो राजसभाओं में नृपमंडल तथा अभिजात-वर्ग के समक्ष अभिनीत होते रहे,[1] या देवालयों में सामान्यतः उच्च वर्णों के लोगों के सामने खेले जाते रहे। संस्कृत नाटककार अत्यंत बुद्धिमान, गुणज्ञ और विवेकशील दर्शक चाहता है जो नाट्य प्रयोगों के गुण दोषों को समझ सके और उनमें प्रदर्शित भावों को ग्रहण कर सके। संस्कृत नाटककार *प्रत्येक व्यक्ति को नाट्याभिनय दिखाने के पक्ष में नहीं है।*

भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में इन उच्च कोटि के कलात्मक नाटकों के देखने वाले रसिक जनों में कतिपय विशेष गुणों का होना आवश्यक माना है।[2] और वस्तुतः यह सत्य है कि उच्च कोटि की कलाओं का रसास्वादन सभी लोगों के लिए कदापि संभव नहीं है। उसके लिए तो विशेष पात्रता अपेक्षित रहती ही है। उसे 'अधिकारी' बनना पड़ता है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने भी लिखा है कि असभ्य, मूर्ख, नास्तिक और निम्नवर्गीय जन के लिए

---

१ 'अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्।'

—प्रस्तावना प्रथम अंक : अभिज्ञान शाकुन्तलम्।

२ देखिये भरतमुनि-कृत, नाट्यशास्त्र, चौखम्भा प्रकाशन, अध्याय २७, श्लोक ४९–६२,

प्राचीन प्रेक्षकगृहों मे प्रवेश-निषेध था।[1]

इन शिष्ट नाटकों के अतिरिक्त दूसरा प्रकार लोक-नाटकों का है जो 'सर्वजनसुखाय' रहा है।

'लोकनाटक' मे प्रयुक्त 'लोक' शब्द का अंग्रेजी पर्याय 'फोक' (Folk) है। 'फोक' शब्द ऐंग्लो सेक्सन 'Folc' शब्द का विकसित रूप है। "प्रसिद्ध विद्वान् ग्रिम ने जर्मन भाषा मे सर्वप्रथम लोक-साहित्य के लिए '*Volkskunde*' शब्द का प्रयोग किया। इसका अनुकरण कर ता० २२, अगस्त १८४६ के रोज श्री डब्ल्यू० जे० थोम्स ने अपने पत्र Athenaeum में *Folklore* शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया और तब से यह '*Folk*' शब्द रूढ बन गया।"[2] डॉ० बार्कर ने 'फोक' शब्द द्वारा किसी सभ्यता से दूर रहने वाली जाति को सम्बोधित किया है। भारत मे इसी अंग्रेजी 'फोक' (Folk) शब्द के लिए 'लोक' और 'जन' शब्द प्रचलित है। हमारे यहाँ 'लोक' शब्द उन लोगों का सूचक है "जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है। ये लोग नगर के परिष्कृत रुचि-सम्पन्न सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं।"[3] लोकनाटक इसी अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित जनता की सृष्टि है जो युगों से कोटि कोटि लोगों का मनोरंजन करती चली आ रही है। लोकनाटक ही सही अर्थों मे सार्ववर्णिक 'पंचमवेद' के नाम से अभिहित होने का अधिकारी है। इस नाटक की परम्परा संस्कृत के शिष्ट नाटकों के पूर्व भी प्रचलित थी और उनके क्षयग्रस्त होने के पश्चात् आज तक अक्षुण्ण बनी हुई है। विश्व के सभी देशों मे इसकी प्राचीनता और लोकप्रियता असदिग्ध है।

डॉ० कीथ ने नाटक की उत्पत्ति 'नृत्य' से मानी है।[4] श्री डोलरराय मांकड भी इसका समर्थन करते है।[5] 'नृत्य' मे कथा तत्त्व बाद मे जुड़ा। 'नाटक' का 'नृत्य' के साथ सम्बन्ध जोडना लोकनाटकों के उद्भव का द्योतक है, क्योंकि लोकनाटकों मे नृत्य एवम् संगीत की प्रधानता रहती है। लोक-नृत्य, लोक-संगीत और लोक कथा का संगम-स्थान लोकनाटक है। पूजा-अर्चना, पर्व-त्योहार, जन्म-मरण आदि विशेष प्रसंगों पर जन-जीवन ने अपनी सुख-दुःखात्मक अनुभूतियाँ अभिव्यक्त करने के लिए आदिम युग से ही किसी न किसी नाट्यात्मक प्रकार को ढूँढ ही लिया होगा। उसी का विकसित रूप लोकनाटक है।

भारत मे लोक-नाट्य की परम्परा प्राचीनतम है और "यह असदिग्ध रूप से मानना

---

१. The Sanskrit Drama

—Dr. A B Keith, 1924 Edition, P. 370

२. लोक-साहित्य की रूपरेखा—श्रीमती दुर्गा भागवत, प्रथम संस्करण, १९५३, पृ० १२

३. 'जनपद' हिन्दी त्रैमासिक (खंड १, अंक १, अक्तूबर १९५२) में लेख।

—'लोक-साहित्य का अध्ययन'. लेखक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६५

४. The Sanskrit Drama

—A B. Keith, (1924), P 16

५. The Types of Sanskrit Drama (1936), P 32.

चाहिए कि भारतीय देशी भाषाओं के साहित्यिक नाटक-प्रणयन से पूर्व कोई न कोई नाट्य-परम्परा प्रत्येक भाषाभाषी प्रांत में विद्यमान अवश्य रही है जो संभवत साहित्यिक नाटक की उत्पत्ति का मूल कारण न होते हुए भी, ज्येष्ठ भगिनी के नाते उसकी परिचर्या अवश्य करती रही होगी।"[1]

अब हिन्दी और गुजराती के लोक-नाटकों का अध्ययन प्रस्तुत करने के पूर्व अपभ्रंश नाट्य-परम्परा का परिचय देना युक्तियुक्त होगा, क्योंकि उसके साथ दोनों भाषाओं के आलोच्य नाटकों का अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

अपभ्रंश नाट्य-परम्परा

पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के शिष्ट नाटकों के विषय में विद्वानों में मतभेद है। पर अपभ्रंश-भाषा में रास, फागु, चर्चरी इत्यादि के जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उनके आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अपभ्रंश में लोकनाट्य-परम्परा थी और उसका काफी पुराने समय से प्रचलन था।

रास

रास, रासो, रासा या रासक शब्द के अर्थ के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कोई उसे ब्रह्म-वाचक 'रस' मानता है, तो कोई साहित्यिक रस। यह शब्द छन्द-विशेष का द्योतक भी माना गया है। किसी ने राजसूय से और किसी ने रहस्य या रसायण से इस शब्द की व्युत्पत्ति मानी है। गायन-वादन के साथ स्त्री-पुरुषों के वर्तुलाकार नृत्य को भी 'रास' शब्द से अभिहित किया गया है। साधारणत 'रास' या 'रासो' शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है एक तो चारणों के वीर और प्रेमकाव्य-ग्रन्थों के निर्देशक के अर्थ में। दूसरे, जैन साधुओं की नीति-प्रधान उपदेशात्मक विशेष पद्य-रचनाओं के अर्थ में, और तीसरे, वैष्णव भक्ति से सम्बन्धित उन राधाकृष्ण की लीलाओं के अर्थ में, जिनका आज तक नृत्य एवम् गीतयुक्त प्रदर्शन होता आया है। 'रास' शब्द है पुराना। संस्कृत के प्राचीन अलकारशास्त्र के ग्रन्थों में भी 'रास' शब्द मिलता है। ग्यारहवीं शती के साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने 'नाट्यरासक' और 'रासक' की उपरूपकों में गणना की है। इनमें नृत्य और नाट्य दोनों का संयोग होता था। "ऐसा प्रतीत होता है कि लोक में जन-साधारण द्वारा किसी लोक-प्रचलित नायक को लेकर प्रदर्शित उपरूपक को आलंकारिकों ने 'रासक' का नाम दिया और शिक्षित एवम् शास्त्र-प्रचलित नायक के आधार पर रचित उपरूपक को 'नाट्य रास' का नाम दिया।"[2] अद्दहमाण या अब्दुर रहमान द्वारा १२वीं-१३वीं शती में प्रणीत अपभ्रंश ग्रन्थ 'संदेशरासक' की चर्चा करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि "'रासक' वस्तुत एक विशेष प्रकार का खेल या मनोरंजन है। रास में वही भाव है। 'सट्टक' भी ऐसा ही शब्द है। लोक में इन मनोरंजक विनोदों को देखकर संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों ने उन्हें

---

१. हिन्दी-नाटक · उद्भव और विकास : डा० दशरथ ओझा, द्वि० स०, पृ० ३३

२. "सेठ गोविन्ददास अभिनंदन ग्रंथ · भारतीय नाट्यसाहित्य"—(सं० डॉ० नगेन्द्र) में संकलित लेख—'अपभ्रंश नाट्य-साहित्य' : लेखक डा० हरिवंश कोछड़, पृ० २५२

रूपको और उपरूपको मे स्थान दिया था।"[1] हेमचद्राचार्य ने काव्यानुशासन में रासक को गेयरूपक माना है। अपभ्रंश-काल में हल्लीसक, रासक, प्रेक्षणक आदि नाटकों का प्रचार बहुत अधिक था। १२-१३वी शताब्दी में इनके उत्सवो के वृत्तान्त भी हमें उपलब्ध होते है। जैनाचार्यो के रासक या 'रास गीति-नाट्य' १३वी शताब्दी में विरचित होने लगे थे। इनकी भाषा अपभ्रंश तथा गुर्जर या राजस्थानी-मिश्रित है।[2] इनकी शैली लोक-नाट्य-परम्परा की है। ये या तो जैन मदिरो में या अन्य सार्वजनिक स्थानो में प्रदर्शित किये जाते थे। रास-ग्रन्थो में धार्मिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, नैतिक, लौकिक आदि सभी विषयो का वर्णन प्राप्त होता है। सवत् १३२७ के 'सप्तक्षेत्ररास' में लिखा गया है कि "जैन मदिरो के उत्सव-प्रसग से श्रावक-श्राविका हर्ष के साथ एकत्रित होते और वहाँ तालियो के साथ एवम् डांडियों के साथ रास खेले जाते।"[3] गुजरात के विविध रास, राजस्थान के लकडरास और ब्रजभूमि की रास-लीलाएँ इसी परम्परा के शेषाश हैं।

फागु

अपभ्रंश साहित्य के रासक युग में ही हमें फागु-काव्य मिलते हैं। फागु गेय-रूपक हैं जो वसतऋतु में, विशेषत फाल्गुन-चैत्र में, खेले जाते हैं। प्रिसि० के० बी० व्यास का कथन है कि होली के त्यौहार पर जो 'फाग' गीत गाए जाते है उनका मूल उत्स यही 'फागु' है। 'फागु' का सम्बन्ध फाल्गुन से है।[4] 'फागु' शब्द वसत का निदर्शक है, इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है 'सस्कृत फल्गु (वसत) > अपभ्रंश फागु > जूनी गूजराती फागु। हेमचन्द्र ने 'फागु' का अर्थ 'वसन्तोत्सव' बताया है।[5] जिस प्रकार 'रास' एक प्रकार का गेय रूपक है, उसी प्रकार 'फागु' नृत्यवाद्ययुक्त गेय-रूपक है। प्राचीन काल में फागु का स्वरूप लोकोद्भव गीति-नाट्य का था जो सदा गाया और खेला जाता था।[6] 'सिरि थूलिभद्द फागु' में भी यह स्पष्ट उल्लेख है कि फागु में खेलने और नाचने की प्रधानता रहती है।[7] शृगारप्रधान वासती वातावरण इसके साथ किसी न किसी रूप में सदा ही बना रहा है। फागु के दो भेद हैं—एक जैन फागु और दूसरा जैनतर फागु। जैन फागु में जैनधर्म सम्बन्धी विषयो का समावेश होता है, पर जैनेतर फागु में ऐतिहासिक या पौराणिक विषय रहता है और उसमें नायक-नायिका के रूप मे कृष्ण-राधा तथा रुक्मिणी, गोपियाँ आदि अनेक पात्र होते हैं। हमारे देश मे फाल्गुन में सामूहिक नृत्य का शताब्दियो से रिवाज रहा है। राजस्थान मे आज भी

---

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र० स० १९५२, पृ० १००।

२. हिन्दी-नाटक . उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा, पृ० ६६

३. 'साहित्यकार' हिन्दी मासिक पत्रिका के वर्ष ७, अक ११ में श्री अगरचन्द नाहटा का लेख 'लोक-नाटकों की परपरा', पृ० ७० ।

४. "Vasant Vilasa" —Edited by Pri K. B Vyas, 1942, P 38

५. 'वसतविलास' प्राचीन फागु-काव्य, सपादक—प्रिं० कान्तिलाल बलदेवदास व्यास, द्वितीय आवृत्ति, १९५७, पृ० २ (प्रस्तावना)।

६. वही, पृ० ३

७ खरतरगच्छि जिणपदम सूरि किय फागु रमेवउ।
खेला नाचइ चैत्र मासि रगिहि गावेवउ॥

फाल्गुन मे 'रम्मत' गीति-नाट्य की प्रथा है। गुजराती 'गरबा' और राजस्थानी 'घुम्मर' तथा 'घिन्नड' इसी के रूपान्तर हैं। 'घिन्नड' लकुटा रास या डंडिया रास है। फाल्गुन के प्रारम्भ होते ही राजस्थान के नगर-नगर और ग्राम-ग्राम के मुक्त प्रांगणों—चौकों—में "घुए मांड्या ए सुहागण थारा हाथ, घिन्नड रमवा म्ह चाल्या" की ध्वनि गूंज उठती है।[1] इस प्रकार 'फागु' रूपक राजस्थान में आज भी प्रचलित है।

चर्चरी :

'चर्चरी' शब्द 'चच्चरी' और 'चाचरि' का पर्यायवाची है। 'चर्चरी' शब्द ताल एवम् नृत्य के साथ, विशेषत उत्सवो आदि मे गायी जाने वाली रचना का बोधक है।[2] चर्चरी का उल्लेख सस्कृत तथा अपभ्रश के कई ग्रन्थों मे मिलता है। 'सदेशरासक' मे भी वसत-वर्णन के प्रसग मे 'चर्चरी' गान का उल्लेख है। यथा

चच्चरिहि गेउ झुणि करिवि तालु,
नच्चीयइ अउव्व वसत कालु।[3]

प्राचीन गुजराती ग्रथो मे भी 'चर्चरी' का उल्लेख मिलता है और उसे गेय रूपक माना है। 'चर्चरी' रूपक का मगलकारी प्रसगो या त्योहारो पर सार्वजनिक स्थानो, मदिरो मे ताल और नृत्य के साथ प्रदर्शन होता था। कालान्तर मे चर्चरी धार्मिक स्तवन, उपदेशात्मक काव्य, धार्मिक तीर्थंकर, साधु, जैन श्रेष्ठियो के चरित्र, तीर्थस्थानों के कथानक आदि विषयो को समाविष्ट करने वाले दीर्घ वर्णनात्मक काव्य-प्रकार के रूप में दृष्टिगत हुआ।[4]

उपर्युक्त विवचन से यह स्पष्ट होता है कि अपभ्रशकालीन लोकनाट्य-परम्परा प्राचीनतम है और वह किसी न किसी रूप में लोक-मनोरजन करती हुई आज तक चली आ रही है। गुजरात के रास और गरबे, राजस्थान के घुम्मर और रास तथा व्रजभूमि के लीला-नाटक इसी परम्परा के अवशिष्ट रूप हैं।

भारत में आज हमें लोकनाट्य-परम्परा के रामलीला, रासलीला, स्वांग, भवाई, कठपुतली, यात्रा, तमाशा, यक्षगान आदि कई जन नाटक उपलब्ध होते है जो विभिन्न कालो में अनेक अवरोधो के बावजूद जन-साधारण का मनोरजन करते चले आ रहे है।

रासलीला

भारत के प्रचलित धर्मों मे वैष्णव धर्म एक प्रमुख धर्म है, जिसने युगो से समस्त भारत के जन-जीवन को अनुप्राणित और अनुप्रेरित किया है। सोलहवी शती मे पूर्वभारत मे चैतन्य महाप्रभु ने और उत्तरभारत में वल्लभाचार्य ने वैष्णव भक्ति के प्रचार मे अभूत-

---

१. 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', सवत् २०११, वर्ष ५६, अक ४ में श्री अक्षयचन्द्र शर्मा का लेख 'सिरिथूलिभद्द—फागुपर्यालोचन', पृ० ३४।

२ सेठ गोविन्ददास अभिनदन ग्रथ, भा० १ में श्री रघुवश कोचड़ का लेख 'अपभ्रश नाट्य-साहित्य', पृ० २५०।

३ सदेशरासक श्लोक २१६।

४. 'गुजराती साहित्यना स्वरूपो' (पद्यविभाग)—प्रो० मजुलाल र. मजमुदार, पहली आवृत्ति १९५४, पृ० ७८।

पूर्ण योग दिया। कृष्णभक्ति की दो प्रकार से अभिव्यक्ति हुई, एक गेय गीतों के रूप में और दूसरी लीलाओं के नाट्याभिनय के रूप में। लीलाओं का गीतों से अधिक प्रभावशाली होना नितान्त स्वाभाविक था। इनसे कृष्णभक्ति-आन्दोलन को बड़ी शक्ति, गति और लोकप्रियता प्राप्त हुई। समस्त भारत में कृष्णभक्ति का प्रसार हुआ और उसी के फलस्वरूप लीला-नाटकों के विभिन्न प्रकार हमें आज उपलब्ध होते हैं। यथा, आसाम के अंकिया नाट, बंगाल की यात्राएँ, मिथिला के कीर्तनिया, उत्तरप्रदेश की रासलीलाएँ, दक्षिण भारत के यक्षगान इत्यादि।

गुजरात, राजस्थान और ब्रजभूमि का सारा क्षेत्र कृष्णभक्ति-प्रवाह से १६वीं-१७वीं शती में समानरूपेण प्रभावित रहा है। ब्रज की रासलीला का प्रारम्भ इसी कृष्ण-भक्ति-धारा के मध्य हुआ। डॉ० दशरथ ओझा की यह स्थापना है कि "ब्रजभाषा में कृष्ण-रास की जो परम्परा चली, उसपर पूर्वविरचित राजस्थानी और अन्य जैन रासों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है।"[1] रासलीला के उद्गम के विषय में बड़ा मतभेद है। निम्बार्क और वल्लभ, दोनों ही सम्प्रदायों में निम्बार्क सम्प्रदाय के श्री हरिव्यास देवाचार्य के शिष्य घमण्डदेव को रासलीला का प्रवर्तक माना जाता है। कुछ लोग स्वामी हरिदास को रास के आद्याचार्य मानते हैं। वल्लभाचार्य, हितहरिवंश और गुजरात के नरसिंह मेहता का भी नाम इस परम्परा के साथ जुड़ा हुआ है। जो कुछ भी हो, रासलीला की वर्तमान अभिनयात्मक परम्परा ब्रज में हमें विक्रम की सोलहवीं शती से प्राप्त होती है। वैसे संस्कृत में रास का वर्णन विभिन्न पुराणों और जयदेव के 'गीतगोविन्द' में प्राप्त होता है। भागवतपुराण में यह वर्णन अधिक विशदरूप में प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों में रास का सम्बन्ध कृष्ण की लीलाओं से ही है। रासलीला से सम्बन्धित ब्रजभाषा के प्रारम्भिक नाटक नन्ददास द्वारा विरचित हैं। गोवर्धन लीला, स्याम-सगाई आदि उनके उत्कृष्ट रासलीला-नाटक हैं।

रासलीला का उद्गमस्थान मुख्यतः ब्रजभूमि ही है। यद्यपि रास की परम्परा अखण्ड रूप से सौराष्ट्र गुजरात में भी सुदीर्घ अवधि से चली आ रही है। मणिपुर में भी रास नृत्यों का खूब प्रचार है।

रास के प्राचीन नाम हैं रासक, रल्लीसक और रास या रासउ। ये शब्द एक ही अर्थ में अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुए हैं। 'रासक' उपरूपक के भरतमुनि ने तीन भेद किये हैं तालरासक, दण्डरासक और मण्डलरासक। तीनों रूप आज भी प्रवर्तमान हैं। 'रास' विषयक प्रारम्भिक विवरण 'अपभ्रंश रास परम्परा' में प्रस्तुत किया जा चुका है, अतः यहाँ आवश्यक नहीं है।

रासलीला मूलतः सात्त्विक और आध्यात्मिक प्रेम-लीला है जिसका अनुभव सन्त और भक्त अपने अंतर्लोक में करते हैं। रास-लीला की रचना में राधा-कृष्ण के प्रेम की विविध कथाएँ, जो श्रीमद्भागवत में उल्लिखित हैं, कथावस्तु के रूप में प्रस्तुत की जाती हैं। "भागवत के अतिरिक्त जयदेव के 'गीतगोविन्द' ने भी रासलीला को प्रभावित किया है।" भ्रमरगीत, दानलीला, मानलीला, माखन चोरी, ग्वाल-बालों के साथ क्रीडा-केलि आदि के अभिनय इन लीलाओं में किये जाते हैं। कालियदमन, पूतना-वध, गोवर्धन धारण आदि सहस्रों प्रसंगों को रासलीला में सम्मिलित किया जाता है। श्री कृष्ण का राधा, गोपियों

---

१. हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास • डा० दशरथ ओझा, पृ० १०३

और ग्वालो के साथ हर्षोल्लासयुक्त गोलाकार नृत्य भी रासलीला का अग है। रास मे गीत, नृत्य और वाद्य के अतिरिक्त नाट्य-सामग्री के रूप मे राधा-कृष्ण की लीलाओ के अभिनय भी सम्मिलित रहते है।

रासलीला का भारतीय लोक-जीवन के साथ रागात्मक सम्बन्ध है। श्रद्धा और भक्तिपूर्वक भारतीय जनता रासलीला से रसानन्द प्राप्त करती है। यह लोकनाट्य शृङ्खला की एक महत्त्वपूर्ण कडी है। आज तो रास मे वस्तुत बहुमुखी लोक-जीवन की झाँकी मिलती है।

रासलीला के सवाद गद्य-पद्यमय होते है। पद्यो मे सूरदास, नन्ददास, ब्रजवासीदास आदि के पद विविध रागो मे विशेष रूप से गाये जाते है। बीच-बीच मे कवित्त और सवैये भी आ जाते है। प्रारम्भ और अन्त मे सस्कृत-श्लोको का पाठ होता है। कथोपकथन मे भी यदा कदा श्रीमद्भागवत के श्लोको का प्रयोग होता है। सवाद की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा होती है। लीला कभी दु खान्त नही होती, और न अन्त म पर्दा ही गिरता है। वियोग-प्रधान उद्धवलीला के अन्त मे भी सयोगात्मक दृश्य विधान रहता है। लीलाओ मे सभी रसो का समावेश होता है, पर प्रधानत वे शृङ्गार-रसाश्रित हैं।

कृष्णजीवन-सम्बन्धी ये लीलाएँ रासधारी मडलियाँ करती है। अत्यन्त कुशल और प्रसिद्ध मडलियाँ मथुरा-वृन्दावन मे रहती हैं। रास-मडली के सदस्यो को 'समाजी' भी कहते है। रास मडली अधिक से अधिक सात आठ अभिनताओ की होती है जिनमे से चार 'सखी-स्वरूप' होते हैं। राधास्वरूप और कृष्णस्वरूप के लिए दो अन्य अभिनेता रहते हैं। तदुपरान्त दो 'सखा स्वरूपो' का कार्य करते है। यदि किसी लीला मे अधिक पात्रो की आवश्यकता होती है, तो सखियो का अभिनय करने वाले ही दुहरी-तिहरी भूमिका कर लेते हैं।

पात्रो के वेश विभिन्न प्रकार के होते है। कृष्ण रगविरगी कटि काछनी, मोर-मुकुट, कुडल और माला से सुसज्जित रहते हैं। हर समय हाथ मे वशी का होना अनिवार्य रहता है। राधा और गोपियो की पात्रानुकूल वेशभूषा रहती है। गुजरात की 'भवाई' की भाँति रासलीला मे पुरुष ही स्त्रियो की भूमिकाएँ करते है। भवाई के 'रँगले' की भाँति लीला का 'मनसुखा' अथवा 'मधुमगल' अपन विचित्र वश विन्यास के कारण मनोविनोद का उपकरण बनता है। कभी कभी उसका वेश विकृत भी होता है। फटी पुरानी पगडी, लम्बी मूँछें, बडी-सी तोद आदि के द्वारा वह दशको म हास्य की सृष्टि करता है।

रासलीला का रगमच बडा सादा रहता है। रासमडलियाँ खुले रगमच का उपयोग करती हैं। मन्दिर के प्रागण मे, किसी सार्वजनिक स्थान मे या धर्म-प्रवण किसी नागरिक के घर के सामन खुल मैदान मे एक कोने मे चौकी रखकर उसपर सिहासन रखा जाता है। सिहासन के आगे रगीन पर्दा डाल दिया जाता है। कभी-कभी पर्दे के बदले दो व्यक्ति चादर पकडे खडे रहते हैं। 'रासमडल' के तीनो ओर दर्शक बैठते हैं। स्त्रियाँ एक ओर और पुरुष दूसरी ओर। सबसे पहले कोई-कोई रासधारी 'घटस्थापन' करते हैं, फिर मगलाचरण शुरू होता है। उधर पर्दे के पीछे 'सखी स्वरूप' आकर सिहासन के नीचे बैठ जाते है। तत्पश्चात् राधा और कृष्ण सिहासन पर विराजते हैं। राधा-कृष्ण की जयघोषणा के पश्चात् पर्दा हटाया जाता है। आरती होती है। सखियाँ नृत्य करती है। फिर अनुनय-विनय के पश्चात 'रास' प्रारम्भ होता है। रास मे वर्तुलाकार समूह-नृत्य होता है। गीत गाये जाते है। बाजे

बजते हैं। यह 'नित्यरास' लगभग एक घंटे तक चलता है। तत्पश्चात् अन्य लीलाएँ होती हैं। 'रासलीला' का यह नियम अनुल्लंघनीय है। लीला के अभिनय में लगभग तीन घंटे लगते हैं। विशिष्ट दृश्यों के दिखाने के लिए कोई खास प्रबन्ध नहीं होता। 'नौका लीला' का प्रदर्शन करने के लिए कभी कभी यमुना नदी में नौकाओं का रंगमंच बनाकर भव्य समारोह किया जाता है। 'महारास' का आयोजन कई रासमंडलियाँ मिलकर करती हैं क्योंकि उसमें कृष्ण के अनेक स्वरूपों और कई गोपियों की आवश्यकता रहती है। लीलाओं के अभिनय के समय 'रासमंडल' के बीच से गुजरना अनुचित समझा जाता है।

हिन्दी से सम्बन्ध रखने वाले मनोरंजनों में सम्भवतः सबसे प्राचीन रासलीला है।[1] रासमंडलियाँ रासलीला के द्वारा शहरी ग्रामीण, ऊँच-नीच, शिक्षित-अशिक्षित सभी का मनोरंजन वर्षों से करती आ रही हैं। इन मंडलियों का निर्वाह आरती में प्राप्त धन और दर्शकों द्वारा अच्छे अभिनेताओं पर न्योछावर किये गये द्रव्य से होता है।

रासलीला का गुजरात सौराष्ट्र से भी अभिन्न सम्बन्ध है। उसका इतिहास उतना ही प्राचीन है जितनी पुरानी भगवान कृष्ण के द्वारका निवासी बनने की कथा। सम्भवतः इसीलिए श्री डोलरराय मांकड यह मानते हैं कि 'रास' का सर्वप्रथम उद्गम सौराष्ट्र में हुआ।[2] डॉ० जगदीश गुप्त ने अपने शोध-प्रबन्ध 'गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन' में यह प्रतिपादित किया है कि 'रासलीला'-सम्बन्धी साहित्य गुजराती में तो पन्द्रहवीं शती में उपलब्ध होता है, किन्तु ब्रजभाषा में इस शती में इस विषय का कोई साहित्य निर्मित नहीं हुआ। ब्रजभाषा में रास-परम्परा एक शताब्दी के पश्चात्, अर्थात् १६वीं शताब्दी से, प्रारम्भ होती है।[3] कहा जाता है कि नरसिंह मेहता को गोपनाथ महादेव की कृपा से रासलीला देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।[4] उस धन्य प्रसंग को उन्होंने अपने 'रास रहस्यपदी' नामक पदों में अंकित किया है। गुजरात-सौराष्ट्र में तालियों का रास, डांडिया-रास आदि रास आज भी प्रचलित हैं। ये गीतमय वर्तुलाकार समूह नृत्य हैं। संवादात्मक अभिनय का उनमें अभाव है। 'लास' और 'रास' नृत्य की परम्परा सौराष्ट्र भूमि में पाँच हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीन है और आज भी वह परम्परा 'रास' और 'रासडा' के रूप में सजीव है।[5] प्राचीन गुजराती रासलीलाओं के विषय बहुधा 'कृष्ण-गोपी' की विविध लीलाओं से सम्बन्धित हैं। गुजरात का 'गरबा' इसी रास-परम्परा का शेषांश है,[6] जो बहिनों द्वारा वर्तुलाकार में गीत एवम् नृत्य द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। प्राचीन गरबों के विषय धार्मिक हुआ करते थे, पर आजकल लौकिक विषयों के भी गरबे रचे जाते हैं। 'गरबा नृत्य' गुजरात की ही एकान्तिक विशिष्टता है जिसका उद्गम पूर्वोक्त कथनानुसार 'रास'-परम्परा से हुआ है।

---

१ हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास डा० सोमनाथ गुप्त, चौथा संस्करण, १९५७, पृ० १३
२ The Types of Sanskrit Drama
—D R Mankad, 1936 Edition P 141
३ गुजराती और ब्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन ले० डा० जगदीश गुप्त, १९५८, पृ० १३१।
४ गुजराती साहित्यना स्वरूपो—पद्यविभाग, ले० प्रो० मंजुलाल र. मजमुदार, १९५४, पृ० ११०।
५. वही पृष्ठ ११९
६ The Types of Sanskrit Drama—D R Mankad, P. 142

यही 'रास', 'रहस' के नाम से अभिहित होता है। उत्तर प्रदेश के कई गाँवों में आज भी 'राम' के लिए 'रहस' शब्द का प्रयोग प्रचलित है और 'रासधारी' को 'रहसधारी' भी कहा जाता है। 'रासलीला' की अतिशय लोकप्रियता से प्रभावित होकर ललितकला-प्रेमी अवध के अन्तिम नवाब वाजिदअली शाह ने 'रहस' के जलसे शुरू किये। प्रयाग विश्वविद्यालय के उर्दू के प्रोफ़ेसर श्री मसीहुज्जमाँ का कथन है कि 'रहस' के नाम से वाजिदअली शाह दो प्रकार के जलसे करवाते थे। एक में श्रीकृष्ण के जीवन की झाँकियाँ प्रस्तुत की जाती थीं और दूसरे में घेरे में नाच होता था। उनकी किताब 'बनी' का चौथा अध्याय 'रहस' के बारे में है जिसके दो भाग हैं। पहले में उन्होंने ३६ मौलिक रहसों का वर्णन किया है। दूसरे में राधा-कन्हैया की कथा को दो तरह से नाटक के रूप में परिवर्तित किया है।[1] वाजिदअली शाह 'रहस' को नाटक या खेल कहते थे। उन्होंने 'रहस' के कई निपुण नट रक्खे थे जिन्होंने राधा-कृष्ण का नाटक एक लाख से अधिक रुपयों में तैयार किया था। इस नाटक के निर्देशक वे स्वयं थे। यह नाटक सन् १८४३ में हुजूरबाग में खेला गया था।[2]

इस 'रास' या 'रहस' का प्रभाव अमानत की 'इन्दरसभा' (१८५३) पर भी पूर्णतः परिलक्षित होता है। जिसका विवेचन आगे 'रंगमंच' के अध्याय में किया जायगा। भारतेन्दु-युग के कई नाटक 'रासशैली' पर आश्रित हैं। इस प्रकार इस अत्यन्त प्राचीन और प्रसिद्ध लोकनाटक 'रासलीला' ने न केवल अनेक भारतीय भाषाओं के लेखकों को और रचनाओं को ही प्रभावित किया है, अपितु नाट्य-साहित्य में विशिष्ट पद प्राप्त कर लिया है।

रामलीला :

भगवान् राम की दिव्य जीवन-विषयक लीलाओं का अभिनयात्मक रूप रामलीला है। रामलीला के उद्गम का इतिहास देना सम्भव नहीं है क्योंकि तत्सम्बन्धी कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती। रामलीला का प्रचार कई वर्षों से समस्त उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार, गुजरात आदि में है। यह 'लीलानाटक' उत्तरप्रदेश का मुख्य जन-नाटक है, जो हर गाँव में खेला जाता है। इसे वहाँ वही महत्त्व प्राप्त है जो 'यात्रा' को बंगाल में और 'भवाई' को गुजरात में। कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने सर्वप्रथम रामलीला का प्रारम्भ काशी और अयोध्या में किया था। तदन्तर इसका प्रचार सर्वत्र हुआ। तुलसीदास के नाम पर चलने वाली रामलीला-मंडली आज भी आश्विन मास में काशी में 'रामलीला' का प्रदर्शन करती है। अयोध्या, आगरा, मथुरा, लखनऊ, दिल्ली आदि की रामलीलाएँ इन दिनों भी असंख्य लोगों के आकर्षण का केन्द्र बनी हुई हैं और उनकी लोकप्रियता तनिक भी कम नहीं हुई है।

आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से आरम्भ होकर रामलीला कहीं महीना-भर चलती है तो कहीं उससे कम। मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम की चरित्र-कथाओं का अभिनय 'रामलीला' में होने के कारण यह लोकनाट्य पूरी गम्भीरता और सात्त्विकता लिये हुए है। 'रासलीला'

---

१. 'कादंबिनी'—पत्रिका के मार्च १९६१ के अंक में लेख : 'उर्दू के प्रथम नाटककार और निर्देशक वाजिदअलीशाह'—लेखक मसीहुज्जमाँ, पृ० ७१।

२. 'कादंबिनी'—पत्रिका, अप्रैल १९६१ में लेख : 'उर्दू के प्रथम नाटककार और निर्देशक वाजिदअली शाह'—ले० मसीहुज्जमाँ, पृ० ५१।

की भांति इसमे शृगारिकता नही रहती, यद्यपि इन दिनो कतिपय रामलीला मडलियाँ स्थूल शृगार और भोडे हास्य का प्रदर्शन करती है। सामान्यरूपेण आज तक यह परम्परागत लोकनाट्य लोगो की धार्मिक भावना को परितुष्ट करता चला आ रहा है और मनोरजन भी प्रदान करता है। वस्तुत यह सर्वजनहिताय एवम् सर्वजनसुखाय लोकनाट्य है।

रामलीला की कथावस्तु तुलसीदासजी के महाकाव्य 'रामचरितमानस' से ली जाती है। राम-जन्म, धनुष-यज्ञ, रामविवाह, राम-वनगमन, भरत-मिलाप, लकादहन आदि सभी रामजीवन सम्बन्धी प्रसगो का रामलीलाओ मे प्रदर्शन होता है। रामलीला खुले मैदान मे या किसी मन्दिर के प्रागण मे होती है। श्री जगदीशचन्द्र माथुर का कहना है कि "उत्तर प्रदेश के कई नगरो म रामलीला-प्रदर्शन एक ही मच एवम् प्रेक्षागृह मे न होकर भिन्न-भिन्न स्थानो पर अपेक्षित दृश्य के अनुकूल वातावरण और पूर्वस्थित पृष्ठभूमि से लाभ उठाते हुए किया जाता है। वनवास तक की लीलाएं मन्दिरो मे होती है गगा पार के लिए नगर के किसी जलाशय अथवा नहर को चुना जाता है। चित्रकूट और उसके बाद की लीलाएँ नगर के बाहर एक विस्तृत मैदान को घेरकर की जाती हैं। भरतमिलाप और राजतिलक के लिए पुन मडली नगर को वापस आती है। इस तरह रामलीला का रगमच अपने ढग का यथातथ्यवादी (realistic) रगमच है और साथ ही वस्तुविषय की महत्ता का द्योतक भी। लोक-परम्परा से भी रामलीला रगमच ने बहुत-कुछ पाया, विशेषत परिहास के प्रसग और पात्र, किन्तु 'रामचरितमानस' इन अभिनयो का प्राण बराबर रही और इसी कारण रामलीला मे लोक रगमच का साहित्यिक रूप सुरक्षित रहा है, रासलीला की भांति।'[1]

रामलीला के मच के चारो ओर प्रेक्षक बैठ जाते हैं। 'रामचरितमानस' का 'पाठक' और अभिनेता गण मच के एक ओर बैठते हैं। मगलाचरण के पश्चात् ढोलक, मजीरो आदि वाद्यो के साथ 'रामचरितमानस' का पाठ प्रारम्भ होता है। पात्रो को 'मानस' के दोहे और चौपाइयाँ कठस्थ होती हैं। ये राम, लक्ष्मण, हनुमान, सीता, रावण, मदोदरी इत्यादि कथा-प्रसगो के अनुरूप वेष-भूषाओ मे सुसज्जित होकर यथासमय मच पर आ उपस्थित होते हैं और दोहे चौपाइयो का कथोपकथनो मे प्रयोग करते हुए अभिनय करते है। कई बार ये पात्र मूक अभिनय भी करते हैं और आवश्यकता पडने पर अपनी भाषा मे भी सवाद करते हैं। अन्त म आरती होती है। तब लोग यथाशक्ति दक्षिणा देते है।

रामलीला के रगमच और पात्रो की सादगी सराहनीय होती है। वेशभूषा और रग सज्जा के लिए विशेष व्यय नही किया जाता। एक-दो पर्दे और पत्तो-फूलो के तोरण रगमच को सुसज्जित कर देते है। काजल, चन्दन, गेरू, राख, पुट्ठो पर चिपके रगीन कागजो पर बने हुए चेहरे, पन्नियो से चमकते हुए मुकुट, लकडी के अस्त्र शस्त्र आदि इस जन-नाटक के प्रसाधन हैं। प्राय पुरुष ही स्त्रियो की भूमिका करते हैं।

रामलीला प्रस्तुत करने की कई शैलियाँ दृष्टिगत होती हैं। उपर्युक्त शैली के अतिरिक्त इन दिनो रामलीला नाटक के रूप मे भी खेली जाती है। गुजरात मे उसका यही रूप प्रचलित है। गुजरात के हर शहर या गाँव के चौराहे पर या मन्दिर के निकट खुले मैदान मे रामलीला-मडलियाँ नाटक की भांति रामलीला का प्रदर्शन रात्रि के समय करती हैं। गुजरात में भी इसकी लोकप्रियता कम नही है। दक्षिण भारत मे 'कथकली' नृत्य के

१. 'आलोचना' हिन्दी त्रैमासिक पत्रिका (अक ६, जनवरी १९५३) में श्री जगदीशचन्द्र माथुर का लेख 'हिंदी रगमच और नाट्यरचना का विकास', पृ० २१

कतिपय प्रसग रामलीला की रामकथा पर आधृत रहते है। स्याम मे 'रामलीला' का प्रचलन है। तदुपरान्त वहाँ कठपुतलियों के खेलो मे भी रामकथा प्रदर्शित की जाती है। बालीद्वीप के लोक नृत्यों मे रामायण की घटनाएँ प्रस्तुत की जाती है।[1] कुछ वर्ष पूर्व महान् नृत्यकार उदयशकर ने देश के कई नगरो मे 'रामचरितमानस' के कुछ अशो को छाया-नाट्य के रूप मे प्रदर्शित किया था। बम्बई की 'लिटल बैले-ट्रुप' ने रामकथा को Cartoon Play की शैली मे दिखाने का अत्यन्त सफल प्रयोग किया है। इस तरह भगवान् राम की लीलाएँ भारतीय कलाकारो को सदैव आकर्षित करती रही हैं। हारविज महोदय ने ठीक ही कहा है कि "मालूम होता है, हिन्दू लोग अवतारी पुरुष राम की कथा से कभी नही ऊबते।"[2]

स्वाँग या नौटकी

स्वाग या नौटकी उत्तर प्रदेश, पजाब और राजस्थान का लोकनाट्य है। स्वाँग को साँग भी कहते है। स्वाँग' का अर्थ रूप भरना या रूप लेना है और वस्तुत 'स्वाँग' लोक-नाटक म अभिनेता गण विविध पात्रों के रूप लेकर मच पर उपस्थित होते है। नौटकी को महाकवि जयशकर 'प्रसाद ने प्राचीन सस्कृत 'नाटकी' का अपभ्रश माना है।[3] साँग को नौटकी भी कहते है।[4] साँग का दूसरा नाम 'सागीत' नाटक है।[5] साँग, सागीत या नौटकी मे सगीत की प्रधानता रहती है। अत. डॉ० सोमनाथ गुप्त का विचार है कि 'सागीत' शब्द 'सगीत' से निकला हो।[6] नकल या साँग (स्वाँग) आमोद-प्रमोद का बहुत ही पुराना साधन है।[7]

'स्वाँग' शब्द का प्रयोग भारत की भिन्न भिन्न भाषाओ के साहित्य मे प्राचीन काल से ही पाया जाता है। स्वाँग का उल्लेख कालिदास ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' मे किया है।[8] सन्त तुकाराम के समय मे स्वाँगो का महाराष्ट्र मे प्रचार था।[9] गुजरात के 'भवाई' लोकनाटक के 'वेश' को 'स्वाँग' भी कहते हैं और वह यही 'स्वाँग' है। तत्त्वचिंतक गुजराती कवि अखा के पदो मे 'स्वाँग' शब्द का प्रयोग हुआ है। हिन्दी म सिद्ध सन्त कण्हपा (९वी शती) के समय से आज तक बराबर 'स्वाँग' का प्रचलन रहा है।[10] अमीर खुसरो (१३वी शती), कबीर (१५वी शती), जायसी (१६वी शती) आदि ने अपनी अपनी रचनाओ मे इस जन-नाटक का उल्लेख किया है। औरगजेब के समकालीन मौलाना गनीमत की मसनवी 'नैरगे इश्क' (१६८५ ई०) मे भी हमे 'स्वाँग' खेलने वाले 'भगतबाजो' का

---

१. लोकधर्मी नाट्यपरपरा—डॉ० श्याम परमार, प्र० स०, १९५९, पृ० ७५।
२ 'The Hindus never seem to tire of a story told of the saintly Rama" —J P. Harvidge, Indian Theatres', P. 140–41.
३. 'हिन्दुस्तानी' त्रैमासिक पत्रिका, जुलाई १९३७, पृ० २५५
४. लोकधर्मी नाट्यपरपरा, डॉ० परमार, पृ० ५०
५. डा० सोमनाथ गुप्त—हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास, पृ० १४
६. वही, पृ० १४
७. वही, पृ० १४
८. 'मालविकाग्निमित्रम्' अक १।
९. लोकधर्मी नाट्यपरपरा—डॉ० श्याम परमार, पृ० ४७
१०. हमारी नाट्यपरपरा—श्री श्रीकृष्णदास, प्र० स० १९५६, पृ० १९४

वर्णन मिलता है।[1] इस प्रकार यह लोकनाट्य परम्परागत है और इसकी प्राचीनता असंदिग्ध है।

हिन्दी 'स्वांग' और गुजराती 'भवाई' के रचना-विधान और प्रदर्शन-पद्धति मे अत्यधिक समानता है। भवाई की भांति स्वांग में भी पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक एवम् लौकिक विषय रहते है और व्यवसायी मंडलियां गांव-गांव घूमकर उनका अभिनय करती है। राजा भर्तृहरि, गोपीचन्द, पूरनमल, हीर-रांझा, सुल्ताना डाकू आदि बहुत प्रसिद्ध स्वांग-नाटक हैं जिनके द्वारा प्रेम, शौर्य, ढोंगियों का ढोंग, अफसरों की उच्छृङ्खलता, समाज की कुरीतियों इत्यादि का प्रदर्शन होता है। इन स्वांग नाटकों मे शृंगार, वीर और करुण रस की निष्पत्ति होती है। जनवरी, सन् १९१० की 'इण्डियन एंटिक्वेरी' मे यह उल्लेख है कि सहारनपुर में रहने वाले अम्बाराम नामक गुजराती ब्राह्मण ने सन् १८१६ के आसपास नये ढंग के स्वांगों की रचना की, जिनका अभिनय भी हुआ। आरम्भ मे सभी स्वांग पद्य मे थे; धीरे-धीरे उनमे गद्य का प्रयोग भी होने लगा। आज के स्वांग पद्य-गद्यात्मक है।

स्वांग या नौटंकी का प्रधान वाद्य नक्कारा है। नक्कारे की बुलन्द आवाज सुनकर ग्रामीण जनता रात्रि के नौ-दस बजे स्वांग के प्रेक्षागृह—खुले मैदान मे एकत्रित हो जाती है। परम्परागत सभी लोक-नाटकों की भांति इसका 'रंगमच' भी सीधा-सादा और सरल होता है। आठ-दस अभिनेता मगलाचरण के पश्चात् खेल शुरू करते है जो कभी-कभी सूर्योदय तक चलता रहता है। इसमे वेश-भूषा और प्रसाधन की वस्तुएं भवाई तथा लीला-नाटको के समान ही होती है : साड़ी, धोती, अँगरखा, रग-बिरगे दुपट्टे, कुंकुम, काजल, गेरू वगैरह। पशु-पक्षियों और राक्षसों के चेहरों (मुखौटों) का भी इसमे उपयोग होता है। 'भवाई' के पात्रों की तरह स्वांग के सभी पात्र घुंघरू बांधकर नाचते हैं। इन दिनों भवाई की भांति स्वांग की कथावस्तु तथा प्रदर्शन-शैली में काफी अस्वाभाविकताएँ और अश्लीलताएँ दृष्टिगत होती हैं, फिर भी देहाती और शहरी, अर्धशिक्षित एवम् अशिक्षित जनता का ये लोक-नाटक पूरा मनोविनोद करते हैं।

भवाई और स्वांग दोनो मे प्रयुक्त अधिकाश गीत भिन्न-भिन्न राग-रागिनियो एवम् शास्त्रीय छन्दो मे रचित होते है। इनके अभिनेता-गण कुशल गायक होते हैं। उन्हे सभी नाट्यगीत कठस्थ होते हैं। ये उन्हे वाद्ययन्त्रो की सहायता से अभिनय के समय गाते है।

इस प्रकार भवाई और स्वांग में कथावस्तु, अभिनय और रस की दृष्टि से अद्भुत साम्य पाया जाता है। दुर्भाग्य से दोनों लोक-नाटक अब लुप्तप्राय हो रहे है।

कठपुतली :

कठपुतली की कला अन्तर्राष्ट्रीय कला है। यह प्राचीन काल से ही संसार के सभी देशो में मनोरंजन का साधन बनी हुई है। भारतवर्ष की कठपुतली की कला उतनी ही प्राचीन है जितनी भारतीय संस्कृति।[2] डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का कथन है कि संभवतः

---

१. डॉ० सोमनाथ गुप्त—हिन्दी० ना० वि०, पृ० २४

२. 'संस्कृति' : हिन्दी त्रैमासिक के मार्च-अप्रैल १९६१ के अंक १ में प्रकाशित —श्री देवीलाल सामर का लेख : 'कठपुतली-कला के नये मोड़', पृ० १७।

पुत्तलिका-नाट्यकला भारत मे ईसा के कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व या उससे भी पहले विकसित हुई होगी ।[1] महाभारत और अन्य संस्कृत-नाटकों मे इस जन-नाट्य का अनेक स्थानो पर उल्लेख पाया जाता है ।

"यूरोपीय कठपुतलियो का इतिहास भारत और चीन की अपेक्षा अधिक पुराना नही है । इंगलैंड, इटली, जर्मनी और फ्रांस मे यह कला पांच सौ वर्ष से अधिक पुरानी नही है, जबकि रूमानिया, पोलैंड, चैकोस्लोवेकिया तथा बल्गेरिया मे इसका इतिहास केवल दो या तीन सौ वर्ष पुराना ही है । इन देशों मे आज भी प्राचीन कठपुतली कलाकार भारतीय कठपुतली-कलाकारो की तरह ही गलियो और सडको पर अपनी लोक शैली की कठपुतलियों का प्रदर्शन करते है ।[2] इन दिनो विश्व-रंगमंच पर कठपुतली-कला की इतनी लोकप्रियता बढ गई है कि अन्तर्राष्ट्रीय कठपुतली-सम्मेलनो का आयोजन होने लगा है ।

कठपुतली का शाब्दिक अर्थ है, 'काठ की पुतली' । पर कठपुतलियां काठ के अतिरिक्त कपडे और चमडे की भी बनती है । यूरोप मे तो कपडो के साथ कागज, स्पंज और अन्य कई पदार्थो का इनके बनाने मे उपयोग होता है । भारत म सर्वश्रेष्ठ पुतलियां बनाने वाले राजस्थान मे है । राजस्थानी पुतली कठपुतली-क्षेत्र मे अपना विशिष्ट स्थान रखती है । आंध्र मे कठपुतली के नाच को 'बोम्मलाटा' कहते हैं । वहां दो प्रकार की पुतलियां पाई जाती है काष्ठ की और चर्म की । चर्म-पुत्तलिकाओ के नृत्य ने आंध्रप्रदेश मे अधिक लोकप्रियता पायी है ।[3] समस्त दक्षिण भारत मे कठपुतली के खेलो का प्रचलन है । दक्षिण भारत के कठपुतली-खेलो के कथानक प्रधानत पौराणिक होते है । यथा लंकादहन, रावण-वध, विराट-पर्व आदि, जबकि उत्तर-भारत मे ऐतिहासिक कथाओ और सामाजिक समस्याओ को लिया जाता है । राजस्थान मे विशेषत शौर्य और वीरता की राजपूती-गाथाएँ इन नाट्यो का विषय बनती है । गुजरात मे सभी प्रकार के विषय कठपुतली के खेलो मे प्रस्तुत किय जाते हैं ।

कठपुतली-नाट्य जन-नाटक का एक अति लोकप्रिय प्रकार है । इसका रंगमंच खुला मैदान या गांव का चौराहा होता है । खेल करने वाले एक और अस्थायी मंच बना लेते है । उसपर आवश्यक साज-सज्जा निर्माण कर ली जाती है । यदि सुलभ हुई तो बिजली की रोशनी का उपयोग होता है, अन्यथा अरंडी के तेल के छोटे-मोटे कुप्पे प्रकाश देते है । अन्य लोक-नाटको की भांति यह खेल भी सामान्यत रात के दस बजे शुरू होता है । दर्शक मंच के सामने बैठते । है पुतलियो को नचाने वाला निपुण सूत्रधार छिपकर पीछे बैठता है और अपनी अंगुलियो के कुशल संचालन से पुतलियो का खेल प्रस्तुत करता है । इसी के साथ संचालक की भार्या ढोलक बजाती हुई मधुर कंठ से कथा-प्रसंगो को गा गाकर सुनाती जाती है । यदा-कदा नेपथ्य मे पात्रों का वाचिक अभिनय भी सर्वश्राव्य होता है । इस प्रकार इस लोक-नाटक म पुतलियो के नृत्य के साथ संगीत और संवाद का भी सुयोग होता है । आंध्र मे ढोल और मृदंग का उपयोग किया जाता है । वहां जब चमडे की पुतलियां सफेद पर्दे के

१ Indian Drama Government of India Publication, November 1956 P. 6

२. 'सरवनि' त्रैमासिक, अंक १, १९६१—ले० श्री देवीलाल सामर, पृ० १८ ।

३. 'आंध्र-हिंदी-रूपक'—ले० डा० पाण्डुरंगराव, प्रथम संस्करण, अक्टूबर १९६०, पृ० ४२ ।

पीछे नचाई जाती है तब वह 'छाया-नाट्य' का रूप ले लेता है। भारतीय कठपुतलियाँ अधिकतर तीन या चार सूत्रों से ही नचाई जाती हैं। यूरोपीय कठपुतलियों के पन्द्रह-बीस धागे होते हैं।

भारत में राजस्थान कठपुतलियों के खेल का प्रधान केन्द्र है। परन्तु देश का एक भी भाग ऐसा नहीं है जहाँ इन पुतलियों का खेल प्रचलित न हो। उत्तरप्रदेश और गुजरात में राजस्थानी शैली के ही खेल प्रचलित है। जनता को आमोद-प्रमोद के साथ शिक्षा देने वाला यह अत्यन्त सुन्दर लोक-नाटक है।

भवाई : गुजरात का लोक-नाटक

भवाई गुजरात का अत्यन्त लोकप्रिय लोक-नाटक है, जो विगत चार सौ वर्षों से जनसाधारण का मनोरंजन करता चला आ रहा है।

'भवाई' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। अभी तक कोई एक सर्वमान्य व्युत्पत्ति निश्चित नहीं हो पाई है। गुजराती रंगभूमि के 'विरले कला सिद्धि-सम्पन्न अभिनेता जयशंकर 'सुंदरी'[1] 'भवाई' शब्द का अर्थ 'भव-वही' अर्थात् 'जगत के जमा-उधार की वही' मानते है।[2] डॉ० हरिलाल ध्रुव[3] तथा आचार्य डोलरराय मांकड[4] ने 'भाव' से भवाई की व्युत्पत्ति की कल्पना की है, क्योंकि 'भाव' शब्द का अर्थ नाट्यशास्त्र तथा शब्दकोप में 'नट' है, अत उक्त विद्वानों की धारणा है कि 'भाव' से 'भवाई', उसे खेलने वाले 'भवाइया'—'भवैया' आदि का आगमन हुआ होगा। प्रि० अनंतराय रावल का कथन है कि जिस प्रकार 'गर्भदीप' में 'दीप' के लोप होने पर 'गर्भ' से 'गरब'> गरबा' की व्युत्पत्ति हुई, उसी प्रकार 'भवाई' का शक्ति पूजा से सम्बन्ध होने के कारण आरम्भ में शक्ति-पूजा के लिए प्रयुक्त 'भगवती-यजन' में 'यजन' शब्द के लोप होने पर 'भगवती' से 'भअवई'>'भवाई' के उद्भव का अनुमान किया जा सकता है।[5] आचार्य रसिकलाल छोटालाल परीख ने 'भावन' से 'भवाई' का होना माना है, क्योंकि (अ) कई रचनाओं को मध्ययुग में 'भावन' कहा गया है।[6] (आ) जैन-स्तवनों को जब रात्रि के समय मंदिर में वाद्य तथा नृत्य के साथ गाया जाता है, तब उसे 'भावना' कहा जाता है। (इ) 'भावना' का भवाई से सम्बन्ध शब्दगत ही नहीं, वस्तुगत भी है। भवाई अम्बा माता की 'चाचर' में (भवाई के प्रेक्षकों के मध्य वर्तुलाकार स्थान, जहाँ माताजी की स्थापना की जाती है) होने वाला 'भावन' है—भक्ति का एक प्रकार है। 'भावे भवई साँभले, तेनी अवामाँ पूरे आस'। अर्थात् जिसे भाव हो, वह भवाई

---

१. 'शैली अने स्वरूप' —श्री उमाशंकर जोशी: पृ० १०४।
२. रंगभूमि परिषद (१९३७) में दिए गए व्याख्यान 'भवाइ अने तरगाला' से उद्धृत। देखिए—'रंगभूमि परिषदनो अहवाल'—व्याख्यान : जयशंकर 'सुंदरी'।
3 The Rise of the Drama the Transactions of the Ninth International Congress of Orientalists, Vol I
४. नागरिक गद्यावलि।
५. 'साहित्यविहार' —प्रि० अनंतराय रावल (१९५६ आवृत्ति, पृ० १६८)।
६. भवाई-संग्रह —महीपतराम रूपराम नीलकंठ, पृ० ६५।

सुने। अम्बा माता उसकी आशा पूरी करेगी।[1] इसका समर्थन डॉ० सुधावहन देसाई ने भी किया है।[2]

जो भी हो, यह तो निर्विवाद है कि 'भवाई' का सम्बन्ध भावपूर्वक देवी भवानी की नृत्य-गान द्वारा भक्ति करने से रहा है। आज भी 'भवाई' 'भवैया' लोगों का (भोजकों का) परम्परागत व्यवसाय माना जाता है, जो उत्तर गुजरात में रहते हैं। उत्तर गुजरात का प्राचीन नाम 'आनर्त' है। 'आनर्त' शब्द का सम्बन्ध 'नृत्' से है। अत यदि हम 'आनर्त' को नर्तकों और नटों का प्रदेश कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी।[3] गुजराती रंगभूमि के अधिकांश नटों, गायकों एव वादकों की जन्मभूमि यही प्रदेश रहा है। 'भवाई' को अब तक जीवित रखने का श्रेय उत्तर गुजरात—'आनर्त'—प्रदेश को ही है। यह उत्तर गुजरात मरु प्रदेश (मारवाड) से जुड़ा हुआ है। पहले दोनों एक थे। गुजरात की पुरानी गुजराती भाषा 'मारु गुर्जर' या Old Western Rajasthani (प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी) कही जाती है। एक जमाने में दोनों का राजनैतिक इतिहास एव जीवन-व्यवहार समान था। 'भवाई' आज भी उसका सबल उदाहरण है, जो गुजरात और राजस्थान दोनों का लोक नाट्य है। आज भी भवाई-अभिनय में गणपति की स्तुति समाप्त होने पर भवाई के प्रारम्भ होने के पूर्व मारू राग में गायी जाने वाली साखियों में 'मारू' का स्मरण किया जाता है

मारू तारा देशमां दीठां त्रण रतन।
एक ढोलो, दुजी मारुडी, त्रीजो कसुंबो रग॥[4]

[हे मारू, तेरे देश में तीन रत्न देखे—एक ढोला (आशिक), दूसरी मारुडी (माशूक) और तीसरा कुसुंभी रग।] गुजरात की भाँति राजस्थान और मालवा में भी आज गाँव-गाँव घूम कर भवाई मडलियाँ 'भवाई' का प्रदर्शन करती हैं। भारतीय लोक-नृत्यों के अध्येता श्री देवीलाल सामर ने भवाई का उत्पत्ति-स्थान राजस्थान एवं मालवा प्रदेश को माना है। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक कथा का भी उल्लेख किया है

"आज से ४०० वर्ष पूर्व जब राजस्थान के गाँवों में भी साम्प्रदायिक और जातीय भेदभाव के अकुर उत्पन्न हुए, ऊँच-नीच के भेदभाव बढ़े, पारिवारिक जीवन में विशृंखलता उत्पन्न हुई, कला विलास और व्यभिचार का साधन समझी गई, ऊँची जाति के लोगों ने उसे तिरस्कार के योग्य समझ अपने से दूर ही रक्खा, तो यह भावना गाँवों में, सबसे अधिक राजपूतों में और जाटों में देखी गई। यह लडाकू जाति थी। नृत्य और गान को ये लोग शौर्य और वीरता का शत्रु समझते थे। खेती करना और पशु पालना इनका मुख्य व्यवसाय था। इन्हीं जाटों में नागाजी नाम का एक जाट था, जो केकडी नामक स्थान में रहता था। इसे बचपन से ही नाचने-गाने का शौक था। यह बात जाटों को अच्छी नहीं लगी। उन्होंने उसे नक्काडा, भाला, भूंगल और जाजम देकर अपनी जाति से निकाल दिया और कहा कि तू आज से हमारी जाति का भाड, भवाई, है और तुझे समस्त जाटों के मनोरंजन का अधि-

---

१. 'सस्कृति' गुजराती मासिक पत्रिका, अक ११, नवम्बर १९४७ में लेख . 'भवाई नु स्वरूप'
—आचार्य रसिकलाल छोटालाल परीख, पृ० ४०९।
२ डॉ० सुधावहन देसाइ का अप्रकाशित प्रबंध 'भवाई', पृ० ११।
३ श्री उमाशंकर जोशी 'शैली अने स्वरूप', पृ० १०४।
४, 'भवाई-संग्रह'
—महीपतराम रूपराम, आवृत्ति पाँचवीं, पृ० १।

कार दिया जाता है। तब से नागाजी जाट और उसके परिवार वाले 'भवाई' कहलाने लगे।[1] इस प्रकार 'भवाई' शब्द राजस्थान मे विशेष लोक-नाट्य तथा उसे खेलने वाली 'भवाई' जाति, दोनो का परिचायक बना।[2] गुजरात मे 'भवाई' शब्द नाट्य की एव 'भवैया' नट की सज्ञा है।

भवाई की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे गुजरात मे यह कहा जाता है कि १४वी शती में उत्तर गुजरात के ऊँभा नामक गाँव मे हेमाला पटेल निवास करता था। उसकी सुन्दर पुत्री गगा को एक मुसलमान सूबेदार उठा ले गया। हेमाला पटेल का एक पुरोहित था जिसका नाम था असाईत ठाकर, और वह सिद्धपुर मे रहता था। जब असाईत ने गगा के अपहरण की बात सुनी तो वह सीधा उस सूबेदार के पास दौडा और जाकर कहा कि गगा मेरी पुत्री है, उसे लौटा दो। सूबेदार ने इसके प्रमाण के लिए गगा के साथ एक ही पात्र मे भोजन करने के लिए असाईत से कहा। यजमान के प्रति विशेष प्रेम एव ममता के कारण ब्राह्मण असाईत ठाकर ने उस पटेल-पुत्री के साथ भोजन किया और वह उसे छुडा लाया। जब असाईत की जाति ने यह समाचार जाना तो उस जाति से बहिष्कृत कर दिया। वह ऊँभा जाकर रहा। यजमान ने उसे थोडी जमीन दी। पदभ्रष्ट पुरोहित असाईत अब यजमान-वृत्ति तो कर नही सकता था। खेती की थोडी उपज से तथा भवाई के 'वेश' लिख कर अपने पुत्रो के साथ गाँवो मे उन्हें खेल कर जो धन प्राप्त होता था, उससे वह अपनी आजीविका चलाने लगा। किन्तु यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि असाईत के पूर्व 'भवाई' का कोई न कोई लोक-नाट्य रूप अवश्य विद्यमान रहा होगा। असाईत ने उसे परिष्कृत कर अपना योग-दान दिया होगा। इस प्रकार असाईत भवाई वेशो का आद्य निर्माता माना गया। उसके तीन पुत्र थे, जिनके तीन अलग अलग घर थे। सभवत जातिवाले घृणाव्यजक शब्दो में उन्हें 'त्रण घर वाला' (तीन घरवाले) नाम से सबोधित करते होंगे। आगे जाकर असाईत के वशज सदा के लिए तीन घरवाले—त्रण घरवाला > 'तरगाला' कहे जाने लगे होंगे। आज तो तरगाला की गुजरात मे एक जाति है, जिसका व्यवसाय भवाई खेलना और बाजे बजाना है।

कहा जाता है कि कवि असाईत ने ३६० वेशो (खेलों) की रचना की थी, जिनमे से आज तक ६० वेश उपलब्ध हो चुके हैं।[3] अधिकतर कठस्थ ही रहने के कारण व विस्मृत हो गए हैं। प्राप्त वेशो म से कइयों में असाईत का नाम भी उल्लिखित है।[4] यहाँ यह कहना आवश्यक है कि असाईत के बाद भी कई भवाई वेश रचे गए होंगे। असाईत के वेशो मे भा कालातर मे काफी परिवर्तन एव परिवर्द्धन हो गया होगा। अलिखित, अर्द्धलिखित और अशुद्ध लिखित

---

१ 'लोक-कला' लेख 'राजस्थान' पत्रिका, अक १, भाग १ में, पृ० ३, श्री देवीलाल सामर।

२ 'लोकधर्मी नाट्य-परपरा' —डा० श्याम परमार, प्रथम सस्करण, मार्च १९५९, पृष्ठ १२।

३ 'गुजराती नाट्य' मासिक पत्रिका के जुलाइ १९५९ के अक में लेख 'भवाई गुजरातनु लोक-नाट्य' डॉ० सुधाबहन देसाइ, एम० ए०, पी-एच० डी०, पृ० २७, और
'सस्कृति' पत्रिका, नवम्बर १९५७ के अक में लेख 'भवाइनु स्वरूप'
—आचार्य रसिकलाल छोटालाल परीख, पृ० ४१०।

४. (अ) 'असाईत मुख ओचरे, रमशु मामम रात' (दरजीना वेश)
(आ) 'भणे असाईत ठाकरो पद्मी कनोज्ने रमती थयो।' (कजोडानो वेश)
(इ) 'असाइत नायकनी वीनती रे, रमशु मामम रात, हो राणा!' (वीका सिसोदियानो वेश)

'भवाई' वेशो के मूल पाठ प्राप्त करना आज बडा ही दुष्कर है।

भवाई मे गायन, वादन, नर्तन और गद्य-पद्यात्मक कथन द्वारा जिन कथानको को श्रव्य-प्रेक्ष्य बनाया जाता है, उन्हें 'वेश' कहते हैं।[1] एक वेश से भवाई के एक खेल का बोध होता है। 'वेश' को 'स्वाँग' भी कहते हैं। यह वही 'स्वाँग' शब्द है, जो पजाब, राजस्थान और उत्तर प्रदेश मे प्रचलित लोकनाट्य 'स्वाँग' के लिए प्रयुक्त होता है। एक रात को क्रमश चार-छ वेश—और कभी-कभी उससे अधिक भी—प्रदर्शित किए जाते हैं।

उत्तर प्रदेश की रामलीला, रासलीला और बगाल की 'यात्रा' की भाँति भवाइ की विषयवस्तु भी प्रारम्भ मे धार्मिक थी। देवी-भक्त भवाई द्वारा भवानी की उपासना करते थे। आज भी भवाई माता अबाजी के समक्ष प्रदर्शित की जाती है। सामान्यत नवरात्र के प्रथम दिवस से गाँवो और और नगरो मे भवाई मडलियाँ अभिनय आरम्भ कर देती हैं। इन मडलियो को 'टोलियाँ' भी कहते है। अभिनेता 'भवैया', 'नायक' या 'तरगाला' जाति के ब्राह्मण होते हैं। मालवा और राजस्थान मे राजपूत, जाट, भील और गूजर जातियो के अपने 'भवाई' (भवाई खेलने वाले) है।[2] गुजरात मे अन्य जातियो के लोग भी कभी-कभी भवाई खेलते हैं। आसुरी अबाजी के आगे अहमदाबाद के नागर ब्राह्मणो के सघ का भवाई खेलना परम्परागत है।[3] यहाँ एक रसप्रद घटना का उल्लेख करना समुचित होगा कि बगाल के 'यात्रा' शब्द का प्रयोग गुजराती भाषा मे 'जात्र' या 'जातर' रूप मे 'भवाई के खेल' के अर्थ मे हुआ है। 'भवाई गुजरात की यात्रा है।' (साहित्यविहार प्रि० अनतराय रावल, पृ० १६७) उदाहरणार्थ—'न गणाई घरमांटी कुण मात्र, नारिउ जाई जोवा जात्र', (३-४५) और 'चुहुटई मडाई जोणाँ जात्र, चुहुटि नाचि नवलाँ पात्र' (८-१४०) ये दोनो 'विमल-प्रबन्ध' सवत् १५८४) से उद्धृत किए गए है। गुजरात मे एक उक्ति अतिप्रसिद्ध है 'चाचर त्या जातर भुली।' इसका अर्थ है 'जहाँ चाचर, वहाँ जात्रा', अर्थात् वहाँ भवाई का होना उचित है। गुजरात के गावो मे आज भी लोग माताजी की यह मानता मानते हैं कि "मा खोलानो खूदनार आपसे तो जातर रमाडीश।" अर्थात्—यदि माता अबाजी गोद मे खेलने वाला बेटा देंगी तो 'यात्रा' खिलाऊँगी। इन 'जात्र' और 'जातर' शब्दो का सम्बन्ध बगाल की 'यात्रा' से है क्योकि ये दोनो धार्मिक उपासना की अभिव्यक्ति करते हैं।

भवाई मे पुरुष ही स्त्रियो की भूमिकाएँ लेते हैं, जिन्हें 'कांचलिया' कहते हैं। मडली का नेता 'नायक' कहलाता है, जो गाँव-गाँव मे घूम कर भवाई-प्रदर्शन की पूरी व्यवस्था करता है।

भवाई की विषय-वस्तु धार्मिक के अतिरिक्त ऐतिहासिक और सामाजिक भी होती है। सप्रति उपलब्ध भवाई वेशो मे सामाजिक समस्याओ के वेश अत्यधिक लोकप्रिय हैं। वेशो मे सदा ही युग की परिवर्तित परिस्थिति की घटनाएँ समाविष्ट होती जाती हैं। हर वेश मे एक प्रसग होता है, जो स्वय पूर्ण रहता है। गणपति के वेश मे गणपति की, कालिका के वेश मे कालिका की, कान्ह गोपी के वेश में कान्ह गोपी की और शकर-पार्वती के वेश मे शकर-पार्वती की नृत्य, सगीत और अभिनय द्वारा स्तुति की जाती है। ब्राह्मण, दर्जी,

---

१ स० सादरवयं छगनलाल विद्याराम रावल · ग्यारहवीं लाटी परिषद का विवरण, अगियारमी (लाटीनी) परिषद्नो अहवाल, पृ० २६६-२८७।

२ 'लोकधर्मी नाट्य-परम्परा'—डॉ० श्याम परमार (१६५६), पृ० ५२।

३ साहित्यविहार—प्रि० अनन्तराय रावल, पृ० १७२।

मोची, कसारा, मियाँ-बीबी, राजपूत पुरबिया, बनिया, बनजारा आदि के वेशों में उनकी विशेषताओं और विचित्रताओं का व्यंग्यात्मक प्रदर्शन होता है। तदुपरान्त भवाई में सामाजिक कुरीतियों पर बड़ा तीखा, मार्मिक प्रहार भी किया जाता है। भवाई में व्यंग और विनोद का सुभग संयोग रहता है। समकालीन लोकावस्था को स्थूल एवं सूक्ष्म, तीक्ष्ण एवं मृदु, सभी प्रकार के उपहासों द्वारा जनता के सामने प्रस्तुत करना भवाई का परम्परागत लक्षण है। उसमें सभी वर्णों और वर्गों का चित्रण किया जाता है। इस अर्थ में भी यह लोकनाट्य सार्ववर्णिक एवं सार्वजनिक है। 'झंडा-झूलण' वेश में झूलण आता है। उसकी शान और ठाट-बाट का क्या कहना! ऊँचे खानदान का वह सरकारी अफसर है। साहित्य, संगीत और कला का ज्ञाता, रसिक हृदय नवयुवक है। झूमते हुए चलने के कारण लोग उसे प्यार के नाम 'झूलण' से संबोधित करते हैं। गाँव की पद्मिनी से वह प्रेम करने लगता है। उसकी वह प्रियतमा भी उस पर रीझती है। दोनों हाथ में हाथ डालकर नाचते हैं, गाते हैं। 'जूठण' वेश में जूठण अपनी विचित्रताओं के कारण सैनिक सेवा से मुक्त किया जाता है। गाँव गाँव घूमते-घूमते बेहाल होकर वह अपने घर आता है। उसकी गप्पें मारने की, असत्य-भाषण की आदत नहीं छूटती। टूटी हुई तलवार और पिचकी हुई ढाल लेकर लोगों के सामने नाचते हुए अपना 'वीरत्व' प्रदर्शित करता है। उसके नृत्य में हास्य, करुण और अद्भुत, तीनों रसों का परिपाक होता है। 'छेलबटाऊ' के वेश में शोहदे के कारनामे, 'कसारा' के वेश में कसारे की कंजूसी और ठगाई की कहानी और 'मियाँ-बीबी' तथा 'लालजी मनियार'—इन दोनों वेशों में मुसलमानी शासन में हिन्दुओं की और विशेषतः हिन्दू स्त्रियों की भयग्रस्त स्थिति का मार्मिक चित्रण किया गया है। 'हमीर रत्ना', 'जसमा ओडण', 'वीका सिसोदिया' आदि वेशों में शौर्य के साथ साथ समर्पण की गाथाएँ गाई गई हैं। अनमेल विवाह, अस्पृश्यता, बहुपत्नीत्व आदि हमारी सामाजिक कुप्रथाओं की 'कजोडानो वेश', 'ढेडनो वेश' आदि में कटु आलोचना की गई है। 'ढोला मारू' जैसे कुछ वेश राजस्थान और गुजरात दोनों में समान रूप से पाये जाते हैं।

राजस्थान मालवा में भवाई के खेलों (वेशों) के नाम पर इस प्रकार हैं : बोरावोरी (बनियों का खेल), सूरदास (अन्धे और दुश्चरित्र साधु का खेल), डोकरी (जिसमें वृद्धा अपनी लड़की का विवाह एक वृद्ध से करती है—समाज की कुप्रथा पर हास्यात्मक व्यंग), लाडा-लाडी (दो पत्नियों वाले अधेड़ की दुर्दशा—बहुविवाह का कुपरिणाम), शकरिया (कालबेलिये युवक का जोगन अथवा सँपेरिन से प्रेम का अभिनय), बीकाजी, बाघाजी, ढोलामारू आदि। [लोकधर्मी नाट्यपरंपरा (१९५९) : डॉ० श्याम परमार, पृ० ५३]।

भवाई के वेशों में प्रधान तो शृंगार तथा हास्य रस रहते हैं। पर उन्हीं के साथ वीर रस एवं करुण रस का भी सम्यक् परिपाक होता है। यदा कदा बीभत्स तथा अद्भुत के भी दर्शन हो जाते हैं। साहित्यशास्त्र के गंभीर अध्येता को रस निष्पत्ति एवं नाट्य के अन्य शास्त्रीय तत्त्वों को भवाई में ढूंढने का प्रयत्न करने पर तो निराश ही होना पड़ेगा, क्योंकि भवाई जन-मन-रंजन का लोकनाट्य है, शास्त्रसम्मत संस्कृत नाट्य नहीं, जिसमें वस्तु, नेता, रस, अभिनय आदि तत्त्वों का सम्यक् रूपेण समावेश हुआ हो। यहाँ तो प्रधानता नृत्य और संगीत की रहती है, उसी के साथ गद्य गद्यात्मक संवाद चलते रहते हैं। भवाई का सम्बन्ध यदि संस्कृति के किसी उपरूपक के साथ जोड़ा जा सकता है तो वह 'प्रेक्षणक' है।[1] रामचन्द्र गुणचन्द्र

१. "भवाइनो सम्बन्ध वधारे नजीकनो देखातो होय तो ते प्रेक्षणक छे"—'संस्कृति' मासिक, नवम्बर १९५३ का अंक लेख—'भवाइनु स्वरूप' आचार्य रसिकलाल छो० परीख, पृ० ४११।

के 'नाट्यदर्पण' मे 'प्रेक्षणक' की व्याख्या इस प्रकार की है : "प्रेक्षणक राजमार्ग पर, जन-समुदाय मे, चौराहे पर या देवमन्दिर के प्रागण मे बहुपात्रो द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। यथा—राम-दहन आदि।"[1] गीत-नृत्य-प्रधान 'भवाई' नाट्य 'प्रेक्षणक' उपरूपक के लक्षणों का निर्वाह करता है।

भवाई नाट्य आज भी माताजी के 'चाचर' मे या गाँव के खुले चौराहे पर रात्रि के नौ-दस बजे शुरू होता है। चारों ओर प्रेक्षक गण बैठ जाते है और बीच में (चाचर मे) भवाई के खेल होते हैं। भवाई प्रत्येक का आकर्षण है। उसका आनन्द लेने के लिए सारा गाँव उमड पडता है। चौराहा खचाखच भर जाता है, गाँव का नाई मशाल धरे खडा रहता है। वहाँ न प्रकाश-योजना होती है, न रगमच न, सेट-रचना, न जवनिका, न नेपथ्य और न बॉक्स-ऑफिस। सादगी और सस्तापन 'भवाई' की विशेषताएँ हैं। भवैये प्रसाधन के लिए हल्दी, चूना, काजल, कुकुम, मिट्टी, आटा आदि घरेलू चीजो का उपयोग करते हुए भी अभिनेय पात्रो को तादृश्य प्रस्तुत कर सकते है। वेश-भूषा भी काफी सस्ती और सादी ग्रामीण ढंग की होती है। मडली मे दो भूंगल बजाने वाले, एक तबलची या ढोलक या पखावज बजाने वाला और एक मंजीरो की जोडी वाला होता है। इसके लिए 'रामदेव के वेश' मे असाईत ने एक दोहा गाया है

पखाजी उभो प्रेमसुं, रवजी मन मोड।
तालगर टोले मज्या, भूंगलीया बेजोड़॥
भूंगलीया बेजोड़ के आगल रँगलो उभो रह्यो।
ईणी रीते असाईत ओचरे, हवे रामदे रमतो रह्यो॥[2]

इनके अतिरिक्त आजकल हारमोनियम का भी अधिकाश उपयोग होने लगा है। कई नट पैरो मे पैंजनियाँ बाँधे रहते हैं। 'भवाई' के प्रारम्भ होने की सूचना 'भूंगल' बजाकर दी जाती है। मंगलारम्भ गणपति के वेश से होता है। प्रार्थना मे गाया जाता है :

दुंदालो दुःख भंजणो, सदाय बाले वेश,
अवसर पे'लो समरिए, गवरी पुत्र गणेश जी ..!

इस वेश की यह विशेषता होती है कि गणपति की भूमिका लेने वाला नट पीताम्बर पहनकर मस्तक से कधो तक उपवस्त्र ओढे रहता है। एक हाथ मे थाली लेकर उससे मुँह छिपाए रहता है और दूसरे हाथ से अभिनय करता है। इस प्रकार नाचते-गाते और अभिनय करते हुए वह गणपति-वेशधारी नट प्रेक्षको और अभिनेताओ को आशीर्वाद देता है। उसके बाद 'माँ भवानी' का वेश नृत्य द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। माताजी से प्रार्थना की जाती है :

भवाई करिए भक्ति थी, अंबा मोरी ईश।
ओछुं अदकुं बोलीए, ते रखे धरो तमे रीस॥

हर वेश के प्रारम्भ मे 'आवणु' (मुख्य पात्र के आगमन की सूचना देनेवाला गीत)

---

१. रथ्या-समाज-चत्वर-सुरालयादौ प्रवर्यंते बहुभिः।
पात्रविशेषैर्यन् तत् प्रेक्षणक कामदहनादि॥
—नाट्यदर्पण, पृष्ठ २१४, (ओरिएटल सिरीज)

२. भवाई-संग्रह—महीपतराम रूपराम नीलकठ, पृ० १०३।

गाया जाता है। तत्पश्चात् मुख्य पात्र गीत गाते हुए और नाचते हुए आता है। भवाई का प्रत्येक पात्र मच पर नाचते-गाते हुए प्रवेश करता है और नाचते-गाते हुए प्रस्थान करता है। माताजी के वेश के बाद ब्राह्मण का वेश अभिनीत होता है, तत्पश्चात् अन्य वेशो का प्रदर्शन होता है। भवाई मे हास्य की हिलोरें लहराने वाला पात्र 'रँगला' (मनसुखा) है जो शिष्ट नाटक मे 'विदूषक' कहा जाता है। 'रँगला' भवाई मे रग जमाता है। यद्यपि रँगला का अभिनय अतिरजित होता है, तथापि वह अनिवार्य पात्र है। भवाई का प्रत्येक पात्र अभिनय-प्रवीण होता है, नृत्य और सगीत मे दक्ष होता है, फलत अभिनय, नृत्य एव सगीत के इस महोत्सव मे कथा तथा प्रसाधन की न्यूनताएँ तिरोहित हो जाती हैं। पात्र-सवाद गद्य-पद्यात्मक होते है। बीच-बीच में गीत गाए जाते हैं। कई गीतो मे शास्त्रीय सगीत तथा काव्य-छदो का निर्वाह दृष्टिगत होता है।

डॉ० सुधाबहन देसाई ने पचास-साठ रागों के स्वर भवाई वेशो मे सुने हैं।[1] छदो मे दोहा, सोरठा, कुडलिया, कवित्त, सवैया आदि का प्रयोग होता है। इन छदो के द्वारा नीति और लोक-व्यवहार के उपदेश भी दिए जाते है। भवाई मे सामाजिक जीवन का कृष्ण पक्ष विशेषत. चित्रित रहता है। स्वर्गीय महीपतराम नीलकठ ने उसका कारण यह बताया है कि भवाई का हेतु लोक सुधार है।[2]

भवाई की भाषा प्रधानतया गुजराती है। पर उसी के साथ गुजराती-मिश्रित हिन्दी, व्रजभाषा, मारवाडी, पुरानी राजस्थानी (मारू-गुर्जर) आदि का प्रयोग मिलता है। कई वेशो मे मुसलमान पात्र 'हिन्दी' और मारवाडी पात्र 'मारवाडी' बोलते हैं। यथा, 'जदा की वदगी' मे एक फकीर कहता है

> जिनसे भया जुजुआ मत, आमे भूल रहा जगत
> सब एक भेख की बीगत,
> कोई रामकु ध्यावे, कोई तो कृष्णसु गावे,
> कोई महादेव मन भावे।

इसी प्रकार एक स्थान पर हिन्दी का इस प्रकार प्रयोग है

> करे कोई खुदा की बिनगी इलाई याद दरजनगी
> कहे कोई ओलिया युनगी।

पुन

> आपो आप हे किरतार, अविगत एकल जुगत अपार
> बीरला सहे एह बिचार,
> आपवे दीन किरपाल सहेजे मील्या सामीबाल
> पाया लाल हदालाल (२)

(पृ० ५१-५३ भवाई-सग्रह)

इन वेशो मे उपदेशात्मक भाव भी कही-कही हिन्दी मे प्रगट हुए हैं .

> जटा बँधाए खुदा न मीलते, क्यूं रहेता मनमस्त,
> जटा बँधाए खुदा मीले ते, वड पोंचे सब भ्रस्त।

(पृ० ४३, भवाई-सग्रह)

---

१ 'गुजराती नाट्य', अक जुलाई १६५६ में लेख, 'भवाई . गुजरातनु लोक-नाट्य', पृष्ठ ७७।

२ "भवाइ अने नाटकनो हेतु लोकसुधारो छे"—महीपतराम रूपराम नीलकठ-कृत 'भवाई-सग्रहनी' वाजी आवृत्तिनी प्रस्तावना।

'रत्ना हमीररो वेश', जिसका अभिनय आज से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व गुजरात के भवैयो द्वारा कच्छ के राव के समक्ष किया गया था, भवाई वेशो मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है।[1] इसमे मारवाड के राजकुमार हमीर तथा वणिक्-कुमारी रत्ना के प्रणय की कथा वर्णित है। इस वेश मे मारवाडी और गुजराती दोनो भाषाओ का प्रयोग किया गया है। यथा ·

पछम् धरारो पालसा, भूज नगर रो भूप।
राव देशल रंग रसीओ, इणरी छटा अनूप॥
रतना-हमीर रो वेश, सुणतॉं अंबा पुरसे आश।
करजोडी 'पानाचद' कहे सिगला कवि रो दास॥

तत्पश्चात् नट गुजराती मे सूचना देता है

"इ गाईने वेसवु, जणा बेने अने मुखो आए रुमाल लई कुंवररो मुरछल करते रहेवु . "

इस प्रकार विभिन्न भाषाओ का सगम-स्थान यह भवाई है। गायन, नर्तन, वादन, अभिनय, सवाद आदि कलाओ से सयुक्त यह लोकनाट्य गुजरात की अमूल्य संपत्ति है।

'यात्रा' : बंगाल का लोक-नाटक

बगाल मे जन-मनोरजन का सर्वाधिक लोकप्रिय नाट्य-प्रकार 'यात्रा' है। यात्रा का अर्थ है, जुलूस या उत्सव। श्री सुकुमार सेन का कथन है . " 'यात्रा' शब्द का अर्थ देवपूजा के उत्सव के उपलक्ष्य मे मेला, जुलूस और नाट्य है।"[2] डॉ० रिजवे ने भी 'यात्रा' शब्द का मूल अर्थ जुलूस ही माना है जो आगे जाकर 'गीत-नाट्य' मे रूपान्तरित हो गया।[3] हमारी रथ यात्रा, स्नान-यात्रा आदि मे प्रयुक्त 'यात्रा' शब्द जुलूस का ही सूचक है जो कालान्तर मे नाट्य-विशेष का द्योतक बन गया। यात्रा नाटक की उत्पत्ति कब हुई और कैसे हुई, इस विषय मे विद्वानो मे मतभेद है,, किन्तु यह तो सर्वस्वीकृत तथ्य है कि चैतन्य महाप्रभु (१४८६-१५३४ ई०) के समय मे 'यात्रा-नाट्य' धार्मिक प्रसगो के प्रदर्शन के सबल माध्यम के रूप मे विद्यमान था और श्री चैतन्य के द्वारा उसे चरम उत्कर्ष प्राप्त हुआ था। चैतन्य महाप्रभु एक उच्च कोटि के प्रज्ञाशील अभिनेता थे।[4] चैतन्य महाप्रभु ने स्वय अपने मौसा चन्द्रशेखर आचार्य के घर मे 'रुक्मिणी-हरण' की यात्रा का आयोजन किया था। इसमे श्री चैतन्य ने रुक्मिणी की और उनके मित्र गदाधर ने राधा की भूमिका लेकर इतना सुन्दर अभिनय

---

१. 'गुजराती नाट्य', अक जुलाई १९५६, में लेख : 'भवाई गुजरातनु लोकनाट्य'—डॉ० सुधावहन देसाई, पृ० २६।
२ 'बागला साहित्येर कथा'—श्रीसुकुमार सेन, पृ० १४३।
3 The Dramas and Dramatic Dances of Non-European Races, —William Ridgeway, 1915 Edition, P 157
4 Indian drama Article 'Bengali Drama and Stage', P. 40, —Prabodh C Sen
"He (Chaitanya) was himself a highly skilled actor."

किया था कि दर्शकगण मन्त्रमुग्ध हो गए थे।[1] इन यात्राओं का सम्बन्ध वैष्णव धर्म से विशेष था। इनकी कथाएँ भगवान श्रीकृष्ण के जीवन से ली जाती थीं। यात्रा के उद्भव-काल मे भक्त-मण्डलियाँ अपने आराध्य देवी-देवताओं के धार्मिक जुलूस निकालती होंगी और इन जुलूसो के आगे कुछ लोग नाचते-गाते रहते होंगे, जैसा कि आज भी भारत मे रथयात्रा या विभिन्न प्रकार के उत्सवो के अवसरो पर निकलनेवाले जुलूसो मे देखा जाता है। यात्रा का तत्कालीन रूप नृत्य तथा गीत तक ही सीमित रहा होगा और सभी मार्ग रगमच रहे होंगे। तत्पश्चात् क्रमश 'यात्रा' ने व्यवस्थित नाट्यरूप ग्रहण किया होगा और उसमे कथा-तत्त्व तथा सवाद जुडे होंगे। इसमे कोई सन्देह नही कि यह 'यात्रा' वैदिक सहित्य और सस्कृत नाट्य-साहित्य के पूर्व भी किसी-न-किसी रूप मे विद्यमान रही होगी, क्योकि नाट्योत्पत्ति के मूलतत्त्व, नृत्य और सगीत, दोनो इसके प्राणतत्त्व हैं जिनका परवर्ती नाटको पर प्रभाव पडा।[2] यहाँ हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि सम्भवत 'यात्रा' के विकास मे आर्य और आर्येतर दोनों जातियो ने योग दिया होगा। डॉ० दशरथ ओझा का कथन है कि "'यात्रा' के समय जो नृत्य हुआ करते थे, वे वैदिक काल के सुसस्कृत नृत्य थे। सम्भव है कि मूल निवासियो की यह नृत्य-शैली वैदिक काल मे आर्यों ने अपनाली हो, उसमे वेद-मन्त्रो के गान सयुक्त करके इसे सस्कृत नाम 'यात्रा' प्रदान कर दिया हो।"[3] सोलहवी शताब्दी के पूर्व ये आदि धार्मिक नाटक 'यात्रा' अनेक देवी देवताओं के कार्य-कलापो का प्रदर्शन करते रहे। इनमे माता दुर्गा से सम्बन्धित 'चण्डी यात्रा' विशेष उल्लेखनीय है। १६वी शती मे 'यात्रा' मे नाट्यतत्त्वो का पूर्णत समावेश हो गया था जिसका प्रमाण हमे महाप्रभु चैतन्य द्वारा अभिनीत 'रुक्मिणी-हरण' यात्रा के उपर्युक्त प्रसग से प्राप्त होता है। ये 'कृष्ण-यात्राएँ' थीं जिन्हें लोग आगे जाकर 'चैतन्य यात्राएँ' कहने लगे। इन यात्राओं मे गीतगोविन्द, श्रीमद्भागवत और चडीदास के पदो के आधार पर सवाद-योजना कर कृष्ण-लीलाएँ प्रदर्शित की जाती थीं। वैष्णव धर्म के प्रसार से यात्रा नाट्य को बडा ही बल प्राप्त हुआ। यहाँ तक कि कृष्ण-चरित्र के अभाव मे यात्रा की कल्पना असम्भव-सी हो गई। कालान्तर मे 'यात्रा' मे 'भवाई' की भाँति लौकिक कथाओं का समावेश होने लगा और १९वी शताब्दी तक आते-आते तो यात्रा मे भी अन्य भारतीय लोक-नाटको की तरह अश्लीलता आ गई। वर्षों से 'यात्रा-नाट्य' किसी-न-किसी रूप मे जन-मन-रजन करता चला आ रहा है। 'यात्रा' आज भी बगाल का सर्वोपरि लोक-नाटक है।

यात्रा के लिए किसी स्थायी रगमच की आवश्यकता नही। रामलीला, रासलीला, भवाई, स्वाँग आदि लोकनाट्य-प्रकारो की भाँति यात्रा भी खुले मैदान मे या किसी मन्दिर के ऊँचे चबूतरे पर एक पर्दा लटकाकर रगभूमि बनाकर अभिनीत होती है। यात्रा का रग-मच अस्थायी रगमच है। साज-सज्जा सस्ती और सादी रहती है। जिस प्रकार उत्तर भारत

---

१. (अ) 'बांगला साहित्येर कथा'—श्री सुकुमार सेन, पृ० १४० ; और
(आ) Indian Stage, vol I —H N Das Gupta, P. 95

२ The Sanskrit Drama, —Dr Keeth, P 16
The Drama and Dramatic Dances of Non-European Races, —Ridgeway, P 157

३. हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास, पृ० ४१।

के लोक-नाटको मे देवताओ की स्तुति और गुजरात की 'भवाई' मे गणपति की स्तुति प्रारम्भ मे रहती है उसी प्रकार यात्रा मे नादी-पाठ के रूप मे शुरू-शुरू मे 'गौरचन्द्रिका' का गायन होता है। 'गौरचन्द्रिका' मे गौराग महाप्रभु चैतन्यदेव द्वारा 'यात्रा' को दी गई प्रतिष्ठा का पुण्य स्मरण किया जाता है। यात्रा मे सभी प्रकार के विषयों को गीतो, नृत्यो तथा सवादो के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। भक्तिरस के साथ-साथ यात्रा मे स्थूल शृगार बीभत्स की कोटि पर पहुँच जाता है। विगत शताब्दी से स्वाँग और भवाई की भाँति यात्रा मे अश्लील गानो और भोडे अभिनयो की प्रधानता आ गई है। अस्वाभाविकताओ और अतिशयोक्तियो का बोलबाला हो गया है, जिससे यात्रा शिक्षित और सस्कारी लोगो का मनोरजन नही कर पाती। ग्रामीण या अशिक्षित जनता तो यात्रा से मनोरजन पाती ही है। प्रारम्भ मे 'यात्रा' मे पुरुष ही स्त्रियो की भूमिकाएँ लेते थे, परन्तु कलकत्ता के कुछ रईसो द्वारा सचालित 'सखेर यात्रा (शौकिया यात्रा) मे पहले-पहल स्त्री-भूमिका मे रमणियाँ उतरी। तत्पश्चात् तो यह क्रम चलता ही रहा है। यात्रा के नेता को 'अधिकारी' कहते हैं। वही निर्देशक और सूत्रधार भी होता है। समस्त गायक 'चोगा' नामक श्वेत वस्त्र पहनकर मच पर आते हैं। १९वी शताब्दी पूर्व तक 'यात्रा' नाटक अपने मूल रूप मे रहे। बीसवी शताब्दी मे यात्रा पर शिष्ट नाटको ने प्रभाव डाला। यात्रा मे पहले तो मृदग और ढोल का उपयोग होता था, किन्तु अब तबला, हारमोनियम आदि वाद्यो ने उनका स्थान ले लिया है। पैरो मे घुंघरू बाँधने का रिवाज परपरागत है ही। भवाई के 'रंगले' की भाँति यात्रा में 'मनसुखा' हास्योत्पादक पात्र रहता है।

'यात्रा' का प्रभाव सस्कृत एवम् आधुनिक भारतीय भाषाओ के नाटको पर पडा है। पूर्व भारत के कई सस्कृत नाटक यात्रा शैली से प्रभावित हैं। कवि जयदेव ने 'गीतगोविंद' की सृष्टि 'कृष्ण-यात्रा' के ढग पर की है। बगाल के सुप्रसिद्ध नाटककार एवम् नटाचार्य गिरीशचन्द्र घोष (१८४४-१९१२) ने अपनी अनेक नाट्य-कृतियाँ यात्रा-नाटको से प्रभावित होकर रची और यात्रा-मडलियो के सदस्यो की सहायता से अभिनीत की।[1] रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी यात्रा नाट्य-शैली से कम प्रभावित नही थे।[2] गुजरात की 'भवाई' मे 'जात' या 'जातर' शब्द का प्रयोग 'खेल' के अर्थ मे हुआ है जिसका सम्बन्ध इसी 'यात्रा' से है। इस विषय का विवेचन 'भवाई' निबन्ध मे किया जा चुका है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र पर भी यात्रा नाटक का प्रभाव परिलक्षित होता है। डॉ० दशरथ ओझा का कथन है कि "गत शताब्दी मे विद्यासुन्दर यात्रा-मडली ने 'विद्यासुन्दर' नामक काव्य के आधार पर 'विद्यासुन्दर' नाटक खेलना प्रारम्भ किया। यात्रा-नाटको मे यह एक विशेष घटना थी। राधा कृष्ण के धार्मिक प्रेम के स्थान पर विद्यासुन्दर का भौतिक प्रेम यात्रा-नाटको के लिए नितात नई बात थी। कहा जाता है कि भारतेन्दुजी विद्यासुन्दर का अभिनय देखकर इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होने पुरी-यात्रा से लौटकर सर्वप्रथम हिन्दी मे यही नाटक विरचित किया।"[3] इस प्रकार 'यात्रा' भारतीय लोक-नाटक का एक सबल नाट्य-प्रकार सिद्ध होता है जो आज दुर्भाग्य से 'स्वाँग' 'भवाई' इत्यादि की भाँति ही क्षयग्रस्त है।

---

१ 'Indian Drama' —Publication Division, P. 43.

२. Ibid, P. 43

३ हिन्दी-नाटक उद्भव और विकास डॉ० दशरथ ओझा, पृ० ४०।

यात्रा की भाँति बगाल मे 'गम्भीरा' नामक लोकनाटक भी जनता मे प्रचलित है। यह शैव सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। इसमे नट मुँह पर नकाब लगाकर शिवजी की लीलाएँ करते हैं। इसकी प्रदर्शन-पद्धति 'यात्रा' परम्परा का निर्वाह करती है। इसी तरह नेपाल मे 'कीर्तनिया' लोकनाट्य का पूर्ण विकसित रूप उपलब्ध होता है जिसका मूलाधार हरिकीर्तन है। इस धर्मप्रधान मैथिली लोक-नाटक मे कृष्ण या शिव के चरित अभिनीत किये जाते हैं। नृत्य ही इसका प्रधान अंग है।

'अँकिया नाट' : आसाम का लोक-नाट्य

'अँकिया नाट' आसाम का अत्यन्त प्राचीन नाट्य-प्रकार है जो सम्भवत: भारत के प्रागैतिहासिक काल के नाटक का अवशिष्ट रूप है।[१] इसका रचना-विधान संस्कृत नाटको की भाँति है। इसमे साहित्यिक नाटक और लोकनाटक के तत्त्वो का अद्भुत सम्मिश्रण पाया जाता है। नृत्य, सगीत तथा भावाभिनय इस नाट्य के महत्त्वपूर्ण अंग है। इसका सम्बन्ध वैष्णव धर्म से है। यक्षगान, भवाई, रासलीला, रामलीला इत्यादि की भाँति रात्रि के समय यह नाटक अभिनीत होता है। इसका मच मशाल और मिट्टी के दीपको द्वारा प्रकाशित रहता है। इसमे स्त्री-पात्रो को भूमिकाएँ किशोरो और बालको द्वारा अभिनीत की जाती हैं। विविध वर्णों के वस्त्रो और नाना प्रकार के आभूषणो का 'अँकिया नाट' मे उपयोग किया जाता है। पशु-पक्षियो एवम् राक्षसो के चेहरो का प्रयोग 'अँकिया नाट' की विशेषता है।

'तमाशा' : महाराष्ट्र का लोक-नाट्य

महाराष्ट्र की रगभूमि बहुत पुरानी है। श्री विष्णु पाडुरग दाडेकर अपने 'पौराणिक नाटके' नामक ग्रन्थ मे लिखते है कि—"इसमे सन्देह नही, ज्ञानेश्वर-काल (सन् १२६०) से ही मराठी रंगभूमि की नीव डाली गई और यह कार्य ललित, गोधल, तमाशा और बहुरूपियो के 'स्वांगो' की सहायता से सम्पन्न हुआ।"[२] मराठी रगमच का सबसे प्रसिद्ध लोक-नाटक 'तमाशा' है। 'तमाशा' फारसी शब्द है। कहा जाता है कि अरब व्यापारियो के महाराष्ट्र मे आगमन के पश्चात् 'गम्मत' नामक लोकनाटक जो मेलो और त्योहारो के अवसर पर खेला जाता था, 'तमाशा' नाम से अभिहित हुआ। पेशवाओ के समय मे तमाशा चरमोत्कर्ष पर था। 'तमाशा' गुजरात की 'भवाई,' उत्तरप्रदेश के 'स्वांग' और बगाल की 'यात्रा' की भाँति 'महाराष्ट्र का लोकप्रिय जन-नाटक' है। उसकी रचना, शैली और अभिनय-पद्धति सभी लोक-नाट्यों के समान ही है। नर्तकी 'तमाशा' का प्राण होती है। वह नृत्य के साथ मधुर कठ से स्थूल शृगारिक लावनियाँ, प्रशस्ति-काव्य, 'पवाडे' तथा अन्य लोकगीत गाती है। मंच पर उपस्थित अन्य पात्र भी उसकी पक्तियो को दुहराते हैं। 'तमाशा' मे सभी

---

१. ...... "It (Ankiyanat) appears to be the relic of a form of drama which in all probability existed in India in the prehistoric period of this art." —Dr. M.M. Ghosh.
'Contributions to the History of the Hindu Drama', 1958 Ed, P. 14.

२. 'नई धारा' : रगमच-अंक, अप्रैल-मई १६५२।

प्रकार की घटनाओं का समावेश होता है। पहेलियों के से 'भेदिक' गीत भी बीच-बीच में प्रस्तुत किये जाते हैं।

महाराष्ट्र में 'तमाशा' के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण जननाटक 'ललित' है। 'ललित' का उद्भव सन्त तुकाराम (१७वीं शती) से पहले हुआ। कहा जाता है, 'ललित' से मराठी पौराणिक नाटकों की उत्पत्ति हुई है। 'ललित' धार्मिक लोक-नाट्य है। इसका सम्बन्ध नवरात्रि से संलग्न विशेष कीर्तन से है। 'ललित' विशेषतः तो पद्य में है, पर गद्य का भी यदा-कदा प्रयोग होता है। 'गोंधल' भी महाराष्ट्र का महत्त्वपूर्ण लोक-नाटक है। देवी भवानी की पूजा के निमित्त आयोजित गीत-युक्त विशिष्ट नृत्य को प्रारम्भ में 'गोंधल' कहते थे। बाद में पवाड़े, नकलें आदि इसमें सम्मिलित हो गये। अब इसका मिश्रित रूप है। 'गोंधल' में कथा 'जी, जी' की धुन में गाई जाती है।

यक्षगान : दक्षिण भारत का लोक-नाट्य

बोम्मलाटा, पुत्तलिका-नृत्य आदि की भाँति दक्षिण भारत का अन्य लोकप्रिय नाट्य प्रकार 'यक्षगान' है। डा० पाडुरंगराव का अभिमत है कि "पहले पुत्तलिकाओं का मूक नृत्य होता था। कालान्तर में उसमें यक्षगान-साहित्य का समावेश हुआ। दोनों परस्पर अनुकूल सिद्ध हुए और दोनों का साथ-साथ विकास होने लगा। बोम्मलाटा और यक्षगान में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है और वास्तव में वे एक-दूसरे के सहायक हैं। परन्तु फिर भी यक्षगान में संगीत की प्रधानता है और बोम्मलाटा में नृत्य की। उत्तर प्रदेश के 'स्वाँग' नाटक प्राचीन गौरव और प्रचार की दृष्टि से जहाँ बोम्मलाटा के अधिक निकट दिखाई देते हैं, वहाँ रचना और प्रदर्शन की प्रणाली की दृष्टि से वे यक्षगान से ही अधिक साम्य रखते हैं।"[1] 'यक्षगान' गेय रचनाएँ हैं। वे गा-गाकर मंच पर प्रस्तुत की जाती हैं। संगीत-प्रधान दृश्य-काव्य का यह प्राचीनतम दाक्षिणात्य रूप है। यक्षगान का साहित्य समृद्ध है। यक्षगानों के कथानक प्रधानतया पौराणिक हैं।

दक्षिण भारत के लोक-नाटकों में 'वीथी-भागवत', 'कलाप', 'कूत्तु' आदि भी उल्लेखनीय हैं, जिनकी परम्परा प्राचीन है और जो मुख्यतः पौराणिक प्रसंगों को नृत्य तथा संगीत द्वारा प्रस्तुत करते हैं। 'कथकली' तत्प्रदेशीय सर्वोत्तम नृत्य-नाट्य प्रकार है जिसकी कीर्ति सर्वत्र प्रसारित है। केरल 'कथकली' की जन्मभूमि है। कथकली में कथा, काव्य, संगीत और नृत्य इन सभी कलाओं का सुन्दर समन्वय होता है।

लोक-नाटकों की विशेषताएँ

पूर्ववर्ती पृष्ठों में हिन्दी और गुजराती के साथ अन्य भारतीय भाषाओं के लोक-नाटकों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। साथ ही उनके उद्भव, विकास और विशेष लक्षणों पर भी प्रकाश डाला गया है। यह कहा जा चुका है कि जिस प्रकार 'स्वाँग' हिन्दी प्रदेश का विशिष्ट लोक-नाटक है उसी प्रकार 'भवाई' गुजरात का अपना लोकनाटक है। दोनों नाटकों की रचना-शैली, विषय-वस्तु, अभिनय, रंगमंच इत्यादि सभी

---

१. आन्ध्र हिन्दी-रूपक डॉ० पाडुरंगराव, पृ० ५५।

बातो मे अधिकाश समानता है। रासलीला, रामलीला और कठपुतली के खेल भी किंचित् परिवर्तन के साथ दोनो प्रदेशो मे प्रदर्शित किये जाते है। अत उनकी स्वतन्त्र रूप से तुलना की यहाँ आवश्यकता प्रतीत नही होती। अब हम लोक-नाटको के उन सर्वसामान्य लक्षणो पर दृष्टिपात करें जो समस्त भारत के लोक-नाटको मे समान रूप से उपलब्ध होते हैं।

विषय-वस्तु

लोक-नाटको मे जीवन अपनी समस्त सुन्दरताओ और कुरूपताओं के साथ प्रस्तुत किया जाता है। उसी के साथ जनता की अनुभूतियो, आकाक्षाओ और प्रवृत्तियो की अभिव्यजना भी लोक-नाटको मे होती है। इनमे आडम्बर का नितात अभाव रहता है। समाज-जीवन की ऐसी कोई समस्या, घटना या कल्पना नही जो इन नाटको मे अभिव्यक्त न हो। इनकी कथा-वस्तु तीन भागो मे विभक्त की जा सकती है : (१) धार्मिक, (२) ऐतिहासिक और (३) लौकिक। धार्मिक कथावस्तु के अन्तर्गत समस्त पौराणिक कथाएँ भी आ जाती है। रामलीला, रासलीला, यात्रा, यक्षगान आदि के कथानक भारतीय धार्मिक एवम् पौराणिक प्रसगो को प्रस्तुत करते हैं। भवाई के कतिपय वेश गणपति, माता दुर्गा, कृष्ण, शिव आदि पौराणिक देवी-देवताओ से सम्बन्धित होते है। 'स्वाँग', 'तमाशे' और 'भवाई' के कई वेशो मे ऐतिहासिक प्रसग-कल्पना और भावना के रग चढाकर प्रदर्शित किये जाते है। लौकिक लोक नाटको मे लोक-कथाओ और किंवन्दतियो पर आधृत कथावस्तुएँ होती है। भारत के लगभग सभी लोक-नाटको मे इनका समावेश होता है। इन नाटको के कथानको मे असम्बद्धता और अतिरजना दृष्टिगत होती है। ये प्राय ढीले-ढाले और विशृखलित होते है जिनका प्रधान हेतु लोक मनोरजन ही रहता है। गम्भीरतम कथानको मे भी प्रहसन का पुट रहता है। कभी कभी तो समसामयिक सामाजिक एवम् राजनैतिक समस्याएँ छोटे-छोटे प्रहसनो द्वारा ही प्रस्तुत की जाती है जिनमे तीखे व्यग या मार्मिक हास्य का आधार लिया जाता है। इसमे जनता का मनोरजन कर समकालीन समस्याओ की ओर उसका ध्यान खीचने की भावना अन्तर्हित रहती है। लोकधर्म, परम्परागत मान्यताएँ, सामाजिक रूढियाँ, ग्रामीण बोलियाँ—इन सभी बातो का यथार्थ परिचय इन नाटको द्वारा अनायास ही प्राप्त हो जाता है। ये सही अर्थों मे जनता के नाटक हैं।

पात्र

लोक-नाट्यो के पात्र प्राय प्रवृत्ति (विशेष या वर्ग) विशेष के द्योतक होते हैं। वे 'टाइप' होते हैं। हम इन पात्रो की समूहगत विशेषताएँ बता सकते हैं, उनका सूक्ष्म वैयक्तिक विश्लेषण नही कर सकते। प्रायः एक-जैसे पात्र एक से अधिक नाटको मे आते रहते हैं। मुसलमान बादशाह, साजिशबाज वजीर, खुशामदी दरबारी, पर्दानशीन बेगम, ईर्षालु सौत, निर्दय सास, पत्नी-भक्त पति, ढोगी साधु आदि ऐसे पात्र हैं जो लगभग सभी लोक-नाटको मे समान रूप से प्रस्तुत होते हैं। उनमे न वैविध्य रहता है और न नावीन्य। पौराणिक एवम् ऐतिहासिक कथानको मे भी ये पात्र देश-काल का ध्यान न रखकर परम्परानुसार ग्राम्य अभिनय करने लग जाते हैं जिससे दर्शको के मन मे करुण रस की निष्पत्ति के अवसर पर कभी-कभी हास्य की स्रोतस्विनी भी प्रवाहित होने लगती है। स्वाँग, भवाई, तमाशा, रास-

लीला आदि के प्रयोगो के देखने पर इस सत्य का साक्षात्कार हुए बिना नही रहता। इन नाटको के अभिनेता बडे कुशल होते हैं। सवादो मे टूटी कडियाँ वे अपनी ओर से जोडकर रस का अविरत प्रवाह बहाते रहते हैं। इनके सवाद प्राय पद्यात्मक होते हैं पर गद्य का सर्वथा अभाव नही रहता। सस्ती और सादी वेशभूषा तथा सीमित रगमचीय प्रसाधनों द्वारा ये लोग जनता का मनोरजन बडी सफलता से करते हैं। पात्रो की वेशभूषा मे विशेष वैविध्य नही रहता। एकाध कपडे के घटाने-बढाने से पात्र परिवर्तन हो जाता है। कुकुम, खडिया, गेरु, काजल आदि इनके प्रसाधन हैं। चेहरे पर मुखोटे लगाकर पशु-पक्षियो और देवो का रूप धारण किया जाता है। अक्सर इन लोक-नाटको मे पुरुष ही स्त्रियो की भूमिकाएँ लेते है। मनमुखा (विदूषक) सभी नाटको मे हास्य रस की सृष्टि के लिए अनिवार्य होता है। उसे नाटक के किसी भी प्रसग मे मच पर प्रवेश करने की स्वतन्त्रता होती है। वह बेतुकी और बेहूदी बाते करके अशिक्षित जनता मे स्थूल, अभद्र हास्य की सृष्टि करता है।

रस

सभी लोकनाटको मे तीन रस प्रधान रूप से पाये जाते है- शृगार, हास्य और वीर। इनमे भी शृगार रस की प्रधानता रहती है। शृगार के दोनो रूपो—विप्रलभशृगार और सयोगशृगार—के स्थूल रूप इनमे दृष्टिगत होते हैं। इन नाटको का शृगार प्राय बीभत्सता और अश्लीलता की कोटि पर पहुँच जाता है जो जुगुप्सा पैदा करता है। 'भवाई' और 'स्वाँग' के पतन का यह मुख्य कारण है। 'रामलीला', 'रासलीला' आदि मे अभिनेता राम-कृष्ण का पुनीत चरित्र प्रस्तुत करने की अपेक्षा मासारिक शृगारी पुरुषो का रूप ही अधिक प्रगट करते हैं। सीता, राधा और अन्य सती-साध्वी नारियो के चरित्रो को इस कदर विकृत बनाया जाता है कि सात्त्विक व्यक्ति इनके दर्शन से ही उद्वेग का अनुभव करता है। स्वाँग मे वीर रस का उद्रेक होता है। हास्य लोकनाटको का अनिवार्य रस है जिसकी सृष्टि मनमुखा करता है। इन तीनो रसो के अग-रूप अन्य रसो का भी परिपाक होता है।

नृत्य और सगीत

लोक-नाटको का मूल आधार नृत्य है। ससार के सभी देशो मे नृत्य से ही नाट्य की उत्पत्ति हुई है। आज भी लोक नाटको के अभिनय मे नृत्य अनिवार्य अग के रूप मे सपृक्त है। इनके पात्र सवाद करते-करते नृत्य करने लग जाते है। सामूहिक और एकपात्रीय नृत्यों का समावेश सभी प्रकार के लोक नाटको मे पाया जाता है। ये नृत्य शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह नही करते, अपितु 'लोक-परम्परा' के अनुवर्तक हैं। नृत्य के साथ सगीत का भी लोक-नाटको मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'स्वाँग' जैसे कुछ नाटक तो सगीत पर ही पूर्णत आधृत है। भवाई, रामलीला, रासलीला, यात्रा आदि लोक-नाट्यो मे विविध प्रकार के गीत, पद्यात्मक सवाद, भजन आदि का प्रयोग होता है। अशिक्षित-अर्द्धशिक्षित जनता सगीत की इन स्वर-लहरियो म झूमती हुई आनदोपलब्धि करती है। नाटक का शिथिल कथा-प्रवाह सगीत और नृत्य की प्रचुरता के कारण दर्शको को कभी खटकता नही। लोक-नाटको के सारे गाने पात्रो को कठस्थ होते हैं। भजन, गजल, गरबा, रास, दोहा, सोरठा, छप्पय, लावनी आदि छन्दो का प्रयोग इनके गीतो मे होता है। शब्द-सगीत और स्वर-सगीत

दोनो का सफल प्रयोग लोक नाटको मे प्राय पाया जाता है। ढोल, तबले, मँजीरे, करताल, हारमोनियम, पखावज, नगाडा, भूँगल आदि इनके वाद्य होते हैं।

रगमच

लोकनाटको का न तो कोई सुसज्जित रगमच होता है और न सुव्यवस्थित प्रेक्षागृह। गाँवो के चौराहो पर, खुले मैदानो मे, खेतो मे या मदिरो तथा धर्मशालाओ के प्रागणो मे इनके रगमच खडे कर दिये जाते हैं। ये अस्थायी रगमच के आदर्श रूप हैं। यदि 'खुले रगमच' (Open air Theater) का प्रत्यक्ष अनुभव करना हो तो लोकनाटक का रगमच देखना चाहिए। लोकनाटको की मडलियाँ अपना चलता-फिरता रगमच साथ लिये गाँव-गाँव मे घूमती रहती है। किसी गाँव मे खुली जगह पाकर वे डेरा डालती हैं और बाँसो और बल्लियो की सहायता से रगमच खडा कर देती हैं। आगे-पीछे रगीन या सफेद पर्दे डाल दिये जाते हैं। पर्दों के गिराने उठाने की कोई व्यवस्था लोक-नाटको मे नही होती। नेपथ्य का निर्वाह एक-दो चादरो से कर लिया जाता है। प्रकाश के लिए मच पर कई गाँवो मे दीपो या मशालो की व्यवस्था होती है। पैट्रोमैक्स और बिजली की रोशनी भी अब तो अनेको कस्बो और देहातो मे काम मे लाई जाती है। वादकवृन्द या तो मच के सामने प्रेक्षको के आगे बैठता है या मच पर ही। मंच के तीन ओर दर्शक-गण खुले मैदान मे रात्रि के १० बजे से प्रात ३ या ४ बजे तक बैठकर नाट्यरस का आस्वादन करते हैं। शिष्ट नाटको के प्रेक्षागृह की भाँति लोक-नाटको के प्रेक्षागृह मे प्रेक्षको की कोई श्रेणियाँ नही होती और न बैठने की किसी के लिए विशेष व्यवस्था ही होती है। यह प्रेक्षागृह सबको समान दृष्टि से देखता है। इसकी निगाह मे कोई ऊँचा नही, कोई नीचा नही। इसीलिए लोक नाटक और लोकरग को जनता अपनी सम्पत्ति मानती है। लोक-नाटको की यह धारा समस्त भारत में वस्तुत एक ही परम्परा, भावना और शैली को लेकर युगो से प्रवाहित होती चली आ रही है। आज भी विविध रूपो मे वह सर्वत्र विद्यमान है जिसने शिष्ट नाटको को प्रभावित किया है और जो स्वयम् भी शिष्ट नाटको से यदा-कदा प्रभावित हुई है। आज यह परम्परा ह्रासोन्मुख है। कहा नही जा सकता कि कब यह पुन विकासोन्मुख होगी, कही कालकवलित तो नही होगी!

तीसरा अध्याय

पृष्ठभूमि और व्रजभाषा-नाटक

हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के नाट्य-साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन के पूर्व यह आवश्यक है कि हम इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात कर लें जिसने समस्त भारत की आधुनिक भाषाओं के नाट्य-साहित्य को प्रेरित और प्रभावित किया है।

राजनैतिक पृष्ठभूमि

सन् १४९८ में पुर्तगाल से वास्को-डि-गामा सर्वप्रथम भारत में आया और भारत के साथ पुर्तगाल का व्यापार-सम्बन्ध शुरू हुआ। तदन्तर अन्य यूरोप-निवासियों के लिए भी भारत के द्वार खुल गये। धनलोलुप डच, फ्रांसीसी, अंग्रेज इत्यादि पश्चिमी लोगों ने भारत में आकर अपने व्यावसायिक केन्द्र खोले और देश का आर्थिक शोषण प्रारम्भ किया। उनमें परस्पर सत्ता तथा संपत्ति के लिए स्पर्धा का भी १७वीं सदी में उदय हुआ जिसने आगे चल कर छोटी-मोटी लड़ाइयों का रूप धारण किया। क्योंकि अंग्रेज लोग अधिक बुद्धिमान, दूरदर्शी तथा राजनीतिज्ञ थे, भारत के बहुत बड़े भाग पर देखते ही देखते उनका व्यापारिक एवं राजनैतिक प्रभुत्व प्रस्थापित हो गया। मुगल सल्तनत समाप्त हुई। अन्य यूरोपीय जातियाँ पिछड़ गईं। सन् १७५७ के प्लासी के युद्ध ने तो हमारे देश में साम्राज्यवादी अंग्रेजों की जड़ें काफी मजबूत कर दी। इसके बाद तो बक्सर की लड़ाई (१७६४), बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी (१७६५), मराठा-सिक्ख युद्ध आदि के फलस्वरूप कम्पनी की सरकार समस्त भारत में सुदृढ बन गई। मुस्लिम शासन को मिटाकर अंग्रेजी शासन को प्रस्थापित करने का जो कार्य क्लाइव (१७४३-१७६७) ने प्रारम्भ किया था, डलहौजी (१८४८-१८५६) ने उसे अपनी हड़प-नीति से परिपूर्ण किया।

कई राजनैतिक एवम् सामाजिक असंतोषों के कारण राष्ट्रीय जागृति का रूप लेकर १८५७ में अंग्रेजों के खिलाफ देश में विद्रोह जगा। वह अंग्रेजों के द्वारा दबा दिया गया। तदन्तर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन समाप्त हुआ और उसके स्थान पर ब्रिटिश सरकार का राज्य कायम हुआ। परन्तु जनता में तो अशांति फैली ही हुई थी। राष्ट्रीय चेतना के दर्शन इधर-उधर होने लगे थे। अंग्रेजों ने अपने शासन को सुराज्य का रूप देने के हेतु अनेक राजनैतिक, आर्थिक और शासकीय सुधार किये। इस नई शासन-व्यवस्था की नीति और उसके अनेक देशीय 'सुधारों' ने देश के विभिन्न क्षेत्रों पर अपना अच्छा प्रभाव डाला। पर जनता में स्वतन्त्रता की भावना तीव्र होने लगी। फलतः १८८५ में श्री ह्यूम द्वारा स्थापित तथा श्री उमेश बैनर्जी द्वारा परिपालित 'कांग्रेस' स्वराज्य-प्राप्ति के लिए समस्त भारतीय जनता की प्रतिनिधि संस्था बनी जिसे गोखले, तिलक, महात्मा गांधी आदि का अत्यन्त प्रभावशाली नेतृत्व प्राप्त हुआ। उसके प्रयत्नस्वरूप देश सन् १९४७ में आज़ाद हुआ।

उपर्युक्त राजनैतिक परिस्थिति ने समस्त भारतीय साहित्य को और उसी के महत्त्व-पूर्ण अंग नाटक को पूर्णत प्रभावित किया है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

वैज्ञानिक साधनो का प्रचार

अंग्रेजी राज्य-व्यवस्था को सुदृढ और सुस्थिर बनाने के लिए भारतवर्ष मे अंग्रेजो ने यांत्रिक एवम् वैज्ञानिक साधनो का उपयोग प्रारम्भ किया। रेलगाड़ियो का सन् १८५४ मे और डाक तार-टेलीफोन आदि का सन् १८५१ मे सूत्रपात हुआ। देश के सभी भाग एक-दूसरे से जुड़ गये और यातायात के साधनो की सुगमता के कारण समस्त भारत एक सूत्र मे आबद्ध हो गया। उधर बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के बंदरगाहो द्वारा परदेशो के साथ व्यापार और व्यवहार भी बढने लगा। फलत पश्चिमी सम्पर्क ने भारतीय परम्परागत जीवन मे आमूल परिवर्तन कर दिया। अनेक प्रकार के कल-कारखाने, बड़ी-बड़ी मिलें, मशीनें, विविध प्रकार के छोटे-मोटे वैज्ञानिक साधन सारे देश मे दीखने लगे। अहमदाबाद, बम्बई, कानपुर, कलकत्ता आदि शहर नवीन यन्त्रोद्योगो के केन्द्र बने। इग्लैंड के द्वारा पैदा किया हुआ विदेशी माल भारत मे आयात होने लगा। देश का धन परदेश जाने लगा। अंग्रेजो की स्वार्थपरक नीति से भारतीय गृह उद्योगो और कला-कौशल को काफी धक्का लगा। विदेशियो द्वारा देश का आर्थिक शोषण होने लगा। भारत के शोषण द्वारा प्राप्त अपार धन-सम्पत्ति से इग्लैंड की प्रजा समृद्ध होने लगी। देश आर्थिक दृष्टि से परमुखापेक्षी बन गया। यह सब होते हुए भी देश मे एक नई चेतना, नई भावना, नया वातावरण अवश्य पैदा हुआ जो सदियो से मुस्लिम शासन के कारण विलुप्तप्राय हो गया था। पश्चिमी वैज्ञानिक विचारो, बुद्धिवादी जीवन-मूल्यो और तर्कशुद्ध मान्यताओ ने भारतीय शिक्षित समाज मे अभूतपूर्व परिवर्तन पैदा कर दिया। इस नई पाश्चात्य संस्कृति ने भारत मे नये समाज और साहित्य-सृजन के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी।

नई वैज्ञानिक व्यवस्था

अंग्रेजो के आगमन के पूर्व संस्कृत की पाठशालाओ और फारसी के मदरसो का देश मे बोलबाला था। काशी, पूना आदि संस्कृत शिक्षा के केन्द्र थे। मुस्लिम शासको ने फारसी को राष्ट्र-भाषा घोषित किया था। फलत कई जातियाँ फारसीदाँ बन गई थी। उस समय सरकार से सम्बन्धित व्यक्तियो के लिए फारसी का अध्ययन आवश्यक ही हो गया था। अंग्रेजो ने भारत मे आकर सबसे पहले बगाल में अपने राज्य की नीव डाली। इस वास्ते अंग्रेजी ढग की शिक्षा का सर्वप्रथम प्रारंभ बगाल मे हुआ। कलकत्ता मे सन् १८०० मे फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई और उसी के साथ नई शिक्षा का जन्म हुआ। ईसाई पादरी भी परदेशियों के साथ इस देश मे अपने धर्म-प्रचार के हेतु आये थे। उन्होंने स्थान-स्थान पर मिशनरी स्कूल और अस्पताल खोले। १७९२ मे कई मिशनरी स्कूल बगाल मे स्थापित हुए। इन स्कूलो मे अंग्रेजी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। इस नवीन शिक्षा-व्यवस्था ने अनेक भारतीयो को अपनी ओर आकर्षित किया। वे अत्यन्त उत्साह और उमगपूर्वक अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण करने लगे। इससे जीवन के विविध क्षेत्रो मे सुधारवादी भावना सजग हुई। सभा सोसायटियाँ, क्लब, पुस्तकालय, छापेखाने, समाचारपत्र, पत्र-

पत्रिकाएँ आदि सर्वत्र दृष्टिगत होने लगे। कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी (१८३३), आगरा स्कूल बुक सोसायटी, आगरा कॉलेज (१८२३), दिल्ली कॉलेज (१८३० के लगभग), बरेली कॉलेज (१८३० के लगभग), बम्बई की नेटिव स्कूल-बुक एण्ड नेटिव स्कूल (१८२०) और नेटिव एजुकेशन सोसायटी (१८२५), अहमदाबाद, सूरत आदि में सरकारी स्कूल (१८२६), बम्बई का नेटिव बोर्ड ऑफ एजुकेशन (१८४०), एल्फिन्स्टन इन्स्टीट्यूट (१८२७) आदि पश्चिमी ढग की शिक्षा देने वाली विभिन्न सस्थाओं का प्रारम्भ हुआ। इनके द्वारा अग्रेजी भाषा और साहित्य का भारत में व्यापक प्रचार एवम् प्रसार हुआ। १८३५ में लार्ड मैकाले की शिक्षा-योजना ने अग्रेजी शिक्षा की बुनियाद और मजबूत की। सर चार्ल्स वुड की शिक्षा-योजना (१८५४) के अनुसार भारत के कई गाँवों में सरकारी स्कूल खोले गये और अग्रेजी शिक्षा का प्रचार बढने लगा। १८५७ में बम्बई, कलकत्ता और मद्रास विश्वविद्यालय स्थापित हुए और १८८२ में लाहौर तथा १८८७ में इलाहाबाद के विश्वविद्यालय खुले। इनके द्वारा बहुत लोग अग्रेजी शिक्षा, सस्कार और साहित्य के निकटतम सपर्क में आने लगे। कई अग्रेजी, जर्मन, फ्रासीसी आदि भाषा-भाषी विद्वान् भारत में रहकर प्राचीन भारतीय भाषा, साहित्य, कला, सस्कृति इत्यादि पर शोध-कार्य करने लगे और मुद्रण-यन्त्रों के सुलभ होने के कारण अपने ग्रन्थों का प्रकाशन भी वे करने लगे। देश में इन नये कालेजों और यूनिवर्सिटियों में अग्रेज विद्वानों द्वारा अध्यापन-कार्य होने लगा। इस नवीन वातावरण से प्रेरित होकर भारतीय विद्वान् भी पाश्चात्य जीवन और चिंतन की ओर आकृष्ट हुए। वे अग्रेजी पुस्तकों के अनुवाद करने लगे और उसी ढंग पर भिन्न-भिन्न विषयों की नई पुस्तकें भी लिखने लगे। नई शिक्षा ने प्राचीन सस्कृति और साहित्य के प्रति अनुराग पैदा किया। सस्कृत भाषा के उत्तम ग्रथों के देशी भाषाओं में भाषातर तथा रूपान्तर होने लगे। इस प्रकार सन् १८०० के पश्चात् भारतीय सस्कार-जीवन में एक नितान्त नवीन युग का उदय हुआ।

सास्कृतिक आन्दोलन

नई पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता का हमारे सास्कृतिक और सामाजिक जीवन पर काफी गहरा प्रभाव पडा। प्राचीन परम्परावाद के स्थान पर पश्चिमी वैज्ञानिक और बुद्धिवादी दृष्टिकोण ने अनेक सुधारकों और सास्कृतिक नेताओं को जन्म दिया। रूढिग्रस्त हिन्दू समाज को नया प्रकाश देने के लिए राजा राममोहन राय (१७७२-१८३३) ने १८१८ में 'ब्रह्म-समाज' की स्थापना की जिसके द्वारा साधना की नई पद्धति के प्रचार के साथ-साथ बाल-विवाह, जाति-भेद, सती-प्रथा आदि का खडन और विधवा-विवाह, आतरजातीय लग्न, मानव-एकता आदि का समर्थन भी किया गया। इस प्रकार के सामाजिक सुधारों के अतिरिक्त 'ब्रह्म-समाज' ने मूर्ति पूजा, पुनर्जन्म-विश्वास, वहमों और रूढियों की जडता आदि का परित्याग कर वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा सास्कृतिक पुनरुत्थान की व्यापक भावना फैलाने का प्रयत्न किया। बगाल के 'ब्रह्म-समाज' के इन सिद्धान्तों से अनुप्रेरित होकर पश्चिमी भारत में 'प्रार्थना-समाज' आन्दोलन ने १८६७ में जन्म लिया जिसका प्रभाव बबई, पूना, अहमदाबाद आदि नगरों के शिक्षित नागरिकों पर पडा। प्रार्थना-समाज ने अपने सास्कृतिक कार्यों में अनाथालयों, विधवाश्रमों, पाठशालाओं आदि के सचालन का कार्य भी हाथ में लिया। महादेव गोविन्द रानाडे ने इस समाज के कार्य को बडा वेग दिया। वस्तुत यह हिन्दू-समाज-सुधार का एक सबल सास्कृतिक आन्दोलन था जिसने बुद्धि-

जीवी वर्ग को विशेषत. प्रभावित किया। साहित्य भी इसके प्रभाव से अछूता नही रह सका।

तदनन्तर सन् १८६० में 'थियोसोफिकल सोसायटी' की भारत में स्थापना हुई। श्रीमती एनी बेसेण्ट ने 'थियोसोफिकल सोसायटी' के मत का बडे जोरो से प्रचार किया। काशी का सेण्ट्रल हिन्दू कॉलिज और पूना का फर्गुसन कॉलेज इसी सोसायटी के फल हैं। इसने भारतीय संस्कृति, योग आदि के समर्थन के साथ-साथ सामाजिक सुधारों पर भी बल दिया। गोपालकृष्ण गोखले, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि इसके समर्थकों में से थे।

आर्यसमाज ने भी भारतीय विचारधारा को नया मोड़ देने में कम महत्त्वपूर्ण योग नही दिया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के सद्प्रयत्नो मे बबई मे स्थापित (१८७५) आर्य समाज का अधिकांश प्रभाव पजाब में पडा। परन्तु उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात आदि अन्य प्रदेश इस समाज से प्रभावित अवश्य हुए। आर्यसमाज का कार्य धार्मिक होते हुए भी सामाजिक सुधार का पहलू उसमे अछूता नही रहा। निराकार ब्रह्म-साधना के साथ-साथ जातीय ऐक्य, स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, गौ-रक्षा, अछूतोद्धार, दरिद्र-सेवा आदि समाज-सुधार के कार्यों का इस समाज ने जोरो से प्रचार किया। हिन्दी-प्रचार मे आर्यसमाज का उद्योग विशेष प्रशसनीय रहा। आर्यसमाज के कार्य ने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनो की पृष्ठ-भूमि तैयार करने का पुण्य कार्य किया।

ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज की तरह ही रामकृष्ण मिशन ने भी धार्मिक तथा सामाजिक सुधार-कार्य किये। इसके आद्य सस्थापक थे रामकृष्ण परमहंस (१८३४-१८८६) और समर्थ प्रचारक थे स्वामी विवेकानन्द (१८६३-१९०२)। इस मिशन ने देश के समक्ष आध्यात्मिक साधना के साथ निर्व्याज मानव-सेवा करने का उच्चादर्श पेश किया।

ऊपर वर्णित सांस्कृतिक आन्दोलनो ने देश की आत्मा को पुन जाग्रत किया, सामूहिक चेतना को गति प्रदान की और राष्ट्रीय परम्पराओ का नवीन मूल्यांकन कर प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया। यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ जिसने देश मे नये जीवन की लहर फैला दी तथा साहित्य और समाज को नयी दृष्टि प्रदान की। "देश मे शिक्षा-प्रचार, स्त्रियो की हीनावस्था का सुधार, बाल-विवाह-बहिष्कार, विधवा-विवाह-प्रोत्साहन, जाति-पाँति की कट्टरता का विरोध, विदेश-गमन-प्रचलन आदि कार्य करना इन सुधारवादी आन्दोलनो का ध्येय था। इसके अतिरिक्त इनमे से कुछ आन्दोलनो ने धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार किया और मानव-समाज की सेवा को प्रमुख उद्देश्य बताया।"[1]

१८वी और १९वीं शती के इन राजनैतिक, शैक्षणिक और सास्कृतिक आन्दोलनो की तत्कालीन नाटक, उपन्यास, कविता, निबन्ध आदि सभी साहित्य-प्रकारों पर गहरी छाप नजर आती है। इनके कारण हिन्दी-गुजराती दोनो भाषाओ के साहित्य मे निम्नांकित नवीन तत्त्वो का प्रादुर्भाव हुआ :

(१) गद्य का प्रारम्भ। उसी के साथ साहित्य की नवीन विधाओ—उपन्यास, कहानी आदि का जन्म। नाटक के विषय, भाषा, शैली, शिल्प इत्यादि मे परिवर्तन।

(२) नई सामाजिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं का साहित्य मे समावेश।

(३) साहित्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष मे यथार्थवादी—वास्तवदर्शी—दृष्टिकोण का प्रवेश।

(४) मनुष्य की सर्वोपरिता की स्थापना।

---

१. भारतेन्दु नाट्य-साहित्य —वीरेन्द्रकुमार शुक्ल, प्र० सं० १९५५, पृ० ६।

हिन्दी और गुजराती गद्य-साहित्य का प्रारम्भ

ऊपर जिस नये युग की अवतारणा का उल्लेख किया गया है उसका आधुनिक गद्य से निकटता का सम्बन्ध है। आधुनिक नाटक गद्य-प्रधान हैं। अतः नाटक के उद्भव और विकास का पूर्ण अध्ययन करने के लिए गद्य के विकास पर तनिक दृष्टिपात करना अधिक उपयुक्त होगा।

अंग्रेजी शिक्षा-प्रचार के साथ-साथ गद्य का प्रारम्भ हुआ है। हिन्दी में खड़ीबोली का प्रयोग नवीन युग की देन है। मुद्रण-यन्त्रों के उपयोग से गद्य को अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। गद्य में पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं। पाठ्य पुस्तकें तैयार होने लगीं। ईसाई पादरियों ने 'बाइबल' के अनुवाद कई भाषाओं में करवाये। स्कूल और कॉलेज खुले। इन सबसे गद्य को अत्यधिक प्रश्रय प्राप्त हुआ। ऊपर-उल्लिखित सांस्कृतिक आन्दोलनों ने विविध-लक्षी नवीन गद्य-युग को सुदृढ़ बनाने में अभूतपूर्व सहयोग प्रदान किया। इनके आदर्शों और कार्यों को महत्त्वपूर्ण स्थान तत्कालीन गद्य में प्राप्त हुआ। हिन्दी में नवीन खड़ीबोली गद्य-युग के निर्माता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५ ई०) हैं। अपने तेजस्वी व्यक्तित्व, व्यापक अनुभव और अनन्य सृजन-प्रतिभा द्वारा उन्होंने गद्य साहित्य का न केवल परिष्कार किया, अपितु उसी के साथ उन्होंने अपने 'मंडल' के सहयोग से नाटक, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना, कहानी आदि साहित्य-विधाओं के सुदृढ़ स्रोत प्रवाहित किये। गुजराती साहित्य में गद्य का प्रादुर्भाव करने का श्रेय कवि नर्मद (१८३३-१८८६) को है जिन्होंने इतिहास, धर्म, तत्त्वज्ञान, समाजनीति आदि विषयों पर गद्य-ग्रन्थ लिखकर गुजराती गद्य को सरल, स्पष्ट और सप्राण बनाया। उन्हीं के साथ अन्य कई छोटे-बड़े गद्य-लेखक प्रकाश में आये। कवि नर्मद और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र समकालीन थे। यह विशेष उल्लेखनीय घटना है। समान प्रतिभा और व्यक्तित्व लेकर दोनों अवतरित हुए थे। दोनों सुधारवादी थे और युग की प्रतिक्रियावादी शक्तियों के विरुद्ध दोनों ने विद्रोह किया था। दोनों जीवनद्रष्टा और युग-स्रष्टा थे।

लगभग सन् १९०० के प्रारम्भ में तो गुजराती और हिन्दी-गद्य सभी प्रकार के विषयों की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण रूपेण सक्षम बन गया। गद्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग नाटक ने भी इस काल में काफी शक्ति और सामर्थ्य प्राप्त किया, तथा हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं की अनेक बहुमूल्य नाट्य-कृतियाँ इस समय प्रकाश में आईं। इन कृतियों का विवेचन आगामी अध्यायों में किया जायगा।

प्रारम्भिक नाटक-साहित्य—भारत में नाटक का जन्म कब हुआ, इस विषय में निश्चित रूप से कहना कठिन है, तथापि उपलब्ध अनुसंधानों के आधार पर ईसा से चार सौ वर्ष पूर्व के महाकवि भास के नाटक संस्कृत के सर्वप्रथम नाटक ठहरते हैं।[1] तत्पश्चात् शूद्रक, कालिदास, हर्ष, भवभूति, विशाखदत्त, राजशेखर आदि की सुप्रसिद्ध नाट्य कृतियाँ उपलब्ध होती हैं जिनमें संस्कृत नाट्य शास्त्र के लक्षणों का निर्वाह सम्यक् रीति से हुआ है। ये संस्कृत नाटक भारत के किसी विशेष प्रदेश, वर्ण या वर्ग के नहीं हैं अपितु समस्त भारत की सम्पत्ति के रूप में हैं। वे राष्ट्रीय निधि-स्वरूप हैं। हिन्दी-गुजराती दोनों भाषा-प्रदेश इन

---

१. 'संस्कृत नाटककार' नामक ग्रंथ (ले० कान्तिकुमार भरतिया) में महामहोपाध्याय श्री० टी० गणपति शास्त्री का मत, पृष्ठ ५६।

लोक-नाटकों के साथ यहाँ यह निर्देश करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि अवध के सुप्रसिद्ध नवाब वाजिदअली शाह के समकालीन सैयद आगाहसन 'अमानत'-कृत 'इन्दर सभा' (१८५३) नामक रंगमंचीय 'गीति नाट्य' (ऑपेरा) ने भी उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में हिन्दी और गुजराती-भाषी जनता का मनोरंजन किया और जिसका प्रभाव दोनों भाषाओं के अन्य रंगमंचीय नाटकों पर भी पड़ा। 'इन्दर सभा' का आलोचनात्मक परिचय परवर्ती पृष्ठों में यथास्थान दिया जायगा और उसी के साथ इन नाटकों, नाटककारों तथा व्यावसायिक-अव्यावसायिक नाटक-मंडलियों का भी सविस्तर विवरण-विवेचन प्रस्तुत किया जायगा जिनका हिन्दी और गुजराती भाषा-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

१७वीं शती के नाटक

इस शती में ब्रजभाषा के पाँच-छः नाटक उपलब्ध होते हैं। पहला नाटक है कवि प्राणचन्द्र चौहान-कृत 'रामायण महानाटक', जिसकी रचना जहाँगीर के शासन-काल में १६१० ई० में हुई। यह नाटक रामायण के आधार पर दोहा-चौपाइयों में ब्रजभाषा-पद्य में लिखा गया है। पात्रों के संवाद द्वारा कथानक का विकास होता है। यह मौलिक रचना है।

श्री कृष्ण मिश्र द्वारा रचित ११वीं शती के संस्कृत नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदय' के ब्रजभाषा में ११ अनुवाद उपलब्ध होते हैं। यह हिन्दी नाटककारों का अत्यन्त प्रिय नाटक रहा है। इसका पहला अनुवाद जोधपुर-नरेश स्व० महाराजा यशवन्तसिंह जी (१६२६-१६७८) ने लगभग १६४६ ई०[1] में किया। संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' का पद्यबद्ध छायानुवाद हृदयराम पंजाबी ने १६६२ में 'हनुमन्नाटक' के नाम से ही किया। मूल नाटक की भाँति इसमें भी स्वयं कवि कथा को आगे बढ़ाता है जो हिन्दी के 'स्वाँग' लोक नाटक की शैली का प्रभाव प्रतीत होता है।

तदनन्तर १६५७ ई० के आसपास[2] राजस्थानी कवि कृष्णजीवन लछिराम ने अपने मौलिक नाटक 'करुणाभरण' की रचना की। राधा-कृष्ण की कथा पर आधृत यह नाटक ब्रजभाषा पद्य में है। इसका अंगी रस करुण है और शृंगार गौण रस है। इसके बाद हिन्दी-जगत् में ख्यातिप्राप्त कवि नेवाज-कृत 'शकुन्तला' नाटक का नाम आता है जिसकी रचना १६८० में ब्रजभाषा में दोहा, चौपाई, सवैया आदि छन्दों में हुई है। यह 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' का स्वतन्त्र अनुवाद है।

सत्रहवीं शती में खड़ी बोली हिन्दी और गुजराती भाषा के नाटक उपलब्ध नहीं होते। कुछ लोग गुजराती में कवि प्रेमानन्द (१६३६-१७३४) के नाम से प्रकाशित तीन पौराणिक नाटकों—रोपदर्शिका, सत्यभामाख्यान, पांचालीप्रसन्नाख्यान और तपत्याख्यान—को १७वीं शती के गुजराती के आरम्भिक नाटक मानते हैं। वस्तुतः ये कवि प्रेमानन्द के नाटक नहीं हैं, किसी आधुनिक अज्ञात लेखक के नाटक हैं।[3]

---

१. हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास —डा० सोमनाथ गुप्त, पृ० ८।
२. भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य —डा० गोपीनाथ तिवारी, पृ० २२।
३. साहित्यविहार —श्री अनन्तराय म० रावल, १९४६, पृ० १६३-१६७।

१८वीं शती :

१८वीं शती में भी खड़ीबोली हिन्दी और गुजराती के नाटक नहीं मिलते। व्रजभाषा-पद्य में अनूदित केवल दो नाटक प्राप्त होते हैं एक 'मालतीमाधव' का सोमनाथ माथुर 'शशिनाथ'-कृत अनुवाद 'माधव-विनोद' (१७५२) और दूसरा 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का घोंकलराम मिश्र-कृत अनुवाद 'शकुन्तला' (१७९९)। इनके अतिरिक्त कोई मौलिक नाटक नहीं है।

१९वीं शती

हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के मौलिक नाटकों का उद्भव इस शती के उत्तरार्द्ध में होता है। अतः यह शती (१८५० के बाद) हमारे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी और गुजराती नाटकों का विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत करने के पहले हम इस शती में प्राप्त व्रजभाषा-नाटकों का परिचय प्राप्त कर लें और अब तक के समस्त व्रजभाषा-नाटकों के सामान्य लक्षणों का भी संक्षेप में आकलन कर लें।

१९वीं शती के व्रजभाषा-नाटक

१८४० ई० से कुछ वर्ष पूर्व उदय कवि के 'रामकरुणाकर' नाटक का प्रणयन हुआ। ५९ छन्दों के इस एक-अंकीय लघु-नाटक में लक्ष्मण की मृत्यु पर राम के दुःख और विलाप को अंकित किया गया है। इस करुण-रसप्रधान नाटक का आधार 'रामचरितमानस' है। इसी काल की इस कवि की अन्य कृति 'हनुमान नाटक' है, जिसकी शैली 'रामकरुणाकर' जैसी ही है। रीवाँनरेश महाराज विश्वनाथसिंह जी के पुत्र कुँवर रघुराजसिंह जी का 'परम प्रबोध विधु' नाटक १८४७ ई० से पूर्व रचा गया।

इस युग का विशेष उल्लेखनीय नाटक आनन्द रघुनंदन है जिसे हिन्दी के कई विद्वान् 'हिन्दी का आदि नाटक' मानते हैं।[1] रीवाँनरेश महाराज विश्वनाथसिंह जी (राज्य-काल १८२३ से १८५४) इस नाटक के रचयिता हैं। नाटक की रचना-तिथि अज्ञात है। सात अंकों के इस नाटक में रामजन्म से रामराज्याभिषेक तक की कथा का समावेश हुआ है। यह नाटक व्रजभाषा में है, पर अनेक स्थानों पर संस्कृत, पैशाची, फारसी, मराठी, कर्नाटकी, बँगला, अंग्रेजी आदि भाषाओं का प्रयोग किया गया है। रामायणीय पात्रों के नाम विचित्र ढंग से बदल दिये गये हैं। यह नाटक पद्ययुक्त संवादों में है। पर व्रजभाषा-गद्य का प्रयोग इतस्ततः पात्रों द्वारा लेखक ने कराया है। मौलिक नाटकों में यह गद्य-प्रयोग सर्वप्रथम है। इस दृष्टि से हिन्दी-नाटकों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत नाट्य-शास्त्र के नियमों का इसमें अधिकांशतः पालन हुआ है। यथा नान्दी, प्रस्तावना, भरत-वाक्य आदि।

---

१. (अ) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, ८म सं०, २००९ वि०, पृ० ४४९।
(आ) डा० सोमनाथ गुप्त—हि० ना० सा० का इतिहास, सं० ४, १९५७, पृ० ६।
(इ) बाबू गुलाबराय—हिन्दी नाट्य-विमर्श, पृ० ७६।
(ई) बाबू व्रजरत्नदास—हिन्दी नाटक-साहित्य, पृ० ५०।

हिन्दी-नाटक के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता गोपालचन्द्र (उपनाम गिरधरदास) का 'नहुष' नाटक (१८५७ ई०) हिन्दी-साहित्य में बहुचर्चित है जो सम्पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं हुआ है। भारतेन्दु ने इसे हिन्दी भाषा का प्रथम नाटक माना है।[1] इसके प्राप्त अंशो में नाट्य-शास्त्र के कई लक्षणों का समावेश हुआ है। पर इसी शती में प्राप्त सम्पूर्ण नाटक 'आनन्द रघुनंदन' से यह अपूर्ण नाटक किसी प्रकार उत्तम तो नहीं है। इसमें पद्य की बहुलता है। गद्य का प्रयोग बहुत ही थोड़ा हुआ है। कथा मंद गति से अग्रसर होती है। 'नहुष' में खड़ीबोली के गद्य का प्रयोग देखकर संभवतः भारतेन्दु ने इसे प्राथमिकता दी हो। महाभारत की नहुष-कथा पर आश्रित यह 'नहुष' नाटक पूर्वोल्लिखित ब्रजभाषा-नाटकों की एक कड़ी ही है।

इस काल का अन्तिम उपलब्ध ब्रजभाषा-नाटक 'प्रद्युम्न-विजय' (१८६४ ई०) है, जिसकी रचना काशीनरेश के आश्रित गणेश कवि ने की है। इसके कथानक का आधार श्रीमद्भागवत है। यह सात अंकों का पद्यबद्ध नाटक है। केवल एक गद्य-वाक्य का इसमें प्रयोग हुआ है। संस्कृत नाट्य-शास्त्र के सभी लक्षणों की मर्यादाओं को इस नाटक में स्वीकार किया गया है। फिर भी जन-नाट्य शैली का प्रभाव इस पर कम नहीं है।

ब्रजभाषा-नाटकों के सामान्य लक्षण :

(१) प्रायः सभी नाटक संस्कृत परम्परा का अनुसरण करते हैं। उनके कथानक अंकों में विभाजित हैं। दृश्य-योजना इनमें दृष्टिगत नहीं होती।

(२) इस काल के मौलिक नाटकों के कथानक पौराणिक प्रसंगों या पात्रों पर आधारित हैं।

(३) लगभग सभी नाटक पद्य-प्रधान हैं। 'आनन्द-रघुनंदन', 'नहुष' और 'प्रद्युम्न-विजय'—उन्नीसवीं शती के इन तीन नाटकों में थोड़े से गद्य का प्रयोग हुआ है।

(४) इन सभी नाटकों की शैली पर लोक-नाटकों का प्रभाव स्पष्ट है।

हिन्दी के विद्वानों का एक पक्ष इन ब्रजभाषा-नाटकों को 'नाटक' नहीं मानता।[2] इन विद्वानों का कथन है कि इनकी कथावस्तु में नाटकीय कार्य-व्यापार का अभाव है। इनमें प्रबन्ध-काव्य की वर्णनात्मक शैली है, पद्यात्मकता है और गद्य का नितांत अभाव है। दूसरा पक्ष इन नाटकों में 'नाटकत्व' का पूर्ण दर्शन करता है।[3] यदि अर्वाचीन नाट्य-सिद्धान्तों की कसौटी पर इन ब्रजभाषा-नाटकों को कसा जाय तो वे खरे नहीं उतर सकते। इस दृष्टि से विरोधी पक्ष सही है। किन्तु हमें उस काल के नाट्य-रचना-विधान को दृष्टि के समक्ष रखकर इनकी परीक्षा करनी चाहिए जिस काल में ये रचे गये थे। उस समय संस्कृत-नाटकों का

---

१. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, प्रथम भाग : सम्पादक श्रीब्रजरत्नदास, प्र० सं०, पृ० ७५२।

२. (अ) श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—भारतेन्दु-ग्रन्थावली, सं० ब्रजरत्नदास, पहला भाग, पृ० ७५२।
(आ)—आ० रामचन्द्र शुक्ल—हि० सा० का इतिहास, सं० २००६, पृ० ४५३।
(इ) डॉ० सोमनाथ गुप्त—हि० ना० सा० का इतिहास, पृ० ७।
(ई) डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य १८५०–१६००, संस्करण १६४८, पृ० २०५

३. (अ) डॉ० दशरथ ओझा—हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास—द्वि० सं०, पृ० १६४।
(आ) डॉ० गोपीनाथ तिवारी—भारतेन्दुकालीन नाट्य-साहित्य, पृ० ८८।

अभिनय बिल्कुल बंद हो चुका था और लोक-नाट्य प्रयोगों का सर्वत्र प्रचार था। संस्कृत नाटकों के देशी भाषाओं में अनुवाद होने लगे थे। फलतः संस्कृत नाटकों से प्रभावित 'रास शैली'[1] का तत्कालीन नाटककारों ने अनुसरण किया। डॉ० देवर्षि सनाढ्य ने ठीक ही कहा है, "ये आधुनिक हिन्दी नाटकों के पूर्वरूप हैं।"[2]

गुजराती में लगभग १८६० के पूर्व कोई साहित्यिक नाटक उपलब्ध नहीं होता। केवल 'भवाई' लोक-नाटक जनमन-रंजन करता रहा है। उसके कुछ 'वेश' (खेल) लिखित रूप में अवश्य प्राप्त होते हैं जिसका उल्लेख 'लोक-नाटक' शीर्षक दूसरे अध्याय में 'भवाई' सम्बन्धी विवेचन के संदर्भ में किया जा चुका है।

---

१. हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा, पृ० १४१।
२. हिन्दी के पौराणिक नाटक : डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० १११।

चौथा अध्याय

हिन्दी-गुजराती के आदि नाटक

हिन्दी-नाटकों का प्रारम्भ

हिन्दी-प्रदेश में उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व की साहित्यिक भाषा ब्रज थी। काव्या-भिव्यक्ति मुख्यतः पद्य में होती थी। फलतः जैसा कि ऊपर बताया गया है, तत्कालीन सभी नाटक पद्यमय ब्रजभाषा में हैं। खड़ी बोली हिन्दी ने ब्रजभाषा का स्थान उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में ग्रहण किया और साहित्य में गद्य का प्रयोग उसी समय प्रारंभ हुआ। अंग्रेजी राज्य और खड़ीबोली-गद्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसका निर्देश हो चुका है।

पाश्चात्य वातावरण की प्रेरणा और प्रभाव से खड़ीबोली का हिन्दी-गद्य साहित्य क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रयुक्त होने लगा। उसमें आधुनिकता और नवीनता का बीजारोपण हुआ। उसने साहित्य के सभी स्वरूपों में अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में स्थान ग्रहण किया। इसी युग में नाटक खड़ी बोली हिन्दी गद्य में लिखे जाने लगे। इस समय केवल एक ही हिन्दी-उर्दू भाषा का रंगमंचीय नाटक 'इन्दर सभा' (१८५३) गीतिनाट्य की पद्यात्मक शैली में उपलब्ध होता है जिसकी रचना लखनऊ में अवध के सुप्रसिद्ध नवाब वाजिदअली शाह (१८४७-१८८७ ई०) के समकालीन कवि सैयद आगाहसन 'अमानत' ने (१८१६-५८) की है। इसका रचना-विधान 'रामलीला' से मिलता-जुलता है। उर्दू-मिश्रित पद्यमय भाषा, असाहित्यिक शैली, नाटक के शास्त्रीय तत्त्वों की अनुपस्थिति आदि के कारण 'इन्दर सभा' को हिन्दी का आदि नाटक नहीं कह सकते। हिन्दी-रंगमंच के संदर्भ में उसका ऐतिहासिक महत्त्व असंदिग्ध है। 'इन्दर सभा' और अन्य रंगमंचीय नाटकों की विस्तृत विवेचना आगे 'रंगमंच' शीर्षक ग्यारहवें अध्याय में की जायगी।

'शकुंतला नाटक'

यह एक आश्चर्यजनक घटना है कि पूर्व-वर्णित रास शैली पर आधृत कोई मौलिक या अनूदित नाटक खड़ी बोली हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक नहीं बना। न अंग्रेजी नाट्य-शैली वाले हिन्दी के किसी नाटक ने वह स्थान ग्रहण किया। किन्तु शिष्ट संस्कृत नाटक के सभी गुणों से विभूषित महाकवि कालिदास के श्रेष्ठ नाटक 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' के शुद्ध हिन्दी-अनुवाद 'शकुन्तला नाटक' (सन् १८६३) को हिन्दी के आदिनाटक का गौरवमय पद प्राप्त करने का सुयोग मिला। इस नाटक के अनुवादक हैं राजा लक्ष्मणसिंह। डॉ० श्री कृष्ण-लाल[1] और डॉ० देवर्षि सनाढ्य[2] भी हिन्दी-नाटकों का प्रारम्भ इसी से मानते हैं। इसी

---

१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास (१६०० से १६२५), डा० श्रीकृष्णलाल, संस्करण १६४०, पृ० २०४।

२. हिन्दी के पौराणिक नाटक—डा० देवर्षि सनाढ्य, १६६१, पृ० ६८।

नाटक मे सर्वप्रथम हिन्दी-गद्य का साद्यंत प्रयोग हुआ है। इसके पहले संस्करण (१८६३) में संस्कृत 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के सभी श्लोक हिन्दी-गद्य में अनूदित थे। परन्तु २५ वर्ष के पश्चात् दूसरे संस्करण में संस्कृत-गद्य का अनुवाद सुन्दर हिन्दी-गद्य मे और संस्कृत-श्लोकों का अनुवाद ब्रजभाषा-पद्य मे किया गया है। इस अनुवाद का गद्य परिमार्जित और प्रवाहयुक्त है तथा पद्य मे बड़ी सरसता एवम् मधुरता है। अनुवादक को मूल के भावों और सौंदर्य को बनाये रखने मे संपूर्ण सफलता मिली है। कही भी रोचकता का अभाव अनुभव नही होता। यह हिन्दी मे अच्छे अनुवाद का उदाहरण है। इस नाटक से हिन्दी को एक और लाभ हुआ। इस 'शकुन्तला नाटक' ने प्रारम्भिक पद्यमय ब्रजभाषा के नाटकों और आधुनिक गद्यमय हिन्दी-नाटकों के बीच के सोपान का स्थान ग्रहण कर लिया। दो परम्पराओं की शृंखला यह नाटक बना। वस्तुत हिन्दी का यह आदि नाटक हिन्दी नाट्य साहित्य का वह सीमाचिह्न है जो दो युगों को जोड़ता है और उसी के साथ वह यह भी प्रमाणित करता है कि हिन्दी साहित्यिक नाटकों का सूत्रपात संस्कृत की नाट्य-परम्परा से हुआ है। इस नाटक की भाषा-शैली, रचना-विधान आदि से परवर्ती नाटककार बहुत प्रभावित हुए और इसी के आदर्श पर अपने नाटकों का प्रणयन करने लगे। हिन्दी के मौलिक नाटकों के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र भी इससे प्रभावित हुए थे, क्योंकि उनके समक्ष शुद्ध हिन्दी का तो एकमात्र यही अनूदित संपूर्ण नाटक आदर्श मार्गदर्शक के रूप मे विद्यमान था।

गुजराती-नाटकों का प्रारम्भ

गुजराती भाषा के नाटकों का आरम्भ १९वी सदी से होता है। इसके पूर्व विक्रम की बारहवी तेरहवी शती तक संस्कृत भाषा के धार्मिक, पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की रचना गुजरात मे होती रही है। यथा कर्णसुन्दरी, नलविलास, मोहराजपराजय, पार्थपराक्रम-व्यायोग, द्रौपदी-स्वयवर, हम्मीरमदमर्दन, दूतांगद आदि।[1] ये संस्कृत नाटक सिर्फ लिख ही नहीं गये थे, अपितु खेले भी गये थे। उनके खेले जाने के प्रमाण उनकी प्रस्तावनाओं मे प्राप्त होते है। देव मन्दिरों या राजगृहो मे अभिनीत ये नाटक संस्कृत भाषा से परिचित तत्कालीन कुछ शिक्षित और संस्कारी लोग ही देख और समझ पाते थे। ग्राम जनता का मनोरंजन तो गुजरात के सुप्रसिद्ध 'भवाई' लोक नाटक द्वारा ही होता था जिसका सविस्तर विवेचन पीछे प्रस्तुत किया गया है।

'लक्ष्मी नाटक'

१९वी शती मे अंग्रेजी शिक्षा, साहित्य और संस्कार के प्रचार के साथ गुजराती साहित्य मे गद्य का प्रयोग शुरु हुआ। उसी के साथ 'नाटक' का भी उद्भव हुआ। गुजराती का सबसे पहला नाटक एक यूनानी नाटक का गुजराती-रूपांतर 'लक्ष्मी' नाटक है जिसकी रचना सन् १८५१ मे हुई। यूनानी (ग्रीक) नाट्यकार एरिस्टोफेनिस के 'प्लुटस' नामक

---

१. गुजराती में रचित संस्कृत के सभी उपलब्ध नाटकों की सूची के लिए देखिये, "गुजरात साहित्य सभानी कार्यवही (१९४१–४२)" में डॉ० भोगीलाल सांडेसरा का लेख . 'गुजरातना संस्कृत नाटको'।

रूपक के अंग्रेजी-अनुवाद के आधार पर कवि दलपतराम ने इस नाटक का प्रणयन किया। यह एक अतीव अद्भुत घटना है कि गुजराती नाटक-साहित्य का प्रारम्भ अंग्रेजी या संस्कृत नाट्य-प्रणाली से प्रभावित या प्रेरित होकर नहीं हुआ, वरन् एक यूनानी नाटक के रूपान्तर से हुआ। यूनानी पुराणों मे धन का अधिष्ठाता देव 'प्लुटस' पुरुष था और अन्धा था। अपने अंधेपन के कारण वह देव पात्र-कुपात्र को देखे बिना ही धन का दान दे देता था। हमारे यहाँ धन की देवी 'लक्ष्मी' स्त्री-रूप है, जो चचल है। यूनानी नाटक की मूल वस्तु को बनाये रखने के लिए दलपतराम ने 'लक्ष्मी' नाटक में लक्ष्मी को अंधी चित्रित किया है। इससे अनौचित्य दोष हो गया है। इस असगति को टालने के लिए लेखक ने नाटक मे आगे जाकर वैद्य धन्वतरि के पात्र का उपयोग किया है। अंधी लक्ष्मी अपने अंधेपन के कारण दुर्जनो के घर मे चली जाती है। दुर्जन धनवान बनाते हैं। समाज में अन्याय फैलता है। तब वैद्य धन्वतरि लक्ष्मी की आंखो का इलाज करते है। वह देखने लगती है। फिर तो वह दुर्जनो का घर छोडकर सज्जनो के घर मे निवास करती है। सज्जन सुखी होते हैं। दुर्जन दु ख पाते है। न्याय-धर्म की स्थापना होती है। इस प्रकार इस नीतिदर्शक नाटक का अत होता है। लेखक ने नाटक की प्रस्तावना म अपना लिखने का हेतु स्पष्ट किया है कि "गुजराती लोगो की समझ मे अच्छी तरह न्याय और सज्जन साराश ग्रहण करें, इसी लिए यह रूपातर प्रस्तुत किया गया है।"[1] इस नाटक की भाषा गद्यमय है। बीच-बीच में पद्य का भी प्रयोग हुआ है। यह अत्यत सामान्य कोटि की कृति है, अत, असगतियों और अस्वाभाविकताओं की भरमार है। पात्रो के वार्तालाप और व्यवहार की अभद्रता तथा ग्राम्यता यूनान की 'ओल्ड कॉमेडी' की निर्लज्जता एवम् अशिष्टता को प्रत्यक्ष करती है। 'लक्ष्मी' नाटक के वातावरण और निरूपण की 'भवाई' से पूर्णरूपेण समानता है। यूनानी नाटक में न अक होते हैं, न प्रवेश। इस रूपातर मे एक अक है और सात दृश्य है, जिन्हे 'स्वांग' नाम से अभिहित किया गया है जो भवाई का 'वेश' ही है। प्रारम्भ से अत तक 'लक्ष्मी' नाटक मे उपस्थित मनसुखे-सा 'आखा बोला' का पात्र, 'झाँपडो' और 'चाडीयो' के अभद्र पात्र, जन-बोली के ग्रामीण शब्द प्रयोग, स्थूल हास्य आदि सभी बातो से 'भवाई' का ही प्रभाव प्रगट होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस नाटक ने गुजराती-साहित्य मे कोई स्थायी स्थान प्राप्त नही किया। इसके बाद के लेखको पर इसका या इसके लेखक का कोई प्रभाव नही पडा। यह नाटक कोई परम्परा भी प्रारभ नही कर सका। इसका केवल ऐतिहासिक महत्व है। *कवि दलपतराम ने सन् १८५६ मे 'स्त्री-सभाषण' नामक एक असफल सामाजिक* नाटक की रचना की। इस नाटक मे नाट्य तत्त्वो का नितान्त अभाव है। प्रारभिक कृति के रूप मे ही इसका मूल्य है।

निष्कर्ष.

उपर्युक्त दोनो भाषाओ के आदि नाटको के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि गुजराती-नाटक (१८५१) का जन्म हिन्दी-नाटक (१८६३) से लगभग बारह वर्ष पूर्व हुआ। इस दृष्टि से वह 'अग्रज' है। नाट्योत्पत्ति के समय दोनो भाषाओ की ऐतिहासिक, सास्कृतिक, सामाजिक एवम् शैक्षणिक पृष्ठभूमि समान थी, क्योकि दोनो का उद्गम

१. 'लक्ष्मी' नाटक, प्रस्तावना, पृ० ७–३

काल अंग्रेजो का शासन-काल १९वी शती का उत्तरार्द्ध है। जगत् की प्राचीनतम दो महान् नाट्य परम्पराओं—यूनानी और भारतीय—मे से हमारी आलोच्य भाषा गुजराती के आदि नाटक का यूनानी नाटक से और हिन्दी के आदि नाटक का संस्कृत नाटक से सम्बन्ध हो, यह एक अत्यन्त रोचक घटना है। भिन्न-भिन्न परम्पराओं से उद्भव होने के कारण दोनो भाषाओं के आदि नाटको मे साम्य कम और वैषम्य ज्यादा है। फिर भी यहाँ यह निर्देश आवश्यक है कि दोनो भाषाओं के इन आदि नाटको के कथानक पौराणिक हैं। हिन्दी के आदि नाटक 'शकुन्तला' का हिन्दी के भावी नाटककारो पर काफी प्रभाव पडा है, जबकि गुजराती 'लक्ष्मी' नाटक ने किसी भी परवर्ती गुजराती नाटककार को प्रभावित नहीं किया और किसी परम्परा का आरम्भ भी नही किया।

पाँचवाँ अध्याय

हिन्दी-गुजराती नाटकों का वर्गीकरण

हिन्दी और गुजराती के आदि नाटकों की विवेचना पिछले अध्याय में हो चुकी है। तदन्तर हिन्दी में भारतेन्दु-युग का और गुजराती में नर्मद-युग का आगमन होता है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और कवि नर्मद दोनों समकालीन थे और दोनों अपनी-अपनी भाषाओं के आधुनिक गद्य-युग के निर्माता थे। इनका समय नाटक-साहित्य के निर्माण एवम् विकास की दृष्टि से अतीव महत्त्वपूर्ण है। भारतेन्दु का जीवनकाल सन् १८५० से १८८५ तक का है। उनके नाटकों का रचनाकाल १८६७-६८ से प्रारंभ होता है और प्रभाव उनके अवसान (१८८५) के पश्चात् भी कुछ वर्ष बना रहता है, अतः भारतेन्दु-युग की सीमा १९०० ई० तक स्वीकृत की जा सकती है। हिन्दी के विद्वानों ने भी इस सीमा को माना है।[1] गुजराती के कवि नर्मद का जन्म सन् १८३३ ई० में और अवसान सन् १८८६ ई० में हुआ। नर्मद-युग सन् १९०४ तक माना जाता है।[2] अतः आगे के अध्यायों में भारतेन्दु-नर्मद-युग के १९०० तक के गुजराती-नाटकों का अध्ययन पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत करते हुए दोनों भाषाओं के आलोच्य काल १९०० ई० से १९६३ ई० तक के नाटकों का तुलनात्मक विवेचन एवं विश्लेषण प्रस्तुत किया जायगा।

यहाँ एक वस्तु स्पष्ट करना आवश्यक है। नाटक के विकास-क्रम की दृष्टि से हिन्दी में हरिश्चन्द्र-युग के पश्चात् द्विवेदी-युग, प्रसाद-युग आदि का आगमन होता है और इसी प्रकार गुजराती में नर्मद-युग के अनन्तर गोवर्धन-युग, गांधी-युग आदि आते हैं। मेरा विचार आलोच्य दोनों भाषाओं के नाटकों का इन युगों के आधार पर वर्गीकरण कर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का था। परंतु अधिकांश नाटकों का अध्ययन करने के बाद मुझे यह अनुभव हुआ कि हिन्दी और गुजराती के इस वर्गीकरण में न रचनाकाल की दृष्टि से कोई साम्य है और न हर युग की कृतियों एवम् कृतिकारों की प्रकृति तथा प्रवृत्ति में ही समानता है। विषयों की दृष्टि से दोनों भाषाओं के इन नाटकों का अध्ययन करने पर मुझे अनेक समानताएँ स्पष्टतया दिखलाई दीं। इसलिए मैंने आलोच्य नाटकों का वर्गीकरण विषयों के आधार पर किया है और उसी क्रम से आगे तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह वर्गीकरण इस प्रकार है :

(१) पौराणिक नाटक,
(२) ऐतिहासिक नाटक,
(३) सामाजिक नाटक, और
(४) अन्य विषयक नाटक।

---

१. (अ) डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य, संस्करण १९४८, पृ० ५८।
(आ) डॉ० गोपीनाथ तिवारी : भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य : १९५९, पृ० ३।

२. साहित्य-प्रवेशिका : हिम्मतलाल गणेशजी अंजारिया, संवत् २००८, बीजी आवृत्ति, पृ० ११६।

पौराणिक नाटको का वर्गीकरण

हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओं के कतिपय पौराणिक नाटकों के कथानकों का आधार या तो राम कथा है या कृष्ण कथा। अन्य सभी नाटकों की घटनाएँ विविध पुराणों पर आधृत है। रामायण, महाभारत और विभिन्न पुराणों पर आश्रित कथा-वस्तु वाले इन नाटकों का निम्नांकित वर्गीकरण किया गया है

(१) रामकथाश्रित पौराणिक नाटक,
(२) कृष्ण-कथाश्रित पौराणिक नाटक
(३) अन्य कथाश्रित पौराणिक नाटक।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटक-समीक्षक डॉ० सोमनाथ गुप्त ने अपने शोध प्रबन्ध 'हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास' मे पौराणिक नाटकों का लगभग इसी प्रकार का वर्गीकरण किया है जो अत्यन्त वैज्ञानिक है।[1] परवर्ती हिन्दी के अन्य नाट्य-समीक्षकों ने भी इसी का अनुसरण किया है।[2]

पौराणिक नाटकों मे पहली श्रेणी के वे नाटक हैं जिनकी रचना मूलत रंगमंच के लिए हुई है और जिन्हें हम 'रंगमंचीय पौराणिक नाटक' कह सकते हैं। ये नाटक व्यावसायिक रंगमंच की माँग को ही पूरा करने के लिए लिखे गये हैं। ये या तो किसी पेशेवर नाटक मंडली द्वारा अपने नाटककारों से लिखवाये गये हैं या धनोपार्जन के हेतु लेखकों ने स्वयं नाटक मंडलियों के हाथ बेचने के हेतु इनका निर्माण किया है। इनमें साहित्यिक तत्त्वों का इतना निर्वाह नहीं हुआ है जितना पेशेवर रंगमंच की आवश्यकताओं का। हिन्दी गुजराती रंगमंचीय नाटकों की समीक्षा प्रस्तुत प्रबन्ध के 'रंगमंच' शीर्षक ग्यारहवें अध्याय में की जायगी।

दूसरी श्रेणी मे वे नाटक आते है जिनका साहित्यिक मूल्य विशेष है और जिनके प्रणयन मे किसी नाटक संस्था के प्रयोग की मूल दृष्टि नहीं रही। यहाँ आलोच्य दोनों भाषाओं के उन 'साहित्यिक पौराणिक नाटकों' का अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा जो उपर्युक्त तीनों वर्गों मे समाविष्ट होते हैं।

हिन्दी म भारतेन्दु पूर्व और गुजराती मे नर्मद पूर्व नाटकों का विवेचन पिछले अध्यायों म किया जा चुका है। यहाँ उसके बाद के नाटक आलोच्य हैं।

रामकथाश्रित नाटक, १६०० से पूर्व

हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओं म इस वर्ग के कम नाटक उपलब्ध होते है। हिन्दी म जो नाटक प्राप्त हैं उनमे से अधिकांश 'रामलीला' खेलने के लिए अत्यंत साधारण कोटि के लेखकों द्वारा रचे गए है। 'रामलीला' का उल्लेख हम 'लोक नाटक' के अध्याय मे कर चुके है। ये 'लीला नाटक' जन नाट्य की रंगमंचीय परंपरा से अधिक सम्बन्धित हैं। गुजराती के 'भवाई'—'वेशो' का रामकथा से विशेष सम्बन्ध नहीं रहा।

---

१. 'हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास, चौथा संस्करण, १९५६, पृ० ६१।
२ (अ) डा० देवर्षि सनाढ्य—हिन्दी क पौराणिक नाटक।
(आ) डॉ० पाडुरंगराव—आभ हिन्दी-रूपक।

मे रचना की। इसमे रामचन्द्र का सीता और लक्ष्मण-सहित प्रयाग के भरद्वाज-आश्रम मे जाकर भरद्वाज का आतिथ्य-सत्कार ग्रहण करना अंकित है। इसमे चरित्र-चित्रण का अभाव है। जिस प्रकार सस्कृत नाटको मे भद्र वश के पात्र सस्कृत बोलते हैं और स्त्री-पात्रो की भाषा प्राय प्राकृत होती है इसी प्रकार इस नाटक मे सीताजी व्रजभाषा का प्रयोग करती हैं और रामादि पुरुष-पात्रो के सवाद खड़ीबोली हिन्दी मे है। इस नाटक मे अभिनय-तत्त्वो का अभाव दृष्टिगत होता है। सन् १९१९ मे गगाप्रसाद का 'रामाभिषेक' नाटक रचा गया। इस नाटक मे राम के राज्याभिषेक की तैयारी, दशरथ की आज्ञानुसार राम-वन-गमन और पुत्र-वियोग से पिता दशरथ की मृत्यु के प्रसग सुगठित रूप मे प्रस्तुत किये गए है। राम, सीता और रानियाँ सभी इसमे गीत गाते है। सभवत यह पारसी रगमच का प्रभाव है।[1]

सन् १९११ से १९३४ तक हिन्दी मे कोई उल्लेखनीय रामकथाश्रित पौराणिक नाटक उपलब्ध नही होता। सन् १९३५ ई० मे सेठ गोविन्ददास का 'कर्तव्य' (पूर्वार्ध) नाटक प्रकट होता है जिसका इतिवृत्त रामकथाश्रित है। इस नाटक मे राम के लिए राज्याभिषेक-प्रस्ताव और कैकेयी-हठ से लेकर सीता-त्याग और राम-लक्ष्मण के स्वर्गारोहण तक की सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओ का समावेश किया गया है। यह नाटक पाँच अको और पचीस दृश्यो का है। इस नाटक मे राम के अवतारी पुरुष होते हुए भी उनमे मानव-भावनाएँ अधिक उद्घाटित हुई है। राम का व्यवहार कठोर कर्तव्य से अनुप्राणित है। नाटक का प्रधान स्वर आदर्शवादी है। लेखक ने राम के कर्तव्य-पालन के आदर्श को प्रस्तुत कर मानव-जीवन मे कर्तव्य की सर्वोपरिता प्रतिष्ठित की है। अत मे राम की मृत्यु की घटना अकित कर उनके मानव-रूप को उभारा है और उसी के साथ नाटक को 'दु खान्त' भी बनाया है। यह पश्चिमी दु खपर्यवसायी नाटको का प्रभाव है। विष्कभक और अकावतार के स्थान पर सेठजी ने 'कर्तव्य' मे घटनाओ के पूर्ण होने की सूचना दृश्य-विधान तथा नागरिको के सवाद द्वारा दी है। यह नवीन ढग है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के 'मेघनाद' नाटक (१९३६) की गणना डॉ० सोमनाथ गुप्त पौराणिक धारा के अन्य नाटको के अन्तर्गत करते हैं।[2] डॉ० देवर्षि सनाढ्य उसे रामचरिताश्रित नाटको मे स्थान देते हैं। इस बारे मे उनका यह कहना है कि "मुझे चतुरसेन शास्त्री के वक्तव्य को स्वीकार करना ही इस विषय मे अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ।"[3] आचार्य चतुरसेन शास्त्री का कथन है कि "माईकेल मधुसूदनदत्त ने पहली बार रावण के घर मे बैठकर रामचरित को चित्रित किया। यह मुझे बहुत आकर्षक लगा और इसी से मैंने 'मेघनाद' नाटक लिखा।"[4] शास्त्रीजी ने आगे यह बात स्पष्ट की है कि यह, "मेघनाद नाटक माईकेल मधुसूदनदत्त के प्रसिद्ध काव्य 'मेघनाद-वध' पर आधारित है।"[5] इस नाटक मे मेघनाद का दानव-रूप नही, मानव-रूप प्रगट हुआ है। इसकी भाषा सरल, ग्राम बोल-चाल की है और शैली प्रवाहयुक्त है। सवाद ओजपूर्ण और सजीव हैं।

'उर्मिला' नाटक पृथ्वीनाथ शर्मा की रचना है जो १९५० म प्रकाशित हुई। इसम

---

१. 'हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास'—डा० सोमनाथ गुप्त, चतुर्थ सस्करण १९५७, पृ० ९१।
२. उपर्युक्त, पृ० १८१।
३ हिन्दी के पौराणिक नाटक, पृ० १७८।
४ 'साहित्य-संदेश' पत्रिका, भाग १७, अक १-२, पृ० ६६।
५. उपर्युक्त।

है। शैली सरल, स्वाभाविक तथा प्रसादगुण-युक्त है। सीता की माँ के हृदयोद्गार बुद्धि-गम्य एवं तर्कशुद्ध हैं। फलतः उनमें बड़ी प्रभावोत्पादकता आ गई है। हिन्दी में 'सीता की माँ' का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

गुजराती-नाटक

हिन्दी में १९०० के पश्चात् जितने रामकथाश्रित नाटक प्रकट हुए, उतने गुजराती में प्रकट नहीं हुए और जो दो-तीन नाटक गुजराती में इस अवधि में उपलब्ध होते हैं उनमें श्री चन्द्रवदन मेहता के 'सीता' नाटक को छोड़कर अन्य कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है। जेठालाल वाडीलाल दलाल का 'रामलीला' नाटक (१९०९) अत्यन्त साधारण कोटि का त्रिअंकी नाटक है जिसमें गद्य-पद्यात्मक शैली में सम्पूर्ण रामायण का सार पेश किया गया है। इसके लगभग बीस-बाईस वर्ष के पश्चात् मणिलाल छब्बाराम भट्ट का 'सीताहरण' नाटक सन् १९३१ ई० में प्रकाशित होता है। इस नाटक के चार अंक प्रकाशन-तिथि के लगभग ४०-४२ वर्ष पूर्व 'बुद्धिप्रकाश' में छपे थे। तत्पश्चात् पाँचवाँ अंक 'समालोचना' में प्रकाशित हुआ और सन् १९३१ में सारा नाटक पुस्तक-रूप में प्रकाशित हो सका था। इसमें राम, लक्ष्मण, सीता के पंचवटी में निवास से लेकर रावण द्वारा सीताहरण तक की कथा का समावेश किया गया है। लंका पर चढ़ाई, राम-रावण-युद्ध, विभीषण का राज्यारोहण, राम का पुन अयोध्या में आगमन आदि प्रसंगों को पात्रों द्वारा सूचित किया गया है। यह नाटक संस्कृत-शैली में रचित है। आरम्भ नांदी से और अंत भरतवाक्य से होता है। रामचरित्र की विशिष्टताएँ दिखाने का इस पाठ्य नाटक में प्रयत्न किया गया है, पर लेखक नाट्य-रचना एवम् उद्देश्योद्घाटन में तनिक भी सफल नहीं हुआ है।

'सीता' (१९४३)—सुप्रसिद्ध नाट्यकार श्री चन्द्रवदन मेहता का 'सीता' नाटक सीता की कारुण्य-मूर्ति प्रस्तुत करता है। नाटककार को इसे लिखने की प्रेरणा द्विजेन्द्रलाल राय-कृत 'सीता' नाटक के प्रदर्शन में भारत के अन्यतम अभिनेता स्व० शिशिर भादुड़ी के अभिनय को देखकर प्राप्त हुई। उसके बाद लेखक ने उत्तररामचरित, वाल्मीकीय रामायण, रामचरितमानस आदि का अध्ययन किया। उसी के परिपाक-रूप 'सीता' नाटक की सृष्टि हुई।[१] इस छोटे-से द्विअंकी नाटक में रामायण के उत्तरकांड की कथा अंकित हुई है जब राम सीता का परित्याग करते हैं और उन्हें वन में वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में रहना पड़ता है। शम्बूक-वध और शूद्री-शाप को भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया है। अन्त में अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर विह्वल राम के समक्ष सीता का आगमन होता है और राजधर्म के नियमानुसार राम उन्हें स्वीकार नहीं कर पाते। भग्न-हृदया सीता माता भू गर्भ में समा जाती हैं। राम और लव सीता को पुकारते हुए पछाड़ खाकर गिर पड़ते हैं। इस प्रकार 'सीता' नाटक का करुण अन्त होता है। लेखक की प्राणदान शैली, प्रभावोत्पादक पात्र-रचना तथा रंगमंचीय सूझ-बूझ के कारण यह नाटक अभिनेयता के गुणों से अलंकृत है। नाट्यकला की दृष्टि से भी यह सफल बन पड़ा है। सीता का पात्र सारे नाटक में नेपथ्य में रहता है। केवल अंतिम पाँच पृष्ठों में उसका प्रवेश होता है, पर अन्य पात्रों के संवादों द्वारा इसका चरित्र लेखक ने इतने स्पष्ट एवम् सुन्दर ढंग से अंकित किया है कि सारे

---

१. देखिये 'सीता-संकल्प : प्रस्तावना 'सीता नाटक'—चंद्रवदन मेहता, प्र० स०, १९४३।

नाटक में सर्वत्र उसकी उपस्थिति का अनुभव होता है। सीता का चरित्र वस्तुतः बड़ा ही भव्य, गंभीर एवम् श्रद्धेय है। पर इस नाटक में जो सबसे अधिक खटकने वाली बात है वह है नाटक के अंतिम भाग में सीता के साथ राम का अशोभनीय व्यवहार। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम का सीता को सभी गुरुजनों के सामने गले लगाने के लिए आगे बढ़ना और एक चंचल भावुक प्रेमी की तरह विलाप करना शोभा नहीं देता। इस अवसर पर सीता की प्रणय-विह्वलता भी गौरवहीन दृष्टिगत होती है। राम और सीता के समान उदात्त पात्रों के लिए इस प्रकार की चंचलता और असंयमशीलता शोभनीय नहीं है। इस अंश को छोड़कर समग्र नाटक उद्देश्य, शिल्प, शैली, अभिनय आदि सभी दृष्टियों से सफल है।

सारांश :

ऊपर के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि दोनों भाषाओं के लेखकों का ध्यान विशेषतया माता सीता के चरित्र पर समान रूप से केन्द्रित हुआ है। हिन्दी के 'जानकी-मंगल', 'सीता-हरण', 'सीता की माँ' और गुजराती के 'वैदेहीविजय', 'सीता-हरण', 'सीता' आदि नाटक इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। सीताजी की पतिपरायणता, चरित्रशालिता, सहनशक्ति एवं समर्पण-भावना आदि गुण युगों से हमारे लेखकों की प्रेरणा के विषय रहे हैं। उक्त नाटक के रचनादर्श ये ही गुण हैं। सीता-सम्बन्धी हिन्दी के प्रारम्भिक दोनों नाटक लीला-शैली पर निर्भर हैं और गुजराती के संस्कृत-शैली का निर्वाह करते हैं। रामवृक्ष बेनी-पुरी ने 'सीता की माँ' नामक रूपक में स्वोक्ति-शैली अपनायी है। यह 'संस्कृत भाण' का नहीं, अपितु अंग्रेज़ी के 'एकपात्रीय नाटक' (Mono Drama) का अनुकरण प्रतीत होता है। चन्द्रवदन मेहता के 'सीता' नाटक में सीता के पात्र को नेपथ्य में रखते हुए भी उसके चरित्र की सर्वोपरिता एवम् प्रमुखता प्रदान करने की कला में मौलिक नाट्य-शिल्प का परिचय प्राप्त होता है। दोनों नाटकों में सीता के पात्र को छोड़कर अन्य कोई समानता नहीं है। उत्तर भारत में 'रामलीला' लोक-नाटक के व्यापक प्रचार, प्रसार एवम् लोक-प्रियता के कारण हिन्दी-नाटककारों का ध्यान रामकथा की ओर विशेषतः आकर्षित हुआ है और अधिक संख्या में इस विषय के नाटक लिखे गये हैं। उनमें से अधिकांश नाटक 'लीला-शैली' पर आधृत हैं। गुजराती में भिन्न प्रकार की वस्तु-स्थिति के कारण रामकथाश्रित नाटकों का प्रणयन अल्प संख्या में हुआ है।

कृष्णकथाश्रित नाटक (१६०० से पूर्व)

हिन्दी-नाटक :

हिन्दी में पौराणिक नाटकों का प्रारम्भ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने किया[1] जो आधुनिक हिन्दी-नाटकों के जन्मदाता हैं और जिन्होंने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा द्वारा हिन्दी साहित्य को, प्रमुखतः नाटक को, नई दिशा प्रदान कर अत्यन्त समृद्ध बनाया। कृष्णकथाश्रित हिन्दी-नाटकों में सर्वप्रथम स्थान 'चन्द्रावली' नाटिका का है जिसकी रचना १८७६ ई० में हुई थी। इस कृति में संस्कृत-शैली की नाटिका के सभी तत्त्वों का निर्वाह हुआ है। इसमें

---

१. हिन्दी के पौराणिक नाटक : डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० १२१।

विष्कभक और प्रवावतार हैं और कथानक चार अकों मे विभक्त है। इसकी कथा भगवान श्रीकृष्ण की प्रेमिका और नाटिका की नायिका चन्द्रावली के प्रेम की सयोग एवम् वियोग-अवस्थाओं को अकित करती है। प्रारम्भ में चन्द्रावली कृष्ण के प्रति आकर्षित होती है, पर उसे कृष्ण का दर्शन और सामीप्य प्राप्त नहीं होता। ललिता आदि सखियों के समक्ष वह अपनी विरह-वेदना प्रकट करती है। तदन्तर शोकातिरेक के कारण वह उन्मादावस्था प्राप्त करती है। जोगिनी के छद्म वेश मे कृष्ण का आगमन होता है और चन्द्रावली की परीक्षा ली जाती है। उसमे सफल होने पर कृष्ण उसे अपने सही रूप में दर्शन देते हैं। चन्द्रावली सयोगावस्था को प्राप्त करती है। इस प्रकार "चन्द्रावली नाटिका का वस्तु-सगठन प्रेम, विरह और मिलन तीन ही शब्दों मे हुआ है और इसी क्रम से सुशृखलित रूप में गठित हुआ है कि कहीं उखड़ा-सा नहीं है।'"[1] यह नाटिका चरित्र या घटना-प्रधान नहीं, अपितु भाव-प्रधान है। वैष्णव मतावलबी भारतेन्दु का अलौकिक कृष्ण-प्रेम इस नाटिका मे प्रगट हुआ है।

'चन्द्रावली' की कथा वैसे कवि-कल्पित है, पर, क्योंकि चन्द्रावली का नाम श्रीमद्-भागवत मे सखी के रूप मे प्राप्त होता है,[2] यह नाटिका पौराणिक मानी जाती है। भारतेन्दु ने इसकी रचना मे १६वीं शती के वैष्णव भक्त रूपगोस्वामि कृत सस्कृत-नाटक 'विदग्ध-माधव' और चाचा वृन्दावनदास की 'प्रेमयोगिनी लीला' का आधार लिया है।[3] दोनो ग्रन्थों की कथावस्तुओं का अपनी कल्पना द्वारा सुभग समन्वय कर इस नाटिका का प्रणयन किया।[4] इस नाटिका की कथावस्तु के सयोजन मे सस्कृत नाटकों की अवस्थाएँ, सधियाँ और अर्थ-प्रकृतियाँ तो समाविष्ट हुई ही हैं, इसके अतिरिक्त पाश्चात्य सकलनत्रय का भी निर्वाह हुआ है। समस्त घटनाएँ एक ही स्थान पर एक ही समय मे घटित होती हैं जिससे प्रभावैक्य का निर्वाह हो सका है। इसमे खड़ी बोली और व्रजभाषा दोनो का प्रयोग हुआ है, सवादों मे इतस्तत लीला-शैली का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है।[5] डॉ० गोपीनाथ का कथन है कि "चन्द्रावली की जोगिन पर 'इन्दर सभा' का प्रभाव है।"[6] कुछ भी हो—"रस-परिपाक की दृष्टि से यह नाटिका अत्यन्त उत्तम है। इससे अच्छा प्रेम-नाटक हिन्दी मे मिलना कठिन है।'"[7]

तदन्तर 'प्रियप्रवास' महाकाव्य के रचयिता प्रसिद्ध कवि श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का सन् १८९४ ई० मे लिखा हुआ 'रुक्मिणी-परिणय' नाटक उपलब्ध होता है। नांदी, प्रस्तावना, सूत्रधार, नटी, अक आदि सभी सस्कृत नाट्याग इसमें समाविष्ट है। इसके मुख्य नौ अक हैं, एक अतिरिक्त अक है। इसकी कथावस्तु भागवत से ली गई है। रुक्मिणी-कृष्ण के प्रणय-प्रसग से लेकर कृष्ण के द्वारा रुक्मिणी-हरण तक की कथा का इसमे समावेश किया गया है। अतिरिक्त अक के कृष्ण-रुक्मिणी-परिहास का मूल कथा से कोई प्रत्यक्ष

---

१. हिन्दी नाट्य साहित्य : श्री अमरत्नदास, द्वितीय आवृत्ति १९४८, पृ० ८०।
२. श्रीमद्भागवत : दशम स्कध, पूर्वार्द्ध।
३. हिन्दी के पौराणिक नाटक : डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० ११७।
४. उपर्युक्त
५. चन्द्रावली नाटिका, चौथा अक, देखिये जोगिनी और ललिता का व्रजभाषा मे सवाद।
६. भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य, पृ० ११६।
७. डॉ० सोमनाथ गुप्त : हि० ना० सा० का इतिहास, पृ० ४५।

सम्बन्ध नही है। लम्बे कथोपकथनो, असख्य स्वगतो तथा सस्कृतनिष्ठ क्लिष्ट भाषा के कारण नाटक नितात सामान्य कोटि का कहा जा सकता है।

गुजराती-नाटक .

गुजराती मे कृष्णकथाश्रित नाटको का प्रारम्भ 'गुजराती नाटक क पिता'[1] दीवान-बहादुर रणछोडभाई उदयराम के 'बाणासुर-मदमर्दन' (१८७८ ई०) नामक नाटक द्वारा होता है। रणछोडभाई की नाट्य-कृतियाँ साहित्यिकता एवम् अभिनेयता व उच्च गुणो से विभूषित हैं। परन्तु इस नाटक मे उनकी प्रखर प्रतिभा का उन्मेष नही हुआ है। यह उनकी सामान्य रचना है। 'बाणासुर-मदमर्दन' पौराणिक नाटक है। इसमे ओखा-हरण की सुप्रसिद्ध कथा अकित है जिसका आधार 'हरिवशपुराण' है। इसकी रचना के विषय मे लेखक ने स्वय लिखा है कि "मेरे मोहल्ले मे एक ब्राह्मण द्वारा प्रेमानद के ओखाहरण की कथा कही जा रही थी। उसम बाणासुर का प्रसग चल रहा था। बाणासुर अनिरुद्ध को बाँधकर ले जा रहा है। मार्ग के दोनो ओर उसे देखन क लिए स्त्री-पुरुषो की कतारें लगी है। स्त्रियो की ओर बाणासुर अत्यन्त घृणित विकारी दृष्टि से देखते हुए आगे बढता है। यह कथा मुझे निद्य शृगार-सी लगी। इस पर से मेरे मन मे 'बाणासुर-मदमर्दन' नामक नाटक लिखने का भाव जागा।"[2] इसी के फलस्वरूप इस नाटक की सृष्टि हुई। इस नाटक का अनिरुद्ध कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का बेटा है। वह ओखा के साथ बाणासुर के बन्दीगृह मे कैद है। कृष्ण के द्वारा दोनो की मुक्ति होती है। इस प्रकार कृष्ण के इस नाटक मे आगमन के कारण यह नाटक कृष्णकथाश्रित माना गया है। इस छ-अकी नाटक में कई दृश्य है। दो अक तो केवल एक-एक दृश्य के ही हैं। इसमे बहुत ही छोटे अनावश्यक दृश्यो का समावेश हुआ है जो अभिनय की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है। वैसे यह नाटक सस्कृत-परम्परा का अनुसरण करता है किन्तु इसके गीतो तथा विदूषक के पात्र पर रगमचीय नाटक और भवाई का प्रभाव पडा है। इसकी कथावस्तु मे शिथिलता है। चरित्र-चित्रण मे अस्पष्टता है। भूत-प्रेतो और डाकिनियो के प्रवेश द्वारा नाटक मे पौराणिक वातावरण की सम्यक् सृष्टि की गई है। इसका सुख मे पर्यवसान होता है और अन्त मे अभिमान न करन का बोध दिया जाता है। इस नाटक का केवल ऐतिहासिक महत्त्व है।

तदन्तर कवि नर्मद का सन् १८८६ मे लिखा हुआ 'बालकृष्ण-विजय नाटक' उपर्युक्त नाट्य परिपाटी का अनुसरण करता है। नादी, सूत्रधार, विष्कभक, भरतवाक्य आदि सस्कृत नाट्यागो का निर्वाह करता हुआ यह पचाकी नाटक गद्य-पद्यात्मक है। इसकी विषय-वस्तु मथुरा के कारागृह मे कृष्ण-जन्म से लेकर काली नाग-मर्दन, वस्त्र हरण आदि प्रसगो तक फैली हुई है। इस छोटे से नाटक मे इतनी विस्तृत कथा का समावेश करने के लिए नाटककार को कई स्थानो पर सूचनाओ और सकेतो का आधार लेना पडा है। यह नाटक रगमच की आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। साहित्यिक दृष्टि से यह साधारण कृति है।

नगीनदास पुरुषोतम सघवी-कृत 'शिशुपाल-मदमर्दन' अथवा 'रुक्मिणी-हरण' सन् १९०० ई० की रचना है। प्रद्युम्न कामदेव की माता भीष्मक-कुमारी रुक्मिणी का हरण कर द्वारकाधीश भगवान् कृष्ण न आसुरी वृत्ति वाले शिशुपाल का मद मर्दन किया

---

१. गधावन—अनन्तराय रावल, आवृत्ति पहली, १९४६, पृ० ४६।

२. दी० ब० रणछोडभाइ उदयराम शताब्दी-स्मारक ग्रन्थ, अप्रैल १९३८, पृ० ५४।

था। उसी को नाट्य-वस्तु बनाकर यह नाटक रचा गया है। इसके छ अंक हैं। लेखक ने इसमे शांत रस के साथ शृंगार और वीर रस का अस्वाभाविक समावेश करने का प्रयत्न किया है। सारा नाटक संस्कृत नाटकों की शास्त्रीय परम्परा पर आधारित है। यहाँ तक कि अंकों के नाम भी तदनुसार हैं। यथा—इति श्रीकृष्णसमागमो नाम प्रथमो अंक, इति शिशुपालनाट्यकलहो नाम द्वितीयोऽङ्क आदि। इस नाटक की विशेषता यह है कि इसमे गुजराती गीतों के साथ हिन्दी गीतों का भी प्रयोग किया गया है। हिन्दी गीतों की भाषा तत्कालीन रंगमंचीय व्यावसायिक नाटकों के गीतों की भाँति अशुद्ध ब्रजभाषा, बाज़ारू हिन्दी और बोलचाल की गुजराती का मिश्रण है।[1] प्रस्तावना मे नाटककार ने इसके खेले जाने का उल्लेख किया है। यह अत्यन्त सामान्य कृति है।

हिन्दी-नाटक : १९०० ई० के पश्चात्

कृष्णार्जुन-युद्ध

सन् १९१८ ई० मे हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि और पत्रकार माखनलाल चतुर्वेदी का यह एकमात्र उत्कृष्ट नाटक उपलब्ध होता है जो साहित्यिक एवम् रंगमंचीय दोनों दृष्टियों से नितांत सफल है। इसमे साहित्यिकता और अभिनेयता का सुन्दर समन्वय हुआ है।[2] इसकी कथा इस प्रकार है 'एक बार चित्रसेन ने गलती से महर्षि गालव के हाथ मे पान की पीक डाल दी। महर्षि ने श्रीकृष्ण से इस विषय मे शिकायत की। उन्होंने चित्रसेन के वध की प्रतिज्ञा की। जब चित्रसेन को यह ज्ञात हुआ तो वह अपने मित्र अर्जुन से रक्षा की याचना करने दौडा। अर्जुन ने मित्र को बचाने का संकल्प किया। उसी के परिणामस्वरूप अर्जुन और कृष्ण का युद्ध हुआ जिसमे अर्जुन आहत हुआ। सदा की भाँति उसने सहायतार्थ श्रीकृष्ण की स्तुति की। कृष्ण ने अर्जुन की रक्षा की और महर्षि गालव ने चित्रसेन को क्षमा प्रदान की। अन्त मे सभी पात्रों का मगल-मिलन होता है।'—इस प्रकार यह नाटक सुखान्त बनता है। कर्तव्य-पालन की सर्वोपरिता व आदर्श का प्रतिष्ठित करने का प्रयोजन इस नाटक मे निहित है। इस पौराणिक कथावस्तु मे लेखक ने वर्तमान राजनीति के आदर्शों को भी इतस्तत प्रगट किया है। गालव ऋषि के दो शिष्यो, शशि और शख, द्वारा लेखक ने स्वस्थ एव शिष्ट हास्य की सृष्टि की है। वैसे तो इस नाटक का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक है किन्तु कोप भवन वाली क्रिया द्वारा सुभद्रा का अर्जुन को रिझाने का प्रयत्न उचित नही प्रतीत होता। डॉ० सोमनाथ गुप्त का यह आक्षेप समीचीन ही है।[3] वैसे यह नाटक हिन्दी की ठोस और अमूल्य निधि है।[4] मराठी मे १८८५ ई० मे महादेव विनायक केलकर ने और १९१४ ई० मे नरसिंह चिंतामणि केलकर ने इसी नाम से नाटक लिखे है। १८८३ ई० मे रा० द० बा० ओगलेकर ने इसी कथा को लेकर 'चित्रसेन गंधर्व' नामक रूपक की रचना की है। माखनलाल चतुर्वेदी ने इस नाटक को लिखने की प्रेरणा मराठी से पाई हो तो कोई आश्चर्य नही।[5]

---

१. इस प्रबन्ध के 'परिशिष्ट २' में गुजराती नाटकों में 'हिन्दी' प्रयोग के नमूने दिये गए हैं।

२ हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास—डॉ० सोमनाथ गुप्त, पृ० १३३।

३ उपर्युक्त।

४ उपर्युक्त, पृ० १३४।

५. हिन्दी के पौराणिक नाटक—डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० १५२।

छद्मयोगिनी (१९२३)

कृष्णकथाश्रित इस काल का अन्य नाटक 'छद्मयोगिनी' है जिसके रचयिता वियोगी हरि हैं। भारतेन्दु-कृत 'चन्द्रावली' की भाँति यह प्रेमलक्षणा भक्ति-प्रधान रचना है। इसमे कृष्ण द्वारा छद्मयोगिनी का रूप बनाकर प्रेम-परीक्षा करने का प्रसग वर्णित है। यह वस्तु इतनी अपर्याप्त है कि इससे नाटक उखडा-उखडा-सा प्रतीत होता है। कविताओ की इसमे अधिकता है। यह कृति न अभिनेय है और न एक सफल साहित्यिक नाटक का ही आदर्श प्रस्तुत करती है। इस 'लीला शैली' के नाटक को चाचा वृन्दावनदास की परम्परा मे परिगणित किया जा सकता है।[1]

कर्त्तव्य (उत्तरार्द्ध)

इस नाटक की रचना सेठ गोविन्ददास ने सन् १९३५ मे की है। 'कर्त्तव्य पूर्वार्द्ध' मे रामचरित वर्णित है जिसकी विवेचना पीछे की जा चुकी है। इस 'कर्त्तव्य उत्तरार्द्ध' नाटक मे कृष्ण-चरित अकित है। दोनो नाटक कर्त्तव्य के महान् आदर्श को प्रस्तुत करते हैं। इस आदर्शैक्य की दृष्टि से दोनो की एक ही नाटक के रूप मे गणना की जा सकती है। इस नाटक मे कृष्ण का कर्त्तव्य के लिए व्रज छोडकर मथुरा जाना, मथुरा से द्वारका जाना, अत्याचारियो का सहार करना, अर्जुन को कर्तव्य पथ पर अग्रसर करना, महाभारत युद्ध मे शत्रुओं का विनाश करना और पुन व्रजभूमि मे आकर सबसे मिलना—ये सारे प्रसग सम्मिलित किये गए है। यह करुणान्त नाटक है। अन्त में सौराष्ट्र के प्रभास क्षेत्र मे उद्धव के समक्ष बहेलिय के तीर से मुरली बजाते हुए श्रीकृष्ण का अवसान दिखाया गया है। कर्त्तव्य-पालन करते हुए मृत्यु को स्वीकार करने मे सुख है—इस भावना को प्रमुखता देने का लेखक ने इसमे प्रयत्न किया है। इस नाटक मे भगवान् कृष्ण का अत्यन्त उज्ज्वल चरित्र अकित हुआ है। लेखक ने उनके अवतारी रूप के साथ मानवीय रूप को भी पूरी तरह प्रस्फुटित करने का यत्न किया है। पात्र एवम् प्रसगो के अनुरूप लेखक ने इस कृति मे प्राचीन भक्त कवियो के पदो को सम्मिलित किया है। परन्तु इसमे स्थान और काल की अन्विति का निर्वाह नही हो सका है। वैसे यह नाटक पौराणिक परम्परा का अच्छा नाटक कहा जा सकता है।

गुजराती-नाटक :

यह आश्चर्य की बात है १९०० ई० के पश्चात् गुजराती मे कृष्ण कथाश्रित कोई उल्लेखनीय नाटक नही लिखा गया। वैसे भी इस विषय के बहुत ही कम नाटक समस्त गुजराती नाट्य-साहित्य मे प्राप्त होते हैं।

साराश

हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओ मे उपलब्ध कृष्ण-कथाश्रित नाटकों क तुलनात्मक अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दोनों भाषाओं के नाटकों के आद्य

---

१. हिन्दी के पौराणिक नाटक—डा० देवर्षि सनाढ्य, पृ० १५१।

निर्माताओं—हिन्दी के भारतेन्दु और गुजराती के रणछोडभाई उदयराम—का ध्यान कृष्ण-चरित की ओर आकर्षित हुआ और दोनों ने इस विषय के नाटक रचे। दोनों के कथानकों एवम् रचना-कौशल इत्यादि में पर्याप्त भिन्नता है। भारतेन्दु की 'चन्द्रावली' के समक्ष रणछोडभाई का 'बाणासुर-मदमर्दन' नाटक अत्यन्त सामान्य कोटि का ठहरता है। 'चन्द्रावली' में जिस उच्च कोटि के काव्य-सौन्दर्य, उदात्त प्रणय-भावना और सम्यक् रस-परिपाक के दर्शन होते है, 'बाणासुर-मदमर्दन' में उनका अभाव है। इसका कारण यह है कि 'चन्द्रावली' कृति भारतेन्दु के मौलिक नाटको मे उत्तम कक्षा की है। इसमे उनकी सृजनात्मक प्रतिभा का सम्यक् उद्घाटन हो सका है। 'बाणासुर-मदमर्दन' रणछोडभाई का बहुत साधारण श्रेणी का नाटक है। उनकी प्रतिभा का उन्मेष इस नाटक मे नहीं, उनके सामाजिक नाटको मे हुआ है जिनकी विवेचना यथास्थान आगे की जायगी। 'कृष्णार्जुन-युद्ध' और 'कर्तव्य उत्तरार्द्ध' की कक्षा का एक भी कृष्ण-कथा सम्बन्धी अच्छा नाटक गुजराती मे नही लिखा गया। इस धारा का एकात विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि गुजराती मे कृष्ण-कथा सम्बन्धी नाटको की संख्या अपेक्षाकृत अल्प है और जो भी नाटक उपलब्ध होते हैं वे सामान्य स्तर के है। हिन्दी मे वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण, नाट्य-शिल्प, अभिनय आदि की दृष्टि से इस धारा के 'चन्द्रावली' और 'कृष्णार्जुन युद्ध' श्रेष्ठ नाटक है।

अन्य कथाश्रित नाटक

(१६०० ई० से पूर्व)

'हरिश्चन्द्र' नाटक

सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की कथा भारत मे सदैव अत्यन्त लोकप्रिय रही है। मार्कण्डेय पुराण, वाल्मीकिरामायण तथा महाभारत के वन-पर्व म इसकी कथा उल्लिखित है। १६वी शती में अधिकाश भारतीय भाषाओं के लेखकों को इस कथा ने उसके नाटकीकरण की ओर प्रेरित और प्रवृत्त किया। फलत गुजराती मे रणछोडभाई उदयराम ने १८७१ ई० मे[1], बँगला मे मनमोहन बोस ने १८७४ मे[2], हिन्दी मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने १८७५ ई० (स १६३२ वि०) में[3], मराठी मे अण्णासाहेब किर्लोस्कर न १८८० ई० में[4], और तेलुगु मे वीरेशलिंगम् ने १८८०-६४ ई० के मध्य[5] 'हरिश्चन्द्र' नाटक का सृजन किया। हरिश्चन्द्र की कथा अतीव करुण और मर्मस्पर्शी है। प्रबल धार्मिक भावना वाली भारतीय जनता का इस कथा के प्रति स्थायी आकर्षण रहना नितान्त स्वाभाविक है। भारतीय लोक-नाटकों मे यह कथा प्राचीन काल से जीवित है। उपर्युक्त नाटककारो ने अपने-अपने 'हरिश्चन्द्र' नाटक के सृजन मे एतद्-विषयक या तो लोक-नाटको से या पुराणों एव सस्कृत

१. दी० ब० रणछोडभाई उदयराम शताब्दी-स्मारक ग्रन्थ, पृ० ६।
२. The Indian Stage, Vol II —Hemendranath Das Gupta, P 132-133
३. आधुनिक हिन्दी-साहित्य : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० २३१।
४. मराठी रगभूमि : आप्पाजी विष्णु कुलकर्णी, द्वितीय आवृत्ति १६६१, पृ० ११।
५. आन्ध्र हिन्दी-रूपक—डॉ० पाण्डुरग राव, पृ० ८६—८७।

नाटकों से सहायता ली है, परन्तु इस विषय में डॉ० दशरथ ओझा यह कहते हैं कि "(भारत की) अन्य भाषाओं के नाटककारों ने इसकी (भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक की) अभिनेयता पर रीझकर अपनी-अपनी भाषा में इसका रूपांतर कर डाला।"[1] डॉ० ओझा का यह कथन ठीक नहीं है। भारतेन्दु ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' का निर्माण सं० १६३५ विक्रमी यानि सन् १८७५ ई० में किया जब कि रणछोडभाई उदयराम ने गुजराती में १८७१ ई० में और मनमोहन बोस ने बँगला में दिसम्बर १८७४ ई० में 'हरिश्चन्द्र' नाटक का प्रणयन किया। भारतेन्दु ने तो इन दोनों नाटककारों के पश्चात् अपना नाटक लिखा। इतना ही नहीं, रणछोडभाई ने जिस अंग्रेजी भाषा में अनूदित तमिल 'हरिश्चन्द्र' का गुजराती रूपांतर किया है वह तमिल भाषा का मूल हरिश्चन्द्र नाटक तो न जाने १८७१ ई० के कितने वर्ष पूर्व लिखा गया होगा। अतः डॉ० ओझा का उपर्युक्त मत पुनः चिंतनीय है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि वीरेशलिंगम् के तेलुगु-नाटक 'हरिश्चन्द्र' पर हरिश्चन्द्र विषयक आंध्र लोक-नाटक का प्रभाव पड़ा है न कि हिन्दी के 'सत्य हरिश्चन्द्र' का। डॉ० पांडुरंग राव ने भी इसी मत का समर्थन किया है।[2] रणछोडभाई का 'हरिश्चन्द्र' नाटक पश्चिमी नाट्य-शैली पर आधृत है। अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है ये नाटक किसी भी तरह भारतेन्दु के 'सत्य-हरिश्चन्द्र' नाटक के ऋणी नहीं हैं। वे उसके अग्रज हैं, अनुज नहीं।

भारतेन्दु का 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक

सत्य-हरिश्चन्द्र' भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का सबसे उत्कृष्ट और प्रौढ नाटक है। यह उनका अत्यधिक प्रसिद्ध नाटक है। यह अभिनेय है। इसके कई प्रयोग अनेक नगरों और गाँवों में कई बार हुए हैं। इसमें राजा हरिश्चन्द्र का सत्यप्रिय, प्रतिज्ञा पालक, दानी और त्यागी चरित्र अंकित किया गया है। विश्वामित्र की कठोरतम परीक्षा में सफल होने के लिए वह जिन दारुण कष्टों को सहन करते हैं, उन्हें देखकर मानव मात्र का हृदय पसीज जाता है। इस दृष्टि से यह नाटक अतिशय करुण है। दानवीर और त्यागवीर हरिश्चन्द्र के चरित्रांकन के कारण यह नाटक मूलतः वीररसाश्रित है। इसके रचनाधार के विषय में हिन्दी के समीक्षकों में मतभेद है। समीक्षकों का एक वर्ग इसे मौलिक मानता है।[3] दूसरा वर्ग इसे अनूदित या रूपान्तरित मानता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे एक बँगला-नाटक का अनुवाद मानते हैं।[4] डॉ० सोमनाथ गुप्त का यह मत है कि "सत्य हरिश्चन्द्र मौलिक रचना न होकर (चंडकौशिक से) रूपान्तरित रचना है जिसमें लेखक की मौलिकता अधिक

---

१. हिन्दी-नाटक उद्भव और विकास डॉ० दशरथ ओझा, पृ० २०४।
२. 'आन्ध्र-हिन्दी रूपक'—डॉ० पांडुरंगराव, पृ० ८९।
३ (अ) डॉ० श्यामसुन्दर दास प्रस्तावना—भारतेन्दु-नाटकावली, पृ० ५२–५३।
 (आ) श्री ब्रजरत्नदास भूमिका—भारतेन्दु-नाटकावली, पृ० ४३।
 (इ) डॉ० दशरथ ओझा—हिन्दी-नाटक उद्भव और विकास, पृ० २०२
 (ई) डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिंदी साहित्य (१८५०-१९०० ई०), पृ० २३१।
 (उ) हिन्दी के पौराणिक नाटक—डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० ११६।
४ हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, २००२ वि०, पृ० ४००।

है और अनुवाद की मात्रा कम।"[1] संस्कृत में इस कथा को लेकर दो नाटक मिलते हैं एक है आर्य क्षेमेश्वर का 'चंडकौशिक' और दूसरा रामचन्द्र जैन का 'सत्य हरिश्चन्द्र'। भारतेन्दु ने संभवतः अपने नाटक के नामकरण में रामचन्द्र से प्रेरणा प्राप्त की है, क्योंकि उन्होंने वही नाम अपना लिया है। 'चंडकौशिक' में कठोर प्रकृति वाले विश्वामित्र नायक हैं। हिन्दी 'सत्य हरिश्चन्द्र' में हरिश्चन्द्र का पात्र केन्द्रस्थ है। दोनों के कथानकों में भी थोड़ा-बहुत अन्तर है। पर भारतेन्दु ने 'चंडकौशिक' के कई अंश अपने नाटक में सम्मिलित किये हैं और कुछ श्लोक भी अक्षरशः उद्धृत किये हैं। इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'सत्य-हरिश्चन्द्र' नाटक पर 'चण्डकौशिक' का प्रभाव पूर्णरूपेण पड़ा है। दोनों नाटकों की तुलना के बाद भी डॉ० सोमनाथ गुप्त का यह कथन सर्वांश सत्य सिद्ध होता है कि चंडकौशिक के कुछ अंशों के अनुवाद का संकलन तथा समावेश 'सत्य-हरिश्चन्द्र' के महत्त्व को कम नहीं करता।[2] इस नाटक के चार अंक है। इसकी रचना संस्कृत-शैली पर हुई है। नांदी, प्रस्तावना, स्वगतोक्ति, अंकावतार, भरतवाक्य आदि का इसमें समावेश हुआ है। प्रकृति चित्रण और वातावरण-सृष्टि की ओर भी लेखक का ध्यान गया है। पिशाच और डायन के नाचने गाने के दृश्य पर पारसी थियेटर का प्रभाव दृष्टिगत होता है। इस नाटक में 'गंगा वर्णन' (अंक तीसरा) अंकित कर लेखक ने गम्भीर भूल कर दी है। हरिश्चन्द्र के समय तक पृथ्वी पर गंगा का अवतरण नहीं हुआ था। क्योंकि भागीरथी को लाने वाले राजा भगीरथ हरिश्चन्द्र के बाद पैदा हुए थे। इस दोष को छोड़कर यह वस्तुतः उत्तम नाटक है। इसमें साहित्यिक गुण सविशेष हैं। भाषा, शैली, संवाद, वातावरण आदि का सुष्ठु प्रयोग हुआ है।

रणछोडभाई का 'हरिश्चन्द्र' नाटक :

रणछोडभाई उदयराम का गुजराती में 'हरिश्चन्द्र नाटक' अत्यन्त प्रसिद्ध नाटक है। यह मौलिक कृति नहीं है, अपितु भारतेन्दु के सत्य हरिश्चन्द्र नाटक की भाँति रूपान्तरित है। लेखक ने नाटक की प्रस्तावना में लिखा है कि " 'चंडकौशिक' में बीभत्स रस इतना अधिक है कि उसे पढ़कर मुझे उस पर अनास्था हो गई और उस आख्यान की वस्तु के आधार से नवीन रचना करने की मेरे मन में इच्छा पैदा हुई। इसी बीच लंका के निवासी मदु कुमारस्वामी ने जो विलायत में बैरिस्टरी की परीक्षा में पास हुए थे और लंका की कानून बनाने वाली सभा के सदस्य थे, हरिश्चन्द्र नाटक का तमिल भाषा से अंग्रेजी में अनुवाद करके विलायत में प्रसिद्ध किया। उसकी एक प्रति उन्होंने अपने एक मित्र के पास बम्बई भेजी। वह मेरे हाथ में आयी। इससे मुझे हर्ष हुआ और अन्य दिक्कतों से छूटकर मैंने उसी के आधार पर गुजराती में 'भाषान्तर' करने का ठहराया जिसे आज परिपूर्ण कर मेरे प्रिय पाठकों को भेंट करता हूँ। मैंने कई स्थानों पर परिवर्तन किये है। तमिल नाटक गद्य-पद्यात्मक है, पर मदु कुमारस्वामी ने उसे गद्य में ही अनूदित किया है। परन्तु जो प्रसंग मुझे काव्योचित जंचे मैंने उन्हें कविता में पेश किया है।"[3] इस वक्तव्य से यह स्पष्ट होता

---

१. हिं० ना० सा० का इतिहास—डा० सोमनाथ गुप्त, पृ० ४६।

२. हिं० सा० का इतिहास डॉ० सोमनाथ गुप्त, पृ० ४३।

३ हरिश्चन्द्र नाटक की प्रस्तावना रणछोडभाई उदयराम, प्रथम आवृत्ति १८७१, पृ० ७।

है कि (अ) यह नाटक 'चंडकौशिक' पर आधृत नहीं है। नाटककार के मन में चंडकौशिक ने सत्यवादी हरिश्चन्द्र-विषयक नाटक लिखने की इच्छा अवश्य पैदा की। (आ) यह नाटक तमिल भाषा के 'हरिश्चन्द्र नाटक' के अंग्रेजी-अनुवाद का गुजराती-रूपान्तर है। (इ) इसमें रणछोड़भाई ने कई परिवर्तन किये हैं। (ई) नाटक का पद्य-भाग रणछोड भाई की मौलिक रचना है। इस प्रकार यह नाटक रूपान्तरित होते हुए भी मौलिक-सा है। इसमें अहंकारी विश्वामित्र हरिश्चन्द्र राजा की परीक्षा स्वेच्छा से लेते हैं, न कि इन्द्र की प्रार्थना पर। और इसमें नारद का पात्र नहीं है। चार अंकों और छब्बीस प्रवेशों (दृश्यों) के इस नाटक में हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र और तारामती (शैव्या) के पात्रों का सम्यक् चित्रण हुआ है। विश्वामित्र का पात्र अत्यधिक क्रूर, कठोर तथा निर्दयी है। राजसूय यज्ञ के बहाने वे दानी हरिश्चन्द्र की समस्त सम्पत्ति माँगकर उसे तथा उसकी पत्नी और बच्चे को अतिशय करुणा-जनक स्थिति में पहुँचा देते हैं। राजा हरिश्चन्द्र अपने परिवार के साथ बिक जाते हैं और अंत में साँप के काटने से रोहिताश्व की मृत्यु हो जाती है। तारामती उसे जलाने के लिए श्मशान में ले जाती है। श्मशान के स्वामी कालसेन की आज्ञा से राजा हरिश्चन्द्र तलवार से तारामती का सिर काटने को तत्पर होते हैं। उसी समय वहाँ कई देव प्रगट होते हैं। आशीर्वचन के पश्चात् हरिश्चन्द्र का अयोध्या में पुनः राज्याभिषेक होता है। इस प्रकार इस नाटक का सुख में पर्यवसान होता है। यह नाटक वीररसाश्रित है और नायक हैं दानवीर और सत्यवीर हरिश्चन्द्र। परन्तु वस्तुतः यह नाटक पूर्णतया करुणरस से ओत-प्रोत है। बम्बई की 'नाटक उत्तेजक मण्डली' (१८७५) ने अपने १६ वर्ष के जीवन-काल में इस नाटक के ११०० प्रयोग किये थे।[1] यह बात इस नाटक की लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण है। इस नाटक की इस अभूतपूर्व सफलता को देखकर खुरशीद बालीवाला ने अपने मुंशी विनायकप्रसाद 'तालिब' से हिन्दी में इसके अनुकरण पर 'सत्यवादी हरिश्चन्द्र' नाटक लिखवाया और सारे भारत में खेला। इस नाटक की अखिल भारतीय लोकप्रियता चिरस्मरणीय बन गई।[2] रणछोडभाई के इस हरिश्चन्द्र नाटक का उल्लेख गांधीजी की 'आत्मकथा' में भी हुआ है। गांधीजी ने बचपन में इसका अभिनय देखा था, जिसका उनके जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा था।[3] इस प्रकार इस नाटक में अभिनेयता और प्रभावोत्पाद-कता के असाधारण गुण विद्यमान हैं। इसकी भाषा सरल एवं प्रासादिक है। इस नाटक की रचना अंग्रेजी ढंग पर हुई है। इतस्ततः 'भवाई' लोकनाटक का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है। इसके दृश्य-विभाजन में सप्रमाणता का ध्यान नहीं रहा है और इसमें अनावश्यक गीतों का समावेश किया गया है। इस नाटक में पद्य में काशी-वर्णन चार पृष्ठों तक चलता रहता है और कहीं-कहीं पात्र-संवाद भी पद्यात्मक हैं जो स्वाभाविक नहीं है। हरिश्चन्द्र नाटक साहित्यिक कम और रंगमंचीय अधिक है।

---

१. स्त्री-बोध : कावरा-स्मृति अंक; पृष्ठ ६०।

२. (अ) 'मेरा नाटक-काल' : पं० राधेश्याम कथावाचक, पृ० २१।

(आ) 'गुजरात : एक परिचय'—स्मृति-ग्रंथ में 'रंगभूमि ना सो वर्ष' नामक लेख : चंद्रवदन मेहता, पृ० २२७।

(इ) 'हस्तलिखित डायरी : श्री जयशंकर 'सुन्दरी'', पृ० ५७।

३. 'गुजरात साहित्य सभा : कार्यवाही : सन् १६३४' के तीसरे विभाग में 'गुजराती नाट्य-साहित्य नुं रेखादर्शन' नामक लेख : प्रो. अनंतराय रावल, पृ० ११।

तुलना

ऊपर यह कहा जा चुका है कि रणछोड भाई उदयराम के 'हरिश्चन्द्र नाटक' का प्रणयन भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' से लगभग चार वर्ष पूर्व हुआ है। दोनो के रचना-विधान मे अन्तर है। रणछोड भाई का नाटक पश्चिमी नाट्य शैली का अनुसरण करता है। अत उसमे नादी, प्रस्तावना, अकावतार, भरतवाक्य आदि अनुपलब्ध हैं, जब कि भारतेन्दु का 'सत्य हरिश्चन्द्र' सस्कृत परम्परागत नाट्य-शैली पर आधृत होने से उक्त सभी नाट्याग उसमे उपलब्ध होते हैं। दोनो नाटक राजा हरिश्चन्द्र की दानशीलता, सत्यप्रियता एवम् त्याग का उच्च आदर्श प्रस्तुत करते हैं। गुजराती 'हरिश्चन्द्र' नाटक का आकार बडा है। उसमें चार अको के साथ छब्बीस प्रवेश (दृश्य) हैं अत उसमे वस्तु विन्यास एव चरित्र-चित्रण समुचित रूप से सभव हो सका है। हरिश्चन्द्र की आधिकारिक कथा का अनेक छोटी-मोटी दूसरी घटनाओ द्वारा विकास कर लेखक ने हरिचन्द्र का धीर, गभीर, तेजस्वी व्यक्तित्व अकित किया है और उसी के साथ करुणरस तथा वीररस की सृष्टि की है। इसीलिए नाटक अत्यन्त प्रभावोत्पादक बन पडा है। भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक मे यद्यपि चार अक और एक अकावतार है तथापि वह छोटा नाटक है। उसमे हरिश्चन्द्र की कथा का त्वरित गति से पर्यवसान होता है। फलत आदर्श के उद्घाटन के अतिरिक्त उसमे पात्रो एव प्रसगो का पर्याप्त चित्रण नही हो पाया है। इस दृष्टि से रणछोड भाई का नाटक विशेष सफल माना जा सकता है। दोनो के आरम्भ तथा अन्त मे अन्तर है। गुजराती 'हरिश्चन्द्र' के मन्त्री सत्यकीर्ति, स्मशान-स्वामी कालसेन आदि पात्र हिन्दी 'सत्य हरिश्चन्द्र' मे नही हैं। उसी प्रकार भारतेन्दु के नारद और उपाध्याय गुजराती मे नही दीखते। पति-परायणता, वत्सलता, सच्चरित्रता और सहनशीलता के उच्च गुणो से रणछोड भाई की तारामती और भारतेन्दु की शैव्या विभूषित हैं। दोनो मे रोहिताश्व अबोध है। राजसूय-यज्ञ, कृषि-विनाश, शिकार, तारामती पर राजपुत्र की हत्या का दोषारोपण, इत्यादि प्रसग 'सत्य-हरिश्चन्द्र' मे दृष्टिगत नही होते जो गुजराती नाटक मे बडी सफलतापूर्वक सम्मिलित किये गये हैं। दोनो सोद्देश्य-सुखान्त नाटक हैं। दोनो मे स्वगतोक्तियों का प्रयोग हुआ है। गद्य तथा पद्य का मनोहर सम्मिश्रण पाया जाता है। दोनो के कार्य-व्यापार मे गतिशीलता है। भारतेन्दु ने 'चण्डकौशिक' सस्कृत नाटक के कतिपय मूल श्लोक अपनी इस कृति मे यथाप्रसग उद्धृत किये हैं। रणछोड भाई ने इसके स्थान पर शास्त्रीय सगीत की विविध राग-रागिनियो के कई भावोत्तेजक गीत समाविष्ट किये है जिनके गाये जाने के कारण यह नाटक रगमच पर अतिशय लोकप्रिय बन सका है। अन्त मे एक वस्तु का निर्देश आवश्यक है कि भारतेन्दु के नाटक मे भाषा शैली, रचना-विधान, रस-निष्पत्ति आदि की दृष्टि से जो उच्च कोटि की साहित्यिकता पायी जाती है, उसका रणछोड भाई के नाटक मे अभाव है। वह साहित्यिक दृष्टि से एक साधारण नाटक है। रगमचीय शिष्ट नाटको की परम्परा मे 'हरिश्चन्द्र नाटक' उत्तम नाटक माना जाता है, जब कि 'सत्य-हरिश्चन्द्र' उत्कृष्ट साहित्यिक कृति है।

हिन्दी के अन्य पौराणिक नाटक

महाभारत के सुप्रसिद्ध 'सत्यवान-सावित्री' उपाख्यान से सम्बन्धित भारतेन्दु

हरिश्चन्द्र का 'सती प्रताप' (१८८३ ई०) नाटक है, जिसे वे पूर्ण न कर सके। भारतेन्दु द्वारा इसके केवल चार दृश्य लिखे जा सके। अवशिष्ट तीन दृश्य राधाकृष्ण दास ने लिखकर नाटक को पूरा किया। भारतेन्दुजी ने इसे 'गीतिरूपक' कहा है, यद्यपि यह पद्यमय नहीं है। इसमें गीतों की अधिकता अवश्य है। छठे दृश्य में राधाकृष्ण दास ने सत्यवान द्वारा सावित्री का मुख चुम्बन कराया है जो पारसी थियेट्रिकल नाटकों का प्रभाव प्रतीत होता है। श्री निवासदास ने 'तप्तासंवरण' (१८८३) नाटक प्रेम-प्रधान नाटक की इसी समय रचना की है। इस पर 'शाकुन्तल' नाटक की शैली का प्रभाव पड़ा है। यह साधारण नाटक है। १८८५ ई० में प० बालकृष्ण भट्ट ने 'दमयंती-स्वयंवर' नामक पौराणिक नाटक की संस्कृत शैली में रचना की। इसमें नांदी, प्रस्तावना, गर्भांक आदि नाट्य-तत्वों का समावेश तो किया है किन्तु नाटक के अन्त में 'भरतवाक्य' नहीं है। इस में संस्कृत-श्लोकों का प्रयोग हुआ है और संवाद लम्बे हैं।

१९०० ई० से पूर्व हिन्दी-नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र' को छोड़कर अन्य एक भी नाटक उत्तम नहीं कहा जा सकता।

गुजराती के अन्य पौराणिक नाटक :

रणछोड़ भाई उदयराम के 'हरिश्चन्द्र नाटक' की पूर्व कथा उनके 'तारामती-स्वयंवर' नाटक (१८७१) में अंकित की गई है। दोनों का रचना-काल एक ही है और एक ही पुस्तक के रूप में दोनों नाटकों का प्रकाशन हुआ है। पाँच अंकों के इस नाटक में ग्यारह दृश्य हैं। पहले और अंतिम अंक में तो केवल एक एक दृश्य है। कनमापुरी का राजा मागधेय अपनी कन्या तारामती का विवाह अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र के साथ स्वयंवर द्वारा करता है। यह कथा इस अत्यंत साधारण नाटक में वर्णित है।

मार्कंडेयपुराण की कथा का आधार लेकर रणछोड़ भाई ने १८७८ ई० में 'मदालसा और ऋतुध्वज' नाटक की रचना की। लेखक के अन्य नाटकों की अपेक्षा इस नाटक में संस्कृत शैली का विशेष अनुसरण हुआ है। नांदी, प्रस्तावना, विदूषक, भरतवाक्य आदि का इस नाटक में समावेश हुआ है। अनेक कष्टों के पश्चात् नाटक के अन्त में मदालसा और ऋतुध्वज का मिलन होता है और इस प्रकार यह नाटक सुख में पर्यवसित होता है। इस नाटक के विदूषक के पात्र का व्यवहार संस्कृत-नाटकों के विदूषक की भाँति नहीं है अपितु वह स्थूल हास्योत्पादक अभद्र 'भवाई' के 'रँगले' का प्रतिरूप है। यह भवाई लोक नाटक का प्रभाव है।[1] मदालसा के लिए ऋतुध्वज का विरहोन्मत्त होना संस्कृत नाटकों के विरहाकुल पात्रों का स्मरण कराता है। ऋतुध्वज का चरित्र-चित्रण बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है। अंग्रेजी नाटकों के 'सीन' के ही अनुकरण पर इसका दृश्य-विधान है। गुजराती नाटक-साहित्य में सर्वप्रथम रणछोड़ भाई के नाट्य-निर्माण पर संस्कृत, भवाई और अंग्रेजी—इन तीन नाटक शैलियों का सम्मिलित प्रभाव देखा जाता है।

नल-दमयंती—'हरिश्चन्द्र' नाटक की भाँति रणछोड़ भाई का 'नलदमयंती' नाटक भी बंबई के गुजराती रंगमंच पर अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। इसकी तृतीय आवृत्ति (१८८३) के मुखपृष्ठ पर यह छपा है कि "इस नाटक के तीन सौ से अधिक प्रयोग हो चुके हैं।"

---

१. 'भवाई' : श्री अनन्तराय रावल, पृ० ४८।

बबई मे जब यह नाटक खेला जाता तब हजारो बहिनें अपने छोटे-छोटे बच्चो को लेकर इसे देखने के लिए आती। थियेटर के मैनेजर को उन बच्चो के लिए नाटकशाला के कपाउड मे और गैलरी मे झूले बाँधने पडते और बच्चो को सँभालना पडता। 'नल-दमयती' की अपूर्व लोकप्रियता का यह ज्वलत उदाहरण है। इस नाटक मे शिष्टता तथा सात्विकता का पूरी तरह निर्वाह हुआ है। महाभारत के नलोपाख्यान को इसमे नाटकीय रूप दिया गया है। यद्यपि इस नाटक का शिल्प-विधान सस्कृत नाटको जैसा है, फिर भी इसमे प्रस्तावना, सूत्रधार, नटी आदि नही हैं। इसे देखकर यह कहा जा सकता है कि 'नल दमयती' मे लेखक सस्कृत-शैली को छोडकर पश्चिमी शैली को अपनाने की ओर प्रवृत्त है। इसके दृश्य-विभाजन, चरित्र-चित्रण गद्यात्मक सवादो पर अग्रेजी नाटको का पूर्णत प्रभाव पडा है। विदूषक की प्रकृति भवाई के 'रँगले' से मेल खाती है। नल और दमयती का अन्तर्द्वद्व नाटक के कार्य-व्यापार मे सक्रियता पैदा करता है और विविध प्रसगो तथा विभिन्न पात्रो द्वारा लेखक ने समग्र नाटक मे प्रभावान्विति का निर्वाह करने की सफल चेष्टा की है। तत्कालीन रगमच के उपयुक्त बनाने के लिए इसमे रणछोड भाई ने शास्त्रीय सगीत, कविता और रगमचीय गायनो का समावेश किया है जो सर्वत्र स्वाभाविक नही है। इस प्रकार की कई छोटी-मोटी त्रुटियाँ इस नाटक मे पायी जाती हैं। पर हम यदि उस युग की दृष्टि को समक्ष रखें तो यह नि सकोच कह सकते हैं कि 'नल-दमयती, 'हरिश्चन्द्र' आदि नाटको के लेखक रणछोडभाई वस्तुत 'गुजराती नाटक-साहित्य और गुजराती रगमच के पिता' ही हैं।

कवि नर्मद का पौराणिक नाटक **'द्रौपदी दर्शन'** (१८७८) एक उल्लेखनीय नाटक है। इसका आधार महाभारत है। इसकी रचना 'आर्य सुबोध नाटक मडली' के लिए की गई थी और उक्त मडली द्वारा यह खेला भी गया था।[1] इसमे द्रौपदी के जन्म से लेकर, द्रौपदी-स्वयवर, चीरहरण, दासत्व और अन्तिम मुक्ति तक का इतिवृत्त निरूपित किया गया है। पाँच अको के इस नाटक के कई छोटे-बडे प्रवेश (दृश्य) हैं। मगलाचरण, प्रस्तावना, विदूषक आदि तत्त्व सस्कृत-नाट्य परपरानुसार हैं। इस नाटक मे रगमचीय नाटक के गुण अधिक हैं और साहित्यिक नाटक के तत्त्वो का अभाव है। न तो घटनाक्रम सुग्रथित है, न चरित्र-चित्रण ही स्वाभाविक है। इसमे गद्य-पद्यात्मक सवादो के साथ गीतो की भी भरमार है। 'गद्यपद्यात्मक सवाद' को कवि नर्मद ने नाटक कहा है[2], जो युक्ति-युक्त नही।

तदतर १८८२ मे मधुवचराम बलवचराम होरा का पचाकीय गद्य-पद्यात्मक **'नृसिंह नाटक'** मिलता है। सस्कृत शैली के इस पौराणिक नाटक मे प्रह्लाद और नृसिंहावतार की सुप्रसिद्ध कथा है। यह सामान्य कोटि का नाटक है। इस नाटक की यह विशेषता है कि इसमे एक भी गायन नही है। उसके स्थान पर सस्कृत-वृत्ताश्रित कविताएँ हैं। श्री हरिलाल ध्रुव का **'प्रह्लाद नाटक'** बीकानेर नाटक कपनी के लिए सन १८९३ के आस-पास लिखा गया और १९१५ ई० मे प्रकाशित हुआ। इस रगमचीय नाटक मे सस्कृत परपरा का निर्वाह हुआ है।

रणछोड भाई के बाद इस युग के अन्य महत्त्वपूर्ण नाटककार मणिलाल मनुभाई

---

१. देखिये : मुख्य पृ० और अतिम पृ० 'द्रौपदी दर्शन नाटक', प्रकाशन जून १८७८ ई०।
२. कृष्णकुमारी नाटक—की 'प्रसग' नामक प्रस्तावना—नर्मदाशकर कवि, पृ० ३।

साथ ब्रिटिश राज्य के खुशामदियों की चापलूसी की भी निंदा की है । इस तरह लेखक ने राष्ट्रीयता की आदर्श भावना को इसमें स्थान दिया है। इस त्रिअंकीय नाटक में संस्कृत परिपाटी का अनुसरण किया गया है। पर अंत में भरतवाक्य नहीं है । बीच-बीच में पद्यात्मक संवाद हैं। लेखक ने वेणु की कथा के साथ-साथ सूटधारी हिन्दी साहबों का खुलकर मजाक करने में औचित्य का निर्वाह नहीं किया है। स्वगत बहुत लम्बे हैं जो असंगत प्रतीत होते हैं। नाटक में यह दोष खटकता है। वैसे यह कृति साधारण स्तर की है।

कुरुवनदहन—अब तक जितने पौराणिक नाटक लिखे गये उनमें से किसी में साहित्यिकता और रंगमंचीय आवश्यकता का एक साथ निर्वाह नहीं हुआ। पंडित बदरीनाथ भट्ट का कुरुवनदहन (१९१२ ई०) ही पहला नाटक है जिसमें साहित्यिकता के साथ ही साथ रंगमंच की आवश्यकताओं की पूर्ति भी हुई है।[1] इसमें कथानक का समुचित विकास, पात्रों का स्वाभाविक चित्रण तथा रस की सहज निष्पत्ति हुई है। इसमें संगीत का सोद्देश्य समावेश किया गया है । यद्यपि अपने इस नाटक में भट्टजी पारसी रंगमंच के चमत्कारों से अपने को बचा नहीं पाये हैं, फिर भी उनका प्रयत्न स्तुत्य है। यह साहित्यिक और रंगमंचीय नाटक का संधिकाल है।[2] यह नाटक भट्टनारायणकृत संस्कृत-नाटक 'वेणीसंहार' का रूपान्तर है, पर लेखक ने इसमें नवीन शैली और रुचि को अपनाया है और तदनुकूल बहुत परिवर्तन भी किये हैं जिससे नाटक नितांत मौलिक बन गया है। इस नाटक में पाश्चात्य और भारतीय नाट्य तत्त्वों का सम्मिश्रण किया गया है। हिन्दी में इस प्रकार सर्वप्रथम दोनों तरह के नाट्य-शिल्पों का समन्वय कर एक नूतन नाट्य-शिल्प का प्रारम्भ भट्टजी द्वारा हुआ।

'कुरुवनदहन' में महाभारत के युद्ध को रोकने के श्रीकृष्ण के प्रयत्नों की असफलता तथा कौरव-पाण्डव-युद्ध और कौरव विनाश का वृत्तान्त अंकित है। इसके सात अंक हैं और कई दृश्य हैं। लेखक ने नाटक की 'प्रस्तावना' में लिखा है कि 'यह अंग्रेजी ढंग पर ऐक्ट (अंक) तथा सीन (दृश्य) में विभक्त किया गया है जिससे खेलने में भी सुगमता रहे।'' भाषा सरस और स्वाभाविक है। शैली प्रासादिक और सजीव है।

वेन-चरित्र—यह बदरीनाथ भट्ट का दूसरा पौराणिक नाटक है। इसका निर्माण-काल सन् १९२१ ई० है। भट्टजी के 'कुरुवनदहन' नाटक की तुलना में वेन-चरित्र अत्यन्त सामान्य कोटि का नाटक है। इसमें अत्याचारी वेन का संहार और उसके राज्य-तंत्र का नाश दिखाया है। लेखक ने वेन के पुत्र पृथु को प्रजातन्त्र-सभापति के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इस प्रकार एकतंत्रीय शासन के स्थान पर प्रजातन्त्र-प्रणाली की श्रेष्ठता प्रतिपादित कर हिन्दी-नाटकों में भट्टजी ने नई राजनैतिक जागृति का संदेश दिया है। नाटक का शेषांश बालकृष्ण भट्ट के 'वेणुसंहार' के समान ही है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने तीन नाटक लिखे—'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास' और 'अनघ'। 'अनघ' प्रसादजी के 'करुणालय' के ढंग का एक-अंकीय गीति नाट्य है जिसकी विवेचना यहाँ आवश्यक नहीं।

तिलोत्तमा—यह नाटक पौराणिक आख्यान को लेकर लिखा गया है। इसमें मैथिलीशरण ने देशवासियों का ध्यान बन्धु विरोध के दुष्परिणाम के प्रति आकर्षित किया

---

1. डॉ० देवर्षि सनाढ्य—हिन्दी में पौराणिक नाटक, पृ० १८३
2. डा० सोमनाथ गुप्त—हि० ना० सा० का इतिहास, पृ० ६३

है और उसी के साथ एकत्व और बन्धुत्व की भावना अपनाने का उपदेश दिया है। इसकी रचना १९१६ ई० में की गई। इसमें सुन्द और उपसुन्द नामक भयंकर दानवों से त्रस्त देवगण ब्रह्माजी से उनके विनाश की प्रार्थना करते हैं। ब्रह्माजी तिलोत्तमा नामक एक अपूर्व सुन्दरी अप्सरा की सृष्टि करते हैं और उसे दोनों दैत्यों के संहार के लिए भेजते हैं। वे दैत्य उसे देखकर उस पर मोहित हो जाते हैं और उससे विवाह करना चाहते हैं। तिलोत्तमा उनसे यह प्रस्ताव करती है कि तुम दोनों में से जो अधिक बलवान होगा, मैं उससे विवाह करूँगी। यह सुनकर दोनों अपने आपको अधिक बलवान सिद्ध करने के लिए युद्ध करते हैं जिसमें दोनों की मृत्यु होती है।

इस नाटक की रचना-शैली संस्कृतानुवर्तिनी है। इसमें पद्य की अधिकता है जिससे कार्य व्यापार मंद पड़ जाता है। संवाद भी प्राणवान नहीं हैं।

चन्द्रहास—गुप्तजी का 'चन्द्रहास' भी तिलोत्तमा के साथ १९१६ में ही प्रकाशित हुआ। इसकी भी कथा पुराणाश्रित है। भक्त चन्द्रहास की भक्ति की कसौटी इस नाटक में दिखाई है। वह दृढतापूर्वक अनेक कष्टों और बाधाओं का मुकाबला करता है और धृष्टबुद्धि के कुचक्रों को विफल करता है। अन्त में विषया से उसका विवाह होता है और ऋषि गालव की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध होती है। इस पौराणिक वृत्त के साथ-साथ लेखक ने गांधीजी के सत्य अहिंसा के सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है। चन्द्रहास की विजय सत्य और अहिंसा की विजय है।

इस नाटक में भी संस्कृत नाट्य-सिद्धान्तों का पालन हुआ है। इस पंचांकीय नाटक में संवाद मनोहर और पात्रानुकूल हैं। भाषा भावानुसारिणी है। वस्तुसंगठन और चरित्र-चित्रण कौशलयुक्त है। 'तिलोत्तमा' की अपेक्षा यह नाटक अधिक सफल है।

अंजना—हिन्दी के सुप्रसिद्ध कहानीलेखक श्री सुदर्शन ने सन् १९२२ ई० में अंजना नाटक की रचना की। इस नाटक का मूलाधार रामायण की कथा नहीं, प्रत्युत हनुमान के माता पिता अंजना पवन की प्रसिद्ध जैन कथा है।[1] महेन्द्रपुर के राजा की पुत्री अंजना और विद्याधरों के राजा प्रह्लाद के पुत्र पवन के प्रेम और विवाह की कहानी इस नाटक में वर्णित है। रावण-वरुण के युद्ध में पवन का सम्मिलित होना, अंजना का सगर्भा होना, उसका देश-निकाला, हनुमान का जन्म, पुनः अंजना-पवन का मिलन आदि प्रसंग इस नाटक में सम्मिलित हैं। इन नाटकीय प्रसंगों को अधिक संघर्षयुक्त और प्रभावपूर्ण बनाने के लिए मुसदा और विद्युत्प्रभ नामक दो खल पात्रों के कुचक्रों की योजना लेखक ने की है। इन पात्रों की प्रतिहिंसा की कुचेष्टाएँ नाटक के कार्य-व्यापार को गतिशील बनाये रखती है।

यह पाँच अंकों का सुखान्त नाटक है। इसमें कई दृश्य हैं। अभिनेयता को दृष्टि-समक्ष रखकर सुदर्शनजी ने इस नाटक की रचना की है परन्तु संवाद बहुत लम्बे हैं जो भाषणों से प्रतीत होते हैं। इन लम्बे संभाषणों को छोटा करके और इसमें अन्य थोड़े से परिवर्तन करके इसे अभिनय के लिए सफल बनाया जा सकता है। "अंजना में लेखक ने वस्तु-विन्यास को बड़ा जटिल बना दिया है। इसमें एक पेंच के अन्दर दूसरा पेंच दिखायी देता है, जिसके कारण वस्तु का अनावश्यक विस्तार हो गया है।"[2] इस नाटक में गीत कम

१ हिन्दी के पौराणिक नाटक—डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० १५८

२. डॉ० सोमनाथ गुप्त—हि० ना० सा० का इतिहास, पृ० १६१

हैं। भाषा-शैली प्रसाद-गुणयुक्त, है। 'अजना' द्वारा नारी-जीवन की गरिमा प्रकट करना नाटककार का उद्देश्य है। वस्तुतः 'अजना' एक अच्छा नाटक है।

डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र ने दो नाटक लिखे हैं—'असत्य संकल्प' (१९२५) और 'वासना-वैभव' (१९२५)। 'असत्य सकल्प' बिल्कुल मामूली नाटक है। इसमें प्रह्लाद और हिरण्यकशिपु की कथा का आधार लिया गया है।

वासना-वैभव—इस नाटक में ययाति की कथा वर्णित है जिसका आधार श्रीमद्-भागवत है। ययाति की वासना-वृद्धि ने उसकी और उसके राज्य की जो दुर्गति की, और उससे जो दुष्परिणाम आया, उसे दिखाकर मिश्रजी तुलसी के इस कथन को चरितार्थ करना चाहते हैं कि "बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी ते।"[1] यह अट्ठावन पृष्ठों का और तीन अकों का छोटा-सा गद्य-पद्ययुक्त नाटक है। इसमें पश्चिमीय और भारतीय नाट्यशिल्प का समन्वयात्मक रूप प्रगट हुआ है। इसमें नान्दी है, परतु प्रस्तावना गायब है। भारतीय अक-योजना है और पश्चिमी शैली का दृश्य-विभाजन भी है। ययाति का अतर्द्वन्द है और उसी के साथ सुखान्त की सृष्टि कर 'मधुरेण समापयेत्' के आदर्श को चरितार्थ किया है। कथा-प्रवाह म बीच बीच मे शिथिलता आ गई है, शीर्षक भी अस्पष्ट है।

वरमाला— मार्कण्डेयपुराण की कथा का आधार लेकर सन् १९२५ ई० मे गोविन्द-वल्लभ पत ने 'वरमाला' नामक नाटक लिखा। इसके प्रधान पात्र अवीक्षित और वैशालिनी है। अवीक्षित भूमण्डल के राजा करधम का पुत्र है और वैशालिनी विदिशा के राजा विशाल की पुत्री है। अवीक्षित वैशालिनी से प्रेम करता है, पर दुर्भाग्य से उसे प्रतिदान के रूप मे घृणा मिलती है। इससे क्रुद्ध होकर वह स्वयवर-सभा से वैशालिनी का अपहरण करता है। मार्ग मे नदी का जल लेते समय एक मगर अवीक्षित को निगलने दौड़ता है। वैशालिनी उसकी रक्षा करती है। फिर राजा विशाल अवीक्षित को आहत कर बदी बनाता है। वैशालिनी की परिचर्या से वह स्वस्थ होता है। अवीक्षित के पिता पुत्र-रक्षा के लिए राजा विशाल के राज्य पर आक्रमण करते है। पर सच्ची बात का पता चलने पर दोनो मे सन्धि हो जाती है और वे अवीक्षित एव वैशालिनी के विवाह के लिए सहमत हो जाते है। किन्तु अब अवीक्षित तैयार नही। वैशालिनी उसके प्रेम की प्राप्ति के लिए वन मे तपस्या करती है। सयोग से एक बार अवीक्षित अनजाने वैशालिनी की रक्षा करता है। दोनो का पुराना प्रेम फिर से जाग उठता है और वे प्रेम-बन्धन मे बँधते हैं। वैशालिनी की मुरझाई हुई वरमाला पुन. अवीक्षित के गले का हार बनती है। यही 'वरमाला' की कथावस्तु है जो स्वाभाविक गति से क्रमशः अग्रसर होती है। लेखक ने अवीक्षित और वैशालिनी दोनो के व्यक्तित्व का बहुत ही स्पष्टता से रेखाकन किया है। इनके द्वारा पतजी ने नर और नारी प्रणय तथा वैयक्तिक अहम् के सघर्ष की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। इन भावो के प्राधान्य के कारण डॉ० नगेन्द्र ने इस नाटक को 'भावनाट्य' की कोटि मे रखा है।[2] इसमे सवाद सप्रमाण हैं और वातावरण बड़ा रोमाचक है। नाटककार ने पात्रो के भावो को कहीं-कहीं तो गद्य-काव्य की मनोहर शैली में प्रस्तुत किया है। इस नाटक की भाषा, भाव और शैली 'प्रसाद' के नाटको का स्मरण कराते है। दोनो नाटककारो मे इस विषय मे समानता है। गोविन्द-

१. 'वासना-वैभव' नाटक के 'दो शब्द', द्वि० सं०, पृ० ६
२. आधुनिक हिन्दी नाटक : डॉ० नगेन्द्र, जनवरी १९६०, पृ० ११७

वल्लभ पंत को रंगमंच का प्रत्यक्ष अनुभव है। उसी के बल पर उन्होंने इसे अभिनेय बनाया है और कन्याहरण, युद्ध और विप्लव के प्रसंगों को दिखलाने के लिए मूक दृश्य की योजना की है। इसे व्रजरत्नदास अस्वाभाविक मानते है।[1] परन्तु डॉ० नगेन्द्र का विचार है कि "मूक दृश्यों की उद्भावना कौशल से की है।"[2] वस्तुतः 'वरमाला' का यह दृश्य-विधान कलापूर्ण है।

जनमेजय का नाग-यज्ञ—हिन्दी के समर्थ नाटककार और महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' का एकमात्र सम्पूर्ण पौराणिक नाटक 'जनमेजय का नागयज्ञ' सन् १९२६ ई० में प्रकाशित हुआ। इसकी कथावस्तु के विषय में लेखक ने भूमिका में यह बताया है कि "नाटक में वर्णित प्रत्येक घटना का मूल महाभारत और हरिवंशपुराण में है।"[3] प्रसाद ने सभी पौराणिक ग्रंथों से प्राप्त जनमेजय के नागयज्ञ की कथा का अध्ययन कर उसे ऐतिहासिक रूप देने का प्रयत्न किया है। इस विषय में डॉ० सोमनाथ गुप्त का कथन सत्य है कि "वस्तुतः 'प्रसाद' ही पहले व्यक्ति है जिन्होंने प्राचीन इतिहास की भूली हुई शृंखलाओं की कड़ियों को खोजने और उन्हें मिलाने का दुस्तर कार्य साहित्य में आरम्भ किया।"[4]

इस नाटक में आर्यों और नागों के संघर्ष और संधि को अंकित किया है। नाग जाति आर्यावर्त के सम्राट् परीक्षित को कमजोर जानकर विद्रोह करती है और तक्षशिला पर अधिकार स्थापित कर परीक्षित का वध कर डालती है। तदनन्तर परीक्षित का ज्येष्ठ पुत्र जनमेजय राज्याधिकारी बनता है और वह अपने पिता का वध करने वाली नाग जाति का विनाश करने का संकल्प करता है। नागराज तक्षक तो युद्ध को उद्यत है ही। जनमेजय नागयज्ञ का प्रारम्भ करता है। नाग पराजित होते है। आर्यों और नागों के इस परम्परागत संघर्ष को ऋषि-पुत्र आस्तिक, सरमा और मणिमाला आदि उदारचेता पात्रों द्वारा निर्मूल किया जाता है। उनके सद्-प्रयत्नों से दोनों जातियों में संधि होती है। इस प्रकार साम्प्रदायिक एकता की भावना को लेखक ने प्रगट किया है। इस नाटक की रचना तब हुई, जब देश में साम्प्रदायिक दंगे—'हिन्दू-मुस्लिम' झगड़े—बड़ा ज़ोर पकड़े हुए थे और गांधीजी दोनों जातियों में एकता और भ्रातृ-भाव पैदा करने का भगीरथ प्रयत्न कर रहे थे।

इस नाटक का कथानक सन् १९२६ में हमारे देश में होने वाले भीषण हिन्दू-मुस्लिम दंगों की ओर संकेत करता है।[5] इसमें प्रसाद अपने ढंग से हमारी उस जटिल राष्ट्रीय समस्या को सुलझाने का सद्प्रयत्न करते है।

'प्रसाद' के अन्य श्रेष्ठ नाटकों की अपेक्षा इस नाटक का वस्तु-विन्यास प्रशस्त नहीं है। चरित्र भी विशेष स्फुट नहीं हो पाये है।[6] लेखक के प्रौढ़ काल की रचना होते हुए भी 'जनमेजय का नागयज्ञ' बहुत साधारण कोटि की रचना बन पड़ी है। घटनाएँ परस्पर उलझी हुई है और उनमें सक्रियता का अभाव है। दार्शनिक चिन्तन ने उन्हें और भी शिथिल

---

१. हिन्दी नाट्य साहित्य, तृतीय संस्करण, पृ० २१२
२. आधुनिक हिन्दी-नाटक : डॉ० नगेन्द्र, जनवरी १९६०, पृ० ११६
३. 'जनमेजय का नाग-यज्ञ', जयशंकर प्रसाद, प्राक्कथन, पृ० ८
४. डॉ० सोमनाथ गुप्त, हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० १८६
५. हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा, पृ० ३१०
६. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, चतुर्थ संस्करण, पृ० ७०

बना दिया है। इस नाटक मे दृश्य के अन्तर्गत दृश्य की योजना[1] की गई है, जो अस्वाभाविक प्रतीत होती है। यह योजना चित्रपट के अनुकूल हो सकती है परन्तु रगमचीय प्रयोग के लिए सुविधाजनक नही।

विद्रोहिणी अम्बा—पौराणिक नाटक-लेखको मे अग्रगण्य उदयशकर भट्ट का पहला सम्पूर्ण पौराणिक नाटक 'विद्रोहिणी अम्बा' (१९३५ ई०) नारी-सम्मान की भावना को प्रगट करता है। इसकी कथा महाभारत से ली गई है। हस्तिनापुर के राजा विचित्रवीर्य का विवाह करवाने के लिए महारथी भीष्म काशिराज की तीन कन्याओ का स्वयवर-सभा से अपहरण करते हैं। परन्तु जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि अम्बा न सौभ के राजकुमार शाल्व को स्वयवर-सभा मे अपहरण के पूर्व ही वर लिया है तो वे उसे शाल्व से यहाँ भेज देते हैं। शाल्व अम्बा को पत्नी के रूप मे स्वीकार नही करता क्योंकि अम्बा दूसरे के द्वारा अपहृत की जा चुकी है। इस तरह त्यक्ता अम्बा के जीवन को दारुण यातनाएँ और भीषण चिन्ताएँ आ घेरती हैं। उसके मन मे प्रतिशोध की ज्वाला प्रज्वलित होती है। वह परशुराम को भीष्म से लडने को उत्तेजित करती है। दोनो मे सग्राम होता है पर अम्बा की मनोकामना पूर्ण नही होती। फिर वह घोर तप करके शिव से अगले जन्म मे भीष्म को मार सकने का वरदान पाती है। प्रतिहिंसा की भावना मन म लिये हुए वह मर जाती है। शिखडी के रूप मे उसका पुनर्जन्म होता है और महाभारत के युद्ध मे वह भीष्म की मृत्यु का कारण बनती है। इस प्रकार इस नाटक मे अम्बा के नारी-रूप की विद्रोहात्मक भावना का निरूपण किया गया है। इसमे भीष्म से हारी हुई अम्बा की जन्मजन्मान्तर व्यापिनी प्रतिकार-वासना के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष सम्बन्धी वह विषमता भी सामने आई है, जो आजकल के आन्दोलनो की तह मे वर्तमान है।[2] इस दृष्टि से यह पौराणिक नाटक मूलत सामाजिक नाटक है जो हमारी समकालीन सामाजिक समस्या पर प्रकाश डालता है।

इस नाटक की नायिका अम्बा चिरतन नारीत्व का प्रतिनिधित्व करती है। वह दो जन्मो की उत्कट साधना के बाद विजयी होती है। भीष्म अहवादी पौरुष के प्रतीक हैं। अन्य पात्रो मे सत्यवती, परशुराम आदि महत्त्वपूर्ण है। इनका चरित्र-चित्रण बडा ही स्पष्ट है। इस सुन्दर भावनाट्य मे बडे प्राजल गद्य का प्रयोग किया गया है। एक भी गीत इसमे नही है। पर इसमे शैली, सवाद आदि काव्यात्मक है। नाटककार न इसे 'वियोगान्त' नाटक कहा है, क्योकि 'विद्रोहिणी अम्बा' यद्यपि प्रतिशोध अवश्य लेती है पर वह शाल्व से विवाह न कर सकने के कारण अन्त तक पति-वियोगिनी बनी रहती है। उसके चरित्र पर नाटक के अन्त तक कारुण्य की छाया छायी रहती है।

'विद्रोहिणी अम्बा' के पात्रो की दार्शनिकता उसके वस्तु विकास को शिथिल कर देती है। 'प्रसाद' के अनुकरण पर इस प्रकार का उलझा हुआ दर्शन कवित्वपूर्ण चिन्तन, जो प्राय सभी पात्रो मे मिलता है, इस नाटक का सबसे बडा दोष है।[3]

सगर-विजय—उदयशकर भट्ट के इस पौराणिक नाटक का प्रणयन १९३७ म हुआ। इसमे सगर राजा की उत्पत्ति और उसके चक्रवर्ती बनने की कथा अकित है।

---

१ 'जनमेजय का नागयज्ञ', जयशङ्कर प्रसाद, २००७ वि० स०, पृ० १०१
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ' हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५१६
३. डॉ० नगेन्द्र ' आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० १२२

अयोध्या के राजा बाहु, हैहयवंशी दुर्दम द्वारा पदच्युत किये जाते है और उनकी मृत्यु हो जाती है। उस समय उनकी पत्नी विशालाक्षी सगर्भा है। इसलिए वह सती नही हो सकती और और्व ऋषि के आश्रम मे रहने लगती है। वही सगर का जन्म होता है। सगर की विमाता वह्नि प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर उसकी हत्या करने का प्रयत्न करती है, पर वह असफल होती है। जब सगर बडा होता है, तब वह दुर्दम को बदी बनाता है और स्वयं अयोध्या का राजा बनता है। इस पर विमाता वह्नि आत्महत्या कर लेती है। सगर समस्त भू-मडल जीतता है और चक्रवर्ती सम्राट् बनने के लिए राजधानी को लौट आता है। उसी समय उसकी माता का अवसान हो जाता है। सगर शोक-सागर मे डूब जाता है। पर सेनापति त्रिपुर की प्रेरणा से वह अपने शोक को राष्ट्रोत्कर्ष मे परिणत करता है। सम्पूर्ण वसुधा को अपनी माता की प्रतिमा मान कर वह उसकी सेवा के लिए सन्यास अंगीकार करता है और इस प्रकार उसकी वास्तविक विजय होती है। यह पौराणिक कथानक राष्ट्र-सेवा का महान् आदर्श प्रस्तुत करता है। राष्ट्र के लिए सर्वस्व का उत्सर्ग ही जीवन-विजय का मूल मत्र है।

सगर का चरित्र पौराणिक नाटक के अनुकूल खीचा गया है। वह्नि का चरित्र बडा वास्तविक है। अन्य पात्र भी स्वाभाविक हैं। इस नाटक मे लेखक ने कतिपय गीत सम्मिलित किये हैं जो कवि भट्टजी का सम्यक् परिचय देते है। लेखक की रचना शैली प्रौढ और गभीर है। "आधुनिक काल मे धार्मिक कथानकों को राष्ट्रीय चेतना के उद्बोधन के साधन के रूप मे जिन कतिपय उत्तम नाटकों मे प्रयुक्त किया गया है उनमे से 'सगर-विजय' एक है।"[1]

'सगर विजय' को लेखक ने 'वियोगान्त' माना है। वस्तुत यह नाटक सुखान्त ही है। सर्वस्व का उत्सर्ग कर देश सेवा को सहर्ष अपनाने मे सात्त्विक सुख प्राप्त होता है। जीवन की क्षुद्र वासनाओं का उदात्तीकरण महान् कार्य है जिसकी सिद्धि मे आनन्दोपलब्धि होती है। इस उच्चाशय की प्राप्ति वियोगान्त' नही कही जा सकती। इस नाटक की कथा अत्यन्त विस्तृत हो गई है और इसमे घटनाओं की भीड लग गई है। फलत एकाग्रता का अभाव दृग्गोचर होता है। डॉ० नगेन्द्र ने भी इस दोष की ओर इगित किया है।[2] स्वोक्तियो का इसमे आधिक्य है। इन दोषो के होते हुए भी यह हिन्दी की एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

'विद्रोहिणी अम्बा', 'सगर-विजय' इत्यादि पौराणिक नाटकों म भट्टजी की नाट्यकला का पूर्ण विकास दृष्टिगत होता है। ऐतिहासिक नाटक-रचना मे जो स्थान 'प्रसाद' और 'प्रेमी' का है, पौराणिक नाटक-रचना मे वही स्थान भट्टजी का है।[3]

कर्ण—महाभारत के अत्यन्त तेजस्वी पात्रो मे एक महारथी कर्ण है जिसने अपने उज्ज्वल चरित्र तथा प्रतिभाशाली व्यक्तित्व द्वारा कौरव पाडवो म अन्यतम पद प्राप्त कर लिया है। नाटककार सेठ गोविन्ददास का ध्यान इस अपूर्व चरित्र की ओर आकर्षित हुआ और उन्होने १९४६ मे 'कर्ण' नाटक लिखा। इसमे कर्ण स सम्बन्धित दो सामाजिक

---

१ हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, डा० दशरथ ओझा, पृ० ४६६

२. आधुनिक हिन्दी-नाटक, पृ० ४६

३ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५५६

समस्याएँ अंकित की गई हैं। अविवाहित लडकी की सन्तान की समस्या और निम्न वर्ग मे उत्पन्न प्रतिभावान व्यक्ति के समाज मे स्थान पाने की समस्या। इस नाटक के कर्ण-कुन्ती के पौराणिक पात्रो द्वारा लेखक ने हमे यह बताया है कि उक्त दोनो समस्याएँ आज भी हमारे समाज मे उतनी ही जटिल और ज्वलत है जितनी महाभारत के काल मे थी। इस नाटक का नायक कर्ण धीर, वीर और उदात्त भावना से युक्त है। रचना-विधान की दृष्टि से यह नाटक सफल है। इसके सवादो की भाषा प्रासादिक है और इसकी शैली मे सरलता एव सरसता है, अभिनेयता का गुण भी इस नाटक मे है। विषय की दृष्टि से 'कर्ण' एक अच्छा प्रयत्न कहा जा सकता है।

गाधारी—सन् १९५० मे आचार्य चतुरसेन शास्त्री का गाधारी 'नाटक' प्रकट हुआ। इस नाटक द्वारा भारतीय महिलाओ का ध्यान पतिव्रत धर्म की ओर खीचने का शास्त्रीजी ने प्रयत्न किया है। धृतराष्ट्र के अधेपन के कारण पतिव्रता गाधारी सखियो से अपनी आँखो पर पट्टी बाँधने का आग्रह करते हुए कहती है—"स्त्री पति की अर्धांगिनी है। वह पति के सुख-दुःख, जीवन-तप, सभी बातो म आधे की भागीदार है। सखी, यह पट्टी मेरी आँखो पर बाँध दो।"[१] इस नाटक मे गाधारी का निर्मल और उदात्त चरित्र अकित हुआ है। इसमे समर्पण, सहनशीलता और सौहार्द की भव्य भावनाएँ दृष्टिगत होती है। इस दृष्टि से यह नाटक आदर्शवादी है। दापत्य जीवन की सफलता समर्पण और त्याग मे है, न कि विद्रोहात्मक विचारधारा मे। लेखक का यह मत इस नाटक का प्रेरणातत्त्व है।

'ययाति'

'वरमाला' के पश्चात् १९५१ मे गोविन्दवल्लभ पत ने शर्मिष्ठा देवयानी-सघर्ष और ययाति की पुन यौवन-प्राप्ति के पौराणिक वृत्त पर आधारित 'ययाति' नाटक की रचना की। शर्मिष्ठा का पुत्र पुरु अपने पिता ययाति को एक वर्ष के लिए अपना यौवन दे देता है और उसका वृद्धत्व स्वय धारण करता है। इस परिवर्तन से ययाति के पारिवारिक जीवन मे और राज्य-सचालन मे अव्यवस्था फैल जाती है। अन्त मे एक वर्ष के बाद पुन अपने असली रूप को पाने पर ययाति कहता है 'कामनाएँ ही मनुष्य के बधन हैं। उनको मिटा डालना ही मुक्ति है।'[२] इस प्रकार ययाति नाटक मे एक मनोवैज्ञानिक समस्या को प्रमुखता दी है। 'अन्न उपजाने' मे पुरु को प्रवृत्त कर लेखक ने हमारी खाद्य-समस्या पर भी प्रकाश डाला है। इस प्रकार 'ययाति' की पुरातन कथा मे साप्रत समस्याएँ भी समाविष्ट हो गई है।

चार अको के इस नाटक म दृश्य नही है। फिर भी अभिनय तत्त्वो का अभाव नही रहने पाया है। इसमे गीत सम्मिलित नही किये गये है। उनके स्थान पर पार्श्व-सगीत की योजना है। नाटक पाठ्य भी है और अभिनेय भी।

'स्वर्गभूमि का यात्री'

इस नाटक की रचना रागेय राघव ने सन् १९५१ ई० म की। इसमे महाभारत के युद्ध की समाप्ति के बाद की कथा वर्णित है। पाडव विजयी होते है। युधिष्ठिर राज्य-सिंहासन ग्रहण करते है। तदनतर परीक्षित के जन्म से लेकर पाडवो के स्वर्गारोहण तक की कथा

१. 'गाधारी' नाटक, स० २००७ वि०, पृ० १७
२ 'ययाति' नाटक, प्रथम सस्करण पृ० ११२

सविस्तार अंकित की गई है। इस कथा का भू-भाग अत्यन्त विस्तृत है। हस्तिनापुर, द्वारका, हिमालय, स्वर्ग आदि कई स्थानों को नाटक मे सम्मिलित किया गया है। इसी तरह कई वर्षो की घटनाएँ नाटक मे आती हैं। काल-सकलन और स्थान-सकलन के अभाव के कारण नाटकीय एकता का निर्वाह नही हो सका है जो इस नाटक का गम्भीर दोष माना जा सकता है।

इस पौराणिक नाटक मे लेखक ने गाधीजी की सत्य-अहिंसा, हिन्दू-मुसलिम एकता, देश-विभाजन के पश्चात् के हत्याकाड, शरणार्थी-समस्या आदि हमारे युग के राजनैतिक प्रश्नो को पेश किया है और उसी के साथ सामाजिक समस्याओ पर भी प्रकाश डाला गया है। उसी के द्वारा लेखक ने नाटक-प्रणयन के आदर्श को प्रस्तुत किया है: "इस कटकित धरा पर जो बिना रोये चल सकता है वही काँटो को रौंद कर स्वर्ग के पथ पर पहुँचता है, अन्यथा क्या फूलो की पगडडी पर स्वर्ग का पथ है ?"[1] रागेय राघव मानवतावादी लेखक है, अत: इस नाटक मे युद्ध के प्रति घृणा प्रदर्शित की गई है। उनका उदार दृष्टिकोण युधिष्ठिर के द्वारा प्रगट हुआ है, "किसी के पाप को पाप करके नही मिटाया जा सकता।"[2] नाटक के अधिकांश भाग मे नये आधुनिक विचारो का परिचय प्राप्त होता है।

इस नाटक मे महाभारतकालीन आर्य-सस्कृति का ह्रासोन्मुख चित्र अकित हुआ है और आभीर, नाग आदि आर्येतर जातियों के उत्कर्ष के ऐतिहासिक तथ्य भी इसमे उद्घाटित हुए हैं। इसीलिए लेखक ने इस नाटक को ऐतिहासिक कहा है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से युधिष्ठिर, द्रौपदी और कृष्ण विशेष उल्लेखनीय है। युधिष्ठिर तो गाधीजी की प्रतिमूर्ति ही है। वे गाधीजी की ही भाँति सत्य-अहिंसा के उपासक, धर्मपरायण शातिदूत है। द्रौपदी मे नारी-सुलभ गुणो का समावेश हुआ है। कृष्ण पूरे राजनीतिज्ञ हैं। अन्य पात्र इनके पूरक के रूप मे आये हैं।

इस नाटक के सवाद सजीव एव सप्राण है। कही-कही तो उनके द्वारा कविता प्रगट हो गई है। इस रचना मे कुछ गीत भी सम्मिलित किये हैं पर वे दुरूह अधिक है। नाटक की सबसे ज्यादा खटकने वाली बात अभिनय-क्षमता का अभाव है। "नाटक की रचना-शैली चलचित्र-निर्माण के लिए अधिक सुकर है।"[3]—डा० देवर्षि सनाढ्य का यह मत अक्षरश: सत्य है।

'नारद की वीणा'

हिन्दी मे समस्या-प्रधान नाटको (Problem play) के प्रवर्तक और समर्थक लक्ष्मी-नारायण मिश्र ने ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक भी लिखे है। 'नारद की वीणा' (१९४६ ई०) उनका पौराणिक नाटक है। इसमे 'देवी भागवत' की उस घटना का आधार लिया गया है जिसमे नर और प्रह्लाद का युद्ध आता है। इसकी कथावस्तु हिरण्यकशिपु के वध के बाद आरम्भ होती है। हिरण्यकशिपु के वध का कारण प्रह्लाद क्यों हुआ, इसका बौद्धिक उत्तर देने का इस नाटक मे मिश्रजी ने प्रयत्न किया है। आर्यों के भारत मे आगमन

---

१. 'स्वर्ग भूमि का यात्री' नाटक, प्र० ~~०, पृ० ~~~
२. उपर्युक्त, पृ० ~०
३. हिन्दी के पौराणिक नाटक : डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० २०४

के पश्चात् उनका यहाँ के मूल निवासी द्रविड लोगों से सघर्ष शुरू होता है। यह सघर्ष शैव और वैष्णव धर्म के सघर्ष का रूप लेता है। हिरण्यकशिपु शैव है। प्रह्लाद वैष्णव-मतावलम्बी है। फलत पिता-पुत्र मे कलह प्रारम्भ होता है। प्रह्लाद किसी व्यक्ति को सिंह की खाल ओढाकर छल से प्रतिक्रियावादी हिरण्यकशिपु का वध करवाता है। नाट्यकार की यह नवीन उद्‌भावना है। परन्तु "नितात नवीन होने से यह धारणा सहसा ग्राह्य नहीं बनती।"[1]

इस नाटक म मिश्रजी ने यह मत प्रदर्शित किया है कि आर्य यायावर थे। मास-भक्षी थे। शरीर और शस्त्र के बली थे। किन्तु द्रविडो का बुद्धि-पक्ष आर्यों की अपेक्षा अधिक प्रबल था। इसलिए आर्यों न द्रविडो की महत्ता स्वीकार की और उन्हे अपना गुरु माना। उनके आश्रमो मे रहकर योग विद्या, दर्शनशास्त्र, ज्योतिष आदि का ज्ञान प्राप्त किया। द्राविडो के सपर्क से आर्य लोग कला और सस्कार के प्रेमी बने। दोनो के ससर्ग से इस देश की सस्कृति का निर्माण हुआ, जो आज तक चली आ रही है। इस तथ्य की ऐतिहासिक सत्यता को खोजने की चिन्ता न कर यदि इसे केवल नाटकीय दृष्टि से देखा जाय तो उसका अत्यन्त आकर्षक और कलात्मक रूप इस नाटक मे दीखता है।

इस कृति मे प्रह्लाद का अनार्य महर्षि नर के साथ युद्ध होता है। प्रह्लाद हार जाता है। नारद मुनि दोनो के बीच सधि कराते है। इसी प्रकार आर्यकुमारी चन्द्रभागा और द्रविड-पुत्र सुमित्र, इन दोनो का द्रविड-प्रथानुसार विवाह कराने का श्रेय नारद मुनि एव प्रह्लाद को प्राप्त होता है।

नारद की वीणा से सदा ही सघर्ष, अविश्वास और द्वेष मिटा देने वाले सवादी स्वर गूँजते हैं। इसी आदर्श के कारण कृति का नाम 'नारद की वीणा' रखा गया है। यहाँ नारद कलहप्रिय नही, अपितु समन्वयसाधक है।

इस नाटक मे लेखक ने आर्य और द्रविडा के समन्वय से भारतीय सस्कृति के निर्माण की कल्पना की है। नाटक की आधिकारिक घटना आर्य-द्रविड समन्वय की भावना पर आश्रित है। इस प्रागैतिहासिक समन्वयवादी भावना का उद्‌घाटन लेखक ने इसमे किया है। यह आदर्श ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित नही, अपितु अनुमानाश्रित ही है।

इस नाटक के तीन अक हैं। उन्हे दृश्यो मे विभाजित नही किया है। सवाद बडे मार्मिक एव कवित्व पूर्ण हैं। नवीन रगमच की आवश्यकताओं को दृष्टि-समक्ष रखकर इस नाटक की रचना हुई है पर लेखक को उसमे अधिक सफलता नही मिली है। डॉ० बच्चनसिंह का कथन है कि "शुद्ध नाटक की दृष्टि से 'नारद की वीणा' का विशेष महत्त्व नही आँका जा सकता, क्योकि सिद्धान्तो की बहुलता के कारण यह थोडा-बहुत अन्योपदेशिक नाटक (नाट्य-रूपक) सा भासित होने लगता है।"[2]

'चक्रव्यूह' (१९५४ ई०)

लक्ष्मीनारायण मिश्र के इस नाटक की कथा का आधार 'महाभारत' है। द्रोणाचार्य द्वारा ऐसे चक्रव्यूह की रचना की गई है जिसे केवल अर्जुन ही भेद सकता है।

---

[1] डा० दशरथ ओझा—हि० ना० उद्‌भव और विकास, पृ० ४२९

[2] डा० बच्चनसिंह—हिन्दी नाटक, पृ० १२८, प्र० सं० १९५८

दुर्भाग्य से अर्जुन अनुपस्थित है। पाडव 'चक्रव्यूह' मे भयभीत हैं। प्रश्न यह है कि उसे कौन तोड़े ? अभिमन्यु उद्यत होता है क्योंकि उसने अपनी माता सुभद्रा के गर्भ मे व्यूह-भेदन की क्रिया सुनी थी। वह युद्ध मे जाता है और चक्रव्यूह मे प्रवेश करता है। पर सप्त महारथियो द्वारा उसकी हत्या होती है, फलतः अर्जुन जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा करता है। उत्तरा सगर्भा है। नाटक का अन्त उत्तरा के उदर-स्थित शिशु के अवतरित होने की भावभरी प्रतीक्षा मे होता है। लेखक ने नाटक में पौराणिक पात्रों को मानवीय स्तर पर उतारने का स्तुत्य प्रयत्न किया है और इसी के साथ तत्कालीन प्रसगों को नये संदर्भ मे बुद्धिसगत अर्थ देकर समझाने की कोशिश की है। इन नयी व्याख्याओं मे से सभी मान्य नही कही जा सकती। इस नाटक की सबसे बडी विशेषता यह है कि सभी कौरवो और पाडवों को लेखक ने मानवीय रूप दिया है जिनमे सुन्दरताएँ भी हैं और दुर्बलताएँ भी है। नाटककार ने तटस्थभाव से सभी पात्रों को देखा और परखा है। न पाडव पूरे पुण्यात्मा हैं और न कौरव सर्वथा पापात्मा है। यह निरूपण वस्तुतः श्लाघनीय है। 'नारद की वीणा' की अपेक्षा 'चक्रव्यूह' नाटक कला की दृष्टि से विशेष उत्कृष्ट रचना है। संवाद-योजना, वस्तु-संगठन, चरित्राकन तथा संघर्षात्मक परिस्थिति की सृष्टि—ये सारी बातें इस नाटक में उत्कृष्ट है। इसकी अभिनय-क्षमता के विषय मे देवर्षि सनाढ्य का मत है कि "आधुनिक रगमच के साहित्यिक नाटक के रूप मे हिन्दी पौराणिक नाटक-जगत् मे 'चक्रव्यूह' महाप्राण नाटक है।"[1] किन्तु रामगोपालसिंह चौहान तो इसे 'अरगमचीय और दोषपूर्ण' मानते है।[1] वस्तुतः सनाढ्य जी का मत अतिशयोक्तिपूर्ण है। यदि इस नाटक मे थोडे-बहुत परिवर्तन किये जायँ तो यह अभिनेय बन सकता है।

'अंधा युग' (१९५६)

नई पीढी के उदीयमान साहित्यस्रष्टा धर्मवीर भारती का 'अधा युग' पाँच अंकों का एक गीति-नाट्य (Poetic drama) है जो हिन्दी गीति-नाट्य परम्परा मे नवीनता प्रस्थापित करता है। इसके पूर्व जितने भी गीतिनाट्य हिन्दी मे लिखे गये हैं वे सभी एकाकी गीतिनाट्य हैं। 'अंधा युग' पहला सपूर्ण गीतिनाट्य है। इस नाटक मे महाभारत-युद्ध के अठारहवें दिन की सध्या से लेकर प्रभासतीर्थ मे भगवान् कृष्ण की मृत्यु तक के वृत्त का समावेश किया गया है। यादवों का सर्वनाश, कृष्ण की मृत्यु, पाडवों का हिमालय की ओर प्रस्थान, धृतराष्ट्र और गाधारी का वनगमन आदि अनेक अमागलिक प्रसग इस नाटक मे सम्मिलित हैं। महाभारतयुगीन इन घटनाओं का आधार लेकर लेखक ने आधुनिक युद्धोत्तरकालीन विश्व-सभ्यता के ह्रासोन्मुख कुरूप चित्र प्रस्तुत किये हैं और उसीके साथ रक्तपात, हिंसा, विद्वेष, प्रतिशोध आदि के तत्कालीन घृणित एवम् दूषित भावों का अकन कर लेखक ने हमारे तामसी युग की वर्तमान पाशविक मनोवृत्तियो पर व्यंग किया है। बीच-बीच मे आशा, आस्था और मानवता के मूल्यों की भी लेखक ने झाँकी कराई है। किन्तु मुख्यतः 'अधा युग' विगत विश्वयुद्ध के विद्रूप, विकृत एवम् विनाशकारी प्रभाव की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। इसमे समस्त प्रसंगों एवम्

---

१. हिन्दी के पौराणिक नाटक, पृ० २११

१. हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और समीक्षा, प्र० सं० १९५९, पृ० १६०

पात्रो का प्रयोग प्रतीक-रूप मे हुआ है।

इस नाटक के अधिकाश पात्र पौराणिक है। कुछ पात्र कल्पित भी है। अश्वत्थामा, धृतराष्ट्र, युयुत्सु और सजय इसके प्रमुख पात्र हैं। कृष्ण, गाधारी कृतवर्मा, विदुर, युधिष्ठिर, व्यास आदि पात्रो का भी नाटक मे कम महत्त्व नही है। इन सभी पात्रो की विभिन्न मन:-स्थितियो को भिन्न-भिन्न प्रसगो द्वारा अत्यन्त कलात्मक ढग से लेखक ने अभिव्यक्त किया है। "बीसवीं सदी की पतनोन्मुखी सस्कृति के प्रतिनिधि इस नाटक मे युधिष्ठिर और धृतराष्ट्र हैं जो नेतृवर्ग की अंधी शक्ति-उपासना, सपूर्ण विश्व पर एकाधिकार की स्वार्थी वासना के प्रतीक हैं। एक विजयी वर्ग का है, एक विजित वर्ग का—किन्तु दोनो ही असतुष्ट है।"[1] गाधारी आज की मानवता के उस वर्ग का प्रतीकात्मक रूप है जो युद्ध की बर्बरता से विक्षुब्ध होकर 'कटु निराशा की उद्धत अनास्था' का मार्ग ग्रहण करती है। अश्वत्थामा के पात्र द्वारा लेखक ने उन राष्ट्रो की असयत और उन्मादयुक्त मनोवृत्ति का उद्घाटन किया है जिन्होन विश्वयुद्ध का प्रत्यक्ष अनुभव किया है। अश्वत्थामा की युद्धलिप्सा के सहज पाशविक भाव पश्चिम मे भी आज अलभ्य नही। कृष्ण मानवता के ज्योति-रूप है। इस प्रकार लेखक ने अन्य सभी पात्रो का प्रतीकात्मक प्रयोग किया है। समग्र गीतिनाट्य इस विशिष्ट प्रयोग के कारण अत्यत मार्मिक एव सुन्दर बन पडा है।

'अंधा युग' की कथावस्तु मे सक्रियता एवम् एकाग्रता बनाये रखने के लिए धर्मवीर भारती ने समवेत गान की योजना की है जो हमे यूनानी नाटको के 'कोरस' (chorus) का स्मरण कराती है। इस कोरस शैली पर टी० इस० एलियट, ऑडेन आदि का प्रभाव दृष्टिगत होता है। समवेत गान द्वारा नाटक की सूच्य घटनाएँ स्पष्ट होती हैं और दृश्य-परिवर्तन भी होता है। अब तक के गीतिनाट्यो मे अतुकान्त छदो का प्रयोग होता रहा है। 'अधा युग' गीतिनाट्य मे मुक्त छद (*free verse*) का उपयोग किया गया है। इससे भावा-भिव्यक्ति विशेष सबल और सफल हो सकी है।

इस नाटक मे जो आस्थाहीनता और अविश्वासो के चित्र मिलते हैं उन पर टी० एस० इलियट के 'वेस्टलैंड' का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगत होता है। श्रीपति शर्मा का कथन है कि "भारती के 'अधा युग' पर सार्त्र के 'लमोचे' की छाप है।"[2] यह योरुप के अति यथार्थवादी कलाकारो का स्वर भरता है।[3] भारती ने पश्चिमी कलाकृतियो के उत्तम तत्त्वो को आत्म-सात् कर और महाभारत की पृष्ठभूमि का सुदृढ आधार लेकर इस नाटक का सृजन किया है। मानवता के समक्ष वेदना और विवशता के साथ आशा और आस्था के भी चित्र इस गीति-नाट्य मे प्रस्तुत किये है।

'अधा युग' हिन्दी गीतिनाट्यो की परपरा को एक नया और स्वस्थ मोड़ देता है। कथानक की उत्कृष्टता, गीतिसंवादो का नाटकीय निर्वाह, प्रभावान्विति, प्रतीक-योजना आदि पर विचार करते हुए यह एक श्रेष्ठ गीतिनाट्य मे परिगणित होगा, इसमे सदेह नही।"[4]

---

१. 'आलोचना' (त्रैमासिक), अक २०, पृ० ११६
२. हिन्दी-नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव, प्र. स० १९६१, पृ० ४२३
३. उपर्युक्त, पृ० २६१
४. डॉ० बच्चनसिंह का कथन : 'हिन्दी के गीतिनाट्य' नामक लेख में। सङ्कलित 'आलोचना' त्रैमा-सिक क १९वें अक मे, पृ० १०४

अन्य पौराणिक नाटकों में विश्वंभरनाथ कौशिक का 'भीष्म' (१९१८), पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'गंगा का बेटा' (१९४०), शंभुदयाल सक्सेना का 'विद्यापीठ' (१९४४), और मोहनलाल जिज्ञासु का 'पर्वदान' (१९४४) आदि उल्लेखनीय है।

गुजराती नाटक

१९०० के पश्चात् सर्वप्रथम कवि नानालाल दलपतराम के 'भावप्रधान नाटकों' (Lyrical Drama) के द्वारा, गुजराती में अन्य कथाश्रित पौराणिक नाटकों का प्रारम्भ होता है। उन्होंने इस धारा के दो नाटक लिखे हैं : 'राजर्षि भरत' (१९२२) और 'विश्वगीता' (१९२७)। इनके अतिरिक्त कवि के अन्य नाटकों में 'जहाँगीर-नूरजहान', 'शाहानशाह अकबरशाह' आदि ऐतिहासिक तथा 'इन्दुकुमार', 'जया और जयन्त' आदि सामाजिक नाटक विशेष महत्त्वपूर्ण हैं जिनकी विवेचना यथास्थान आगे की जायगी।

'राजर्षि भरत'

महाभारत के आदिपर्व में[1] शकुतला और दुष्यन्त के पुत्र भरत का उल्लेख है जिसने अपनी शक्ति और नीति द्वारा समस्त पृथ्वी के राजाओं को अपने अधीन कर लिया और जो चक्रवर्ती सार्वभौम सम्राट् बना। इस प्रतापी राजा भरत की कीर्ति सर्वत्र फैल गई और उसी के नाम पर उसका वंश 'भरतवंश' कहलाया। इसी कथा का आधार लेकर कवि नानालाल ने राजा भरत की महानता और सच्चरित्रता की प्रशस्ति-गाथा 'राजर्षि भरत' नाटक में वर्णित की है। इस नाटक का प्रयोजन भरत के भव्य पात्र द्वारा भारतवर्ष की जनता को 'आर्यत्व की एकता और लोक-कल्याण की महत्ता का संदेश देना' है। कवि ने इस नाटक को 'उत्तरशाकुतला' के नाम से भी अभिहित किया है।[2] 'राजर्षि भरत' त्रिअंकी नाटक है और तीनों अंक पुनः दृश्यों में विभाजित हैं। इस पद्यात्मक नाटक में रंगमंचीय सूचनाएँ गद्य में दी गई हैं और सम्वाद अतुकांत छन्दों में हैं। बीच-बीच में कवि की उत्कृष्ट कोटि की कविताएँ भी पायी जाती है।

कवि नानालाल का यह नाटक 'दृश्यकाव्य' के अंतर्गत नहीं आता। इसे 'श्राव्य' कहा है। इसमें रंगमंचीय गुणों का अभाव है। कवि के अन्य नाटकों की भाँति यह नाटक भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के नियमों का परिपालन नहीं करता, प्रत्युत यूरोपीय रोमांटिक पद्धति के नाटकों की परम्परा का निर्वाह करता है। इसमें काव्य-तत्त्वों और नाट्य-तत्त्वों का समन्वय हुआ है। नानालाल मूलतः कवि हैं। उनकी कवि-प्रतिभा नाटककार पर सदा हावी रहती है। इस नाटक में भी कवि की भव्य कल्पनाओं, उच्च भावनाओं, महान् स्वप्नों तथा दिव्य संदेश का सर्वत्र परिचय मिलता है। इसमें यथार्थ जीवन की ठोस समस्याओं और वास्तविक संघर्षों का नितांत अभाव है। नाटक में केवल कल्पना-लोक के रमणीय चित्र प्रत्यक्ष होते हैं। अपने इस प्रकार के नाटकों की शैली को कवि ने 'डोलनं शैली' के नाम से अभिहित किया है। इस रचना में संस्कृत परिपाटी के अनुसार सूत्रधार, नांदी, मंगलाचरण और सुखांत भावना का भी समावेश हुआ है। इस तरह की नवीन शैली और नई भावना से समन्वित

---

१. महाभारत : आदिपर्व, अध्याय ७४, श्लोक १२६

२. 'राजर्षि भरत' नाटक : नानालाल दलपतराय कवि, प्र० सं० १९२२, पृष्ठ २

नानालाल का 'राजर्षि भरत' नाटक नई परम्परा का प्रारम्भकर्त्ता है।

'विश्वगीता' (१९२७)

कवि श्री नानालाल की विशिष्ट नाट्यसृष्टि में 'विश्वगीता' नवीन रचना-प्रयोग है।[1] इसकी कथावस्तु किसी एक प्रसग या पात्र से सम्बन्धित नहीं है। इसलिए इस कृति की गणना अन्य तथाकथित नाटकों में की गई है। पौराणिक ग्रन्थों से कुछ प्रसगों को लेकर उन्हें भाव की एकता में पिरोने का इसमें प्रयत्न किया गया है। कवि ने स्वयम् प्रस्तावना में कहा है कि "इस नाटक (विश्वगीता) में न देश काल की एकाग्रता है और न कथावस्तु की कार्य-कारण-सकलना की एकाग्रता है, इसमें केवल रस-एकाग्रता निभाई गई है। त्रिलोक की अणुसृष्टि के अनुकरण सा यह नाटक किसी अदृश्य भाव-एकाग्रता की शृंखला में सगठित है।"[2] इस नाटक में शुकदेवजी का यात्रा-भ्रमण मध्यवर्ती घटना है। समग्र नाटक में उपद्रष्टा के रूप में महामुनि परम समर्थ योगर्षि पतजलि हैं जो ब्रह्माड का, ससार का चक्रवर्ती सत्य जानने को उद्यत हैं और नाटक के अन्त में उन्हें जिस सत्य का साक्षात्कार होता है वह है—'चित्तवृत्तिनिरोध योग।'

यह नाटक तीन अकों में विभाजित है। प्रवेशों (दृश्यों) का भी प्रयोग किया गया है। नादी, सूत्रधार, नटी, प्रस्तावना, विष्कभक, आदि सस्कृत नाटक के तत्त्वों का इसमें समावेश हुआ है। नाटक का सुख में पर्यवसान होता है। पहले अक का नाम 'दाद जूना प्रश्नो' (अति प्राचीन प्रश्न) है। दूसरे का 'परापूर्व ना मथन' (परापूर्व के मथन) और तीसरे का 'त्रिकाल पर सनातनता' है।

पहले अक में पृथ्वी पर होने वाले अत्याचारों और अन्यायों का निरूपण है। इस अक के पहले प्रवेश (दृश्य) में 'सीताहरण' का प्रसग आता है जिसकी सूचना विष्कभक द्वारा दी गई है। 'सीता हरण' के अधिकाश वर्णन वाल्मीकिरामायण पर आधृत हैं। लक्ष्मण मर्यादा-रेखा खीचकर चले जाते हैं और रावण त्रिदडी ऋषि का वेश बनाकर 'भिक्षा देहि' करता हुआ आता है। उनुचित शब्दोच्चार के पश्चात् वह सीताहरण करता है। दूसरे प्रवेश में 'शाकुतल' नाटक का वह प्रसग वर्णित है जहाँ दुर्वासा अतिथिसत्कार न पाने पर प्रणय-मुग्ध शकुन्तला को शाप देते हैं। तीसरे प्रवेश में कृष्ण द्वारा मदाध अत्याचारी राजा कस के धनुष-भग की कथा कही गई है। अजामिल और चाडालिनी की भूलों के बीच जगत् के बन्धन होने की चर्चा और उसका समाधान चौथे प्रवेश में आता है। पाँचवाँ प्रवेश द्रौपदी के वस्त्रहरण से सम्बन्धित है।

तदनतर दूसरा अक आता है। इसके पहले प्रवेश में सिद्धलोक की महासिद्धियों द्वारा भौतिक सिद्धियों की प्राप्ति का उल्लेख है। दूसरे में शकराचार्य और मडनमिश्र का शास्त्रार्थ वर्णित है। इस शास्त्रार्थ में प्रतिपादित तर्क भ्रामक होते हुए भी यह दृश्य अत्यन्त सुन्दर है।[3] तीसरा प्रवेश एक भव्य घटना का अकन करता है इसमें क्रौंचवध-दर्शन से अभिभूत महा-

---

१. गुजराती साहित्यनी रूपरेखा · विजयराय कल्याणराय वैद्य, द्वि० स० १९४०, पृ० २७८
२. विश्वगीता नाटक · नानालाल दलपतराय कवि, प्र० आ० १९२७, पृ० ११
३ श्री रा वि पाठक, 'आलोचना' १९५४, पृ० २३५

मुनि वाल्मीकि का शोक श्लोकत्व प्राप्त करता है। चौथे मे शुकदेवजी का प्रवेश होता है। गगानदी के दव-घाट पर अप्सराएँ नहा रही थी। शुकदेवजी वहाँ से गुजरते हैं पर नग्न अप्सराएँ अपने तन को ढँकने का प्रयत्न नही करती। तत्पश्चात् वेदव्यास का उस तरफ आगमन होता है। अप्सराएँ लज्जित होकर अपना तन ढँकने लगती हैं। हिन्दुओ के कामविजय का भव्य आदर्श कवि ने शुकदेवजी के इस प्रसग द्वारा प्रस्तुत किया है जो वस्तुत श्लाघनीय है। पाँचवाँ प्रवेश सभी अवतारो और पैगम्बरो के उपदेशो की व्यर्थता का कारण पेश करता है। जब सर्व धर्मों का समन्वय होगा तभी 'पूर्ण ब्रह्म ज्योति' प्रगट होगी।

तीसरे अक के पहले प्रवेश मे शुक-रभा-सवाद है। दूसरा प्रवेश सनातन अश्वत्थ, जगत् की महिमा तथा मनु एवम् शुकदेव के जगत्-विषयक सवाद को निरूपित करता है। तीसरे प्रवेश मे यह बताने की कोशिश की गई है कि भौतिकता के अनिष्टो का निवारण जीवन के महान् सत्यो को अपनाने पर ही सभव है। चौथे प्रवेश म ब्रह्मतीर्थ की यात्रा का वर्णन है। मानसरोवर से राजहस ऊपर उडते जाते हैं और लौकिक बन्धनो को छोडते जाते हैं। इस प्रवेश का विशेषत आध्यात्मिकता से सम्बन्ध है। अन्तिम पाँचवें प्रवेश मे ब्रह्माड का 'महारास' दिखाया है। ब्रह्मत्व के अधिकारी शुकदेवजी तथा अन्य कई भक्त 'महारास' के दर्शनार्थ एकत्रित होते है। हिरण्यगर्भ, परब्रह्म आदि का मच पर दर्शन होता है। इस प्रकार नाटक की परिसमाप्ति होती है।

इस नाटक मे कुछ प्रसग पौराणिक है, कुछ ऐतिहासिक और कुछ दन्तकथाश्रित। इनमे न पौर्वापर्य का क्रम निभाया गया है और न कालक्रम का ही निर्वाह हुआ है। हिन्दू-धर्म के महान् सत्यो का आकलन इस नाटक मे किया गया है। इसके लिए जिन दृश्यो को पसन्द किया गया है, वे वस्तुत चमत्कारी हैं।[1] शाश्वत सत्यो को कवि ने गौरवपूर्ण भाषा म अत्यन्त आदर एवम् श्रद्धापूर्वक प्रगट किया है। यह प्रयास स्तुत्य है। पर इस नाटक का सबसे बडा दोष यह है कि इसकी कथा मे तारतम्य या सगति का नितान्त अभाव है। सुग्रथित कथावस्तु या सुयोजित प्रसग-परम्परा के अभाव मे यह हृदयगम नही बनता। केवल बुद्धिचातुर्य द्वारा कवि की कल्पना, वाक्छटा और विशिष्ट नाट्य रचना की प्रशसा की जा सकती है। अनेक प्रसगो, पात्रो, दृश्यो, गीतो, उक्तियो का अत्यन्त सुश्लिष्ट रूप नाटक की सफलता के लिए आवश्यक एवम् अनिवार्य है। 'विश्वगीता' का कवि इसे निभा नही पाया है। इस भावप्रधान गीति-नाट्य की गणना 'राजर्षि भरत' की तरह 'श्रव्य काव्य' के अन्तर्गत की जा सकती है। रोमाण्टिक शैली का यह नाटक आदर्शवादी भावनाओ के दिव्य सदेश देने वाले प्रसगो और पात्रो से समन्वित है जिसमे यथार्थ जीवन का तनिक भी चित्रण नही हुआ है। नानालाल के सभी नाटको मे ऐपिक ड्रामा' (Epic Drama) के अश दृष्टिगोचर होते हैं।[2] इसका ज्वलन्त उदाहरण यह 'विश्वगीता' है। 'डोलन शैली' म लिखित यह पद्यात्मक नाटक भावैक्य स युक्त है। इस कृति मे चारित्रिक वैशिष्ट्य या नाटकीय सघर्ष और सक्रियता का नितान्त अभाव है। इसके सवाद काव्यत्व एवम् सगीत-तत्त्व स ओतप्रोत होने के कारण इसका नाटकीय वातावरण साद्यन्त कवितामय और

---

१ आलोचना • श्री रामनारायण पाठक १९४४, पृ० २३८
२. गधाङ्कन प्रो० अनतराय रावल, पृ० १४४

रोमानी है। इस नाटक मे गीतिकाव्य के तत्वो से परिपूर्ण कतिपय सुन्दर, मनोहारी, भव्य कल्पना एवम् भावनापूर्ण गीत उपलब्ध होते हैं। कवि ने विश्वप्रश्नो की चर्चा करने वाले, सहित्त शैली के इस 'विश्वगीता' नाटक को महाकाव्य की कोटि का माना है।"[1]

कवि नानालाल के नाटको की विशेषता

कवि नानालाल ने बारह नाटक लिखे है। उपरि विवेचित 'राजर्षि भरत' और विश्वगीता' मे तथा अन्य सभी ऐतिहासिक एवम् पौराणिक नाटको मे जो सामान्य नाट्यलक्षण उपलब्ध होते है उनका प्रतिपादन यहाँ किया जा रहा है। नानालाल भावनाशील कवि हैं। व सदा भव्यता के उपासक रहे हैं। फलत उनके सभी नाटक भावना-प्रधान है और उनमे Epic Drama के कतिपय अश दृष्टिगोचर होते है।[2] जीवन की यथार्थता का चित्रण उनके नाटकों म नही मिलता, प्रत्युत आदर्शवादी भव्य भावनाओ के दिव्य सदेश देने वाले प्रसग एव पात्र उनमे निरूपित किये जाते है। अपने नाटको के द्वारा नानालाल ससार को सात्विकता तथा आध्यात्मिकता का उपदेश देना चाहते है। उनके नाटक आत्मलक्षी हैं। उनमे वस्तुतत्व गौणत, चितनतत्व प्रधानत अकित रहता है। अत य नाटक सामान्य नाटको क मानदडो द्वारा मूल्याकित नही किय जा सकत। कवि न अपने 'इन्दुकुमार' नाटक की प्रस्तावना मे उस नाटक की शैलीस्वरूप के विषय म जो कुछ कहा है वह उनके अन्य सभी नाटको के विषय मे भी अक्षरश सत्य है।" यह भावप्रधान (Lyrical Drama) है। भरत नाट्यशास्त्र के भेदो का विचार करने पर यह 'दृश्य' नही प्रत्युत 'श्राव्य' नाटक है। यूरोपीय रसशास्त्र की दृष्टि से देखा जाय तो यह क्लासिकल नही अपितु रोमटिक पद्धति पर आधृत है। इस नाटक (इन्दुकुमार) की शैली गोथे (कृति फाउस्ट) और शैली (कृति प्रोमिथियस अनबाउण्ड—Prometheys Unbonud) की नाट्यशैली क समान है, न कि शेक्सपियर की शैली के।'[3] कवि ने स्वयम् अपनी इस विशिष्ट काव्यत्वपूर्ण नाट्यशैली को 'डोलनशैली' का नाम दिया है।[4] इसे 'अपद्यागद्य शैली' भी कहते है जो न पूर्णत पद्यात्मक है और न पूर्णत गद्यात्मक। इसमे एकरसता अधिक रहती है। नानालाल की इस डोलनशैली की सबस बडी सीमा यह है कि आरोह अवरोहो के अभाव के कारण इसम विविधतापूर्ण पात्रो के अनुकूल सवादो की योजना करन की क्षमता नही रहती। इसी कारण कवि के नाटको मे अभिनय तत्वो का नितात अभाव रहता है। अत कवि न स्वय अपने नाटकों को 'श्राव्य' कहा है।

नानालाल के नाटको मे कथानक की एकता का अभाव रहता है तथा भावैक्य की प्रधानता रहती है। उसी के द्वारा प्रभावान्विति पैदा की जाती है। पात्र भावो के प्रतिनिधि रूप होते हैं। सवादो म काव्य एवम् सगीत तत्त्व का अपूर्व सयोग पाया जाता है। नाटको का वातावरण साद्यन्त कवित्वपूर्ण एवम् रोमाटिक रहता है। भावना और कल्पना के अतिरेक के कारण नाटको के कार्य-व्यापार मे वडी शिथिलता आ जाती है।

---

१. कुरुक्षेत्र अर्पण अने प्रस्तावना, ले० नानालाल दलपतराय कवि, पृ० २४
२ गधाञ्जन • अनतराय रावल, पृ० १४४
३ 'इन्दुकुमार'—प्रस्तावना
४ इन्दुकुमार'—प्रस्तावना

कवि के नाटकों का सर्वाधिक आकर्षण उनके मधुर संगीत-प्रधान गीत हैं जिनमें गीतिकाव्य के सभी तत्त्व उपलब्ध होते हैं। इससे ये नाटक उन कविता प्रधान नाटकों (Lyrical Drama) की कोटि में अन्तर्गत आ गये हैं जिनमें नाट्यात्मकता के पद पर कविता आसीन हो जाती है। कवि ने स्वयं अपने नाटकों को संभवत इसीलिए 'काव्य' नाम से संबोधित किया है।[1] इन नाटकों का प्राणतत्त्व कविता है। गुजराती नाटक साहित्य को कवि नानालाल के ये नाटक विशिष्ट देन हैं।[2]

कन्हैयालाल मुंशी के पौराणिक नाटक

सन् १९१५-१६ से प्रारम्भ होने वाले नवीन युग में गुजरात के इतिहास में दो घटनाएँ असाधारण महत्त्व रखती है एक, सार्वजनिक क्षेत्र में गांधीजी का आगमन और दूसरी साहित्यिक क्षेत्र में क० मा० मुंशी का प्रवेश। दोनों युगान्तरकारी प्रतिभाएँ प्रमाणित हुईं। गांधीजी ने समस्त सार्वजनिक जीवन में अभूतपूर्व क्रांति पैदा कर दी और कन्हैयालाल मुंशी ने गुजराती गद्य-साहित्य में आमूल परिवर्तन कर दिया। दोनों ने अक्षरश युगद्रष्टा और युगस्रष्टा का नाम चरितार्थ किया।

मुंशी जी सर्वतोमुखी प्रतिभा के साहित्य स्रष्टा हैं। इन्होंने उपन्यास, नाटक, कहानी, इतिहास, आत्मकथा आदि सभी साहित्य विधाओं में उत्कृष्ट रचनाएँ की हैं और गुजराती साहित्य में सदा के लिए अपना अनन्य स्थान बना लिया है। गुजराती में गद्य-प्रधान ललित वाङ्मय के सर्वाधिक यशस्वी स्रष्टा मुंशीजी हैं।[3] मुंशीजी मूलत नाट्यकार हैं। इनकी समस्त गद्य-रचनाओं में 'नाट्यकार मुंशीजी' न्यूनाधिक रूप में अवश्य उपस्थित रहते हैं। नाट्य-तत्त्व इनकी कारयित्री प्रतिभा का अभिन्न अंग है। मुंशीजी के नाटकों में पौराणिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक विषयों का समावेश हुआ है। पौराणिक नाटक भावना-भक्त मुंशी की उत्कृष्ट सृष्टि हैं।[4] इन्होंने अपने पौराणिक नाटकों में आधुनिक युग की विभिन्न एवम् विशिष्ट भावनाओं का निरूपण किया है। भारतीय संस्कृति का गौरवमय अतीत अपने समुज्ज्वल रूप में अत्यन्त कलात्मक ढंग से इन नाटकों में प्रगट हुआ है और इसी के साथ लेखक की नितान्त मौलिक उद्भावनाएँ भी इनमें प्रगट हुई हैं।" यह केवल गुजराती साहित्य के लिए ही नहीं, संपूर्ण भारतीय साहित्य के लिए गर्व की वस्तु है।"[5]

मुंशीजी के समस्त पौराणिक नाटक तीन भागों में प्रकाशित हुए हैं पौराणिक नाटकों—लोपामुद्रा, भाग २ और ३ तथा लोपामुद्रा भाग ४—इन नाटकों की कथाओं का आधार महाभारत-पुराण हैं।[6] पुराणों ने इन कथाओं की कालावधि प्राचीनतम मानी है। मुंशीजी ने उपलभ्य समग्र साहित्य को एकत्रित कर अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा उसे कलात्मक रूप प्रदान कर तत्कालीन वैदिक-पौराणिक वातावरण के समन्वित रूप को तादृश्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। आवश्यकतानुसार इन्होंने पौराणिक पात्रों और प्रसंगों के

---

१ "हुं तो कही-कही ने थाक्यो क म्हारां बारे नाटको काव्यो छे," गधाचत, पृ० १६१
२. 'गधाचत', अनंतराय रावल, पृ० १६१
३ श्री विजयराय कल्याणराय वैद्य, 'गुजराती साहित्यनी रूपरेखा,' द्वि० आ० १९४९, पृ० ३१९
४ साहित्य-विहार, प्रो० अनंतराय रावल, द्वि० आ०, १९५६, पृ० २०४
५ श्री सीताराम चतुर्वेदी मुंशीजी और उनकी प्रतिभा प्र० सं०, पृ० ५९
६ 'पौराणिक नाटको उपोद्घात'—ले० क० मा० मुंशी, बीजी आवृत्ति, १९४२, पृ० ५

निरूपण मे परिवर्तन एवम् परिवर्द्धन भी किया है, ताकि वे अधिक नाट्यक्षम बन सकें। मुशीजी का पहला पौराणिक नाटकों का सग्रह १६३० मे प्रकाशित हुआ जिसमे 'पुरदर-पराजय', 'अविभक्त आत्मा', 'तर्पण' और 'पुत्र समोवडी'—ये चार नाटक सम्मिलित है।

'पुरन्दर-पराजय'

यह नाटक च्यवन ऋषि के साथ सुकन्या के विवाह का प्रसग लेकर रचा गया है। क्षत्रिय पुरोहित भृगुओ के नायक, सामवेद के मन्त्रद्रष्टा च्यवन इन्द्रभक्त पथको को पराजित करते हैं और शार्यातो को आनर्त देश मे बसाते हैं। इन्द्र कुपित होकर उन्हे वृद्धत्व की अतिम अवस्था प्राप्त करने का शाप देता है, अतएव च्यवन क्षीण-जर्जरित हो जाते हैं। इन्द्र और भृगुओ मे सतत सघर्ष चलता रहता है। भृगु अपने नायक च्यवन का उत्तराधिकारी पाने के लिए जराग्रस्त महर्षि च्यवन का शर्याति की पुत्री सुकन्या से विवाह करा देते हैं। सुकन्या वृद्ध और सज्ञाहीन च्यवन के साथ रक्खी जाती है। इस असह्य स्थिति से मुक्त होने के लिए नवयौवना सुकन्या भागना चाहती है, पर अग्निदेव उसे रोकते हैं। सुकन्या कामवासना से प्रपीडित है। वह अश्विनो के पास उसे वधू बनाकर भगा ले जाने का सदेश भेजती है। जब अश्विनों का उसके अपहरण के लिए आगमन होता है तब वह भागने को उद्यत नही होती। उसके मन मे आर्यो के विवाह-बधन की पवित्रता, दापत्य-जीवन की भव्यता एवम् गरिमा और सामाजिक व्यवस्था के सुचारु सचालन की आवश्यकता की भावना पैदा होती है। उसे पश्चात्ताप और आत्मग्लानि होती है। विदवत के समक्ष नतमस्तक होकर सुकन्या अपने अपराध के लिए देहात दड पाना चाहती है। विदवत और अश्विन् इससे द्रवित हो जाते है। च्यवन के प्रताप से भृगुओ की विजय होती है। पुरदर पराजित होता है और च्यवन ऋषि पुन. यौवन प्राप्त करते हैं। इस प्रकार इस त्रिअकीय नाटक का सुखान्त होता है। इस नाटक द्वारा मुशीजी यह प्रतिपादित करते हैं कि सयम द्वारा ही समाज का वास्तविक उत्कर्ष हो सकता है। वैयक्तिक प्रेम और सुख की अपेक्षा समाज और राष्ट्र की भावनाएँ और परपराएं अधिक महत्त्व रखती हैं। व्यक्ति को समाज के हित मे अपनी सुविधाओ का उत्सर्ग करना ही चाहिए। आधुनिक युग की यह सामाजिक भावना इस नाटक मे केन्द्रस्थ है। इसी के साथ लेखक ने यह भी निर्देश किया है कि नारी की पवित्रता, नारी का पातिव्रत उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर है। बलपूर्वक थोपा हुआ पातिव्रत किसी मूल्य का नही। इस भावना का सुन्दर निरूपण सुकन्या के चरित्र द्वारा नाटक मे हुआ है। सुकन्या के दारुण अत सघर्ष का, उसकी भावना और कर्तव्य का मानसिक तुमुल युद्ध लेखक ने सफलतापूर्वक प्रभावोत्पादक ढग से अकित किया है। नाटक के अतिम भाग मे सुकन्या का अपनी आत्मिक शक्ति से कर्तव्य को अपनाकर वासनाओ पर विजय पाना वस्तुत आदर्शोन्मुखी प्रसग है, जो नाट्यात्मक ढग से प्रस्तुत किया गया है। इससे सुकन्या का चरित्र ज्यादा उच्च और शुभ्र बना है। इसमे हमे मुशीजी के मनोवैज्ञानिक ज्ञान और नाट्यात्मक सूझ का अच्छा परिचय मिलता है।

'अविभक्त आत्मा'

इस वेदकालीन वस्तुप्रधान नाटक मे आर्यो का उद्गम स्थान उत्तरी ध्रुव का प्रदेश माना है। जब उत्तरी ध्रुव मे हिमवर्षा होती है, तब यम वैवस्वत आर्यों को दक्षिण मे ले जाते है और मनु द्वारा वहाँ से वे भारत मे लाये जाते हैं। प्राचीन सप्त ऋषि नक्षत्र-मडल

मे परिणत हो गए हैं। वरुण आर्यो को यह वचन देते हैं कि नक्षत्र-मडल के ये सभी महान् ऋषि फिर कभी जीवित रूप म प्रगट होंगे और जब ऐसा होगा तभी आर्य जाति सुखपूर्वक एक स्थान पर स्थायी हो सकेगी। छ ऋषियो का तो जन्म हो चुका है पर सातवें ऋषि का जन्म शेष रह गया है। वरुण का यह भी कथन है कि यदि सौ वर्ष के भीतर सातवे ऋषि का जन्म नही हुआ तो नक्षत्र-मडल मे फिर कभी कोई परिवर्तन नही होगा और आर्यों का विनाश हो जायगा। परिणामस्वरूप, आर्य अधिक चिंतित है। सातवे ऋषि के पद के लिए दो व्यक्ति आकाक्षी हैं तरुण तपस्वी वसिष्ठ ऋषि और मेधातिथि की यशस्विनी पुत्री अरुन्धती। सयोग से दोनो मे प्रेम और आकर्षण का उद्भव होता है और इससे सातवे ऋषि के उदित होने और स्थान पाने की आर्य-समस्या और भी जटिल बनती है। एक दिन वसिष्ठ अरुन्धती से विवाह का प्रस्ताव करते हैं, पर अरुन्धती तत्पर नही होती। उसे विवाह करना अभीप्ट मार्ग का अवरोधक प्रतीत होता है। वसिष्ठ को जब यह पता चलता है कि सप्तर्षि-पद के लिए अरुन्धती उत्सुक है तो वे अपने प्रयत्न को त्याग देने का वचन देते हैं। उनकी दृष्टि मे यह त्याग नही, प्रेमियो की आत्माओ के अविभक्त रूप का प्रमाण है। तदनतर अरुन्धती के लिए वे सप्तर्षिपद पा जाने पर भी उसे स्वीकार नही करते। दाम्पत्य की सिद्धि के समक्ष वसिष्ठ आर्यो के परम वाछनीय सप्तर्षिपद को तुच्छ मानते हैं। इस कारण ऋतु उन्हे शाप देते है। जब अरुन्धती यह सवाद सुनती है, तो विह्वल और उद्भ्रात-सी हो जाती है। वह तुरन्त अपना निश्चय बदल कर शापित वसिष्ठ के साथ चल देती है। सुन्दर एकान्त स्थान मे आश्रम स्थापित किया जाता है। वहाँ भी शाप के कारण दारुण क्लेश सहते हैं। अततोगत्वा उनकी अनन्य प्रणय-साधना के कारण उनकी अविभक्त आत्मा स्पृहणीय सप्तर्षि-पद प्राप्त करती है और वे 'आर्य-अन्तर के विधाता' बनते हैं। इस प्रकार चार अकों के साथ एक विष्कभक वाले इस नाटक मे मुशीजी ने दाम्पत्य जीवन की 'उच्चाशयता तथा सर्वोपरिता' प्रतिष्ठित की है। स्त्री और पुरुष दो नही, एक है। दोनो परस्पर के सहयोग के अभाव मे अधूरे ही हैं। दोनो के स्नेह-मिलन मे जीवन की पूर्णता प्रगट होती है। पति-पत्नी के दाम्पत्य स्नेह के अद्वैत रूप मे ही दोनो की 'अविभक्त' आत्मा प्रगट होती है। पद, प्रतिष्ठा, सपत्ति, समृद्धि आदि सभी वस्तुएँ स्नेह-ससार के समक्ष गौण हैं। एकनिष्ठ स्नेह-साधना को प्रत्यक्ष करनेवाला 'अविभक्त आत्मा' नाटक गुजराती नाट्य-साहित्य की महनीय कृति है।

'तर्पण'

इस नाटक की कथा पुराणो और महाभारत मे मिलती है। हैहयो और भार्गवो का युद्ध चल रहा है। भार्गव कुल की एक स्त्री इस युद्ध से किसी प्रकार अपने इकलौते बेटे को उरु (जांघ) मे छिपाकर बचा लेती है। उसमे छिपाये जाने के कारण वह और्व कहा जाता है। और्व अपना समस्त जीवन हैहयो के आक्रमण से आर्यावर्त की सुरक्षा करने मे व्यतीत करता है। अन्त म उसे आर्य राजाओ के अन्तिम अवशेष-रूप राजपुत्र सगर प्राप्त होता है। हैहयो के विनाश और आर्यावर्त के सरक्षण की कामना से और्व सगर को पाल-पोसकर बडा करता है। सगर का राज्य वीतद्रष्टा के अधीन है। उसे पुन प्राप्त करने के लिए और्व सगर को उद्यत करता है। किन्तु विधि का विधान कुछ और ही है। हैहय नगर के राजा वीतहव्य की पुत्री सुपर्णा यमुना मे नौका-विहार करती है। और्व पड्यन्त्र से सुपर्णा को

नौका के साथ पानी मे डुबा देता है। इस षड्यन्त्र का सगर को कोई ज्ञान नही है। अत वह सुवर्णा को बचा लेता है। दोनो एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते है।

एक दिन और्व भव्य समारभ करके सगर को आर्यावर्त का राजा उद्घोषित करता है और हैहयो पर आक्रमण कर उनका विनाश करने का आदेश देता है। सगर सुपर्णा के प्रेमाकर्षण के कारण गुरुदेव का आदेश सुनकर बेचैन हो जाता है। उसके मन म भावना और कर्त्तव्य का सघर्ष होता है। और्व शत्रुओ के रक्त से पितृ-तर्पण करने को कटिबद्ध है। वह सगर से सुवर्णा और वीतहव्य की हत्या कर उनका रक्त गुरु दक्षिणा के रूप मे देने को कहता है। सगर किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है।

इधर वीतहव्य सौराष्ट्र के राजा को सुवर्णा के साथ विवाह के लिए निमन्त्रित करता है, पर और्व द्वारा उसकी हत्या होती है। फलत सगर और सुवर्णा के स्नेह-लग्न की सभावना दृष्टिगत होती है। एक दिन जब दोनो नदी-तट पर एकान्त मे मिलते हैं, सगर साहस बटोर कर सुवर्णा से भावी युद्ध की तथा और्व द्वारा हैहयो के विनाश की बात कह देता है। दोनो चिंतित एवम् व्यग्र होते हैं और भागने लगते हैं। उसी समय और्व का वहाँ आगमन होता है। उसके हाथ मे जामदग्न्य अस्त्र है। उसे देते हुए वह सगर को युद्ध का आदेश देता है। सगर विक्षिप्त-सा वीतहव्य के महल म घुस जाता है और खून से लथपथ वीतहव्य का सिर लाकर गुरु के चरणो मे प्रस्तुत करता है। सुवर्णा वही गिरकर प्रेम की बलिवेदी पर अपने प्राण त्याग देती है। और्व कृतकृत्यतापूर्वक पितृ-तर्पण को उद्यत होता है। लोग चक्रवर्ती सगर की जय पुकारते हैं, पर और्व आर्यावर्त की जय कहता है। अत्यन्त खिन्न-हतप्रभ सगर अनायास ही कह उठता है—'आर्यावर्त की जय!' इस प्रकार इस पाँच अको के 'तर्पण' नाटक का करुण अत होता है। लेखक ने इस अतिकरुण नाटक मे व्यक्तिगत प्रेम और राष्ट्रीय हित के बीच सघर्षात्मक परिस्थित का सृजन कर अत मे यह प्रतिपादित किया है कि किसी भी स्थिति मे राष्ट्र का हित सर्वोपरि माना जाना चाहिए। अपनी प्रियतमा सुवर्णा की बलि देकर भी सगर अततोगत्वा 'आर्यावर्त्त की जय' की उद्घोषणा करता है। इसम सगर की विवशता, वेदना और व्यग्रता के भाव अवश्य हैं। सगर का प्रेम-द्रोह भी इसमे प्रगट होता है। पर यह सब होते हुए भी मुशीजी ने देश के प्रति कर्त्तव्य की प्रधानता सिद्ध की है जो आज हमारा युग-धर्म है। इसम यह भी सकेत है कि आर्यावर्त्त की स्वाधीनता के लिए यदि हिंसा का प्रयोग करना पडे तो वह हिंसा किसी प्रकार निन्दनीय या त्याज्य नही है। इस विचार को नाटक में और्व द्वारा प्रस्तुत कर मुशीजी सभवत यह प्रस्थापित करना चाहते हैं कि स्वराज्य प्राप्ति के लिए साध्य शुद्धि को ही दृष्टि समक्ष रखना चाहिए, न कि साधन शुद्धि। अग्रेजी शासन के समय स्वराज्य प्राप्ति क लिए हिंसा अहिंसा सम्बन्धी विवाद ग्रस्त प्रश्न पर मुशीजी ने यहाँ अपना मत प्रदर्शित किया है।

'पुत्र समोवडी'

पौराणिक युग का उषा काल है। मनु की सन्तान (मानव) युद्ध करती हुई इधर-उधर भटकती रहती है। देव और दानव भी युद्ध म प्रवृत्त है। सर्वत्र अविरत युद्ध चल रहा है।

महर्षि शुक्राचार्य दानवो क पुरोहित हैं जो मृतको को पुनर्जीवित करन वाली 'सजीवनी' विद्या के ज्ञाता हैं। उनकी पुत्री देवयानी परम तेजोमयी और लावण्यवती है। देवो के पुरो

हित आचार्य बृहस्पति का पुत्र कच शुक्राचार्य के पास 'सजीवनी' विद्या सीखने जाता है। संयोग से कच और देवयानी मे प्रेम हो जाता है। शुक्राचार्य चिन्तित है।

दानवो के राजा वृषपर्वा को कच का शुक्राचार्य का शिष्यत्व प्राप्त करना अखरता है, पर शुक्राचार्य दृढ है। वृषपर्वा और इन्द्र मे युद्ध चल रहा है। इन्द्र युद्ध-समाप्ति की इच्छा प्रगट करता है, पर शुक्राचार्य वृषपर्वा को युद्ध मे प्रवृत्त रहने का आदेश देते है।

कच-देवयानी के प्रणय के कारण शुक्राचार्य बहुत व्यग्र हैं। वे पुत्रविहीन हैं। उन्हें पुत्री को भी खोने की आशका होती है। देवयानी उन्हे आश्वस्त करती है कि वह पुत्र की भाँति सदा उनके साथ रहेगी। कच-देवयानी प्रेम से वृषपर्वा रुष्ट है। अतः वह कच की हत्या कर उसका मास सोमरस के साथ शुक्र का पिला देता है। शुक्राचार्य और देवयानी को इस क्रूर कृत्य का ज्ञान हो जाता है। देवयानी अतीव दु खी होती है, इसलिए शुक्राचार्य उदरस्थ कच को 'सजीवनी मत्र' सिखा कर पुनर्जीवित करते हैं। फिर कच की सहायता से वे स्वयम् भी जी जाते हैं। तदनतर पितृ-भक्ता देवयानी द्वारा कच के विवाह-प्रस्ताव के ठुकराये जाने पर कच अपने स्वर्ग-लोक की ओर प्रयाण करता है। इस पर शुक्राचार्य उसे शाप देते हैं कि "संजीवनी मत्र कभी तुझे फलदायी सिद्ध न होगा।" तब कच भी शुक्राचार्य को शाप देता है कि—"देवयानी सवर्ण वर पाने से वंचित रहेगी।" कच के प्रस्थान के पश्चात् तीन लोक की स्वतन्त्रता की आकांक्षिणी देवयानी ययाति से विवाह कर लेती है। पर वह उससे यह वचन ले लेती है कि इन्द्रासन प्राप्त किये विना वे दापत्य सुख नही भोगेंगे। पन्द्रह वर्ष के युद्ध के बाद ययाति विजयी होता है। ययाति मदाध होकर इन्द्र से दुर्व्यवहार करता है फलतः वह पृथ्वी पर फेंक दिया जाता है। देवयानी को उसके प्रति घृणा हो जाती हैं और वह सदा के लिए अपने पिता शुक्र के साथ पुत्रतुल्य (पुत्र समोवडी) बनकर रहना पसन्द करती है। अन्त मे पिता और पुत्री दोनों अनन्त की ओर चल देते हैं। इस छ अक वाले नाटक मे मानव-जीवन की शक्तियो और सीमाओ का उद्घाटन करते हुए मुशीजी ने 'तर्पण' की भाँति यहाँ भी यह आदर्श प्रस्थापित किया है कि कर्तव्य की बलिवेदी पर प्रणय का उत्सर्ग करना आवश्यक है। देवयानी तीन लोक की स्वतन्त्रता के लिए और उसी के साथ अपने पिता के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाने के लिए अपने प्रेमी कच और पति ययाति का परित्याग करती है और इस त्याग मे 'तर्पण' के सगर की वेदना और विवशता नही है, पर सकल्प की शक्ति और दृढता है। देवयानी का पात्र मुशीजी की अद्वितीय सृष्टि है। उसका प्रबल मनोमथन, उसका प्रतापी व्यक्तित्व और उसकी अदम्य शक्ति वस्तुतः निर्व्याज स्तुति की अधिकारिणी है।

मरे हुए लोगो को पुनर्जीवित करने के लिए शुक्राचार्य कच को 'सजीवन मन्त्र' बताते है :

"डरो नही, हटो नही, झुको नही, लडो; सदा पराजय मे या विजय मे, इस जन्म मे या मृत्यु मे, और अन्त मे परलोक मे।"[1] लेखक ने शुक्राचार्य के इस 'संजीवन मत्र' द्वारा अग्रेजो की दासता की शृखलाओ मे जकडी हुई भारत की प्रजा को मुक्ति का मन्त्र दिया है और इस प्रकार उन्होने अपना राष्ट्र-धर्म निभाया है। देवलोक, दानवलोक और मानवलोक के भेदो को मिटाकर सर्वत्र समानता स्थापित करने की शुक्राचार्य की भावना के पीछे मुंशी

१. 'पौराणिक नाटको' : 'पुत्र समोवडी' नाटक—क० मा० मुंशी, द्वि० सं० १९४२, पृ० २१४

का हमारे सामजिक और राजनैतिक जीवन में ममता-सस्थापन का आदर्श प्रगट हुआ है। इस प्रकार 'पुत्र समोवडी' नाटक राष्ट्रीयता और मानवता की उच्च आकाक्षाएं उद्घाटित करता है।

'पौराणिक नाटको' नामक इन चार नाटको के सग्रह के प्रकाशन के पश्चात् मुशी जी ने 'लोपामुद्रा' के चार भागो की रचना की। पहले भाग के इतिवृत्त को उपन्यास का रूप दिया है, शेष तीन भाग नाटकाकार हैं। इन चारो भागो मे लेखक ने वर्णभेद की समस्या को उठाया है। आर्यों और दस्युओ की कथा को लेकर यह प्रश्न प्रस्तुत किया गया है कि हमारे द्वारा जातिभेद, वर्णभेद और रगभेद क्यो निभाय जा रहे हैं ? इनसे क्या कल्याण है ? क्या हम समानता का सृजन नही कर सकते ?—इन प्रश्नो के उत्तर इन नाटको मे ही समाविष्ट हैं। 'लोपामुद्रा' के तीन भागो के तीन नाटक 'शबर-कन्या', 'देवे दीधेली' और 'महर्षि विश्वामित्र' एक ही कथा के तीन अश हैं। अत उचित यह होगा कि सर्वप्रथम तीनो के कथा-अशो को अकित कर तत्पश्चात् एक साथ उनका विवेचन प्रस्तुत किया जाय।

'शबर-कन्या' (१६३३)

इस नाटक मे आर्य और अनार्य (दस्यु) के युद्ध का चित्र है। दस्यु राजा शम्बर विजयी होकर लौटता है और विश्वरथ, ऋक्ष तथा लोपामुद्रा बदी के रूप मे लाये जाते हैं। लोपामुद्रा असाधारण सुन्दरता और तेजस्विता की देवी है। वह शम्बर को अपने अपहरण के लिए निर्भयतापूर्वक लताडती है। विश्वरथ से लोपामुद्रा की भेंट होती है। विश्वरथ उदार चरित है। वह सर्वगुण-सम्पन्न लोपामुद्रा के वात्सल्य का अधिकारी बनता है। उग्रा शम्बर-कन्या है। यह विश्वरथ के प्रति आकर्षित होती है। ऋक्ष लोपामुद्रा के प्रति श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखता है, पर उसका चरित्र बडा चचल और हास्यप्रद है। लोपामुद्रा उसे अपने आधिपत्य मे रखती है। शम्बर पुन आर्यों से पराजित होता है। उग्र भैरव यह धारणा करता है कि पराजय का कारण इष्टदेव का कोप है। अत उन्हे सन्तुष्ट करने के लिए वह लोपामुद्रा, विश्वरथ और ऋक्ष की बलि चढाना चाहता है इसलिए पाषाण-स्तम्भो से तीनो बाँधे जाते हैं। उग्रा के मन मे सघर्ष जागता है। एक ओर पिता के प्रति कर्तव्य-भावना है और दूसरी ओर प्रियतम की जीवन-रक्षा का प्राण-प्रश्न है। अन्त मे प्रेम की विजय होती है। अपने प्रियतम (विश्वरथ) को बचाने के लिए वह दिवोदास और अगस्त्य को लोपामुद्रा आदि के बध की सूचना चुपके से दे आती है। वे ठीक समय पर पहुँच कर तीनो को बचा लेते हैं। भैरव भाग जाता है। युद्ध मे शम्बर आहत होता है और अपनी पुत्री उग्रा के प्रति घृणा का भाव प्रदर्शित करता हुआ अपनी जीवन लीला समाप्त करता है। अगस्त्य विश्वरथ से उग्रा का त्याग करने का अनुरोध करते है। उनका मत है कि आर्य और दस्यु का गठबधन अप्राकृतिक एव असास्कृतिक है। वे शम्बर-कन्या को उन्हे सौंपने की आज्ञा देते हैं। विश्वरथ इस वर्णभेद का विरोध करता है। लोपामुद्रा समाधान करवाने को प्रयत्नशील है। अगस्त्य अत्यन्त कुपित होकर विश्वरथ एव उग्रा की हत्या को उद्यत होते है, पर लोपामुद्रा की कुशलता से वे दोनो बच जाते हैं। अगस्त्य वही नीचे गिर जाते है। जाति-बन्धनो का खडन करने वाला विश्वरथ उग्रा को अपनाता है। इस नाटक का उत्तरार्द्ध 'देवे दीधेली' है।

'देवे दीधेली' (१९३३)

यह नाटक लोपामुद्रा का तीसरा भाग है। दिवोदास की राजधानी तृत्सुग्राम में भरतों और तृत्सुओं की विजयी सेना दस्युओं की सम्पत्ति लूट लाती है। लोपामुद्रा भी उसके साथ है। अगस्त्य के जातीय अभिमान और आर्यों की मदान्धता का वह खुलकर विरोध करती है। अगस्त्य के प्रिय शिष्य विश्वरथ का शम्बर-कन्या उग्रा से विवाह करना निश्चित है। अगस्त्य इसके विरोधी हैं। संघर्षात्मक वातावरण पैदा होता है। अगस्त्य प्रतिज्ञा करते हैं कि यदि विश्वरथ उग्रा का त्याग नहीं करेगा तो मैं प्राण दे दूंगा। उधर विश्वरथ उग्रा से विवाह न होने पर अपने जीवन का अंत करने का संकल्प करता है। लोपामुद्रा दोनों की प्राण-रक्षा के लिए प्रयत्न करती है। अगस्त्य के मन में लोपामुद्रा के लिए प्रेम जागता है और इसलिए वे तनिक विचलित भी होते हैं, किन्तु पुनः जातीय अभिमान उन्हें विरोध करने को प्रेरित करता है। लोपामुद्रा समाधान के लिए पूरा उद्योग करती है। दस्युपुरोहित दुष्ट भैरव अंधकार में चुपचाप आकर लोपामुद्रा पर खंजर का प्रहार कर उसे आहत करता है। विश्वरथ भैरव को पकड़ लेता है। तब रोहिणी द्वारा यह सूचना प्राप्त होती है कि भैरव ने उग्रा की हत्या कर डाली है। विश्वरथ भैरव का वध करता है। अगस्त्य मृत लोपामुद्रा को स्वीकार करते हुए कहते हैं—"यह देवों की दी हुई है। देवदत्ता (देवे दीधेली) है।"

'ऋषि विश्वामित्र' (१९३४)

यह नाटक 'लोपामुद्रा' का चौथा भाग है। इसमें तृत्सुग्राम का आन्तरिक संघर्ष दिखाया है। दस्युओं को पराजित कर भरत और तृत्सु उन्हें बन्दी बनाकर लाते हैं और उनके साथ अत्याचार करते हैं। विश्वरथ इसका खूब विरोध करता है। आर्य जाति के प्रबल पक्षपाती वशिष्ठ इससे अप्रसन्न हैं। अगस्त्य का लोपामुद्रा के साथ और विश्वरथ का दस्यु-कन्या उग्रा के साथ विवाह उन्हें उचित नहीं जँचता। दिवोदास का पुत्र सुदास यशस्वी विश्वरथ से ईर्ष्या करता है। वह जातीयता के पक्षपाती वशिष्ठ के असंतोष को उकसाता है। फलतः आंतरिक कलह का प्रारम्भ होता है। वशिष्ठ अपने शिष्यों के साथ शुद्ध आर्य जीवन जीने के लिए चले जाते हैं। अगस्त्य और लोपामुद्रा आर्यावर्त को छोड़कर दक्षिणावर्त्त की ओर प्रस्थान करते हैं। इस परिस्थिति से अत्यन्त क्षुब्ध विश्वरथ सब कुछ त्याग कर 'विश्वामित्र ऋषि' बनता है। वह सबका मित्र बनकर वर्ण-भेद मिटाता है।

'लोपामुद्रा की विवेचना'

'लोपामुद्रा' में संगृहीत ये तीनों नाटक आर्य-अनार्य के जाति-भेद को मिटाने की भावना को मूर्तिमान करते हैं। इसके लिए मुंशीजी ने लोपामुद्रा और विश्वरथ-जैसे तेजस्वी पात्रों की सृष्टि की है। तीनों नाटकों का नायक विश्वरथ है जो समता संस्थापन और वर्ग-उन्मूलन की भावना का समर्थक है। इस भावना की प्रेरणादात्री और परिचारिका लोपामुद्रा है। समता के आदर्श को साकार करने के लिए वह सदा सचित और सक्रिय रहती है। अन्त में वहाँ उसे प्रत्यक्ष बनाने का श्रेय प्राप्त करती है। उसके मूल में वही है। वह जाति-भेद की मुद्रा (छाप) का लोप करके अपने 'लोपामुद्रा' नाम को सार्थक करती है। इसलिए इन तीनों नाटकों को 'लोपामुद्रा' के नाम से अभिहित किया गया है।

गांधीजी ने १९३२ में हरिजन-समस्या के हल के लिए उपवास किये थे। उसने एक

ही वर्ष पश्चात् ये नाटक प्रकाशित हुए। इससे इस निष्कर्ष पर आसानी से पहुँचा जा सकता है कि समानता की आधुनिक भावना को प्रस्तुत करने वाले इन पौराणिक नाटकों का प्रेरणा-स्रोत गांधीजी की अछूतोद्धार-भावना है। लेखक अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूरी तरह सफल हुआ है। नाट्यकला के सभी तत्त्वों का अत्यन्त सफलतापूर्वक निर्वाह करते हुए लेखक ने इन नाटकों में अपने उपर्युक्त उद्देश्य का मार्मिक रीति से उद्घाटन किया है।

'लोपामुद्रा' के पात्रों में विश्वरथ का व्यक्तित्व मूर्द्धन्य है। उसका धीर-गंभीर और प्रशान्त व्यक्तित्व सर्वत्र परिव्याप्त है। वह हिमालय की भाँति अडिग और सूर्य की भाँति ज्योतिष्मान है। इसके अतिरिक्त पुरुष पात्रों में अगस्त्य, शम्बर और ऋक्ष और विशेष उल्लेखनीय हैं। इन कृतियों में लोपामुद्रा कर्त्ता, नियता और प्रेरणादायिनी है और उसका गौरवशाली व्यक्तित्व अद्वितीय है। आर्य ललना के गुणों से विभूषित दस्युबाला उग्रा का पात्र भी कम महत्त्व का नहीं। इसके कारण ये नाटक विशेष आकर्षक एवं उत्कृष्ट बन पाये हैं।

मुंशीजी में असाधारण नाट्य-सृजन की प्रतिभा है। "संवाद, चरित्रांकन, कार्यवेग, वातावरण—इन सबको वे अपनी सहज लीला से साध सकते हैं।[1] 'लोपामुद्रा' में मुंशीजी को इन सभी सिद्धियों का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त होता है। नाट्यकला के सभी तत्त्वों से समन्वित समस्त गुजराती-साहित्य के जो थोड़े से शिष्ट नाटक हैं उनमें गौरवयुक्त स्थान के अधिकारी ये पौराणिक नाटक हैं।"[2]

मुंशीजी के पौराणिक नाटकों की विशेषताएँ

यह पहले कहा जा चुका है कि मुंशीजी के इन पौराणिक नाटकों की कथाएँ महाभारत और पुराणों पर आधारित हैं। "पौराणिक आख्यानों के अस्थिपिञ्जर में मुंशीजी ने कल्पना की सहायता से रक्त, मांस, मज्जा आदि भरकर इन नाटकों के कलेवर को तैयार किया है और इनमें आधुनिक भावनाओं की आत्माओं को प्रस्थापित कर उन्हें सजीव बनाया है।"[3] इस प्रकार पौराणिक वृत्तों को कल्पना और भावना के रंगों से रंगकर मुंशीजी ने अपनी सृजनात्मक शक्ति द्वारा उन्हें नाट्य-स्वरूप प्रदान किया है। प्रत्येक नाटक एक सर्वांग-सम्पूर्ण चित्र की सजीवता लिये हुए है। इनकी कथावस्तु, असाधारण कार्य-वेग से अग्रसर होती है। तीव्र संघर्ष से संपृक्त पात्रों और प्रसंगों के कारण कथावस्तु में सजीवता, रोचकता और मार्मिकता आ गई है। सभी नाटकों में कौतुक-प्रेरक परिस्थिति का सृजन करते हुए लेखक ने कथावस्तु को चरम सीमा पर पहुँचाया है और तदनन्तर उनकी समाप्ति बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से की है। 'तर्पण' और 'देवे दीधेली' को छोड़कर अन्य सभी नाटकों का पर्यवसान सुख में होता है। किन्तु यदि हम गहराई से 'तर्पण' और 'देवे दीधेली' का अनुशीलन करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके करुण अन्त में भी भव्य भावनाओं की प्रतिध्वनि होती है। इसीलिए हम इनकी गणना शेक्सपीयर के दु:खान्त नाटकों की या ग्रीक ट्रेजेडी' की कोटि में नहीं कर सकते। इनकी भावना महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों

१. श्री उमाशंकर जोशी, 'समसंवेदन', १९४८, पृ० २२८
२. समीक्षक श्री विश्वनाथ म० भट्ट : 'गुजराती साहित्य सभानी कार्यवही', सन १९३३-३४, पृ० २०
३. श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री, 'पौराणिकनाटको' का उपोद्घात, द्वि० आ० १९४७, पृ० ८

के 'प्रसादात' से अधिक मेल खाती है। मुशीजी के सुखान्त नाटको की 'सुखान्त' भावना भी अग्रेजी 'कोमेडी' से नितान्त भिन्न है। इन नाटकों के अत मे भौतिक सुख या दुःख की भावना प्रमुखता प्राप्त नही करती, पर हमारे देश के सास्कृतिक आदर्शों की महत्ता और भव्यता अपने समुज्ज्वल और सुन्दर रूप मे इनमे प्रगट होती है जो अधिकाशत आनन्द-रूप ही है। इस दृष्टि से मुशीजी के सभी नाटको की परिणति अपने विशिष्ट दृष्टिकोण को लिये हुए है।

मुशीजी मानव-हृदय के आदोलनो को, विभिन्न द्वन्द्वात्मक मनोभावो को बडे ही कलात्मक ढग से चित्रित कर सकते है। इस सिद्धहस्तता के कारण इनकी साहित्य-सृष्टि के पात्र अविस्मरणीय और अद्वितीय बन गए है। 'पुरदर-पराजय' की सुकन्या, 'अविभक्त आत्मा' के वसिष्ठ और अरुन्धती, 'तर्पण' का सगर, 'पुत्र समोवडी' की देवयानी तथा 'लोपामुद्रा' के लोपामुद्रा और विश्वरथ—मुशीजी के चिरस्मरणीय तेजस्वी पात्र हैं जिनके चरित्र मे वैविध्य, वैभिन्य और नावीन्य है। इनमे से कोई मिट्टी का बेजान पुतला नही। इन सबमे मानव सुलभ सुन्दरताएँ और दुर्बलताएँ समाहित हैं। गुणदोष-समन्वित ये पात्र इतने सजीव और स्वाभाविक हैं कि पाठक या दर्शक की पूरी सहानुभूति अनायास ही पा जाते हैं। अपने नाटको मे बाह्य या आतरिक उत्कर्ष और अपकर्ष के प्रसगो की सृष्टि कर लेखक ने इन पात्रो का अन्तर्द्वन्द्व अत्यन्त मनोविश्लेषणात्मक ढग से अकित किया है। वस्तुत मुशीजी चरित्र-चित्रण मे बहुत ही कुशल हैं।

पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटको मे रसोद्रेक का मूलाधार नाट्य वस्तु के अनुरूप वातावरण की सृष्टि है। मुशीजी ने अपने इन नाटको मे पौराणिक वातावरण का तादृश निरूपण किया है। वेदकाल के वातावरण के अनुरूप वेशभूषा, भाषा, यज्ञादि क्रियाएँ, आर्य-दस्यु-सघर्ष, देवी-देवताओ का अवतरण और तत्कालीन चमत्कारो और अधश्रद्धाओ का अकन इनमे किया गया है। इसी प्रकार पात्रो के सप्राण सवाद भी देश और काल को सजीव करने मे उपकारक सिद्ध हुए हैं। मुशीजी के सवाद केवल पात्रानुकूल तथा प्रसगानुकूल ही नही हैं, उनमे अद्भुत चमत्कार और प्रभावोत्पादकता है। यदा-कदा वे गद्यात्मकता का परित्याग कर कविता की कोटि तक पहुँच जाते हैं। इस प्रकार की अपनी विशिष्ट पात्र-सृष्टि, सवाद-योजना और भाषा-शैली द्वारा मुशीजी ने गुजराती नाट्य साहित्य मे अन्यतम स्थान पा लिया है।

मुशीजी के इन नाटको की सबसे बडी विशेषता यह है कि इनमे साहित्यिकता के उच्च गुणो के साथ-साथ अभिनयक्षमता भी सर्वांश मे विद्यमान है। इन नाटको से यह सिद्ध हो सका है कि प्रचुर मात्रा मे सस्कृत के तत्सम शब्दो वाले सवाद नाटक की अभिनेयता मे या सामाजिको की आनदोपलब्धि मे कदापि बाधक नही होते। जब नाट्यकार रगमच से विलग और नाट्य प्रदर्शन के शिल्प शास्त्र से अनभिज्ञ रहकर नाटक की रचना करता है तभी उसकी कृति अभिनय की दृष्टि से असफल बनती है, अन्यथा नही। मुशीजी को रगमच का प्रत्यक्ष अनुभव है। उस अनुभव के आधार पर रचित उनके ये पौराणिक नाटक कई बार सफलतापूर्वक रगमच पर खेले जा चुके हैं।[१]

---

१ देखिये (अ) 'अभिनेय नाटक'. सपादक, डॉ० धीरूभाइ ठाकुर, प्र० आ० १९५८, पृ० ५१
(आ) बिनधधारी गमूमिनो इतिहास, ले० श्री धनमुखलाल महेता, प्र० आ०, १९५६, पृ० ११५

इन नाटकों का गम्भीर अध्येता लेखक की भावनाओं के निरूपण पर ध्यान केन्द्रित करने पर बड़ी सरलता से यह अनुभव करने लगता है कि इन नाटकों के पात्रों के नाम, वेश-भूषा, बाह्य वातावरण आदि पौराणिक है, पर इनका प्राण-तत्त्व तो नितांत अर्वाचीन है। नाट्य-निरपेक्ष दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि "मुंशीजी के पौराणिक नाटक पौराणिक नहीं है।"[1] नाटकों की वस्तु-संकलना भी इतस्तत अस्तव्यस्त है। लोपामुद्रा का चौथा भाग उसके दूसरे और तीसरे भागों की तुलना में शिथिल है। विश्वरथ का कथानक जमने नहीं पाया है। संस्कृत के विदूषक का प्रतिरूप ऋक्ष इस भाग में अधिक महत्त्व पा गया है जिससे नाटक की कथावस्तु की गम्भीरता और वातावरण के गौरव का क्षति पहुँची है तथा औचित्य का भी भंग हुआ है। प्रो० रामनारायण पाठक को इन नाटकों म चमत्कारों का उपयोग प्रतीतिकर प्रतीत नहीं होता। वे कहते हैं कि कहीं-कहीं तो इन नाटकों में स्वयम् उनके पात्र भी उन चमत्कारों को मानते होंगे या नहीं, इसमें भी संदेह होता है।[2] शृंगार रस के वातावरण की सृष्टि के लिए लेखक ने विजातीय आकर्षण का भी इन नाटकों में उपयोग किया है। कहीं-कहीं उसका अतिरेक संयम की सीमा लाँघ जाता है। इन कतिपय दोषों को छोड़कर अन्य सभी दृष्टियों से मुंशीजी के ये नाटक श्रेष्ठ हैं और गुजराती नाट्य-साहित्य में विशिष्टता लिये हुए है।

'संजीवन'

श्री सनातन बुच ने इस त्रिअंकी पौराणिक नाटक की रचना १९३५ में की है। इसमें कच-देवयानी के वृत्त को नाट्यरूप दिया गया है। देवों की प्रेरणा से असुरगुरु शुक्राचार्य से 'संजीवनी विद्या' सीखकर कच अपनी प्रियतमा देवयानी से विदा लेकर जाता है। प्रेम और कर्त्तव्य के अंतर्द्वन्द्व में कच कर्त्तव्य को अपनाकर प्रेम का परित्याग करता है। वह संजीवनी विद्या पाता है पर अमूल्य 'संजीवनी'—प्रेम—से वंचित रहता है। इसकी प्रेरणा लेखक को मराठी के सुप्रसिद्ध लेखक ना० सी० फडके के इसी नामवाले मराठी नाटक से प्राप्त हुई है।[3] आधुनिक अंग्रेजी नाटकों की गद्यात्मक संवाद शैली के अतिरिक्त लेखक ने इस नाटक में भिन्न-भिन्न शास्त्रीय संगीत के गीतों का भी समावेश किया है। देवयानी की अंतिम समय की मंगल-कामना के कारण नाटक करुण होने से बच गया है। क० मा० मुंशी ने 'पुत्र समोवडी' में इसी कच देवयानी के प्रसंग को नाट्यरूप दिया है। किन्तु मुंशीजी की प्रतिभा सनातन बुच में नहीं है।

'शकुन्तला' अथवा 'कन्याविदाय' (१९४९)

चन्द्रवदन महेता ने इस 'गीति नाट्य' (Poetic Drama) की रचना 'अभिज्ञान-शाकुंतल' के आधार पर की है। इस तीन अंक के नाटक में लेखक ने कण्व ऋषि के आश्रम में शकुंतला दुष्यंत के प्रणय प्रसंग से लेकर सगर्भा शकुंतला के दुष्यंत की राज-सभा में जाने और उसे अस्वीकृत करने पर दुःखी होने तक की कथा का समावेश किया है।

---

1. साहित्य-विहार प्रो० अनंतराय रावल, पृ० २०१
2. साहित्य-विमर्श श्री रामनारायण वि० पाठक, द्वि० आ० १९५९, पृ० ३०३
3. संजीवन श्री सनातन बुच, प्र० आ० १९३५, प्रस्तावना, पृ० १०

नाटक के अन्त मे तनिक परिवर्तन किया गया है । दुष्यत जब शकुतला को स्वीकार नहीं करता, तब धर्मगुरु शकुतला को अपने यहाँ रखने को तत्पर होते है, किन्तु त्यक्ता शकुतला वेदना-विह्वल होकर सीता की भाँति पृथ्वी मे विलीन हो जाती है । इस प्रकार कालिदास की प्रतिम सुखान्त-भावना को चन्द्रवदन महेता ने दु खात मे परिणत कर दिया है और नाटक को करुण वातावरणमय बना दिया है । सपूर्ण नाटक पद्य मे है और सस्कृत-छन्दो का ही इसमे प्रयोग किया गया है । यथा शिखरिणी, शार्दूल, अनुष्टुप्, मदाक्रान्ता आदि । यह गीतिनाट्य दु खपूर्ण अत के कारण अधिक गभीर और प्रभावोत्पादक है । वस्तु-सकलना और पात्राकन नाट्योचित हैं, पद्यमय शैली और सवाद मनोहारी तथा प्रासादिक हैं । दुष्यत-शकुतला के इस काव्योपयोगी प्रणय प्रसग का सुचारु और सुरम्य निरूपण करने मे महेताजी को बडी सफलता प्राप्त हुई है । यह रचना अभिनेयता के सभी गुणो से विभूषित है । इसे सफलतापूर्वक आकाशवाणी द्वारा कई बार प्रसारित भी किया जा चुका है । इस दृष्टि से यह एक उत्तम रेडियो-नाटिका (सगीतिका) का भी स्थान ग्रहण करती है । दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य, दोनो काव्य प्रकारो का आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करने वाला यह 'शकुतला' गीति-नाट्य चन्द्रवदन भाई का गुजराती नाट्य साहित्य को स्मरणीय योगदान है ।[1]

'शकुन्तला-रस-दर्शन' (१९१५)

गुजराती के समस्या प्रधान नाटको के सफल स्रष्टा बटुभाई उमरवाडिया ने प्राचीन नाट्यवस्तु को अर्वाचीन दृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रयोग 'शकुतला-रसदर्शन' मे किया है। कवि कालिदास द्वारा प्रणीत 'अभिज्ञानशाकुनलम्' को आधुनिक विचारधारा के अनुकूल नाटकीय रूप देने का इसमे प्रयत्न किया गया है । इस नवीन प्रयोग को युगानुरूप बनाने के लिए प्रसगो, अको आदि मे परिवर्तन किया है, किन्तु यह कृति सफल नही हो सकी है । इसमे न कालिदास की भव्य भावनाओ का दर्शन होता है और न कोई नूतन अनुभूति ही अभिव्यक्त होती है । मूल 'अभिज्ञानशाकुतलम' की अपनी महानता के कारण उसकी यह छाया-कृति भी सुवाच्य और रसिक बन गई है ।[2]

'दूर्वांकुर'

गुजराती के नवोदित सफल एकाकीकार शिवकुमार जोशी का पच अकी नाटक 'दूर्वांकुर' (१९५१) एक सामान्य कृति है । लेखक ने क० मा० मुशी के अनुकरण पर पौराणिक कथा का आधार लेकर अर्वाचीन समस्याओ का निरूपण करने का प्रयत्न किया है, पर न नाटक की वस्तु का ही स्वाभाविक विकास हो पाया है और न ही समस्याएँ ही सम्यक् रूप से उपस्थित की जा सकी है । कालिदास की 'शकुन्तला' की भाँति इस नाटक की ऋषि-कन्या ऐन्द्री भी प्रथम दृष्टि से प्रेम की उपासिका बनती है । पिता की सहायता से वह अपने मनोवाछित पति को प्राप्त करती है । किन्तु तत्पश्चात् उसकी अवहेलना का कठोर अनुभव कर वह वरुणदेव की गृहिणी बनने का दुर्भाग्य पाती है । प्रथम दृष्टि का प्रेम मोह है, मानसिक दुर्बलता है । इसी से निर्णयात्मक घडी आने पर ऐन्द्री के हृदय मे दुर्बलता जागती है और थोडी आनाकानी के बाद वह

---

१ डॉ० धीरूभाई ठाकुर 'अभिनेय नाटको', प्र० आ० १९५८, पृ० २१२

२. श्री रामनारायण पाठक - साहित्य-विमर्श, पृ० ३५९

वरुण की इच्छा के अधीन हो जाती है। इस नाटक का एक दूसरा पहलू भी है। नवयौवना ऐन्द्री का प्रेम आंगिरस-जैसे कठोर तपनिष्ठ मुनिकुमार को मृदु बना देता है। अतएव ऐन्द्री की अभिलाषा परिपूर्ण करने के लिए वे तपस्या छोड़ कर दूर्वांकुर लेने जाते हैं।

इसी बीच ऐन्द्री मोहवश वरुण द्वारा भ्रष्ट होती है और सदा के लिए आंगिरस के तिरस्कार का भाजन बनती है। इस प्रकार यह नाटक प्रथम दृष्टि के प्रेम का कुपरिणाम दिखाता है और तथाकथित तपस्वियों की जड़ता तथा क्रूरता का निरूपण करता है। नाटक की कथा बहुत ही छोटी है। उसे पांच अंकों में विभाजित करने के कारण न कार्य वेग उत्पन्न हो सका है और न संघर्षात्मक परिस्थिति का सृजन ही सम्भव हो सका है। चरित्र-चित्रण में भी लेखक को विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई है।

निष्कर्ष

अन्य कथाश्रित हिन्दी-गुजराती पौराणिक नाटकों के इस अध्ययन से यह सरलता से कहा जा सकता है कि दोनों भाषाओं में राम और कृष्ण की कथाओं से सम्बन्धित उपलब्ध नाटकों की अपेक्षा अन्य कथाश्रित नाटकों की संख्या काफी बड़ी है। इन नाटकों के विषय में और शिल्प में पर्याप्त वैविध्य है और इनमें नाटक-कला की प्रगति की स्पष्ट विकास-रेखा दृष्टिगत होती है। कृष्ण-कथाश्रित नाटकों की भांति इन नाटकों का भी श्रीगणेश हिन्दी में हिन्दी-नाटकों के जनक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने और गुजराती में गुजराती नाटकों के पिता रा० ब० रणछोडभाई उदयराम ने किया और दोनों आद्य नाटककारों को सर्वप्रथम सत्य-वादी राजा हरिश्चन्द्र की लोकप्रिय कथा ने आकर्षित किया, और जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि दोनों ने 'हरिश्चन्द्र'-विषयक नाटकों का प्रणयन किया। यह एक अत्यन्त रसप्रद घटना है। दोनों की तुलना करते समय यह भी निर्देश किया जा चुका है कि रणछोडभाई के 'हरिश्चन्द्र नाटक' (१८७१) का निर्माण भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८७५) नाटक से चार वर्ष पूर्व हुआ और इस दृष्टि से गुजराती 'हरिश्चन्द्र नाटक' अग्रज है। किन्तु नाट्य-तत्त्वों की दृष्टि से 'सत्य हरिश्चन्द्र' उच्च स्थान का अधिकारी है। रणछोडभाई का नाटक रंगमंचीय उत्तम शिष्ट नाटकों की कोटि में आता है जो उनके जीवन-काल में ही लगभग ११०० बार खेला जा चुका है। भारतेन्दु का 'सत्य हरिश्चन्द्र' साहित्य की एक उत्कृष्ट कृति है।

जिस प्रकार भारतेन्दु ने भारतीय और पश्चिमी नाट्य-तत्त्वों का अपनी रचनाओं में समावेश कर समन्वयवादी मध्यमार्ग का अनुसरण किया, ठीक उसी प्रकार रणछोडभाई ने भी अपने नाटकों में संस्कृत और अंग्रेजी नाटकों के प्रमुख अंशों को अंगीकार कर समिश्रण की सुष्ठु शैली अपनायी। भारतेन्दु में साहित्यिक गुण अधिक मात्रा में है तो रणछोडभाई में रंगमंचीय सूझ बड़ी पैनी है।

इन दोनों आद्य नाटककारों के नाटकों के बाद दोनों भाषाओं के जिन नाटकों का विवेचन पीछे किया जा चुका है वे या तो महाभारत की कथाओं पर आधृत हैं या पौराणिक आख्यानों का आश्रय लेकर रचे गए हैं। केवल गुजराती के कन्हैयालाल मुंशी के ही नाटक पौराणिक परिवेश के साथ वेदकालीन वातावरण को अंकित करते हैं। विषय-वस्तु की दृष्टि से आलोच्य भाषाओं के नाटकों का आकलन करने पर हम इस आश्चर्यजनक निर्णय पर पहुंचते हैं कि राजा हरिश्चन्द्र की कथा को छोड़कर अन्य किसी एक पूरी पौराणिक कथा पर

हिन्दी-गुजराती मे तुलनीय कोई श्रेष्ठ नाटक नही लिखे गये, हालांकि सामान्य स्तर के दोनो भाषाओं मे कतिपय नाटक मिलते हैं। यथा भक्त प्रह्लाद-विषयक हिन्दी मे मोहनलाल विष्णु-लाल पड्या (१८७४), श्रीनिवासदास (१८८८), जगन्नाथ शरण आदि के नाटक और गुजराती मे मधुपच्छ रामवरा (१८८२), हरिलाल ध्रुव (१८९३) आदि के नाटक। यहाँ यह सकेत करना असगत नही होगा कि गुजराती के मणिलाल नभुभाई का प्रह्लाद-सम्बन्धी 'नृसिंहावतार' नाटक इन सभी नाटको मे उत्तम है। विषय की भिन्नता होते हुए भी केवल बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवन दहन' नाटक इस नाटक के समकक्ष है। दोनो मे समान रूप से साहित्यिक अश है और सम्पूर्ण अभिनय-क्षमता भी है। दोनो मे भारतीय तथा पाश्चात्य शैलियो का सुन्दर सामजस्य भी पाया जाता है। यद्यपि हिन्दी मे नल दमयन्ती के पौराणिक वृत्त को लेकर दो-तीन नाटक लिखे अवश्य गये हैं[1], पर रणछोडभाई उदयराम के गुजराती 'नल-दमयन्ती' नाटक को रगमच पर जो अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है, वह अतुलनीय है। इस नाटक का विवेचन पूर्व पृष्ठो मे हो चुका है। कच-देवयानी, दुष्यन्त-शकुन्तला, सगर-ययाति आदि यशस्वी पौराणिक पात्रो ने दोनों भाषाओं के लेखकों को नाटक लेखन के लिए प्रेरित किया है। उदयशकर भट्ट ने 'सगर-विजय' मे सगर की कथावस्तु तथा चरित्राकन प्रस्तुत किया है, उससे भिन्न प्रकार का निरूपण हमे कन्हैयालाल मुशी के 'तर्पण' मे प्राप्त होता है। और इसी प्रकार गोविन्दवल्लभ पत के 'ययाति' नाटक के ययाति तथा मुशीजी के 'पुत्र समोवडी' नाटक के ययाति मे विशेष साम्य नही है। मुशीजी ने 'तर्पण' मे और्व, सगर, सुपर्णा आदि पात्रों के द्वारा राष्ट्रहित की सर्वोपरिता सिद्ध की है और सगर, सुवर्णा के प्रणय को प्रारम्भ मे प्रमुखता प्रदान कर अन्त मे गुरु-आज्ञा तथा कठोर कर्त्तव्य की बलिवेदी पर उसका उत्सर्ग कर देता है। 'सगर-विजय' मे राजा सगर की उत्पत्ति और उसके चक्रवर्ती बनने की कथा को उदयशकर भट्ट ने नाटकीय रूप दिया है। इस कृति मे सगर का चरित्र केन्द्रस्थ है। उसी का क्रमश इसमे विकास हुआ है। 'सगर-विजय' की कथा का 'तर्पण' से तनिक सम्बन्ध है। सगर की अन्तिम भावना—'राष्ट्र के लिए सर्वस्व का उत्सर्ग'—'तर्पण' के आदर्श को ध्वनित अवश्य करता है, किन्तु भिन्न प्रकार से। यही बात ययाति के विषय मे भी कही जा सकती है। गोविंदवल्लभ पत का 'ययाति' नाटक 'ययाति' को प्रधानता देता है, जब कि मुशीजी ने 'पुत्र समोवडो' मे देवयानी के अद्वितीय व्यक्तित्व का निरूपण किया है जो पिता शुक्राचाय के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाने के लिए प्रेमी कच और पति 'ययाति' तक से सम्बन्ध-विच्छेद करती है।

कच देवयानी और दुष्यन्त शकुन्तला सम्बन्धी दोनो भाषाओं के नाटक सामान्यता मे समान हैं। केवल चन्द्रवदन महेता का 'शकुन्तला अथवा कन्या-विदाय' गीति नाट्य उच्च-स्तरीय है जिसकी आलोचना यथास्थान की जा चुकी है।

गुजराती म कवि नानालाल के नाटको को छोड़कर अधिकाश नाटक अभिनेय हैं। रणछोडभाई के सभी नाटक सफलतापूर्वक रगमच पर कई बार खेले जा चुके हैं। कवि नर्मद का 'द्रौपदी दर्शन', मणिलाल का 'नृसिंहावतार', हरिलाल ध्रुव का 'प्रह्लाद' आदि

१. (अ) दमयन्ती-स्वयवर (१८८५) बालकृष्ण भट्ट
(आ) नल-दमयन्ती, (१६०५) महावीरसिंह
(इ) अनघ-नल-चरित्र, (१६०६) सुदर्शनाचार्य
(ई) नल-दमयन्ती, (१६४१) डॉ० लक्ष्मणस्वरूप

नाटक तो नाटक-मडलियो के लिए ही लिखे गये और बडी कामयाबी से खेले गये। मुशी जी 'गुजराती रगमच' मे १६०० ई० से रस लेते चले आ रहे है। उन्होने गुजराती रगमच को केवल प्रेरित और प्रोत्साहित ही नही किया, अपितु रगमचीय प्रवृत्तियो के प्राण बनकर उसे सब तरह से परिपोषित भी किया है। आज भी भारतीय विद्या-भवन, बम्बई का नाट्य-विभाग इसका ठोस उदाहरण है। इस रगमच विषयक सक्रिय रस तथा नैसर्गिक सूझ के कारण मुशीजी के सभी नाटक साहित्यिक दृष्टि मे जितने उत्तम हैं, रगमचीय दृष्टि से भी उतने ही सफल हैं। उनके नाटको के कई बार प्रयोग हो चुके है। हिन्दी के अधिकाश नाटको मे रगमचीय तत्त्वो का अभाव है। केवल 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'कुरुवन-दहन' साहित्यिकता के साथ-साथ रगमच के सभी गुणो से परिपूर्ण है। गोविन्दवल्लभ पत का रगमच का प्रत्यक्ष अनुभव 'वरमाला' और 'ययाति' को अभिनेय बना सका है। शेष सभी नाटक सशोधित और परिवर्तित करने के पश्चात् ही खेले जा सकते है।

इस पौराणिक परपरा के हिन्दी-नाटको मे कर्ण, अम्बा, अभिमन्यु, गाधारी जैसे तेजस्वी पात्रो का आधुनिक मनोविश्लेषणात्मक ढग से परिचय दिया गया है और उसी के साथ नाट्य-शिल्प मे वैविध्य तथा विश्लेषण का भी समावेश किया गया है। ठीक इसी प्रकार गुजराती नाटको के लोपामुद्रा, उग्रा, विश्वरथ, देवयानी, वशिष्ठ, अरुन्धती, सगर आदि अविस्मरणीय पात्रो के अन्तर्द्वन्द्व तथा बाह्य सघर्षों का कलात्मक निरूपण द्रष्टव्य है। कन्हैयालाल मुशी इस धारा के अत्यत महत्त्वपूर्ण नाट्यकार हैं। कवि नानालाल ने एक ओर अपनी अपद्यागद्य (डोलन) शैली मे कल्पना एवम् आदर्श-प्रचुर उत्तम भावनाटक गुजराती को दिये तो दूसरी ओर मुशीजी ने अपनी असाधारण प्रतिभा द्वारा वेदकालीन पौराणिक भव्य प्रसगो तथा उत्कृष्ट कोटि के पात्रो की सहायता से समकालीन सामाजिक, राजनैतिक, वैयक्तिक समस्याओ को वाचा प्रदान की। इन दोनो की समता का कोई नाटककार हिन्दी मे इस धारा मे नही है। वस्तुत "भारतीय पौराणिक नाटको मे मुशीजी के पौराणिक नाटक बडा ऊंचा स्थान रखते हैं।"[1] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि धर्मवीर भारती के गीति-नाट्य 'अधा युग' की समानता का कोई उत्कृष्ट नाटक न गुजराती मे उपलब्ध होता है, न हिन्दी मे। शैली, शिल्प, प्रतीक-योजना आदि सभी दृष्टियो से यह नवीनतम और अन्यतम है। चन्द्रवदन महेता का 'शकुतला नाटक' 'ध्वनि-रूपक' के अधिक निकट है।

हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओ के इन नाटको मे यद्यपि कथातत्त्व, पात्र, वातावरण आदि पौराणिक हैं, किन्तु इनके रचनादर्श आधुनिक हैं। हमारे समकालीन युग की ज्वलत समस्याओ और उच्च भावनाओ को इनमे नाटकीय रूप दिया गया है। राष्ट्रीयता, मानवता, नारी-सम्मान, दाम्पत्य जीवन, जातीय ऐक्य, वैयक्तिक आशा-आकाक्षा, सामाजिक दायित्व आदि विभिन्न और विशिष्ट वर्तमान प्रश्नो की विशद विवेचना दोनो भाषाओ के इन नाटको मे की गई है।

समस्त हिन्दी-गुजराती पौराणिक नाटको की तुलनात्मक आलोचना

उपर्युक्त नाटको के विवेचन के आधार से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओ मे पौराणिक नाटको का स्थान अत्यत महत्त्वपूर्ण है और लग-

१. हिन्दी में पौराणिक नाटक देवर्षि सनाढ्य, पृ० ८८

भग सभी चोटी के नाट्यकारों का ध्यान इस धारा के प्रति आकर्षित हुआ है। इस प्रबंध के चौथे अध्याय में यह निर्देश किया जा चुका है कि दोनों भाषाओं के आदि नाटक—राजा लक्ष्मणसिंह की अनूदित कृति 'शकुन्तला' और कवि दलपतराम की रूपांतरित रचना 'लक्ष्मी नाटक'—पौराणिक कथानकों पर आधारित हैं। पिछले पृष्ठों में हम इस आश्चर्यजनक घटना का भी उल्लेख कर चुके हैं कि हिन्दी और गुजराती के सर्वप्रथम पौराणिक नाटक राजा हरिश्चन्द्र से सबंधित हैं। उनके लेखक भी दोनों भाषाओं के आद्य नाटककार हैं: हिन्दी के भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और गुजराती के रा० ब० रणछोडभाई उदयराम। यद्यपि राम एवम् कृष्ण-कथा पर आधृत हिन्दी-गुजराती में बहुत कम नाटक लिखे गये हैं, फिर भी उपरि अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि गुजराती की अपेक्षा हिन्दी में राम-कृष्ण-कथाश्रित नाटकों की संख्या तनिक अधिक है। अन्य कथाश्रित नाटक दोनों भाषाओं में लगभग समान संख्या में उपलब्ध होते हैं।

पौराणिक धारा के सभी नाटकों के कथानक तो पुराण, रामायण, महाभारत आदि से लिये गए हैं, किन्तु नाट्यकारों ने उनमें कल्पना का सहारा लेकर काफी परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किये हैं। यह प्रवृत्ति हिन्दी और गुजराती दोनों के लगभग सभी नाटक-लेखकों में पायी जाती है। भारतेन्दु और रणछोडभाई से लगाकर आधुनिक नवीनतम लेखकों तक की रचनाओं में यह तथ्य दृष्टिगत होता है। 'हरिश्चन्द्र नाटक' भी इसका अपवाद नहीं है। इसका कारण या तो पौराणिक कथावस्तु को वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा बुद्धि-ग्राह्य और तर्क-शुद्ध रूप देना है या इन पौराणिक नाट्य-प्रसंगों एवम् पात्रों के निमित्त किन्हीं समसामयिक समस्याओं को अंकित करना है। बीसवीं सदी के लगभग सभी पुराणाश्रित नाटक इसके उदाहरण हैं। वर्तमान सामाजिक समस्याओं को पेश करने के लिए 'विद्रोहिणी अम्बा', 'उर्मिला', 'सीता की माँ', 'कर्ण' आदि विभिन्न हिन्दी पौराणिक नाटक रचे गये। और इसी प्रकार 'अविभक्त आत्मा', 'शबर-कन्या,' 'देवे दीधेली', 'ऋषि विश्वामित्र', 'दूर्वांकुर' प्रभृति पौराणिक कथाश्रित गुजराती नाटक हमारे युग के ज्वलंत सामाजिक प्रश्नों को पेश करते हैं। स्त्री-स्वतंत्रता, दाम्पत्य जीवन, जातिभेद, मिथ्या कुलाभिमान, कन्या-विवाह आदि विविध समाजगत विषयों को इन दोनों भाषाओं के नाटकों में समान रूप से स्थान मिला है। यहाँ यह निर्देश करना सुसंगत होगा कि कन्हैयालाल मुंशी के 'लोपामुद्रा' (भा० २, ३, ४), मैथिलीशरण गुप्त के 'चन्द्रहास', जयशंकर प्रसाद के 'जनमेजय का नागयज्ञ' और सेठ गोविन्ददास के 'कर्ण' नाटक पर गांधीजी की समाज-सुधार विषयक विचारधारा का विशेष प्रभाव पड़ा है।

राष्ट्रीयता हमारा युगधर्म है। देश-हितार्थ सर्वस्व का उत्सर्ग करना प्रत्येक नागरिक का परम कर्त्तव्य है। महात्मा गांधी ने इस उच्चादर्श को हमारे सम्मुख रक्खा। इससे न केवल जनता और नेता ही प्रभावित और प्रेरित हुए, प्रत्युत संवेदनशील भारतीय लेखकों ने भी इस महान् युग-धर्म से प्रेरणा प्राप्त कर अपनी अनेक कृतियों का निर्माण किया। हिन्दी के 'कृष्णार्जुन-युद्ध', 'कर्त्तव्य', 'सगर-विजय' आदि नाटक और गुजराती के 'समर्पण', 'पुन मभोवडी' आदि नाटक राष्ट्रीय चेतना की सर्वोपरिता के उद्देश्य का उद्घाटन करते हैं।

पौराणिक नाट्यकारों के नायक आदर्श चरित हैं, इनके द्वारा समाज के समक्ष जीवन के उदात्त उदाहरण प्रस्तुत कर उनका अनुकरण करने की ओर लोगों को प्रवृत्त करना इन लेखकों का उद्देश्य रहा है। १९वीं शती के नाटकों के सभी दिव्य पात्र देवता हैं। भारतेन्दु,

बदरीनाथ भट्ट, रणछोड़भाई, नर्मद आदि के नाटकों में यह बात देखी जा सकती है, किन्तु २०वीं शती के प्रारम्भ से इन पौराणिक आदर्श चरित्रों में मानवीय गुणों का आरोप करने की प्रवृत्ति दिखने लगती है। आज के जमाने में मानवता की सर्वाधिक महत्ता है। 'न मानुपात् श्रेष्ठतरम् हि किञ्चित्' की श्रेयस्कर भावना आज इतनी प्रबल है कि मनुष्य का निवास स्थान यह पृथ्वी स्वर्गलोक से भी अधिक महत्त्वपूर्ण और माननीय समझी जाती है। इसीलिए स्वर्ग के देवताओं को मानवीय रूप देकर हमारे लेखक अपना युगधर्म निभाते हैं। 'कर्त्तव्य', 'चक्रव्यूह', 'स्वर्गभूमि का यात्री', 'अधा युग' आदि नाट्य-कृतियों के पात्रों को मानवीय स्तर पर उतारने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। मुशीजी के पौराणिक नाटकों के सभी पात्र मानव-सुलभ वैविध्य, वैभिन्य और नावीन्य से परिपूर्ण है। उनमें इहलौकिक सभी सुन्दरताएँ और दुर्बलताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। गुणदोष-समन्वित ये पात्र इतने सजीव और स्वाभाविक हैं कि पाठकों या दर्शकों का उनके भावों के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। इसके अतिरिक्त इन हिन्दी-गुजराती पौराणिक नाटकों के पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व-अकन एवम् सूक्ष्म मनोविश्लेषण भी द्रष्टव्य है। चरित्र चित्रण की इस समानता के साथ दोनों भाषाओं के कतिपय नाटकों में एक दोष समान रूप से दृष्टिगोचर होता है। उनके पात्रों के नाम, वेशभूषा, वाह्य वातावरण आदि पौराणिक है, पर उनके भाव, चिंतन, व्यवहार इत्यादि नितात अर्वाचीन है। उदाहरणार्थ—हिन्दी में 'कर्तव्य', 'नारद की वीणा' और 'स्वर्गभूमि का यात्री' के अधिकाश पात्र तथा गुजराती में मुशीजी के पौराणिक नाटकों के प्रधान पात्र।

सस्कृत-नाटकों के निर्माण-काल के पश्चात् सदियों तक नये शिष्ट नाटकों का अभाव-सा रहा। केवल लोकनाटकों की परम्परा अस्खलित रूप से बनी रही। अग्रेजों के आगमन के पश्चात् पाश्चात्य नाटक और रगमच से भारतीय लेखक परिचित हुए। उनकी देखादेखी हिन्दी-गुजराती आदि के नाटकों का प्रणयन होने लगा और उसी समय सस्कृत-नाटकों का अध्ययन और अनुवाद-कार्य भी विशेष हुआ। तदनतर पारसियों ने व्यावसायिक रगभूमि को समस्त भारत में लोकप्रिय बनाया। फलत दोनों भाषाओं के प्रारभिक नाटकों के रचना-विधान पर सस्कृत के शिष्ट नाटकों, लोकनाटकों, पारसी रगमचीय नाटकों और शेक्सपीयर के अग्रेजी नाटकों का प्रभाव पड़ा है। जहाँ तक १६०० ई० पूर्व के नाटककारों का प्रश्न है, उनके सम्मुख आदर्श-रूप में विश्वनाथसिंह कृत 'आनद रघुनदन', भारतेन्दु के पिता गिरधरदास-कृत 'नहुष' और राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनूदित 'शकुतला' ये तीन नाटक थे। इनकी रचना शैली अधिकाशत सस्कृत परपरानुयायी है। भारतेन्दुकालीन नाटकों में प्राप्त नादी, प्रस्तावना, अक-विभाजन, गद्यापद्य की सम्मिश्रित शैली और कहीं-कहीं गर्भांक, भरतवाक्य आदि का प्रयोग इन्हीं पूर्ववर्ती नाटकों के प्रभावक तत्त्व हैं जो सस्कृत-परपरा का निर्वाह करते हैं। स्वयम् भारतेन्दु पर भी 'नहुष'[1] तथा 'शकुतला'[1] का बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसी के साथ उनके नाटकों म 'लीला शैली' एवम् 'पाश्चात्य नाट्य शैली' के अश भी विद्यमान हैं। गुजराती के रणछोड़भाई उदयराम के समक्ष नाट्यादर्श के रूप में कोई शिष्ट गुजराती नाटक नहीं था। सस्कृत भाषा के एवम् शेक्सपीयर के अग्रेजी नाटक ही थे। भवाई मडलियों और

१ 'नाटक' निबध-लेखक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र भारतेन्दु ग्रथावली, सं० १६४१ ई०, पृ० ५५

२. भारतेन्दुकालीन नाट्य-साहित्य—डा० गोपीनाथ तिवारी, पृ० १७६

पारसी नाटक कंपनियों का भी उन दिनों बोलबाला था। रणछोडभाई को अपना मार्ग स्वयं ही प्रशस्त करना पडा। उन्होंने समकालीन उपर्युक्त नाट्य-स्वरूपों के ग्राह्य तत्त्वों को आत्मसात् कर अपने नाटक रचे।' उन्होंने 'भवाई' की अश्लीलता और अभद्रता का परित्याग कर उसके नाट्योपयोगी तत्त्वों का समार्जन कर अपने नाटकों में उनका उपयोग किया। गुजराती नाट्य-साहित्य में सर्वप्रथम रणछोडभाई के ही नाटकों में संस्कृत नाटकों, पाश्चात्य नाटकों एवम् लोकनाटकों के तत्त्वों का सुगम समन्वय पाया जाता है। कवि नर्मद मणि-लाल नभुभाई आदि के नाटकों में यही परंपरा दृष्टिगत होती है। भारतेन्दुकालीन नाटकों की भाँति इस नर्मद-युग के नाटकों में नांदी, प्रस्तावना, अंकविभाजन, गद्य-पद्यमिश्रित भाषा, कविता-प्रयोग आदि के दर्शन होते हैं। जिस प्रकार 'चन्द्रावली', 'कुरुवनदहन', 'छद्मयोगिनी' प्रभृति हिन्दी के आदि-नाटकों में पद्य की प्रचुरता, संगीतात्मकता आदि लीला-नाटकों के लक्षण उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार गुजराती के 'नल दमयंती', 'मदालसा-ऋतुध्वज', 'बाणा-सुर-मदमर्दन' आदि के हास्यांश पर 'भवाई' लोकनाटक का प्रभाव है। दोनों भाषाओं के इन नाटकों के पात्रों के अंतर्द्वन्द्व, दृश्य-विभाजन, संघर्षात्मक परिस्थिति आदि पर पश्चिमी नाटकों की स्पष्ट छाप दीख पडती है। भारतीय एवम् पाश्चात्य दोनों शैलियों का समन्वय इस युग की सबसे बडी विशेषता है। पर यहाँ यह स्मरणीय है कि इस नवीन प्रयोग के कारण नाट्य-शैली का समुज्ज्वल रूप प्रकट नहीं हो पाया है। इस युग के कई नाटकों के घटना निरूपण में वर्णनात्मकता आ जाने से उपन्यास की-सी शिथिलता का अनुभव होता है। दृश्य-योजना भी अवैज्ञानिक और असंतुलित है। कोई अंक दस-बारह लम्बे-लम्बे दृश्यों का है तो कोई एक ही दृश्य का। नर्मद, रणछोडभाई, भारतेन्दु आदि के नाटकों में पाँच-पाँच, सात-सात पंक्तियों वाले कुछ बहुत ही छोटे दृश्य मिलते हैं जिनका रंगमंच पर अभिनय करना कष्ट-साध्य है। 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली', 'कुरुवनदहन' तथा रणछोडभाई और नर्मद के सभी नाटक अभिनेय हैं। इनके अभिनय-तत्त्व पर पारसी रंगमंच का प्रभाव पडा है। कवि नर्मद, रणछोडभाई, मणिलाल नभुभाई आदि के गुजराती नाटक प्रमुखतः रंगमंच की आवश्यकता-पूर्ति के निमित्त रचे गये हैं, फिर भी उनमें शिष्टता तथा संस्कारिता का पूरा निर्वाह हुआ है और साहित्यिकता का भी अभाव नहीं है। किन्तु हिन्दी के प्रारंभिक नाटकों में एक-दो को छोड कर अन्य सभी केवल पाठ्य नाटक हैं। इसका कारण हिन्दी प्रदेश में रंगमंच का अभाव है। गुजराती का अपना रंगमंच लगभग सन १८५३ से आज तक अक्षुण्ण रूप से बना हुआ है। गुजराती में साहित्यिक नाटक और रंगमंच का निकटतम सम्बन्ध रमणभाई नीलकंठ के 'राईनो पर्वत' नाटक (१९१३) के पूर्व तक बना हुआ था। यहाँ पर उल्लेख्य है कि इस काल के हिन्दी पौराणिक नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक रंगमंच की दृष्टि में भी उत्कृष्ट है। उसका अनेक बार सफलतापूर्वक अभिनय हो चुका है। १९१३ के बाद के नाटकों में हिन्दी में 'कृष्णार्जुन-युद्ध', 'वरमाला', 'ययाति', 'शबरी' आदि और गुजराती में मुंशीजी और चन्द्रवदन महेता के नाटक उक्त दोनों प्रकार के गुणों से विभूषित हैं।

१९०० के पश्चात् हिन्दी और गुजराती के नाटकों में नांदी, सूत्रधार, प्रस्तावना आदि संस्कृत तत्त्वों का लोप होने लगता है और क्रमशः पाश्चात्य शैली प्रयुक्त होने लगती है। परन्तु उसमें वस्तु और नेता इन दो तत्त्वों में संस्कृत शिष्टनाटकों की परंपरा बनी रहती है। 'रस' का पूर्णतः निर्वाह नहीं होता और नाटक का अन्त भी कभी सुख में होता है और कभी दुःख में। गुजराती 'तर्पण' और हिन्दी 'कर्त्तव्य' में सुख-दुखाश्रित अन्त हैं। शैली की शैली—जो

उसके गीति-नाट्यो (Lyrical Dramas) मे प्रयुक्त हुई है—से प्रभावित कवि नानालाल के भावना-प्रधान अपद्यागद्य नाटको का स्थान गुजराती मे अन्यतम है। उनकी शैली के नाटक इस पौराणिक धारा मे हिन्दी मे उपलब्ध नही होते। उदयशकर भट्ट के 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य' एकाकी हैं, सपूर्ण नाटक नही है। गुजराती मे मुशीजी के पौराणिक नाटक वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण, आन्तरिक-बाह्य सघर्ष-निरूपण, सवाद-योजना, वातावरण सृष्टि, अभिनय आदि सभी दृष्टियो से उत्कृष्ट हैं।

पाश्चात्य दृश्य-योजना का अधिक प्रभाव 'वरमाला' पर पडा है और आधुनिक चित्र-पट-शैली ने 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'कर्तव्य', 'स्वर्गभूमि का यात्री' आदि नाटकों को भी प्रभावित किया है। सस्कृत के विविध छन्दो म प्रणीत चन्द्रवदन महता का 'शकुन्तला' नाटक रेडियो नाटिका (सगीतिका) के अधिक निकट है। यह नवीन प्रयोग है। इससे भिन्न प्रकार का 'स्वोक्ति' शैली मे 'सीता की मॉं' हिन्दी का पहला एकपात्रीय रूपक है जो अग्रेज़ी के Mono Drama का अनुकरण प्रतीत होता है। इस प्रकार आधुनिक युग म पश्चिमी नाटकों की विभिन्न रचना-शैलियों का हिन्दी-गुजराती नाटकों पर प्रभाव पडा है।

इब्सन के समस्या-प्रधान नाटको की यथार्थवादी शैली पर लक्ष्मीनारायण मिश्र न 'नारद की वीणा' और 'चक्रव्यूह' तथा रागेय राघव ने 'स्वर्गभूमि का यात्री' नाटक लिखे हैं। गुजराती मे इस परम्परा के बहुत कम नाटक उपलब्ध नही होते। वदुभाई उमरवाडिया के इस शैली के पौराणिक नाटक 'मत्स्यगधा अने बीजा नाटको' एकाकी है।

धर्मवीर भारती का 'अन्धा युग' हिन्दी गीति-नाट्य-परम्परा मे पॉंच अको का एक सम्पूर्ण नाटक है जो शैली शिल्प, विषय-वस्तु, पात्र-योजना आदि की दृष्टि से युगप्रवर्तक है। इस पर टी० एस० इलियट और पॉल सार्त्र आदि का प्रभाव स्पष्ट है। इसमे नई प्रतीक शैली मे मुक्तछद (Free Verse) का प्रयोग किया गया है और भाषा, भाव तथा अभिव्यक्ति की दृष्टि से नवीनतम एवम् मौलिक है। इस ढग की कोई पौराणिक रचना गुजराती मे उपलब्ध नही होती।

हिन्दी के प्रारम्भिक पौराणिक नाटको मे गद्य की भाषा खडी बोली है और पद्य मे सर्वत्र ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है। भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट आदि ने अपने नाटको मे इसी परम्परा का निर्वाह किया है। १६०० के बाद ब्रजभाषा हटती जाती है और आज तो केवल खडी बोली हिन्दी के गद्य-पद्य का प्रयोग होता है। गुजराती साहित्यिक नाटको मे ब्रजभाषा और खडी बोली की तरह दो-दो भाषाओं का उपयोग कदापि नहीं हुआ क्योंकि गुजराती मे हिन्दी की भॉंति दो भाषाएँ क्रमश अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप मे प्रयुक्त नही हुईं। प्राचीन काल से आज तक गुजरात मे गुजराती ही साहित्य और बोलचाल की भाषा रही है। गुजराती की यह विशेषता है कि "प्राचीन काल से अब तक की भाषा के क्रमपूर्ण उदाहरण केवल गुजराती मे ही मिलते हैं। अन्य आर्यभाषाओं मे यह क्रम किसी न किसी काल मे टूट गया है।"[1] गुजराती के प्राचीन और नवीन रूपो मे विशेष अन्तर नही है। प्रारम्भिक नाटकों मे गुजराती भाषा के दो रूप अवश्य मिलते हैं—शिष्ट और ग्रामीण या आचलिक। हास्योत्पत्ति के लिए या गुजरात के किसी विशेष अचल के पात्रो को अधिक स्वाभाविक बनाने के लिए ग्रामीण या आचलिक भाषा का उपयोग कवि नर्मद, रणछोडभाई

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, तृतीय सस्करण, १६५५, पृ० ५५

आदि ने अपने नाटकों मे किया है। हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं म देवपात्र या भद्र जन तो शिष्ट भाषा का ही प्रयोग करते हैं। आधुनिक युग मे हिन्दी मे जयशकर प्रसाद, उदयशकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रभृति और गुजराती मे कन्हैयालाल मुशी, चन्द्रवदन महता इत्यादि की भाषा पौराणिक प्रसगा, पात्रो और वातावरण के नितात अनुरूप है।

नाटक काव्य है, अत नाटक का कविता के साथ प्राचीन काल से सम्बन्ध रहा है। प्रारम्भिक नाटक तो पद्यात्मक ही होते थे। इस आलोच्य धारा मे चन्द्रवदन महेता का गुजराती नाटक 'शकुन्तला' पद्यात्मक है। हिन्दी का अधुनातन नाटक 'अन्धा युग' भी गीतिनाट्य है। दोनो भाषाओ के अन्य सभी गद्य नाटकों मे कविताओ का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। हिन्दी और गुजराती के प्रारम्भिक नाटका मे गीत और कविता का आधिक्य है। सम्भवत इसका कारण तत्कालीन लोक-नाटको और रगमचीय नाटको के अतिशय लोकप्रिय पद्यांश का प्रत्यक्ष प्रभाव हो। आधुनिक पौराणिक नाटको मे गीतो की सख्या बहुत ही कम होती चली जा रही है। 'ययाति' और 'सीता की माँ' मे तो एक भी गीत नही है। इसका कारण जीवन की वास्तविकता को ही नाटका में प्रत्यक्ष करने का आग्रह हो सकता है। आगामी कुछ ही वर्षों मे सभवत स्वगत, गीत, लम्बे सवाद और अस्वाभाविक दृश्य सदा के लिए विलुप्त हो जायँ और नाटक सचमुच 'जीवन का यथार्थ दर्शन' हो जाय।

सातवाँ अध्याय

ऐतिहासिक नाटक

इतिहास का सम्बन्ध सामान्यत भूतकाल की घटनाओ तथा उनसे सम्बन्धित स्त्री-पुरुषो के चरित्रो से है। इतिहास मे भूतकालीन व्यक्तियो, इतिवृत्तो और तिथियो को लिपिबद्ध किया जाता है। आज का इतिहासकार न केवल यही कार्य करता है, अपितु वह मानव-समाज के विविध आन्दोलनो का अध्ययन एवम् अनुशीलन कर मानव-सभ्यता के सनातन सत्यो और नियमो का अन्वेषण भी करता है। काल की अविच्छिन्न धारा के मध्य मानव-विकास-रेखा का अनुसधान कर जीवन के शाश्वत सत्यो का उद्घाटन करना आधुनिक इतिहासकार का कर्तव्य बन गया है। ऐतिहासिक नाटककार भी यह कार्य करता है, परन्तु वह किसी देश, काल, घटना या व्यक्ति का यथातथ्य निरूपण नही करता, केवल इतिहास नही लिखता। वह इतिहास के अश को लेकर उसे नाटक के कमनीय कलेवर मे इस प्रकार प्रतिष्ठित कर देता है कि नाटक और इतिहास मे तत्पश्चात् एकरूपता आ जाती है। ऐतिहासिक नाटक मे अतीत के साथ वर्तमान का भी सामजस्य रहता है। एक पश्चिमी लेखक का कथन है कि, "प्रत्येक महान् कलाकृति अपने युग से इतनी अधिक और इतने स्पष्ट रूप से प्रभावित होती है कि कला व साहित्य की वह कृति उस युग के सबसे महत्त्वपूर्ण और सच्चे इतिहास की सज्ञा पा सकती है।" प्राचीन सस्कृति और समाज के यथातथ्य निरूपण के साथ-साथ अपने युग की समस्याओ को प्रस्तुत करना ऐतिहासिक नाटककारो का प्रयोजन रहता है। कभी-कभी ऐतिहासिक व्यक्तियो या घटनाओ के चित्रण द्वारा पाठको या दर्शको को नैतिकता का उपदेश देना और उनमे उदात्त भावनाएँ जाग्रत करना इन नाटककारो का उद्देश्य होता है। इस प्रकार ऐतिहासिक नाटको मे इतिहास आधार का काम देता है। केवल ऐतिहासिक तथ्यो का उद्घाटन करना किसी भी नाटककार का आदर्श नही होता। यह तो इतिहासवेत्ता का काम है।

ऐतिहासिक नाटक मे 'ऐतिहासिक वातावरण' की सृष्टि ही अत्यन्त आवश्यक होती है। यह उसका स्थायी अग है। उत्तम नाटक मे ऐतिहासिक वातावरण सूत्र की तरह आरम्भ से अन्त तक पिरोया रहता है। यही वह धरातल है जिस पर समस्त ऐतिहासिक प्रसग और पात्र अवस्थित रहते है। इसमे कोई नाटककार परिवर्तन नही कर सकता। ऐतिहासिक वातावरण से पाठक या प्रेक्षक को प्राप्त आनन्द नाटक और इतिहास का समिश्रित रूप रहता है। यही 'ऐतिहासिक रस' है। उसकी सृष्टि ऐतिहासिक नाटक मे अनिवार्यत रहती है। ऐतिहासिक नाटको मे पात्रो, प्रसगो आदि मे नाट्यकार अवश्यक परिवर्तन और परिवर्द्धन कर सकता है, किन्तु ऐतिहासिक वातावरण अपरिवर्तनीय है। वही मेरुदण्ड है। हिन्दी और गुजराती के ऐतिहासिक नाटको मे ये सभी विशेषताएँ न्यूनाधिक रूप मे दृष्टि-गोचर होती हैं। इस विषय की विस्तृत विवेचना परवर्ती पृष्ठो मे की जायगी।

हिन्दी के पूर्व-भारतेन्दु और गुजराती के पूर्व-नर्मद युग के सभी ऐतिहासिक नाटकों

नीलदेवी की समग्र रचना पर शेक्सपीयर के दु खान्त नाटको का प्रभाव दिखाई देता है। पात्रो का सघर्ष, सूर्यदेव अब्दुलशरीफ आदि का वध, नाटक का करुण अत, सहसा स्थिति-विपर्यय द्वारा कथानक की धारा-दिशा का परिवर्तन आदि इस नाटक मे ऐसे तत्त्व है जो इसे शेक्सपीयर की 'ट्रेजेडी' के निकट पहुँचा देते है। 'नीलदेवी' के कार्य-व्यापार मे गतिशीलता है। इसमे औत्सुक्य और कौतूहल का भी निर्वाह करने की भारतेन्दुजी ने चेष्टा की है। राजा सूर्यदेव की हत्या के पश्चात् अतिम दसवे दृश्य तक विषाद और निराशा की घनीभूत छाया नाटक पर छायी रहती है। अत मे अमीर और नीलदेवी दोनो की जीवन लीला एक साथ समाप्त होती है। इस दृश्य मे दु खान्त नाटक के सभी गुण पाये जाते है।[1] इस नाटक मे नादी, सूत्रधार, प्रस्तावना और भरतवाक्य का अभाव है। नीलदेवी का चरित्र आदर्श भारतीय नारी का चरित्र है जिसमे नायिका के उच्च गुण विद्यमान हैं। सूर्यदेव भी धीर, वीर और उच्चवशीय नायक है। वीररस नाटक का मुख्य रस है। उसीके साथ करुण रस का भी समन्वय हुआ है। चौथे दृश्य म हास्यरस का परिपाक हुआ है जिसम चपरगट्टू और भटियारिन स्थूल हास्योत्पादक सवाद करते है। सातवें दृश्य मे पिजरे मे मूर्च्छित सूर्यदेव के समक्ष देवता का आगमन अग्रेजी नाटको के पराप्राकृत तत्त्व (Supernatural element) का स्मरण दिलाता है। नाटक मे व्रजभाषा के सुदर गीतो का भी लेखक ने समावेश किया है। इसके वातावरण मे मुस्लिम युग की यथार्थ स्थिति का निर्वाह करने का प्रयत्न किया गया है। इसकी भाषा पात्रोचित है। मुसलमान पात्रो की भाषा उर्दू है और हिन्दू पात्र खडी बोली हिन्दी म बोलते हैं। सवाद गद्य म है। इस नाटक में भारतेन्दुजी ने भारतीय एवम् पाश्चात्य नाटकों की शैलियो का समन्वय किया है, पर उनका झुकाव पाश्चात्य नाट्य-परपरा की ओर विशेष है। इस विषय मे उन्होने स्वयम् अपने 'नाटक' निवन्ध मे स्पष्टता की है

"अब नाटक मे कही आशी प्रवृत्ति, नाट्यालकार, कही प्रकरी, कही विलोभन, कही पचसधि या ऐसे अन्य विषयो की भाँति इनका हिन्दी-नाटक मे अनुसन्धान करना वा किसी नाटकाग मे इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा सपादन करने से उलटा फल होता है और यत्न व्यर्थ जाता है।"[2] 'नीलदेवी' के अध्ययन स यह प्रतिफलित होता है कि भारतेन्दु ने उपर्युक्त विचार को इस नाटक मे कार्यान्वित करने का प्रयास प्रारभ किया है। 'नीलदेवी' अभिनेय नाटक है। भारतेन्दु के जीवनकाल मे ही 'नीलदेवी' का सफल अभिनय अनेक वार हुआ था।[1] 'नीलदेवी' हिन्दी का प्रथम ऐतिहासिक नाटक है जो विषय, शैली और आदर्श की दृष्टि से नये युग का प्रारभकर्ता है। 'नीलदेवी' के एक वर्ष बाद बाबू राधाकृष्ण दास ने इसीके अनुकरण पर 'महारानी पद्मावती' (१८८२) नाटक का निर्माण किया। इस छ -अकीय नाटक मे मेवाड की विख्यात रानी पद्मिनी की कथा अकित की गई है। पद्मिनी यहाँ पद्मावती है। उसके अपूर्व सौन्दर्य का सवाद सुनकर अलाउद्दीन चित्तौड पर आक्रमण करता है और सधि के बहाने चित्तौड के निकट पहुँच जाता है। वह धोखे से राणा रत्नसिह को वदी वना लेता है। पद्मावती कुशल नारी है। युक्ति से राणा को छुडा लाती है। अलाउद्दीन चितौड को घेर लेता है। राजपूतो और मुसलमानो मे घमासान युद्ध होता है और अत मे राजपूत हार जाते हैं।

---

१. हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव—डॉ० श्रीपति शर्मा, प्र० स० १९६१, पृ० ६२
२. भारतेन्दु ग्रथावली—पहला भाग, स० ब्रजरत्नदास, प्र० स, स० २००७ वि०, पृ० ७२२

पद्मावती राजपूत स्त्रियों के साथ अग्निमय गुफा मे प्रवेश करती है। इस प्रकार नाटक का अन्त विषाद मे होता है। इस नाटक मे नान्दी, प्रस्तावना आदि का प्रयोग हुआ है। इसमे पद्मावती का चरित्र प्रधान है और अलाउद्दीन का खलनायक के रूप मे अच्छा चित्रण हुआ है। वीररस प्रधान यह नाटक राधाकृष्ण दास की प्रौढ रचना है जिसमे देश के लिए त्याग और बलिदान का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। 'नीलदेवी' की भाँति इस नाटक की नायिका वीरागना क्षत्राणी पद्मावती है। 'नीलदेवी' के पति राजा सूर्यदेव की भाँति पद्मावती के पति राणा रत्नसेन खलनायक अलाउद्दीन द्वारा मार दिये जाते है। दोनो नाटको मे पराप्राकृत तत्त्वो (Supernatural elements) का अवतरण होता है। दोनो नाटको के भाव, रस, भाषा और अत मे भी समानता है। पर 'नीलदेवी' इस नाटक की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है। भारतेन्दु की प्रतिभा राधाकृष्ण दास मे नही है।

'महारानी पद्मावती' के उपरात राधाकृष्ण दास ने सन् १८६७ मे 'महाराणा प्रतापसिंह' नामक ऐतिहासिक नाटक की रचना की, जिसका विवेचन आगे के पृष्ठो में गणपतराम राजाराम भट्ट के गुजराती 'प्रताप नाटक' के साथ प्रस्तुत किया जायगा।

करुणरस नाटक का प्रधान रस है। रणधीर की मृत्यु और प्रेममोहिनी के विलाप वाला दृश्य अत्यन्त दु:खप्रद तथा प्रभावोत्पादक है। चौबे द्वारा हास्यरस की सृष्टि होती है। युद्ध-सम्बन्धी प्रसग वीररस से ओतप्रोत है। इस नाटक के सवाद सरस, सप्राण एवम् स्वाभाविक हैं। सवादो की सजीवता, शैली की गतिशीलता तथा भाषा की सरलता के कारण यह नाटक बहुत ही लोकप्रिय हुआ है। मुहावरो और कहावतो का भी लेखक ने इसमे प्रयोग किया है। भाषा पात्रानुरूप है। घनानद के सुन्दर कवित्तो द्वारा इस नाटक मे शृगार रस का वातावरण पैदा किया गया है। इस रचना मे 'दृश्य' के स्थान पर बँगला नाटको के अनुकरण पर 'गर्भांक' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस पर पश्चिमी नाटको का भी प्रभाव पडा है। इसमे नान्दी, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि अनुपस्थित हैं। नायक-नायिका की मृत्यु के कारण नाटक ने दु:खान्तकी का रूप धारण किया है। रगमच पर युद्ध, मृत्यु, शव इत्यादि के दृश्य दिखाये गये हैं। श्रीनिवास दास के नाटको म यह सर्वश्रेष्ठ है।

सयोगिता-स्वयवर—लाला श्रीनिवास दास का 'सयोगिता-स्वयवर' नाटक १८८५ मे लिखा गया। इसमे चदवरदाई कृत 'पृथ्वीराज-रासो' के कथा-भाग का आधार लिया गया है। इसका कथानक प्रस्तावना-सहित पांच अको और दृश्यो (गर्भांको) मे बाँटा गया है। यह अत्यन्त निम्न स्तर का नाटक है। कई अस्वाभाविकताओ से यह भरा हुआ है।

इसके अलावा किशोरीदास गोस्वामी का 'मयकमजरी' (१८९१), बलदेवप्रसाद मिश्र का 'मीराबाई' (१८९७) तथा राधाचरण गोस्वामी का 'अमरसिंह राठौर' (१८९५) विशेष उल्लेखनीय हैं। 'अमरसिंह राठौर' दु:खान्त एकाकी है जिसमे राष्ट्रीय भावना पर बल दिया गया है।

गुजराती ऐतिहासिक नाटक

साहित्यिक गुणो से सम्पन्न गुजराती ऐतिहासिक नाटको का प्रारम्भ नर्मद-युग (१८५१-१८८७) से होता है और सबसे पहला ऐतिहासिक नाटक लिखने का श्रेय स्वयम् कवि नर्मद को है। यद्यपि नर्मद-रचित दु:खान्त ऐतिहासिक नाटक 'कृष्णाकुमारी' (१८६६) उच्च कोटि की कृति नही है, किन्तु उसका गुजराती साहित्य मे ऐतिहासिक मूल्य अवश्य है। इसकी कथावस्तु टॉड के 'राजस्थान' पर आधृत है। उदयपुर के राणा भीमसिंह की पुत्री कृष्णाकुमारी का लग्न-सम्बन्ध जोधपुर के राणा भीमसिंह के साथ हुआ था। किन्तु विवाह के पूर्व ही भीमसिंह की मृत्यु होती है। मानसिंह उत्तराधिकारी बनता है। सवाईसिंह की कूटनीति से जोधपुर का मानसिंह और जयपुर का जगतसिंह ये दोनो कृष्णाकुमारी से विवाह करने को उत्सुक हैं। दोनो एतदर्थ लडते है पर कृष्णाकुमारी को पा नही सकते। अमीरखाँ के भयकर षड्यन्त्र के कारण अजित द्वारा कृष्णाकुमारी को विष दे दिया जाता है। इस प्रकार नाटक का करुण अन्त होता है। इस नाटक के नौ अक और कई दृश्य हैं। इसका प्रारम्भ पूर्वरग म होता है जो सस्कृत नाट्य शैली का प्रभाव है। कथावस्तु काफी लम्बी और शिथिल है। उसम सक्षिप्तता और सघर्ष का नितात अभाव है। सभी पात्र ऐतिहासिक है पर उनका चारित्रिक विकास सम्यक्-रूपण नही हुआ है। कविताओ का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग हुआ है। इस युग के लगभग सभी नाटककारो की यह दृढ मान्यता पायी जाती है कि

---

१ 'कृष्णकुमारी नाटक' की 'प्रसग' नामक प्रस्तावना—ले० नर्मद कवि, पृ० ३

नाटक याने कविता-प्रचुर, सवादाश्रित साहित्य प्रकार। स्वयम् नर्मद ने भी 'गद्यपद्यात्मक सवाद' को नाटक कहा है' और वही गद्यपद्यात्मक शैली 'कृष्णाकुमारी' मे व्यवहृत हुई है। इससे नाटक मे सजीवता और सक्रियता का ह्रास हुआ है। कही-कही अनावश्यक प्रसगो और प्रवेशो (दृश्यो) का भी समावेश हुआ है। इसके कई दृश्य बहुत ही छोटे है। इसमे शिष्ट गुजराती शब्दो के साथ जन बोली के शब्दो का कृत्रिम सम्मिश्रण हुआ है। इससे सवादो मे नीरसता आ गई है। यह नाटक तत्कालीन रगमच पर भी असफल रहा था। कवि नर्मद की प्रतिभा का लेशमात्र भी परिचय इस कृति से प्राप्त नही होता।

वीरमती—गुजराती के आद्य समीक्षक स्व० नवलराम पड्या न अपन रूपातरित लोकप्रिय सामाजिक प्रहसन 'भट्टनु भोपालु' के दो वर्ष पश्चात् सन् १८६६ म इस मौलिक ऐतिहासिक नाटक की रचना की जिसकी कथावस्तु फार्बस द्वारा सम्पादित 'रासमाला' की जगदेव परमार और वीरमती की विख्यात कथा पर आश्रित है। यह नाटक सस्कृत-शैली का अधिकाश म अनुसरण करता है। इसमे लेखक ने सिद्धराज जयसिंह के युग को साकार करन का सफल प्रयत्न किया है। वीरमती प्रारम्भ मे मुग्धा है। तदनतर सती क्षत्राणी के रूप म उसका विकास होता है। उसका चरित्र उदात्त, गौरवयुक्त तथा प्रभावशाली है।

ज्ञान सम्पन्न, भव्य व्यक्तित्वमय सिद्धराज, मेवाड के भामाशाह का स्मरण कराने वाला दयाल भाट, वीर एवम् स्वामिभक्त जगदेव, शुद्ध प्रेम का सुन्दर दर्शन कराने वाली सुभगा और जैन-धर्म की सत्ता प्रस्थापित करने के लिए उचित अनुचित कार्य करन वाला प्रखर-बुद्धि ज्ञानविजय—इस वैविध्यपूर्ण पात्र-सृष्टि के कारण नवलराम को इस युग क गणना-पात्र नाट्यकारो मे स्थान प्राप्त हुआ है। जैनधर्मावलबियो के कुचक्रो और गणिका-सस्था के चित्रण द्वारा नाटक मे ऐतिहासिक वातावरण का समीचीन अकन हुआ है। इस नाटक मे वीर, शृगार और करुण रस का समन्वय हुआ है। नाटक की कुछ कविताएँ बहुत ही उत्तम कोटि की है।

प्रारम्भिक ऐतिहासिक नाटक होने के कारण 'वीरमती' म कई दोष दृष्टिगत होते हैं। नाटक सुग्रथित नही है। वस्तुसकलना मे विशृखलता एवम् शिथिलता है। इससे प्रभावैक्य का अभाव अनुभव होता है। अपनी समकालीन नाट्य शैली का अनुसरण करन के कारण नवलराम ने भोडी ग्रामीण बोली के सवादो का, अनपेक्षित कविताओं का और अनावश्यक दृश्यो का प्रयोग किया है। इससे नाटक की कथावस्तु के विकास मे अडचन उपस्थित हुई है और नाट्य-कला का ह्रास हुआ है। यदि ये दोष टाले गये होते तो 'वीरमती' नर्मद युग का एक श्रेष्ठ नाटक सिद्ध होता।

कान्ता (१८८२)—इस नाटक के रचयिता मणिलाल नभुभाई द्विवेदी हैं। इसकी कथा पाटन के इतिहास से सम्बन्धित है जिसमे लेखक ने आवश्यक परिवर्तन किया है। भुवनादित्य को हराकर लौटे हुए सुरसेन का सम्मान करने के लिए उसके घर पाटन क राजा जयचन्द्र का आगमन होने वाला है। इसके लिए स्वागत-मडप की रचना की गई है। मडप के चित्रो का निरीक्षण सुरसेन अपनी पत्नी काता के साथ कर रहा है। उसी समय पुन युद्ध शुरू होने के समाचार आते हैं। सुरसेन काता और दासी तरला को भीलो के आश्रय म छोडता है। वह जाते समय काता के गले मे मोतियो की माला डालते हुए यह सूचना देता है कि जब तक यह हार अखडित रहेगा तब तक हम जिन्दा ही रहेंगे। वह चला जाता है। युद्ध होता है। महाराजा जयचन्द्र मारे जाते हैं। उनका पुत्र करण पाटन की राजगद्दी पर

बैठता है। करण और रत्नदास कांता और तरला को जंगल से पकड़ लाते हैं। तरला लोभ-वश कांता की माला रात्रि के समय तोड़ डालती है। सुरसेन की बात को याद कर कांता प्राण त्याग देती है। तत्पश्चात् सुरसेन आता है और कांता के साथ वह भी चिता पर जल जाता है। इस प्रकार इस नाटक का दुःख मे पर्यवसान होता है।

यह दुःखान्त नाटक सन् १८८६ मे 'कुलीन कांता' के नामाभिधान के साथ सुप्रख्यात 'बंबई गुजराती नाटक-मंडली' के द्वारा सर्वप्रथम बंबई मे खेला गया था, जिसे अप्रत्याशित सफलता प्राप्त हुई थी। कई सालो तक उक्त मंडली के 'कांता' खेल के पीछे लोग पागल बने रहे।[1] दुर्जन पात्रो के सूक्ष्म चरित्र-चित्रण, पातिव्रत धर्म की प्रभावोत्पादक अग्नि परीक्षा, चमत्कारपूर्ण घटनाक्रम, रंगमंचीय भव्य साज-सज्जा और मधुर गेय कविताओं के कारण यह नाटक रंगमंचीय नाटक के रूप मे सफल सिद्ध हुआ है।

इस नाटक मे उच्च कोटि के साहित्यिक गुण भी दृष्टिगोचर होते है। पात्रो के अंतर्द्वन्द्व का बड़ा ही सूक्ष्म निरूपण इसमे हुआ है। इसकी कथावस्तु मे नाटकीय संघर्ष और कार्यवेग का तनिक भी अभाव नही है। 'कांता' नाटक मे भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-शैलियो का समन्वय पाया जाता है। संस्कृत-शैली के अनुसार यद्यपि इसमे नांदी, सूत्रधार, प्रस्तावना आदि नही है, फिर भी इस पर संस्कृत-नाटको की छाया स्पष्ट है। इसमे श्लोको की भाँति वर्णनात्मक कविताओं का प्रयोग हुआ है। रस-परिपाक भी परंपरागत है। इस नाटक मे प्रयुक्त संस्कृत-प्रचुर संवाद-शैली, युद्ध और प्रकृति-वर्णन तथा सुरसेन के विरह-प्रलाप पर भी संस्कृत-नाटको का प्रभाव पड़ा है। पाश्चात्य दुःखान्तकी की तरह विषादमय नाटकीय वातावरण को घनीभूत बनाने के लिए इसमे मृत्यु-प्रसंगो की सृष्टि की गई है। पात्रो के अंतर्द्वन्द्व और शोक-पर्यवसायी नाट्य शैली पर शेक्सपीयर के विषादान्त नाटको का प्रभाव स्पष्ट है। गुजराती नाटक-साहित्य मे उत्तम साहित्यिक शैली का प्रारंभ इस नाटक से होता है।

उन्नीसवी शती के अंतिम चरण की नाट्य-कृति होने के कारण 'कांता' मे युगीन विशेषताएँ समाहित हो गई हैं जिन्हें आज दोष कहा जा सकता है। इसमे तत्कालीन परंपरा-नुसार कविताओं का अतिरेक है। दृश्यो का सम्यक् विभाजन नही हुआ है। पात्रो की अधिकता है। पातिव्रत के आदर्श की प्रस्थापना मे स्वाभाविकता नही आने पाई है। हास्यरस का नितांत अभाव है। फिर भी यदि समग्र दृष्टि से देखा जाय तो यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि 'कांता' साहित्यिक तथा रंगमंचीय दृष्टि से उत्कृष्ट नाटक है। "अपने पुरोगामी नाटको की अपेक्षा इसने वस्तुसंकलना, पात्र-आलेखन, भाषा, कविता, संवाद इत्यादि प्रत्येक विषय की दृष्टि से निश्चित विकास किया है।"[2]

इन नाटको के उपरान्त गणपतराम ओझा-कृत 'म्होटा माधव पेशवा' (१८७१), हरिलाल ह्र्षदराय ध्रुव-कृत 'विक्रमोदय' (१८८३), कवीश्वर जुगलकिशोर कृत 'वनराज चावडो' (१८८५), भीमराव भोलानाथ-कृत 'देवलदेवी' (१८९९) आदि उल्लेखनीय हैं।

---

१. गुजराती साहित्यना वधू-मार्ग-सूचक स्तम्भो—दि० ब० कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी, आवृत्ति पहली, १९३० पृ०, १९५
२ प्रो० अनन्तराय मणिशंकर रावल 'गुजरात साहित्य सभानी १९३४ नी कार्यवही' में लेख 'गुजराती नाटक साहित्यनुं रेखादर्शन'—पृ० १५

'प्रताप' नाटक

स्वतन्त्रता, समर्पण और सेवा के प्रतीक तथा भारतीय इतिहास के जगमगाते नररत्न महाराणा प्रताप का चरित्र सदा ही इस देश मे पूजा और श्रद्धा का विषय रहा है। प्रताप ने मेवाड की सर्वोपरिता और स्वायत्तता के लिए जो कुछ किया और सहा, उसमें हमारी राष्ट्रीयता और देश-सेवा की भावना को बडा बल मिला है। कई भारतीय साहित्य-स्रष्टाओं ने उनके अपूर्व त्याग और बलिदान से प्रेरित होकर अपने ग्रंथ प्रणीत किये हैं। हिन्दी में राधाकृष्ण दास का 'राजस्थान-केसरी' अथवा 'प्रतापसिंह' और गुजराती में गणपतराम राजाराम भट्ट का 'प्रताप नाटक'—ये दोनों ग्रंथ इस कथन के प्रमाण हैं। गणपतराम राजाराम ने अपने नाटक की रचना १८८३ मे की जबकि राधाकृष्ण दास का 'महाराणा प्रतापसिंह' १८९७ में लिखा गया। हिन्दी-नाटक के १४ वर्ष पूर्व गुजराती नाटक की सृष्टि हुई है और विशेष उल्लेखनीय तो यहाँ यह है कि राधाकृष्ण दास को अपने 'महाराणा प्रतापसिंह' नाटक के लिखने मे तीन-चार अन्य ऐतिहासिक ग्रंथो के साथ "कवि गणपतराम राजाराम के गुजराती 'प्रताप-नाटक' से बहुत कुछ सहायता मिली है।" इस बात को राधाकृष्ण दास स्वयम् अपने 'महाराणा प्रतापसिंह' नाटक के 'निवेदन' मे सधन्यवाद स्वीकार करते हैं।[1] दोनों की तुलना करने के पहले उनका प्रारंभिक परिचय प्राप्त कर लेना युक्ति-युक्त होगा।

हिन्दी 'महाराणा प्रतापसिंह' नाटक (१८९७)

राधाकृष्ण दास के नाटकों मे उनका यह ऐतिहासिक नाटक सर्वश्रेष्ठ है। नादी, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि संस्कृत नाटकों के परंपरागत तत्त्वों से सम्पन्न सात अंकों और अनेक गर्भांकों (दृश्यों) वाला यह नाटक महाराणा प्रताप के शौर्य और संकल्प बल को प्रगट करता है। महाराणा प्रताप सभी सामन्तों के समक्ष उदयपुर के राजदरबार में चित्तौड को स्वतंत्र करने की आकांक्षा प्रगट करते हुए कहते हैं "स्वाधीनता बचाइ, दासता-शृंखल तोडो।" इस प्रस्ताव का सभी लोग समर्थन करते है और आक्रमण की तैयारियाँ होती हैं। प्रताप द्वारा अपमानित राजा मानसिंह अकबर को प्रताप के विरुद्ध उकसाता है। फलत अकबर सलीम, मानसिंह आदि को विशाल सेना के साथ अजमेर की ओर रवाना करता है। युद्ध प्रारम्भ होता है। प्रताप की सेना पराजित होती है। चेतक घोडे पर सवार महाराणा वन की ओर प्रस्थान करते है। चेतक की मृत्यु होती है। देश को पुन स्वाधीन करने के लिए महाराणा प्रताप अरावली के पहाडों मे अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ विपन्नावस्था मे रहते हैं। अंत में भामाशाह की आर्थिक सहायता से प्रतापसिंह पुन राज्य प्राप्त करते हैं और अकबर भी मेवाड की ओर से मुँह मोड लेता है। इस प्रकार नाटक की सुख म समाप्ति होती है। इस आधिकारिक घटना के साथ लेखक ने गुलाबसिंह और मालती की प्रणय कथा प्रासंगिक घटना के रूप मे अंकित की है जिससे नाटक में सरसता और रोचकता पैदा हो गई है। दोनों कथाएँ स्वाभाविक ढंग से समन्वित है। इस नाटक के कुछ दृश्य बडे मार्मिक

---

१. 'महाराणा प्रतापसिंह' नाटक : ले० श्री राधाकृष्ण दास, आठवां संस्करण, १९३५, इण्डियन प्रेस प्रयाग का प्रकाशन 'निवेदन', पृ० २

है। राणा की विपन्नावस्था का दृश्य हृदयस्पर्शी है। गुलाबसिंह और मालती के प्रेम के साथ कर्त्तव्य-भावना का अंकन भी कम प्रभावोत्पादक नहीं। भामाशाह की देश-भक्ति, त्याग और उदारता अनुपमेय है। लेखक ने इस दानवीर का चित्रण बड़ी ही कुशलता से किया है। प्रताप का समूचा जीवन वीरता, त्याग और सहनशीलता का उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत करता है। यह वीररस-प्रधान नाटक है जिसमें हिन्दुत्व की भावना और देश-प्रेम के उच्चादर्श को प्रगट किया गया है। गुलाबसिंह और मालती का प्रणय-प्रसंग शृंगाररस से ओतप्रोत है। अकबर के पात्र में विभिन्न वृत्तियों का अच्छा सम्मिश्रण है। प्रारंभ में वह कामातुर और विलासी है। बाद में पृथ्वीराज की रानी से क्षमा-याचना कर वह अपने मानवीय अंश का उद्घाटन करता है। उसमें कूटनीतिज्ञता के साथ-साथ उदारता और कलाप्रियता के भी गुण हैं। पृथ्वीराज जात्यभिमानी सच्चरित्र क्षत्रिय है।

इस नाटक में संस्कृत नाट्य-तत्त्वों के साथ पाश्चात्य शैली का भी सम्मिश्रण किया गया है। गर्भांकों का प्रयोग बँगला नाटकों के अनुकरण पर अंग्रेजी-नाटकों के दृश्यों के अनुसार हुआ है। युद्ध और मृत्यु के प्रसंगों का मंच पर प्रदर्शन, पात्रों का अंतर-बाह्य संघर्ष आदि पश्चिमी नाट्य-प्रभाव के उदाहरण है। इस नाटक में अभिनेयता का भी गुण विद्यमान है। अनेक बार इसका अभिनय किया जा चुका है और आज भी इस नाटक की उपयोगिता कम नहीं हुई है।[1] इसकी भाषा आद्योपान्त पात्रानुकूल साहित्यिक है। मुसलमान पात्र उर्दू बोलते हैं और हिन्दू पात्र खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग करते हैं। कहीं-कहीं ग्रामीण बोली का भी पुट मिलता है। नाटक में व्रजभाषा के गीत चित्ताकर्षक और मनोरम हैं। उनमें से कई सफलतापूर्वक भिन्न-भिन्न रागों में गाये भी जा सकते हैं।

इस नाटक में इन गुणों के साथ थोड़े से दोष भी दृष्टिगत होते हैं। अनेक स्थानों पर पद्य-रचनाएँ बड़ी लम्बी और उबाने वाली है। सातवें अंक के पाँचवें गर्भांक में प्रताप के नाम पृथ्वीराज का बहुत लम्बा पद्यमय पत्र नाटकीय प्रभाव में बाधक है। प्रमुख पात्रों के संभाषणों और 'स्वगतों' का भी आवश्यकता से अधिक विस्तार हो गया है। कतिपय गर्भांक (दृश्य) बहुत छोटे और रंगमंचीय दृष्टि से त्रुटिपूर्ण हैं। कुछ व्यर्थ के गर्भांकों का भी समावेश हुआ है। इन दोषों के होते हुए भी नाटकीय दृष्टि से 'महाराणा प्रतापसिंह' भारतेन्दुकालीन ऐतिहासिक धारा का सर्वश्रेष्ठ नाटक है।[2]

गुजराती 'प्रताप' नाटक (१८८३)

गणपतराम राजाराम भट्ट ने केवल इसी एक ही नाटक की रचना की और अमर कीर्ति सम्पादन की। इस ऐतिहासिक नाटक के प्रणयन के लिए गणपतराम राजाराम स्वयम् उदयपुर में तत्कालीन महाराणा सज्जनसिंह के आश्रय में रहे थे। उस समय वहाँ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की गणपतराम से प्रत्यक्ष भेंट हुई थी और लेखक ने अपना 'प्रताप' नाटक उन्हें सुनाया था। नाटक-सम्बन्धी भारतेन्दु का अभिप्राय इस प्रकार है

"उदयपुर मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी संवत् १९३९—यहाँ संयोग से मुझसे कविवर श्री गणपतराम राजाराम भट्ट से आलाप हुआ। इन्होंने स्वरचित प्रताप-नाटक गुजराती भाषा

---

१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : डा० दशरथ ओझा, पृ० २५०
२. डा० सोमनाथ गुप्त : हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० ६६

का मुझको सुनाया। कवि की प्रौढ़ोक्ति से भी विशेष आनन्द मुझको इस कारण हुआ कि यह नाटक पूर्व पुरुषों का दिगन्तव्यापी शौर्य गुण का स्मारक और हमारे चित्त में पूर्व-वासना का पुनरुत्तेजक है। आर्याभिमानी पुरुष को धर्म-पुस्तक की भाँति इसकी प्रति अपने घर में रखनी उचित है, क्योंकि यह काव्य केवल प्रमोद के हेतु नहीं है, हम लोगों के धमनीगत शीत स्थगित रुधिर को उष्ण करके परिचालित करने का एक छोटा-सा यत्न है।

हरिश्चन्द्र,
काशीवासी।"[1]

वस्तुत 'प्रताप नाटक' महाराणा प्रताप के 'शौर्य गुण का स्मारक' और हम लोगों के "शीत स्थगित रुधिर को उष्ण करके परिचालित करने का एक छोटा सा यत्न है।" इस नाटक का कथानक महाराणा प्रताप के उदात्त चरित्र का उद्घाटन करता है। दिल्ली का बादशाह अकबर है। उसने राजपूताने के अधिकांश राजाओं को या तो पराजित कर अपने अधीन कर लिया है या कूटनीति द्वारा उनसे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया है। प्रताप इससे चिंतित हैं और यवनों को निर्मूल करने का उपाय ढूँढ रहे हैं। उधर अकबर भी प्रताप की स्वतत्रता से अस्वस्थ है। इसी बीच मानसिंह अतिथि बनकर मेवाड में आता है। राणा अनुपस्थित रहकर उसे अपमानित करते है। क्रुद्ध मानसिंह मेवाड के सर्वनाश के लिए अकबर को उकसाता है। युद्ध की तैयारियाँ होती हैं। मेवाड पर चढाई करने के लिए सलीम, मानसिंह वगैरह अजमेर से हल्दीघाटी के मैदान की ओर आगे बढते हैं। वहाँ राणा से मुठभेड होती है। हाथी पर बैठे हुए सलीम पर राणा का वार खाली जाता है। तत्काल सेना तितर बितर हो जाती है। राणा का स्थान देलवाडा के भाला लेते है और प्रताप को भागना पडता है। पुन कोमलमेर के किले के बाहर युद्ध होता है। प्रताप हारकर अरावली की एकान्त गुफा मे पनाह लेते हैं। अन्त मे जब वे सिन्ध के रेगिस्तान की ओर हमेशा के लिए जाने की तैयारी करते हैं तब भामाशाह सेठ उन्हें अपनी सपूर्ण सम्पत्ति सौंपते हैं। सेना का सगठन करके प्रताप पुन उदयपुर जीतते हैं और ऋषि वशिष्ठ के आशीर्वचन के साथ नाटक का सुखान्त होता है।

इस नाटक मे महाराणा के चरित्र द्वारा लेखक ने वीरता, धैर्य और स्वार्पण की भव्य भावना प्रस्तुत की है। भामाशाह के द्रव्य त्याग के अपूर्व उदाहरण द्वारा दानशीलता का आदर्श अंकित किया गया है। यह सात अको और अनेक प्रवेशों (दृश्यों) वाला नाटक प्रधानत वीररसाश्रित है। हास्य और करुण का भी इसमे प्रसगोचित परिपाक हुआ है।

नादी, प्रस्तावना, विष्कभक, भरतवाक्य इत्यादि तत्त्वो मे यह नाटक सस्कृत परिपाटी का अनुसरण करता है और दृश्य-विभाजन, चरित्र-चित्रण, युद्ध और सहार के प्रसग-प्रदर्शन आदि मे पश्चिमी नाटकों की शैली इसमे व्यवहृत हुई है। इसका विदूषक सस्कृत-नाटक के विदूषक के साथ-साथ लोक-भवाई का 'रंगला' भी है जिसके चरित्र मे स्थूलता अधिक है। कभी-कभी वह अपनी बेहूदी बातो के जरिये गम्भीर प्रसगो की गम्भीरता और महत्ता कम कर देता है जिससे नाटक मे रसह्रास होता है। तीसरे अक के पाँचवे प्रवेश मे प्रताप और महारानी का सवाद पद्यात्मक है और छठे अक के तीसरे प्रवेश मे प्रताप की स्वगतोक्ति भी

---

१. प्रताप नाटक ले० गणपतराम राजाराम भट्ट : छठी आवृत्ति : 'सन् १९१७ में प्रकाशित ग्रथ-सम्बन्धी अभिप्राय'—पृ० १८५

गद्य-पद्य-मिश्रित है। सम्भवत इन दृश्यों पर व्यावसायिक रगमच का प्रभाव पड़ा है। अकबर प्रारम्भ मे दुराचारी है। मुगल औरत के छद्मवेश मे वह दिल्ली बाज़ार मे राजपूतानियों की आबरू लेता है। नाटक के उत्तरार्द्ध मे अकबर सगीत-प्रेमी, उदार और प्रताप का प्रशसक बनता है। मानसिंह भ्रष्ट राजपूत है। पृथ्वीसिंह स्वाभिमानी क्षत्रिय का आदर्श पेश करता है।

भाषा को स्वाभाविक और पात्रानुरूप बनाने के लिए हिन्दू पात्रो के द्वारा गुजराती और मुसलमानी पात्रो के द्वारा 'मुसलमानी याने हिन्दी' का प्रयोग करवाया है। इस 'हिन्दी' को लेखक ने 'हिन्दुस्तानी' भी कहा है जो वास्तव में हिन्दी, गुजराती, अरबी, फारसी आदि के शुद्ध-अशुद्ध शब्दो की अजीब 'खिचड़ी भाषा' नज़र आती है। यह भाषा हिन्दी की दृष्टि से व्याकरण-सम्मत भी नही है।[1] नाटक के विदूषक, भील प्रभृति पात्र ग्रामीण गुजराती बोली का प्रयोग करते हैं।

इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक ने अपनी लेखन-शक्ति द्वारा इसमे मुगलकालीन युद्ध के वातावरण की तथा प्रताप के क्षात्र तेज और सकल्प को सजीव एवम् अमर बना दिया है।[2] किन्तु यदि समग्र दृष्टि से देखा जाय तो यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि 'प्रताप नाटक' एक सामान्य कोटि का नाटक है जिसमे मद कार्य-व्यापार है और सकलना-विहीन रचना-विधान है। लम्बे-लम्बे 'स्वगतो' और पद्य-युक्त प्रशस्ति-गीतो के कारण नाटक मे नीरसता आ गई है। इसकी भाषा कही कही बड़ी कृत्रिम और आडबरपूर्ण लगती है। दृश्य-विभाजन भी दोषपूर्ण है। कुछ दृश्य बहुत ही छोटे हैं। यह नाटक 'दृश्य' नही, 'पाठ्य' है। रगमचीय तत्त्वो का इसमे अभाव है। सबसे बड़ी त्रुटि तो नाटक के अन्तिम दृश्य (अक ७, दृश्य ४) मे ऋषि वशिष्ठ के प्रवेश के कारण उत्पन्न होती है। वेदकालीन ऋषि का मुगल युग के इस नाटक मे आगमन किसी प्रकार सगत नही है। इस पात्र की नाटक मे न तो अनिवार्यता प्रतीत होती है और न आवश्यकता। सभवत तत्कालीन व्यावसायिक रगमचीय नाटको के चमत्कारपूर्ण वातावरण से आकर्षित होकर लेखक ने वशिष्ठ के पात्र का अवतरण किया है। यह न बुद्धि-ग्राह्य है और न तर्क-शुद्ध। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसे युक्तियुक्त नही कह सकते।

इन दोषो के होते हुए भी यह नाटक आदर्शो की प्रमुखता तथा कतिपय रससिक्त प्रसगो और सुस्पष्ट पात्रो की सृष्टि के कारण 'मध्यम कोटि की एक मननीय रचना' का स्थान ग्रहण करता है।[3]

तुलना

पूर्ववर्ती पृष्ठो मे यह कहा जा चुका है कि गणपतराम राजाराम द्वारा रचित 'प्रताप-नाटक' राधाकृष्णदास के 'महाराणा प्रतापसिंह' नाटक से चौदह वर्ष पहले लिखा गया है। राधाकृष्णदास ने अपने नाटक की रचना करने मे गुजराती 'प्रताप नाटक' से बहुत कुछ सहायता ली है।

---

१. इस भाषा के कुछ उदाहरण देखिये—परिशिष्ट में

२. साहित्य-विहार—प्रो० अनतराय रावल पृ० १८६

३. श्री विजयराय कल्याणराय वैद्य 'गुजराती साहित्यनी रूपरेखा'—त्रीजी आवृत्ति, सन १९४९, पृ० १७८

दोनो का प्रारम्भ सस्कृत नाट्य शास्त्रानुसार नादी और प्रस्तावना से होता है और अन्त मे भरतवाक्य से दोनो नाटको की परिसमाप्ति होती है। गुजराती नाटक का विदूषक हिन्दी मे परिपार्श्वक है। आगे चलकर हिन्दी नाटक मे विदूषक का कार्य पुरोहित करता है, परन्तु यह पुरोहित विदूषक से अधिक सयत, गम्भीर एवम् बुद्धिमान है। अक और दृश्य-योजना दोनों भाषाओं के नाटको की समान है। दोनो के सात अक हैं। गुजराती का 'प्रवेश' हिन्दी मे 'गर्भांक' है। ये दोनो शब्द 'दृश्य' के ही पर्यायवाची हैं। प्रताप, अकबर, भामाशाह, सलीम, मार्नासिह, पृथ्वीराज, महाराणी वगैरह कई पात्र दोनो नाटको मे समान चरित्र और कर्तव्य लेकर आते हैं। राधाकृष्ण दास ने अपने नाटक मे वीररस के साथ शृगार रस का समन्वय करने के लिए गुलाबसिंह और मालती के प्रणय की प्रासगिक घटना का अवतरण किया है। गणपतराम के नाटक मे यह घटना नही है। उन्होंने अन्त म ऋषि वशिष्ठ का प्रवेश कराया है जिससे नाटक मे अस्वाभाविकता की वृद्धि हुई है। इस नाटक मे शृगाररस का अभाव है। वीररसाश्रित दोनो 'प्रताप' नाटकों मे राष्ट्रीयता, देश-प्रेम और समर्पण की उदात्त भावनाओ के दर्शन होते हैं। कथानक, चरित्र चित्रण, रचना-विधान, उद्देश्य आदि की दृष्टियो से दोनो भाषाओ के इन नाटकों मे अधिक साम्य है। भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-तत्त्वो का समन्वय तथा पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग हिन्दी और गुजराती के इन नाटकों मे मिलता है।

लम्बे-लम्बे सभाषण और स्वगतोक्तियाँ, पद्य की प्रचुरता, असमान दृश्य-विभाजन, अनावश्यक दृश्यो का प्रयोग आदि ऐसी त्रुटियाँ हैं जो दोनों नाटको मे दृष्टिगत होती है। किन्तु हिन्दी 'महाराणा प्रतापसिंह' नाटक के ब्रजभाषा के गीतो मे जो माधुर्य और ओज है उसका गुजराती कृति मे नितात अभाव है। राधाकृष्ण दास की भाषा भी बडी प्रौढ, परिष्कृत और प्राजल है। वैसी भाषा गणपतराम नहीं लिख सके हैं। 'महाराणा प्रतापसिंह' का अन्त भी बहुत ही प्रभावोत्पादक और प्रेरणादायी है। गुलाबसिंह और मालती के प्रणय, देश-प्रेम, समर्पण और विवाह की अन्तिम गौण कथा ने हिन्दी नाटक मे बडी ही सजीवता और सरसता पैदा करदी है। यह नाटक अनेक स्थानों पर कई बार सफलतापूर्वक अभिनीत होता चला आ रहा है। गुजराती प्रताप' मे रगमचीय तत्त्वो का अभाव है। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि साहित्यिक एवम् रगमचीय—सभी दृष्टियो से गुजराती 'प्रताप' की तुलना मे हिन्दी का 'महाराणा प्रताप' नाटक उच्चकोटि का है, यद्यपि गुजराती नाटक ने हिन्दी नाटक को पूर्णत प्रभावित किया है। इतना ही नही, वह उसी के अनुकरण पर लिखा गया है।

साराश

१६०० ई० पूर्व के हिन्दी और गुजराती ऐतिहासिक नाटको के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दोनो भाषाओ के नाट्य-शिल्प म अत्यधिक साम्य है। विषय की दृष्टि से तो केवल महाराणा प्रताप विषयक दोनों भाषाओं के नाटको मे ही समानता है। शेष विषयो मे भिन्नता है। जिस प्रकार पौराणिक नाटको मे राम, कृष्ण और अन्य पौराणिक पात्रो न दोनों भाषाओ के लेखको को समान रूप से आकर्षित किया है, इस प्रकार इन ऐतिहासिक नाटको मे भारतीय इतिहास के वीर पुरुषो या प्रसिद्ध प्रसगो ने एक साथ दोनो को अपनी ओर नही खीचा है। यह आश्चर्य की बात है। १८५७ की क्रान्ति के अनन्तर देश म राष्ट्रीयता और स्वतत्रता की भावना सर्वत्र प्रसारित हो गई थी। अग्रेजी साम्राज्य

की दासता से मुक्त होने की आकांक्षा जनता में जमी थी। ये स्वाधीनता, जातीयता, देश-प्रेम आदि के युगीन आदर्श तत्कालीन नाटकों में उपलब्ध होते हैं। हिन्दी के 'नीलदेवी', 'महारानी पद्मावती', 'महाराणा प्रतापसिंह', 'अमरसिंह राठौर' आदि और गुजराती के 'प्रताप नाटक', 'कांता', 'म्होटा पेशवा' इत्यादि नाटकों में राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की भावना प्रकट हुई है। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु-युग का और गुजराती साहित्य में नर्मद-युग का एक ही समय में आगमन हुआ है। दोनों युगों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ जातीय पुनरुत्थान, सामाजिक सुधार और नैतिक आदर्श-प्रचार की रही हैं। इसी के फलस्वरूप तत्कालीन ऐतिहासिक नाटकों में भी ऐतिहासिक पात्रों के निरूपण के पीछे यही भावनाएँ काम करती नजर आती हैं। भारतीय नारी-जीवन को उज्ज्वल और उन्नत बनाने के लिए आदर्श रूप में हिन्दी में नीलदेवी और महारानी पद्मिनी तथा गुजराती में वीरमती और कांता के उत्कृष्ट चरित्रों को इन ऐतिहासिक नाटकों में चित्रित किया गया है। यहाँ यह साश्चर्य उल्लेख किया जाता है कि इस काल के दोनों भाषाओं के अधिकांश उत्तम नाटक नारी-पात्रों को लेकर ही लिखे गये हैं। यथा—नीलदेवी, महारानी पद्मावती, संयोगिता, कृष्णाकुमारी, वीरमती, कांता इत्यादि।

हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के इन सभी ऐतिहासिक नाटकों में वीर रस प्रधान रूप से पाया जाता है जो नितांत स्वाभाविक और सुसंगत है। वीर रस के साथ करुण, शृंगार और हास्य रस का भी परिपाक हुआ है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'नीलदेवी' (१८८१) हिन्दी का पहला ऐतिहासिक नाटक है जो वीररसाश्रित है और कवि नर्मद का 'कृष्णाकुमारी' (१८६६) गुजराती का पहला ऐतिहासिक नाटक है जो करुण रसाश्रित है। गुजराती का प्रथम ऐतिहासिक नाटक हिन्दी के प्रथम ऐतिहासिक नाटक से लगभग बारह वर्ष पूर्व रचा गया है। हिन्दी के प्रथम दुःखांत नाटक 'रणधीर और प्रेममोहिनी' की रचना १८७७ में हुई। इस प्रकार ऐतिहासिक दुःखांत नाटकों की परंपरा भी गुजराती में हिन्दी की अपेक्षा आठ वर्ष पूर्व आरंभ हुई है।

भारतेन्दु-नर्मद-युग के नाटकों में संस्कृत नाट्य-विधान के साथ-साथ पाश्चात्य नाट्य-शैली के तत्त्व पाये जाते हैं। यह संक्रांति-काल है। इस युग के हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के नाटककारों के समक्ष आदर्श रूप में संस्कृत और शेक्सपीयर के ही नाटक प्रधानतया थे। फलतः नई परंपरा के इन दोनों भाषाओं के प्रारंभिक नाटककारों ने सम्मिश्रण की शैली को अपनाया है, किन्तु विशेष झुकाव पाश्चात्य शैली की ओर रहा है। 'नीलदवी' और 'कांता' इसके प्रमुख उदाहरण हैं। ये दोनों नाटक अर्वाचीन नई शैली के नाट्य-युग के प्रारंभकर्त्ता हैं। इस युग के नाटककार कभी नांदी, प्रस्तावना, भरतवाक्य प्रभृति का प्रयोग करते हैं, तो कभी उनका परित्याग कर पश्चिमी शैली के अनुकरण पर नाटक लिखते हैं। नांदी, प्रस्तावना आदि का बहिष्कार करने पर भी इस काल के नाटकों पर संस्कृत-शैली की पूरी छाप दृष्टिगत होती है। दुःखान्त की परंपरा का आरंभ तो पूर्णतया शेक्सपीयर के नाटकों के आधार पर हुआ है। हिन्दी में रणधीर और प्रेममोहिनी, 'संयोगिता स्वयंवर' आदि भारतेन्दुयुगीन नाटकों में 'दृश्य' के लिए 'गर्भांक' शब्द का जो प्रयोग हुआ है वह बँगला-नाटकों का प्रभाव है। इस प्रकार का प्रभाव गुजराती में नहीं पाया जाता। गुजराती में 'दृश्य' के स्थान पर आज तक 'प्रवेश' शब्द प्रयुक्त होता आ रहा है। इस युग में पारसी-गुजराती रंगमंच का सारे भारत में बोलबाला था। फलतः जाने-अनजाने उसका

समकालीन नाटककारो पर प्रभाव पडना प्राकृतिक ही है। इस काल के दोनो भाषाओ के नाटको में इस प्रभाव के ये लक्षण पाये जाते हैं गीतो का बाहुल्य, पराप्राकृत तत्त्वो का समावेश, स्थूल हास्योत्पत्ति का प्रयत्न, अनावश्यक प्रसगो की भरमार आदि। 'नीलदेवी', 'महारानी पद्मावती', 'रणधीर और प्रेममोहिनी', 'कृष्णाकुमारी', 'वीरमती', 'काता' आदि सभी नाटको मे इन लक्षणो मे से कतिपय लक्षण दृष्टिगोचर हो ही जाते हैं। इस काल के दोनो भाषाओ के नाटको मे साहित्यिक तत्त्वो के साथ अभिनय क्षमता का अभाव नही है। हिन्दी 'महाराणा प्रतापसिंह' और गुजराती 'काता' का तो अनेक बार सफलतापूर्वक अभिनय हो चुका है। दुर्भाग्य मे यह परम्परा १९०० के पश्चात् क्षीण होते-होते आज तो विलुप्त-सी हो गई है।

१९०० ई० के पश्चात्

हिन्दी-नाटक

१९०० से १९१५ के बीच हमे हिन्दी म उच्च कोटि के बहुत ही थोडे ऐतिहासिक नाटक मिलते हैं। १९१५ मे महाकवि जयशकर प्रसाद ने 'राज्यश्री' नामक ऐतिहासिक नाटक लिखकर नये युग का प्रारभ किया। तत्पश्चात् हिन्दी नाटक-साहित्य मे प्रसाद के सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटक प्रकाशित हुए। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटको का हिन्दी-साहित्य मे विशिष्ट स्थान और महत्त्व है। अत उनका एक साथ अध्ययन आगे प्रस्तुत किया जायगा। यहाँ 'प्रसाद-युग' के अन्य नाटको की विवेचना की जाती है।

पुराने लेवे के नाटककारो मे बदरीनाथ भट्ट के दो नाटक इस युग मे रचे गये है 'चन्द्रगुप्त' (१९१३) और 'दुर्गावती' (१९२५)। 'चन्द्रगुप्त' मे 'महाराज चन्द्रगुप्त के समय की कुछ झलक दिखाने का प्रयत्न किया गया है।' पर लेखक इसमे सफल नही हो सका है। 'दुर्गावती' मे गढ मडले की वीर राजपूत रानी दुर्गावती की वीरता का चित्रण है। अन्तिम दृश्य मे रानी की मृत्यु के बाद उसे स्वर्ग मे दिखाया गया है। वहाँ उसका परिचय चन्द्रगुप्त, पृथ्वीराज आदि वीर राजाओ से कराया गया है। इस दृश्य पर और नाटक के पद्यात्मक सवादो पर पारसी-नाटको का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसमे स्वगतो का प्रयोग और हास्य की अवतारणा अधिकाशत असगत प्रतीत होती है। भट्टजी के दोनो नाटकों म वस्तु-सगठन शिथिल और चरित्र-चित्रण सामान्य है। फिर भी उनका भारतेन्दु-युग और प्रसाद-युग के मध्य सधिकालीन महत्त्व अवश्य है।

'महात्मा ईसा' (१९२५)

बचन शर्मा 'उग्र' का यह नाटक ईसामसीह के चरित्र को लेकर लिखा गया है। लेखक ने ईसा की मूल कथा मे परिवर्तन कर नवीन वस्तु की सृष्टि की है। ईसा के भारत मे आगमन का नाटक मे वृत्तात है। पहले ही अक म महात्मा ईसा सन्यासी के वेश मे काशी मे घूमते हैं। वे सतोष से कहते हैं "यहाँ एक-एक प्राणी देवता है। एक-एक स्थान स्वर्ग है।" इसके उत्तर म सतोष पश्चिमी सस्कृति की निंदा और भारतीय सस्कृति की भूरि-भूरि प्रशसा करता है। मगलाचरण मे 'राष्ट्रीय गान' है। इस प्रकार लेखक ने नाटक मे सास्कृतिक चेतना और राष्ट्रीयता की भावना प्रगट की है। इस रचना पर गाधीजी की

अहिंसा और हिन्दू-मुस्लिम एकता के आदर्श का प्रभाव स्पष्टत उपलब्ध होता है। ईसा की वाणी मे गाधीजी ही बोलते हैं। किन्तु विचारणीय यह है कि महात्मा ईसा का भारत मे आगमन और उनकी भारतीय सस्कृति की स्तुति क्या युक्ति-युक्त है? वैसे नाटककार ने नाटक मे सुन्दर वातावरण का सृजन किया है। कथोपकथन भी अत्यत सजीव और मार्मिक हैं। शैली चुस्त और चोटदार है। स्वगत कम हैं। हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों मे सास्कृतिक और राष्ट्रीय वातावरण के सफल चित्रण की परपरा इस नाटक से प्रारभ होती है। इस तीन अकों के नाटक म साहित्यिक गुणों के साथ रगमचीय गुण भी सफलतापूर्वक समाविष्ट हुए हैं। ईसा को सूली पर चढाने का दृश्य बडा मर्मस्पर्शी और हृदय विदारक है। नाटक मे वीर, करुण, हास्य और शात रस की सृष्टि हुई है। सुन्दर गीतों का भी इसम समावेश हुआ है। किन्तु इसकी गजलें व्यावसायिक पारसी नाटक कम्पनियों के ढग पर रची गई हैं। मोहन और ईसा के भूतों का नाटक म प्रवेश शेक्सपीयर के नाटकों का स्मरण कराता है। कुल मिलाकर यह हिन्दी का एक सुन्दर नाटक है।

'कर्बला'

उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द न सन् १९२४ म हुसैन और खलीफा के सघर्ष तथा कर्बला मे शत्रुओं के द्वारा हुसैन की हत्या के इतिवृत्त पर आधारित यह नाटक लिखा है। यह अत्यन्त सामान्य कक्षा का पाठ्य-नाटक है। अक-विभाजन की शैली पाश्चात्य नाटकों के ढग की है। इसके पद्यात्मक सवादो, गीतों-गजलो आदि पर पारसी थियेटर की स्पष्ट छाप है।

'प्रताप-प्रतिज्ञा'

राधाकृष्णदास और गणपतराम राजाराम भट्ट के राणा प्रताप विषयक नाटकों के बाद जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' ने १९२८ मे इस नाटक का प्रणयन किया। यह नाटक पूर्वोक्त हिन्दी-गुजराती दोनों नाटककारों की कृतियों से सब तरह से प्रौढ एवम् उत्कृष्ट है। अत इसकी उन प्रारभिक नाटकों से तुलना करना सुसगत नही। इस नाटक का कथानक महाराणा प्रताप के राज्याभिषेक से शुरू होता है। मेवाड की स्वतत्रता के लिए महाराणा की प्रतिज्ञा, शक्तिसिंह का द्वेष, पुरोहित की आत्महत्या, भामाशाह की राजभक्ति, अकबर की कूटनीति, हल्दीघाटी का युद्ध इत्यादि प्रसगो को इस नाटक मे समाविष्ट किया गया है। यह नाटक राष्ट्रीयता और देश के लिए समर्पण की भावना से ओतप्रोत है। इसमे प्रताप, अकबर आदि का चरित्राकन बडे स्वाभाविक एवम् सुन्दर ढग से हुआ है। नाटक की कथावस्तु मे सघर्षात्मक स्थिति का सृजन हो सका है और उसमे सक्रियता का तनिक भी अभाव नही है। सवाद सबल और प्रभावशाली हैं। भाषा म ओज तथा प्रासादिकता है। यह नाटक कई बार पूरी सफलता के साथ खेला जा चुका है। वीरता, देश भक्ति और त्याग के अपूर्व चित्र पेश करने वाला यह नाटक हिन्दी की एक श्रेष्ठ कोटि की रचना है। डॉ० सोमनाथ गुप्त का यह कथन सत्य है कि "हमे चोटी के हिन्दी-नाटकों मे 'प्रताप प्रतिज्ञा' का नाम रखना ही पडेगा।"[1]

---

१. हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास, पृ० १६४

मिलिन्दजी ने गौतम बुद्ध के अनुज गौतम नन्द को नायक बनाकर सन् १९५३ में 'गौतम नन्द' नामक नाटक की रचना की। मानव के महान् गुणों का उद्घाटन नायक गौतम नन्द में किया गया है। यह नाटक हमारी सांस्कृतिक चेतना का परिपोषक है।

चतुरसेन शास्त्री का 'उत्सर्ग' (१९३०), मिश्रबन्धु का 'शिवाजी', रूपनारायण पाण्डेय का 'पद्मिनी' (१९४३) आदि नाटक भी इसी वर्ग में परिगणित किये जा सकते हैं।

जयशंकर 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटक

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार जयशंकर 'प्रसाद' के प्रौढ नाटकों की रचना १९१२ से प्रारम्भ होती है, जबकि उन्होंने "चन्द्रगुप्त' नाटक का पूर्वरूप 'कल्याणी-परिणय' के शीर्षक से 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'[1] में सर्वप्रथम प्रकाशित किया। कालांतर में अन्य प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक 'राज्यश्री', 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि प्रगट हुए। अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' का प्रकाशन १९३२ में हुआ है। इस प्रकार प्रसाद के ये नाटक उनकी लगभग बीस वर्ष की दीर्घ साधना के परिपाक रूप हैं। प्रसाद जीवन के गंभीर द्रष्टा और साहित्य के महान् स्रष्टा थे। उनका हिन्दी-साहित्य संसार में उस समय अवतरण हुआ जबकि देश में तिलक-गांधी की राष्ट्रीयता की भावना सर्वत्र प्रसारित होने लगी थी। प्रसाद की रचना-विधि में प्रथम महायुद्ध की संहारकारी लीला भी हुई तथा गांधीजी के अहिंसात्मक राजनैतिक आंदोलन भी हुए। अंग्रेजों का पाशविक दमन और नृशंस अत्याचार प्रसाद ने प्रत्यक्ष देखे। इन सबका इस संवेदनशील, भावुक, कल्पनाप्रिय महाकवि पर प्रचुर प्रभाव पड़ा है। जो सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना इनके नाटकों में सर्वत्र सुलभ है, उसकी प्रेरणा लेखक को इस समकालीन राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आंदोलनों से प्राप्त हुई है। प्रसाद ने भारतीय इतिहास, दर्शन, धर्मशास्त्र इत्यादि का गंभीर अध्ययन किया था। उन्हें भारतीय संस्कृति में अमोघ आस्था थी। जीवन और जगत् की विभीषिकाओं के मध्य भी ये शिव-साधक महाकवि अपनी साहित्य सृष्टि में 'आनंद' का प्रकाशन और प्रसारण करने का पर्याप्त प्रयत्न करते रहे हैं। यह उनकी स्वस्थ सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि का शुभ परिणाम है।

"प्रसाद हिन्दी के ऐसे सर्वप्रथम ऐतिहासिक नाटककार हैं जिन्होंने इतिहास और नाटक दोनों का सही सामंजस्य किया है। प्रसाद से पूर्व किसी भी नाटककार में इतिहासकार और नाटककार की प्रतिभाओं का समन्वय नहीं पाया जाता।"[2] इस दृष्टि से प्रसाद हिन्दी नाट्यकारों में अद्वितीय हैं। उनके 'कामना' और 'एक घूँट' को छोड़कर शेष सभी नाटक अतीत के इतिहास पर आधारित हैं। प्रसाद हमारे भूतकालीन इतिहास के भव्य चरित्रों के प्रताप और प्रभाव द्वारा वर्तमान को उज्ज्वल और आदर्श बनाना चाहते थे। इसी उद्देश्य को उन्होंने स्वयम् 'विशाख' की भूमिका में स्पष्ट किया है—"मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।" भारत के इतिहास में बौद्ध युग, मौर्य युग और गुप्त युग की कालावधि 'स्वर्ण-युग' के शुभ नाम से अभिहित होती है। इस

---

१ नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, काशी—भा० १७, संख्या २, सन् १९१२

२. प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक—डॉ० जगदीशचन्द्र जोशी, प्रथम संस्करण, सं० २०१६, प्रस्तावना-अ

समय भारतीय संस्कृति अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों के कथानक इसी युग से चुन हैं और उन्हें अपनी कारयित्री प्रतिभा द्वारा कल्पना और भावना के रंग भरकर सुन्दर, समुज्ज्वल और सप्राण बना दिया है। जयशंकर प्रसाद के नाटक मात्र ऐतिहासिक नहीं हैं, वे उच्च कोटि के सांस्कृतिक और साहित्यिक नाटक है।

'राज्यश्री' (१९१५)

प्रसाद के इस नाटक से पूर्व दो अन्य ऐतिहासिक नाट्य-रचनाएं—'कल्याणी-परिणय' और 'प्रायश्चित्त' प्रगट हुई थी। 'कल्याणी-परिणय' चन्द्रगुप्त नाटक का अपरिपक्व पूर्वरूप है। अतः उसकी स्वतन्त्र कृति के रूप में गणना नहीं की जा सकती। 'प्रायश्चित्त' एकाकी है जिसमें नाटककार प्रसाद प्रायोगिक अवस्था में हैं। इसलिए प्रसाद स्वयम् 'राज्यश्री' को ही अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक मानते हैं।[1]

'राज्यश्री' सबसे पहले 'इन्दु' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था।[2] इसके बाद उसका दूसरा संस्करण परिवर्तित और परिवर्धित रूप में प्रगट हुआ। इस नाटक का प्रमुख उद्देश्य राज्यश्री का चरित्र-चित्रण करना है। राज्यश्री का व्यक्तित्व नाटक में समस्त घटनाओं का केन्द्र है। वह कान्यकुब्ज के महाराजा ग्रहवर्मा की अत्यंत स्वरूपवती पत्नी है। उसके अपूर्व सौन्दर्य से आकर्षित होकर मालवराज देवगुप्त उसका अपहरण करने के लिए छद्मवेश में कान्यकुब्ज पहुँचता है। सुरमा उसे आश्रय देता है। मालवराज की सेना कान्यकुब्ज की सीमा पर आक्रमण करती है। युद्ध में ग्रहवर्मा आहत होता है। देवगुप्त की विजय होती है। राज्यश्री बन्दी बना ली जाती है। राज्यश्री के प्रति आकृष्ट भिक्षु शांतिदेव उसे न पाकर दस्यु विकटघोष बनकर ग्रहवर्मा की सहायता के लिए आती हुई स्थाण्वीश्वर-पति राज्यवर्धन की सेना में भरती हो जाता है। फिर युद्ध होता है जिसमें देवगुप्त का राज्यवर्धन द्वारा वध किया जाता है। उधर विकटघोष कारावास से राज्यश्री का अपहरण करता है और राज्यवर्धन की हत्या करता है। तदन्तर बौद्ध भिक्षु दिवाकर मित्र राज्यश्री की रक्षा करता है। हर्ष अपनी बहिन राज्यश्री की खोज में घूमता-घामता दिवाकर मित्र के आश्रम में पहुँचकर राज्यश्री को सती होने से बचा लेता है। विकटघोष के द्वारा चीनी यात्री सुएन च्वांग की बलि भी अकस्मात् टल जाती है। तदनन्तर हर्ष की हत्या करने का प्रयत्न विकटघोष द्वारा किया जाता है। सर्वस्व त्याग करने के पश्चात् राज्यश्री सुएन च्वांग से वस्त्र का दान माँगती है। अन्त में सभी पापियों को क्षमा कर दिया जाता है और हर्ष पुनः राजदण्ड ग्रहण करता है। इस प्रकार चार अंकों के इस नाटक का अन्त सुख में होता है। इसमें राज्यश्री के चरित्र को उभारने का लेखक ने प्रयत्न किया है। वह पतिव्रता वीर क्षत्राणी है। उसमें उदारता और क्षमाशीलता के गुण विद्यमान हैं। प्रसाद का प्रथम ऐतिहासिक नाटक होने से यह एक सफल नाटक नहीं बन सका है। इसकी कथा विशृंखलित है और घटनाओं का आकस्मिक अवतरण इसे अप्रतीतिकर बना देता है। तत्कालीन अन्य नाटकों की भाँति 'राज्यश्री' में प्रणय त्रिकोण, हिंसा, कुचक्र, विस्मयजनक भाग्य परिवर्तन आदि तत्त्वों का समावेश हुआ है जो इसे अस्वाभाविकता तथा अनौचित्य के दोष से आच्छादित कर देता है।

---

१. 'राज्यश्री' जयशंकर प्रसाद, सातवाँ संस्करण, सं० २००७, प्राक्कथन, पृ० ८
२. 'इन्दु', कला ६, खंड १, किरण १, जनवरी सन् १९१५

शांतिदेव, सुरमा आदि के व्यक्तित्व आतंक के साथ आश्चर्य पैदा करते हैं। इन दोषों के बावजूद भी प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस प्रथम ऐतिहासिक नाटक में उनके शेष ऐतिहासिक नाटकों की प्राय समस्त विशेषताएँ बीजरूप से विद्यमान हैं।[1] राजनैतिक संघर्ष, षड्यंत्र, विद्रोह, युद्ध आदि के अत्यंत सुसंगत और स्वाभाविक चित्र, जो आगे के नाटकों में दृष्टिगत होते हैं, उनका प्रारंभ इस नाटक से होता है। उसी के साथ धार्मिक समस्याएँ और वैयक्तिक राग-द्वेष भी इस कृति में हैं। पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं और प्रसाद की भव्य नारी-भावना का बीजांकुर इसमें दिखायी पड़ता है। इसीलिए इस नाटक का बहुत महत्त्व है।

'विशाख'

राज्यश्री के छः वर्ष बाद सन् १६२१ में इस नाटक का प्रणयन हुआ है। 'विशाख' एक ऐतिहासिक नाटक है जिसका कथानक कल्हण की 'राजतरंगिणी' से सम्बन्धित है जो काश्मीर के इतिहास का एक भाग है। किन्नर नरदेव द्वितीय विभीषण के सम्पन्न राज्य का अधिकारी है। वह कामुक और दुराचारी बन जाता है। सुश्रुवा नाग अत्यंत दरिद्र है। उसकी दो पुत्रियाँ हैं इरावती और चन्द्रलेखा। इरावती वाग्दत्ता हो चुकी है। तक्षशिला विद्यालय का स्नातक विशाख चन्द्रलेखा के दरिद्र परिवार पर द्रवित हो जाता है और उसकी सहायता करता है। पिता सुश्रुवा विशाख के साथ चन्द्रलेखा का विवाह कर देता है। कामातुर नरदेव चन्द्रलेखा के प्रति आसक्त है, पर चन्द्रलेखा को न पाकर क्रोधावेश में वह विहारों का नाश करवाता है। चन्द्रलेखा बन्दी बना ली जाती है। प्रेमानन्द उसका उद्धार करता है। विशाख मंत्री की सहायता से बौद्धों को निर्मूल करता है। सन्यासी प्रेमानन्द के उपदेशों के फलस्वरूप नरदेव का हृदय-परिवर्तन होता है और 'देवी, क्षमा करो! अधम के अपराध क्षमा हों!'[2] इन शब्दों द्वारा अन्त में वह चन्द्रलेखा से क्षमा-याचना करता है। इस प्रकार कथा का सुखांत होता है। डॉ० दशरथ ओझा का कथन है कि 'विशाख' नाटक महात्मा गांधी के सत्याग्रह आंदोलन को लेकर रचा गया है। इसके द्वारा प्रसाद तत्कालीन राजनैतिक समस्याएँ सुलझाने का प्रयास करते हैं। प्रेमानन्द गांधीजी के रूप में संदेश देता है।[3] उसके व्यक्तित्व में प्रसाद का आंतरिक सौंदर्य प्रगट हुआ है। नाटक में चन्द्रलेखा का चरित्र उच्च कोटि का है। अन्य सभी पात्र उच्छृङ्खल, चंचल और निम्न स्तर के हैं। मुख्य पात्र विशाख भी सर्वत्र उत्तम गुणों से विभूषित नहीं है। इस नाटक की रचना 'राज्यश्री' की पद्धति का अनुसरण करती है। इसमें भी प्रसाद की नाटय-कला का अपरिपक्व और अस्त-व्यस्त रूप दीख पड़ता है। न कथा-विन्यास में कुशलता है और न चरित्रांकन में सुन्दरता। गद्य-पद्यात्मक संवाद पारसी थियेटरों की तरह तुकबन्दी वाले और अरुचिकर हैं। प्रणय प्रसंग भी अभद्र और अगंभीर है। विदूषक महापिंगल के हास्योद्रेक में अशिष्टता का अशोभनीय रूप प्रगट हुआ है। किन्तु एक बात स्पष्ट है। इस नाटक में प्रसाद उत्तम नाटक-निर्माण की नई शैली की खोज में लगे हुए मालूम होते हैं।

---

१. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० २८५

२. 'विशाख' नाटक जयशंकर प्रसाद : अंक तीसरा, दृश्य पाँचवाँ, पृ० १

३. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० २६०

'अजातशत्रु'

प्रसाद के प्रौढ़ नाटकों में सर्वप्रथम 'अजातशत्रु' की गणना होती है। इसका निर्माण-काल सन् १९२२ है। इसका इतिवृत्त भगवान् बुद्ध के समय से सबन्धित है। मगध के राजा बिम्बसार छोटी रानी छलना के स्वार्थ और षड्यन्त्र स त्रस्त होकर अपना राज्य अजातशत्रु को सौंप देते है। वे स्वय महारानी वासवी के साथ आश्रम मे निवास करते हैं। वासवी कोसल नरेश की पुत्री है। कोसल नरेश न वासवी को दहेज मे काशीप्रदेश दिया था। अत अब इस निर्वासन के समय काशी की आय वासवी अपने पति को देती है। इससे अप्रसन्न अजातशत्रु भगवान बुद्ध क प्रतिद्वंद्वी देवदत्त के उकसाने पर बिम्बसार और वासवी को कैद करता है। फलत मगध और कोसल मे विग्रह होता है।

कोसल के राजा प्रसेनजित् के विरुद्ध उसका राजकुमार विरुद्धक विद्रोह करता है, क्योंकि अजातशत्रु के कृत्यो का समर्थन करन के कारण विरुद्धक को प्रसेनजित् युवराज पद से वचित कर देता है। इस विद्रोह म कोसल-सेनापति बधुल की हत्या हो जाती है। उधर कौशाम्बी के राजा उदयन के अत पुर मे भी षड्यन्त्र चल रहा है। इस प्रकार मगध, कोसल और कौशाम्बी इन तीनो राज्यों मे अशाति है। प्रसेनजित् और उदयन मिलकर मगध पर आक्रमण करते है। अजातशत्रु और विरुद्धक एक होकर उनका मुकाबला करते हैं। अजातशत्रु बन्दी बना लिया जाता है और उसे बदीगृह म कैद रखा जाता है जहाँ कोसल की राजकुमारी वाजिरा से उसका प्रेम हो जाता है। वासवी क प्रयत्न से अजातशत्रु मुक्त कर दिया जाता है और वाजिरा से उसका विवाह हो जाता है। इस प्रकार कथा का अनक सघर्षों के बीच विकास होता है। अत मे अजातशत्रु को पिता बनने पर आत्मज्ञान होता है। वह पश्चात्तापपूर्ण वाणी मे पिता बिम्बसार से क्षमा-याचना करता है। तत्काल छलना भी दौड़ी-दौड़ी आ पहुँचती है। उसे उसकी पापाग्नि जलाये जाती है। पद्मावती और वासवी दोनो के कहने से बिम्बसार सबको क्षमा करत हैं और गौतम बुद्ध के अभयदान के पश्चात् नाटक समाप्त होता है।

इस प्रकार तीन अको का यह नाटक तीन राज्यों और तीन परिवारो की सघर्ष-कथा निरूपित करता है। सघर्ष का स्थान है काशी। नाटक का प्रारम्भ विरोध से होता है, विरोधयुक्त स्थितियो मे उसका विकास होता है और अत मे विरोध का परिहार होता है। इस तरह सारा नाटक विरोध और सघर्षमूलक है। इसका वस्तुविन्यास भारतीय रीति पर न होकर पाश्चात्य पद्धति क अनुसार हुआ है।[1] इस नाटक मे सर्वप्रथम प्रसाद की नाटक-कला का समीचीन रूप प्रकट हुआ है। अजातशत्रु की बहुत ही जटिल कथावस्तु को मेधावी नाटककार ने बड़ी ही कुशलता से शृखलित और सगठित रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कथा विस्तार के कारण कार्यव्यापार मे गतिशीलता के अभाव का अनुभव होता है। फिर भी आकर्षक और कौतूहलयुक्त घटनाओं की सहायता से यह नाटक रसोत्तेजक अवश्य बन पड़ा है। गौतम और आम्रपाली, उदयन और मागधी आदि की अप्रासगिक घटनाएँ नाटक मे सम्मिलित नही की जाती तो वस्तुयोजना बहुत अधिक सुसबद्ध बनती।

प्रसाद ने इस कृति की पात्र सृष्टि मे वैविध्य लाने के लिए प्रत्येक मुख्य पात्र क सामने दूसरा विरोधी पात्र प्रस्तुत किया है। यथा गौतम का देवदत्त, बिम्बसार का अजातशत्रु,

१. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा प्रसाद क नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन चतुर्थ आवृत्ति, स० २०१० वि, पृ० १३

वासवी की छलना आदि। इससे मधपर्तिक परिस्थित का सृजन सभव हुआ है और पात्रो का अतर्द्वंद्व भी प्रगट हुआ है। मल्लिका का चरित्र नाटक मे नायिका के रूप मे है। उसके चरित्राकन पर लेखक ने अधिक ध्यान दिया है। अजातशत्रु नाटक का मुख्य पात्र है किन्तु उसके उत्थान-पतन और अतर्द्वंद्व का सूक्ष्म निरूपण इस नाटक मे सम्यक् रूपण नही हो सका है। इसका कारण यह है कि लेखक का अधिकाश समय तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक और पारिवारिक परिस्थिति के चित्रण मे व्यय हुआ है। इस परिस्थिति-चित्रण पर गाधी-युग का प्रभाव स्पष्ट रूप से दीख पडता है। भगवान् बुद्ध द्वारा मल्लिका आदि पात्रो के उद्गारो द्वारा मानव जाति के लिए शान्ति, करुणा और क्षमा का सदेश दिया गया है।

इस नाटक मे वीर, शात, हास्य प्रभृति रसो के दर्शन होते है। पाश्चात्य नाट्य रचना-विधान पर ही यह नाटक विशेषत आधारित है, अत इसमे रस-निष्पत्ति के भारतीय आदर्श को प्रमुखता प्राप्त नही हुई है। नादी, सूत्रधार आदि को इसमे स्थान नही है। स्वगतो और सम्भाषणो म प्रसाद की कविता तथा दार्शनिकता की छाप दृग्गोचर होती है। भाषा-शैली नाटकीय वातावरण और पात्रो के अनुरूप है। बहुत अधिक काट-छाँट करने के पश्चात् ही यह नाटक खेला जा सकता है 'अजातशत्रु' की कविताएँ कवि प्रसाद की काव्य-प्रतिभा का समुचित परिचय देती है।

'स्कन्दगुप्त'

'अजातशत्रु' क छ वर्ष पश्चात् १६२६ म 'स्कन्दगुप्त' नाटक प्रकाशित हुआ है। इसका कथानक गुप्त-साम्राज्य क पतन के काल का चित्र अकित करता है। अजातशत्रु की भाँति इसमे न घटना-बाहुल्य है और न पात्रों की भीड-भाड। लेखक का नाटक-रचना-कौशल भी इसमे पूरी तरह निखरा हुआ है। "रचना-पद्धति और नाटकीय गुण के विचार से प्रसाद का सर्वोत्तम नाटक 'स्कन्दगुप्त' है।"[1] इसकी कथावस्तु गुप्त साम्राज्य के स्कधावार से शुरू होती है। 'गुप्तकुल का अव्यवस्थित उत्तराधिकार-नियम, युवराज स्कन्द को उदासीन और चिंतित बनाये हुए है। साम्राज्य का अधिपति कुमारगुप्त कुसुमपुर मे विलासी जीवन व्यतीत कर रहा है। पुष्यमित्रों, हूणो और शको से गुप्त-साम्राज्य पदाक्रान्त है। साम्राज्य का भविष्य अधकारपूर्ण है। इसी समय मालवराज्य का चर विदेशियों के आक्रमण का सामना करने के लिए स्कन्दगुप्त म सहायता मॉगने आता है। स्कद तत्पर होता है और अपने पराक्रम स मालवश बन्धुवर्मा की रक्षा करता है। इधर अनन्तदेवी भटार्क और प्रपचबुद्धि सम्राट् कुमारगुप्त की हत्या का षड्यत्र करते हैं। कुमार-गुप्त की मृत्यु के पश्चात् भटाक पुरगुप्त को सम्राट् घोषित करता है और माता देवकी की हत्या करवाने को उद्यत होता है। स्कद ठीक समय पर पहुँचकर अपनी माँ की रक्षा करता है। बन्धुवर्मा, देवसेना आदि स्कद को मालवदेश के राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित करते है। हूणो के आक्रमण से आर्यावर्त्त की रक्षा करने के लिए स्कद सेना लेकर आक्रमणकारियों से लडने जाता है। विमाता अनन्तदेवी और भटार्क स्कद का सर्वनाश करने के लिए शत्रुओ से गुप्त सन्धि करते हैं। कुभा के युद्ध मे भटार्क धोखा देता है और स्कद की हार होती है। बन्धु-वर्मा की मृत्यु होती है। फिर एक बार स्कद सेना-सगठन करता है और सिंधु के समीप युद्ध

१ डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन; पृ० ८४

मे हूणों को पराजित करता है। स्कद अपनी प्रियतमा देवसेना को न पाकर आजीवन कौमार्य-व्रत ले लेता है। वह पुरगुप्त को युवराज घोषित करता है और देवसेना को यह कहकर अन्तिम विदा देता है कि "देवसेना ! देवसेना ! तुम जाओ ! हत-भाग्य स्कदगुप्त, अकेला स्कद, ओह !!"[1] इस प्रकार नाटक के पाँचवें अक की विषादमय वातावरण के मध्य परिसमाप्ति होती है।

इस नाटक का कथानक राजनैतिक और वैयक्तिक इन दो धाराओ मे प्रवाहित होता है। एक ओर साम्राज्य के सघर्षों और विरोधो का स्कन्द मुकाबला करता है और दूसरी ओर विजया और देवसेना के प्रणयाघातो से वह त्रस्त रहता है। इस प्रकार नाटक का वस्तु-विन्यास दो स्तरो पर चलता है और लेखक ने दोनों का स्वाभाविक समन्वय कर अपनी अपूर्व रचना-प्रतिभा का परिचय दिया है। 'स्कदगुप्त' मे पाश्चात्य नाट्यकला के अधिकाश तत्वो का अत्यन्त सफल समावेश पाया जाता है। भटार्क, अनन्तदेवी आदि के कारण सघर्षात्मक परिस्थिति का सृजन, दु खान्त नाटक का सा वस्तुविन्यास, स्कद, देवसेना, विजया आदि पात्रो का अन्तर्-बाह्य द्वद्व, आत्महत्या, युद्ध आदि का प्रदर्शन और नाटकीय कौतूहल की यत्र-तत्र सृष्टि—ये सभी बातें इस नाटक म शेक्सपीयर के दु खान्त नाटक के अनुसार समाविष्ट हुई है। प्रथम तीन अको की वस्तु मे अधिक सक्रियता है। चौथे और पाँचवें अक मे तनिक शिथिलता आ गई है, पर इससे प्रभावान्विति मे विशेष बाधा उपस्थित नही होने पाई है।

इस नाटक मे भारतीय पद्धति के अनुसार रसनिष्पत्ति के सिद्धान्त का निर्वाह करने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। वीर, शृगार और करुण, ये तीन रस इस नाटक मे समाविष्ट हुए हैं। सभी शत्रुओ को पराजित करना, आर्यावर्त को निष्कटक बनाना और पारिवारिक विद्वेष का उपशमन कर पुरगुप्त को गुप्त साम्राज्य सौपना—स्कद के ये सभी कार्य वीर-रसाश्रित नाटक के नायक के अनुरूप है। परन्तु देवसेना और स्कद की अतिम विदा विषाद युक्त है जो हमे पश्चिमी दु खान्त नाटक का स्मरण कराती है। नाटक का अत तो न सुखान्त है, न दु खान्त। उसे डॉ० नगेन्द्र 'प्रसादान्त' कहते हैं।[2]

यद्यपि 'स्कदगुप्त' नाटक का प्रधान पात्र स्कद है और उसकी चारित्रिक विशेषताओ का और उसके जीवन के आरोह-अवरोहो का उद्घाटन करना प्रसादजी का मूल हेतु है, तथापि वे अन्य पात्रो के चरित्र-चित्रण मे पूरे सतर्क रहे हैं। भटार्क, प्रपचबुद्धि, शर्वनाग, अनतदेवी, विजया आदि के मनोमालिन्य और प्रपचो को बडे अच्छे ढग से उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार पर्णदत्त, देवसेना, बन्धुवर्मा आदि के उत्तम गुणों का प्रकाशन भी समुचित रूप से हुआ है। "इस नाटक के चरित्र चित्रण म मानव स्वभाव का स्वाभाविक और कलात्मक प्रदर्शन हुआ है। देवसेना तथा विजया के चारित्रिक सघर्ष को दिखाने मे नाटककार विशेष सफल हुआ है।"[3] सबल सवाद, सुन्दर ऐतिहासिक वातावरण, पात्रोचित गीत-योजना तथा शिष्ट-गभीर शैली शिल्प—ये सब प्रसाद के विशिष्ट नाट्याग है जिनसे 'स्कदगुप्त' उत्कृष्ट कोटि का बन पडा है। इस कृति म चित्रित बाह्य विरोधो और सघर्षों पर समसामयिक गाधीयुगीन राजनैतिक वातावरण की गहरी छाप झलकती है। बौद्ध-ब्राह्मण सघर्ष हिन्दू-

---

१. 'स्कन्दगुप्त' नाटक जयशकर प्रसाद, आठवां सस्करण, स० २००२, पृ० १६५
२. आधुनिक हिन्दी नाटक डॉ० नगेन्द्र, षष्ठ सस्करण, १९६०, पृ० ११
३. आधुनिक साहित्य नददुलारे वाजपेयी, पृ० २८६

मुस्लिम साम्प्रदायिक दगो को प्रतिबिंबित करता है। देश-रक्षा का सबसे आकर्षक स्वर इस नाटक में सुनायी पडता है।[1]

'चन्द्रगुप्त'

इस नाटक का प्रकाशन 'स्कदगुप्त' के प्रकाशन के तीन वर्ष बाद सन् १६३१ मे हुआ है, किन्तु रचना-काल की दृष्टि से 'चन्द्रगुप्त' 'स्कदगुप्त' से पूर्व का नाटक है। 'चन्द्रगुप्त' का प्रारभिक रूप १६१२ मे 'कल्याणी-परिणय' के नामाभिधान से 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' मे प्रकाशित हो चुका था। उसीका परिवर्द्धित और परिवर्तित रूप 'चन्द्रगुप्त' है। प्रकाशक का कथन है कि इस ग्रथ की पाडुलिपि छपने के दो वर्ष पहले प्रेस म पडी रही। और उसके कितने वर्षों पूर्व यह लिखा जा चुका होगा, कहा नही जा सकता। यथार्थत यह 'स्कदगुप्त' का अग्रज है। 'स्कदगुप्त' की अपेक्षा इसमे प्रसाद की नाट्य-कला सामान्य कोटि की दीख पडती है। 'स्कदगुप्त' मे जो चरित्र-चित्रण, सघर्षात्मक वस्तुविन्यास, सुग्रथित कथानक और बाह्यान्तर-विरोध चित्रित हुआ है, वह इस नाटक मे नही पाया जाता। इसका कथानक लगभग २५-२६ वर्ष की सुदीर्घ अवधि अपने अको मे समेटे हुए है। काल-योजना की दृष्टि से यह नाटक अत्यत दोषपूर्ण है। अनावश्यक विस्तार के कारण कथानक शृखलित और सुसकलित नही बन पाया है, इसमे मदता आ गई है।

इस नाटक मे नाटककार का उद्देश्य चन्द्रगुप्त का उत्कर्ष प्रदर्शित करना है। चन्द्रगुप्त तक्षशिला का एक स्नातक है। उसके गुरु चाणक्य है। दाण्ड्यायन की भविष्यवाणी के कारण चन्द्रगुप्त के उत्कर्ष की विशेष आशा बँधती है। वह अपने शौर्य और वीर्य से सिकदर को हराता है, चाणक्य की कूटनीति मे नद-वश का विध्वस करता है और मगध का अधिपति बनता है तथा सैल्यूकस से मैत्री करता है। उसकी पुत्री कार्नेलिया से चन्द्रगुप्त का विवाह होता है। मालवा और तक्षशिला का अधिकारी सिंहरण चन्द्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार करता है। राक्षस उसका मत्रित्व प्राप्त करता है और इस प्रकार चन्द्रगुप्त महान् सम्राट् बन जाता है। इस मुख्य कथानक मे कई अवान्तर प्रसगो का समावेश कर उसे विस्तृत बना दिया है जिससे कथानक जटिल और अस्पष्ट हो गया है। यद्यपि इसकी गौण घटनाएँ अपना स्वतत्र अस्तित्व नही रखती फिर भी इसके कथानक मे अलका और सिंहरण, राक्षस और सुवासिनी, चन्द्रगुप्त और कल्याणी, पर्वतेश्वर और कल्याणी प्रभृति के अनावश्यक प्रसगो का समावेश कर मूल कथा को उलझा दिया गया है। ये उपकथाएँ आसानी से नाटक म से हटायी जा सकती है।

इस कृति मे चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिंहरण, अलका, कल्याणी, मालविका आदि पात्रो का चरित्र चित्रण सुचारु रूप से हुआ है। चाणक्य का व्यक्तित्व तो अत्यत प्रभावशाली और आतकयुक्त है। चन्द्रगुप्त के चरित्र मे वीरत्व है। अलका भी आद्यत वीर नारी का आदर्श प्रस्तुत करती है। चरित्राकन की दृष्टि से इस नाटक का सबसे बडा दोष यह है कि इसमे सरलता से यह निर्णय नही किया जा सकता कि अलक्षेन्द्र, नद और राक्षस—इन तीनो मे मे प्रतिनायक कौन है और कार्नेलिया, अलका और कल्याणी—इन तीनो मे मे नायिका कौन

---

१. डॉ० दशरथ ओझा - 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास', पृ० ३२०

२. चद्रगुप्त नाटक ' प्रकाशक का वक्तव्य, पृ० २

है ? संभवत नाटककार भी इसी उलझन में पड़ा रहा और बिना किसी निर्णय पर पहुँचे नाटक की परिसमाप्ति कर दी। इस नाटक में 'स्कंदगुप्त' का-सा व्यक्ति-वैचित्र्य नहीं है। चरित्रगत असंगतियाँ भी इस नाटक में आ गई हैं। पचीस वर्षों की दीर्घ नाट्यावधि में भी पात्र आदि से अंत तक एक-सा व्यवहार करें, यह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

चन्द्रगुप्त में वीररस की प्रधानता है। सुवासिनी के कारण शृंगाररस की भी सृष्टि हुई है। कतिपय घटनाएँ करुणरसाश्रित हैं। इस नाटक के चार अंक हैं। नाट्यवस्तु का विभाजन पाँच अंकों में हुआ होता तो समीचीन होता। चार अंकों में इतने लम्बे कथानक का समावेश असन्तुलित-सा लगता है। इससे इसकी अभिनेयता की संभावना कम हो गई है। काशी की 'रत्नाकर रसिक मंडली' ने इस नाटक के ४७ में से केवल २६ दृश्य खेले थे। फिर भी इस प्रदर्शन में कई घंटे लगे।[1] भाषा, शैली, संवाद, कविता और ऐतिहासिकता के विषय में यह नाटक प्रसाद के 'स्कंदगुप्त' के समकक्ष है। इसमें राष्ट्रीयता की भावनाएँ सर्वत्र मुखरित हुई हैं। वस्तुत 'चन्द्रगुप्त' में महाकाव्य का औदात्त्य अधिक है।[2]

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक

डॉ० सिल्वियन लेवी ने गुप्तवंशीय इतिहास के सम्बन्ध में यह नई शोध की कि पराक्रमादित्य समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के बीच में मगध साम्राज्य का एक और राजा हुआ था जिसका नाम रामगुप्त था और जो समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र तथा चन्द्रगुप्त का अग्रज था। रामगुप्त कुछ वर्षों के लिए ही मगध-सम्राट् बना था। 'ध्रुवस्वामिनी' का सम्बन्ध उसीसे है। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अपने नाटक 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' की भूमिका में[3] डॉ० सिल्वियन लेवी की इस खोज का उल्लेख किया है। कविवर जयशंकर प्रसाद के नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' की भूमिका में इसका कहीं उल्लेख नहीं पाया जाता। 'मुद्राराक्षस' के प्रणेता विशाखदत्त ने इस रामगुप्त के चरित्र से सम्बन्धित 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक नाटक की रचना की है। दुर्भाग्य से वह नाटक अबतक अविकल रूप में प्राप्त नहीं हुआ है। उसके कुछ अंश उपलब्ध हुए हैं, जिनके आधार पर इतिहासवेत्ताओं[4] ने रामगुप्त और ध्रुवदेवी के ऐतिहासिक तथ्यों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया है। 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के अत्यंत मार्मिक कथानक से कन्हैयालाल मुंशी और जयशंकर प्रसाद दोनों प्रभावित हुए और दोनों ने इस विषय को आवश्यकतानुसार ऐतिहासिक तथ्यों का निर्वाह करते हुए भावना, कल्पना, चिंतन आदि के सहयोग से नाट्यात्मक रूप दिया।

---

१. प्रसाद के तीन ऐतिहासिक नाटक : श्री राजेन्द्र प्रसाद अर्गल, द्वितीय संस्करण, सं २००३ वि०, पृ० १२७

२. श्री नन्ददुलारे वाजपेयी आधुनिक साहित्य, पृ० २६७

३. 'ध्रुवस्वामिनीदेवी नाटक' श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, प्र० आ० १९२९, पृष्ठ ३

४. (अ) डा० अल्तेकर—'जर्नल आफ बिहार एण्ड ओरिसा रिसर्च सोसायटी' के वॉल्युम १४, सन् १९२७ में लेख

(आ) डा० जायसवाल—'जर्नल आफ बिहार एण्ड ओरिसा रिसर्च सोसायटी' के वॉल्युम १९, सन् १९३२ में लेख।

हिन्दी 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक

जयशंकर प्रसाद ने हमारे दांपत्य जीवन की विसंवादिता और विवाह मोक्ष (Divorce) सम्बन्धी अपने विचारों को ठोस रूप देने के लिए 'ध्रुवस्वामिनी' की सृष्टि की है। यह नाटक ऐतिहासिक होते हुए भी अधिकांश रूप में समस्या-नाटक (Problem play) है। इस नाटक की रचना सन् १६३२ में हुई। प्रसाद ने प्राचीन साहित्य, इतिहास और पुराण आदि कई ग्रन्थों का अध्ययन करने के पश्चात् इस नाटक का प्रणयन किया है।[1] तीन अंकों में विभाजित इसका कथानक बिलकुल सीधा, स्वाभाविक और सरल है। चन्द्रगुप्त गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त के मगध साम्राज्य का राजदंड ग्रहण न कर अपने ज्येष्ठ भ्राता रामगुप्त के लिए करता है। रामगुप्त सम्राट् बनता है। ध्रुवस्वामिनी गुप्त-साम्राज्य की महादेवी बनती है। रामगुप्त विलासी, कायर और क्लीव है। उसे अपनी पत्नी ध्रुवस्वामिनी पर सदा संदेह बना रहता है क्योंकि विवाह के पूर्व ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता पत्नी और प्रियतमा थी। रामगुप्त उसे बंदिनी-रूप में अपने यहाँ रखता है और उसके मनोभावों को जानने के लिए कुबड़े, बौने, हिजड़े और गूँगे व्यक्ति उसके चारों ओर तैनात करता है। रामगुप्त के इस कठोर नियन्त्रण के कारण ध्रुवस्वामिनी का मन चन्द्रगुप्त की ओर अधिक आकर्षित रहता है जो वीरता तथा पराक्रम की मूर्ति है। रामगुप्त की कायरता तथा विलासिता से मुक्त होने के लिए ध्रुवस्वामिनी सयत्न है।

इसी समय शकराज का रामगुप्त के शिविर पर आक्रमण होता है और वह विजयी हो जाता है। संधि प्रस्ताव में वह महादेवी ध्रुवस्वामिनी की माँग करता है जिसके साथ एक बार उसका विवाह-सम्बन्ध स्थिर हो चुका था। इसी के साथ शकराज अपने सामंतों के लिए भी मगध के सामंतों की स्त्रियाँ माँगता है। अमात्य शिखरस्वामी की सलाह से रामगुप्त शकराज के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है। चन्द्रगुप्त अपने क्लीव भाई की इस कापुरुषता से क्षुब्ध होता है और महादेवी के छद्म वेश में वह स्वयं शकराज के शिविर में पहुँचता है। ध्रुवस्वामिनी भी उसके साथ जाती है। चंद्रगुप्त शकराज की हत्या करता है और ध्रुवस्वामिनी के साथ विजयी होकर लौटता है। शकराज के शव को लेकर जाते समय आचार्य मिहिरदेव और उनकी कन्या कोमा की मार्ग में सैनिक हत्या कर डालते हैं। इससे क्रुद्ध होकर सामंतकुमार विद्रोह करते हैं। रामगुप्त के मगध-सम्राट् तथा ध्रुवस्वामिनी के पति बने रहने पर आपत्ति प्रस्तुत की जाती है। पुरोहित रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के सम्बन्ध-विच्छेद की आज्ञा देता है और परिषद् रामगुप्त को राज्य सिंहासन के अधिकार से वंचित कर देती है। रामगुप्त इससे क्रुद्ध होकर चन्द्रगुप्त पर पीछे से वार करना चाहता है पर एक सामंत-कुमार चन्द्रगुप्त को बचाकर रामगुप्त का वध कर डालता है। चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी राज्य सिंहासन ग्रहण करते हैं। इस प्रकार नाटक का सुख में पर्यवसान होता है। लेखक ने न्याय-संस्थापन एवं नारी-सम्मान की भव्य भावना को अंत में चरितार्थ किया है। इस नाटक में प्रसाद का ध्यान विशेषतः विवाह-मोक्ष (Divorce) की समकालीन सामाजिक समस्या पर केन्द्रित हुआ है और उसे उन्होंने शास्त्रसम्मत तथा शुद्ध भारतीय सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। ध्रुवस्वामिनी के द्वारा प्रसाद ने नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व, वैयक्तिक अधिकार एवं आत्मगौरव की महत्ता को बड़े कलात्मक ढंग से चित्रित किया है।

---

१. देखिये—'सूचना'—ध्रुवस्वामिनी नाटक : जयशंकर प्रसाद, नवां संस्करण, सं० २००६ वि०, पृ० ३ से ७

प्रसाद के इस नाटक में गुप्तकालीन ऐतिहासिक वातावरण का यथार्थ चित्रण हुआ है और साथ-साथ वस्तुविन्यास तथा चरित्रांकन में भी पूर्णत स्वाभाविकता आई है। महादेवी ध्रुवस्वामिनी का तेजस्वी व्यक्तित्व समस्त नाटक में प्रारम्भ से अंत तक अनेक अन्तर्द्वन्द्वों एवम् भीषण संघर्षों के साथ जूझता हुआ निखर उठा है। उसकी व्यक्तिगत समस्याओं को प्रसाद ने बडी कुशलता से सामाजिक बनाया है। नारी-समस्या की प्रमुखता तथा गहनता की पुष्टि कोमा द्वारा भी नाटककार ने की है। शकराज का उसके प्रति द्रोह समस्त नाटक के मूलभूत प्रश्न को अधिक उभारता है और नाटकीय प्रभाव को सघन बनाता है। रामगुप्त की क्लीवता, चन्द्रगुप्त की वीरता तथा शिखरस्वामी की कुटिलता का सम्यक् प्रकाशन इस नाटक में हुआ है। शकराज प्रतिनायक के रूप में ध्रुवस्वामिनी तथा रामगुप्त के चरित्रोद्घाटन में बडा उपकारक सिद्ध हुआ है। उसके कारण नाटक की विवाह-विच्छेद समस्या विशेष गंभीर तथा गूढ बन जाती है। रामगुप्त, शकराज, कोमा, मिहिरदेव आदि की हत्या ने नाटक को विषादपूर्ण बना दिया है। प्रारम्भ से अंत तक नाटक का सम्पूर्ण वातावरण उद्वेग, वेदना, चिंता, भय आदि से मिश्रित है जो शेक्सपीयर के मैकबेथ और जूलियस सीज़र का स्मरण कराता है। मिहिरदेव की भविष्यवाणी, धूमकेतु का अमंगल दर्शन, प्रमुख पात्रों की हत्या और नाटक का संघर्ष शेक्सपीयर के दुखान्त नाटकों की परंपरानुसार है।

इस नाटक के तीन अंक हैं। दृश्य नहीं है। इसका घटना-काल बहुत ही परिमित है। इससे काल तथा प्रभाव की एकता सिद्ध हो सकी है। इसका रचनातंत्र एकांकी के अधिक निकट प्रतीत होता है। बहुअंकी नाटक की तरह न इसमें घटनाओं का विशेष विस्तार है और न पात्रों का विस्तृत परिचय। सुग्रथित कथावस्तु आवश्यक पात्रों के सहयोग से नाटक के काल और स्थान की एकता का निर्वाह करती हुई त्वरित गति से अंत की ओर अग्रसर होती है और समाप्ति के समय उद्देश्य का उद्घाटन भी समुचित रूप से हो जाता है। वस्तुत 'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद की श्रेष्ठ यथार्थवादी कृति कही जा सकती है।

गुजराती 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' नाटक

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अपने इस नाटक के मुखपृष्ठ पर शीर्षक के नीचे ही यह संकेत किया है 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' एक खोये हुए नाटक का 'नवदर्शन' है। वह खोया हुआ नाटक है विशाखदत्त का 'देवीचन्द्रगुप्तम्'। उसके प्राप्त पृष्ठों के कथांशों पर नाटक आधृत है। इसकी नायिका ध्रुवस्वामिनी है जो चंपावती के राजा अच्युतदेव की पुत्री और समुद्रगुप्त पराक्रमादित्य के ज्येष्ठ पुत्र मगधराज रामगुप्त की पत्नी है। महाक्षत्रप रुद्रसेन उज्जयिनी की सीमा पर आक्रमण करता है। रामगुप्त का अनुज चन्द्रगुप्त लगातार दो वर्ष तक उससे जूझता है और विजयी होकर मगध की राजधानी कुसुमपुर लौटता है। निर्वीर्य और निस्तेज रामगुप्त विलासी है। इसमें ध्रुवस्वामिनी बहुत ही अशान्त और चिंतित रहती है। चन्द्रगुप्त की उससे कुसुमपुर में पहली बार भेंट होती है। दोनों में युद्ध-विषयक वार्तालाप होता है। चन्द्रगुप्त रामगुप्त से सेना को प्रोत्साहित करने के लिए उज्जयिनी चलने का आग्रह करता है पर निर्वीर्य रामगुप्त उद्यत नहीं होता। फलत ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त को सहायता देती है। शकपति रुद्रसेन से युद्ध होता है जिसमें मगधसेना हार जाती है। सभी बंदी बना लिये जाते हैं। रामगुप्त के साथ सन्धि प्रस्ताव में शकपति 'सुन्दरी ध्रुवदेवी' की माँग करता है। रामगुप्त इस प्रस्ताव को स्वीकार करता है। चन्द्रगुप्त इससे लज्जित होता है। गुप्तवंश

की प्रतिष्ठा बचाने के लिए वह स्वयं ध्रुवस्वामिनी का वेश धारण कर तथा अन्य बीस योद्धाओं को स्त्रियों के रूप में सुसज्जित कर शकपति के समीप जाता है। इधर गुहसेन रामगुप्त की आज्ञा से ध्रुवदेवी को पकड़कर कुसुमपुर ले जाता है। चन्द्रगुप्त विजयी होकर कुसुमपुर लौटता है। रामगुप्त के दुराचारों को जानकर उसे चिन्ता होती है। इस स्थिति को समाप्त करने के लिए वह विक्षिप्त होने का अभिनय करता है और बौद्ध भिक्षु बनने की बात फैलाता है। जब चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी प्रेमालाप में तल्लीन हैं, रामगुप्त का आगमन होता है और उसके आदेशानुसार गुहसेन चन्द्रगुप्त की हत्या को तत्पर होता है। तत्क्षण चन्द्रगुप्त को पकड़-कर जमीन पर पटक देता है और गला दबाकर उसकी हत्या करता है। वह फिर से पागल होने का दिखावा करता है। हरिसेन की सूचना और याज्ञवल्क्य के समर्थन से ध्रुवदेवी राज्यसिंहासन ग्रहण करती है। पुनः शकपति के आक्रमण के समाचार आते हैं। चन्द्रगुप्त विक्षिप्तावस्था में ही उसका मुकाबला करने दौड़ जाता है। लौटने पर स्कंदगुप्त और वात्स्यायन का विद्रोह शुरू होता है। ध्रुवदेवी और चन्द्रगुप्त के विवाह के उपरान्त विद्रोह शान्त हो जाता है। जनता उनकी जय गाती है और याज्ञवल्क्य के आशीर्वाद के साथ नाटक समाप्त होता है।

इस नाटक के चार अंक हैं। कथावस्तु को दृश्यों में विभाजित नहीं किया गया है। गुप्तयुग की इस अल्पपरिचित एवं अस्पष्ट ऐतिहासिक घटना का उपयोग लेखक ने अनमेल विवाह की अर्वाचीन सामाजिक समस्या का समाधान प्रस्तुत करने के लिए किया है। रामगुप्त और ध्रुवदेवी के अनमेल विवाह द्वारा कटुता, मनमुटाव, अशान्ति एवम् अस्वस्थता का वातावरण सृष्ट कर लेखक ने हमारी परम्परागत, रूढ़िगत लग्न-व्यवस्था को बदलने की ओर इंगित किया है। चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी के आकर्षण, प्रेम और विवशता का भी यथोचित निरूपण हुआ है। नितान्त विरोधी स्वभाव के रामगुप्त और चन्द्रगुप्त के मध्य ध्रुवदेवी का पात्र प्रस्तुत करने के कारण नाटक में नाट्योचित संघर्षात्मक स्थिति का मार्मिक अंकन हो सका है। ध्रुवदेवी, रामगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि पात्रों का दुहरा व्यक्तित्व और सदिग्ध कार्य-कलाप नाटक में कौतूहल तथा चमत्कार की सृष्टि करने में पूरी तरह सफल हुआ है। मुंशीजी पात्रों के आंतरिक संघर्ष प्रस्तुत करने और कार्य-व्यापार में सक्रियता पैदा करने में अतीव कुशल हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक इसका ज्वलंत उदाहरण है। सभी पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व बड़ी ही कुशलता से लेखक ने प्रस्तुत किया है। माधवी-कालिदास के प्रेमालाप में बड़ी सजीवता और स्वाभाविकता है, यद्यपि यह प्रासंगिक घटना मूल कथा के लिए विशेष उपकारक नहीं है। चौथे अंक में कालिदास का काव्यवाचन अनावश्यक ही है, इससे कथा प्रवाह शिथिल पड़ गया है और नाटकीय प्रभाव में तनिक मंदता आ गई है, किन्तु चन्द्रगुप्त-ध्रुवस्वामिनी के संवादों में सप्राणता, सार्थकता एवम् प्रभावोत्पादकता के तत्त्व विद्यमान हैं। इससे दोनों पात्रों के मनोगत भावों का सूक्ष्म दर्शन ही नहीं होता अपितु नाट्योचित वातावरण की सृष्टि में बड़ी सहायता मिलती है। ध्रुवस्वामिनी अपने पति की क्लीवता, विलासिता और संदेहशीलता के कारण दुःखी है। उसका तेजस्वी व्यक्तित्व क्लीव पति की मनोवृत्ति के कारण हतप्रभ बनता जाता है और इसीके परिणामस्वरूप वह भीषण मानसिक संघर्ष का अनुभव करती है। इस स्थिति के कारण माता दत्तदेवी, दंडनायक हरिसेन, धर्मधुरन्धर आचार्यदेव, शास्त्रप्रवीण महामन्त्रिवर्य वात्स्यायन आदि अन्य लोग चिन्तित हैं। लेखक ने बड़ी कुशलता से सभी प्रमुख पात्रों के विचार और कर्त्तव्य का केन्द्र रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के दाम्पत्य जीवन को बनाया

है और इससे समस्त कथानक सुग्रथित, सुस्पष्ट और सुरेख बन पड़ा है। ध्रुवदेवी की भाँति लेखक ने चन्द्रगुप्त का भी सजीव और सबल व्यक्तित्व अंकित किया है। गंभीरता, वीरता, मानव-सुलभ विवशता, अदम्य साहस, स्त्री-सम्मान-भावना, धर्मपरायणता, विवेकशीलता, कर्त्तव्यनिष्ठा आदि गुणों के कारण चन्द्रगुप्त का उदात्त और उज्ज्वल चरित्र इस नाटक में नायक के पद का अधिकारी बनता है। उन्मादावस्था के समय वह हमें शेक्सपीयर के हेम्लेट का स्मरण कराता है। इस नाटक का बाह्य-अन्तर रूप पश्चिमी नाटकानुकूल है। समस्त नाटक पर अधिकांश शेक्सपीयर का प्रभाव दृष्टिगत होता है। मुंशीजी के नाट्यकौशल का जितना सफल प्रयोग इस नाटक में हो सका है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। अतः यह कहा जा सकता है कि मुंशीजी की सर्वोत्तम कृति के रूप में संभवतः 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' की गणना की जा सकती है।[1]

तुलना

यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि विशाखदत्त के 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक के अंशों की खोज ने एक साथ हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के मूर्द्धन्य नाटककारों को नाट्य-लेखन की ओर प्रवृत्त किया और दोनों ने 'ध्रुवस्वामिनी' पर ही नाटक लिखे। कन्हैयालाल मुंशी ने 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' नाटक की रचना सन् १९२९ में की। इसके तीन वर्ष बाद जयशंकर प्रसाद ने १९३२ में 'ध्रुवस्वामिनी नाटक' का प्रकाशन किया। डॉ० दशरथ ओझा का यह कथन—श्री कन्हैयालाल मुंशी का ध्रुवस्वामिनी नाटक 'प्रसाद' की ध्रुवस्वामिनी के सोलह वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुआ[2]—पुनः विचारणीय है। दोनों नाटककारों के नाट्य लेखन में दृष्टि-भेद है, फलतः दोनों की कृतियों में काफी अन्तर दीख पड़ता है। जयशंकर 'प्रसाद' ने विवाह-मोक्ष (divorse) और नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की समस्या को लेकर अपना नाटक लिखा है, जबकि कन्हैयालाल मुंशी का अपनी रचना में प्रधान उद्देश्य अनमेल विवाह की समस्या प्रस्तुत करना है। रामगुप्त के साथ किये गए अनमेल विवाह के कारण प्रपीड़ित ध्रुवस्वामिनी के अन्तर्द्वन्द्व का अत्यन्त सूक्ष्म निरूपण मुंशीजी ने इस नाटक में किया है। उसी के साथ नाटक के उत्तरार्द्ध में चन्द्रगुप्त की विक्षिप्तावस्था का मनोमंथन ध्रुवदेवी को प्राप्त करने के निमित्त है जो उक्त विवाह-समस्या से सम्बन्धित है।

प्रसाद ने रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के विवाह-मोक्ष (divorse) के लिए पुरोहित के द्वारा शास्त्राधार का उल्लेख करवाकर उसे भारतीय सिद्ध करने का प्रयास किया है। उसी प्रकार मुंशीजी ने ध्रुवस्वामिनी के साथ चन्द्रगुप्त के पुनर्लग्न को याज्ञवल्क्य के द्वारा स्मृति एवं शास्त्र सम्मत सिद्ध कराया है। दोनों के प्रसंग निरूपण में अंतर है। प्रसाद ने परिषद् के समक्ष रामगुप्त को प्रस्तुत कर ध्रुवस्वामिनी के साथ उसका लग्नविच्छेद करवाया है और तत्पश्चात् सामंतकुमार द्वारा उसका वध करवाया है। मुंशीजी ने इस प्रकार नहीं किया। उनके नाटक में चन्द्रगुप्त स्वयं विक्षिप्तावस्था में रामगुप्त की हत्या करता है। तदनंतर ध्रुवस्वामिनी राजदंड ग्रहण करती है और नाटक के अंत में दोनों का विवाह होता है। दोनों नाटकों के अंत में चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी मगध-साम्राज्य के शासनकर्ता बनते हैं और जनता जय पुकारकर दोनों की प्रतिष्ठा करती है।

---

१ प्रो० अनंतराय रावल 'साहित्य-विहार', पृ० २०६

२. 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास' द्वि० सं०, पृ० ३४३

हिन्दी और गुजराती के इन नाटकों की कथावस्तु में अधिक साम्य नहीं है। गुजराती नाटक में माधवी-कालिदास के प्रणय-प्रसंग को मुख्य घटना के साथ गुंफित किया है। प्रसाद ने इसके स्थान पर कोमा-शकराज की प्रणयकथा प्रस्तुत की है। माधवी का प्रेम सुखदायी सिद्ध होता है। शकराज कोमा को धोखा देता है और अंत में उसके शव को ले जाते समय मिहिरदेव के साथ कोमा की भी हत्या हो जाती है। इस प्रकार इस प्रणयकथा ने प्रसाद के नाटक में विषाद की सृष्टि की है। हिन्दी की 'ध्रुवस्वामिनी' रचना में 'ध्रुवस्वामिनी' और चन्द्रगुप्त के पूर्व परिचय तथा प्रणय का उल्लेख है। नाटक में एक स्थान पर तो चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी को अपनी 'वाग्दत्ता पत्नी' भी कहता है। मुंशीजी ने अपने ग्रंथ में चन्द्रगुप्त के ध्रुवस्वामिनी से प्रत्यक्ष परिचय का उल्लेख किया है। कुसुमपुर में ध्रुवस्वामिनी के आगमन के पश्चात् दोनों में प्रणयभाव जागता है। शकराज के शिविर में जब ध्रुवस्वामिनी को भेजने का निर्णय होता है तब प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी को चन्द्रगुप्त के वेश में साथ-साथ भेजा है। मुंशी ने अकेले चन्द्रगुप्त को ध्रुवस्वामिनी के वेश में भेजकर ध्रुवस्वामिनी को अपने शिविर में विह्वल, एकाकी और असहाय स्थिति में रक्खा है। प्रसाद का हेतु ध्रुवस्वामिनी के शौर्य को प्रगट करना है और मुंशीजी चन्द्रगुप्त के प्रति उसकी प्रणयाकांक्षा को तीव्रतर बनाना चाहते हैं। दोनों अपने-अपने प्रयोजन में पूर्णतः सफल हुए हैं और नाट्यकला का भी दोनों ने उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत किया है।

पात्रों के विषय में भी दोनों कृतियों में काफी फर्क है। ध्रुवस्वामिनी-रामगुप्त और चन्द्रगुप्त-शकराज को छोड़कर दोनों नाटकों के अन्य पात्रों में साम्य नहीं है। मुंशीजी के पात्रों की संख्या प्रसाद के पात्रों से कहीं अधिक है। उनका 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' नाटक चार अंकों की बृहदाकार रचना है जब कि प्रसाद का 'ध्रुवस्वामिनी' तीन अंकों का लघुकाय नाटक है जो एकांकी के रचना-शिल्प के अधिक समीप है। मुंशीजी को अपने नाटक में उसके बृहदाकार के कारण पात्रों का मनोविश्लेषण करने का अवसर प्राप्त हुआ है। उन्होंने प्रमुख पात्रों के अंतर्द्वन्द्व का सूक्ष्म निरूपण कर नाटक में सजीवता, रोचकता और आकर्षण पैदा कर दिया है। 'प्रसाद' के नाटक में एक-दो पात्रों को छोड़कर अन्य पात्रों के चरित्रांकन का अवकाश नहीं है।

प्रसाद को अपनी कृति में समस्या-निरूपण अभीष्ट है और उसमें उन्हें आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों का अधिक निर्वाह नहीं किया। मुंशीजी का नाटक इतिहास के तथ्यों को विशेषतः अपनाये हुए है और उसी के साथ नाट्य-तत्त्वों का भी उसमें पूर्णरूपेण समावेश हो सका है। हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के इन नाटकों पर शेक्सपीयर की नाट्य-कला का प्रभाव पड़ा है। विषादयुक्त गंभीर वातावरण, पात्रों का अंतर्द्वन्द्व, संघर्षात्मक कार्य-व्यापार आदि इसके उदाहरण हैं। दोनों में अभिनेयता का भी अभाव नहीं है।

इस प्रकार इतिहास की एक ही घटना को दो भाषाओं के दो महान् नाटककारों ने अपने-अपने ढंग से नाटकीय रूप दिया है। दोनों अपने कृतित्व में पूर्णतः सफल हुए हैं। वस्तुतः ध्रुवस्वामनी हिन्दी की उत्तम रचना है और 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' गुजराती की उत्कृष्ट कृति है।

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की विशेषताएँ

महाकवि जयशंकर प्रसाद युगान्तकारी नाटककार हैं। इनके पूर्व भारतेन्दुयुगीन हिन्दी नाटक अपनी शैशवावस्था में होने के कारण अपना समुचित अस्तित्व और महत्त्व प्रस्थापित नहीं कर सका। वह कभी संस्कृत नाटक का सहारा लेता रहा, तो कभी अंग्रेजी, पारसी या लोकनाटक का आधार लेकर दंडवत् खड़ा रहने का प्रयत्न करता रहा। महाकवि प्रसाद ने अपनी असाधारण सृजनात्मक प्रतिभा द्वारा उस हिन्दी नाटक को परिपुष्ट किया और उसे प्रौढ़ता एवम् प्राजलता प्रदान की। स्कंदगुप्त और 'चन्द्रगुप्त' इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

यह कहा जा चुका है कि प्रसाद के नाटक सांस्कृतिक धारा के नाटक हैं जिनकी आधार-शिला ऐतिहासिकता है। हिन्दी में जयशंकर प्रसाद ही सर्वप्रथम नाटककार हैं जिन्होंने इतिहास और नाटक का सही समन्वय अपने नाटकों में किया है। इनके नाटकों में प्राचीन भारतीय संस्कृति के गौरव तथा वैभव की प्रतिष्ठा है और उसी के साथ समकालीन राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं का निदर्शन भी है। प्रसाद ने बौद्ध युग से हर्ष-युग तक के ऐतिहासिक प्रसंगों और चरित्रों को अपने नाटकों में स्थान दिया है। इनका रचना-काल १९१०-१९३२ है।

प्रसाद के सभी नाटक चरित्रप्रधान हैं। उनके नाटक संस्कृत के नाट्यशास्त्रानुसार धीरोदात्त, वीर, गंभीर और उच्चवंशीय हैं। स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, बिंबसार इत्यादि इतिहास-प्रसिद्ध पात्र हैं। प्रसाद के चरित्रांकन की यह विशेषता है कि इन्होंने अपने सभी ऐतिहासिक पात्रों को सजीव एवम् व्यक्तित्व-संपन्न अंकित किया है। हिन्दी में प्रसाद ही सर्वप्रथम नाटककार हैं जिन्होंने पात्रों का मनोविश्लेषण तथा अंतर्द्वन्द्व प्रस्तुत किया है। इनके पात्रों का हमें उनकी समस्त सुंदरताओं और दुर्बलताओं के साथ साक्षात्कार होता है। स्कन्दगुप्त, बिम्बसार, चन्द्रगुप्त आदि चरित्रशील और उदात्त पात्रों का मनोमंथन द्रष्टव्य है। प्रसाद उत्कृष्ट कोटि के नारी पात्रों के यशस्वी स्रष्टा हैं। राज्यश्री, चित्रलेखा, मल्लिका, देवसेना, अलका इत्यादि प्रसाद की नारी सृष्टि के अमर सृजन हैं। इनमें नारी-जीवन की उदात्तता के साथ-साथ स्त्री-सुलभ आंतरिक संघर्षों का यथार्थ चित्रण हुआ है। प्रेमानंद, गौतम बुद्ध आदि सात्त्विकता के संदेशवाहक हैं। इनके अतिरिक्त 'चन्द्रगुप्त' का महत्वाकांक्षी और दृढ़-संकल्प चाणक्य तथा 'ध्रुवस्वामिनी' की स्वाभिमानी और तेजस्वी ध्रुवस्वामिनी अतुलनीय पात्र है। प्रत्येक नाटक में नाटकीय संघर्ष और चारित्रिक वैमल्य को सुस्पष्ट करने के लिए प्रतिनायकों का निर्माण किया गया है। विकटघोष, नरदेव, भटार्क, शकराज, आदि पुरुष पात्र तथा अनन्तदेवी, विजया, छलना आदि स्त्री पात्र दुष्टता एवम् दानवता से ओतप्रोत हैं। अंत में उनका या तो हृदय-परिवर्तन होता है या विनाश होता है। हृदय परिवर्तन के पीछे प्रसाद की मानव में अन्तर्हित सत्तत्त्व के प्रति आस्था प्रगट होती है।

प्रसाद मूलतः कवि हैं। अतएव इनके नाटकों का समस्त वातावरण, संवाद और शैली काव्यात्मक है। इनकी कृतियों में सम्मिलित गीत इनकी कवि प्रतिभा के उत्तम उदाहरण हैं। प्रसाद का जीवन के प्रति दृष्टिकोण सदा ही दार्शनिक रहा है। फलतः इनके नाटकों में दार्शनिकता का अधिक समावेश हुआ है। प्रमुख पात्र चिंतन प्रधान एवं आदर्शवादी हैं। उनके संभाषणों में जीवन और जगत् के विषय में गहन चिंतन प्रगट होता है। इसी के साथ 'नियतिवाद' की इनमें झलक भी मिलती है। प्रसाद के जीवन में विषाद की अंतर्धारा सदा ही प्रवाहित रही। उसे बौद्ध और शैव दर्शन ने अधिक सतेज बनाया। परिणामस्वरूप इनकी सभी रचनाओं में सुखान्त भावना दुःखमूलक बन गई है। इसीलिए "उनके नाटक न

पूर्णत सुखान्त हैं और न दुखान्त । उनमे सुख-दुख जैसे एक दूसरे को छोडना नही चाहते, कवि आग्रहपूर्वक सुख का आह्वान करता है, सुख आता भी है, परन्तु तुरन्त ही दुख भी अपनी झलक दिखा ही जाता है । ये नाटक सुखान्त अथवा दुखान्त न होकर 'प्रसादान्त' है। उसी प्रभाववश "इनमे शृगार और वीर रस के साथ तीसरा रस शान्त भी अनिवार्य रूप से मिलता है ।"[1]

प्रसाद का युग राष्ट्रीय जागरण का युग है । सवदनशील एव भावुक कविवर प्रसाद पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव पडा है । इसीलिए इनके 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'अजातशत्रु', 'विशाख', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि सभी नाटको मे देशभक्ति, राष्ट्रीयता, सामाजिक एव राजनैतिक समस्याएँ और गाधीजी की सत्य-अहिंसा की भावनाएँ स्थान पा सकी है ।

प्रसाद के समक्ष सस्कृत रूपक परम्परा, शेक्सपीयर और अन्य पाश्चात्य लेखको के नाटक, पारसी रगमच, भारतेन्दुकालीन रचनाएँ एव द्विजेन्द्रबाबू के बँगला नाटक थे । इन सबका प्रसाद की कृतियों पर कहीं न कहीं प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । नांदी, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि सस्कृत नाट्यागो का तो प्रसाद ने सर्वथा परित्याग किया है, किन्तु 'वस्तु, नेता और रस' तत्त्व के उपयोगी एवम् अपरिहार्य अगो का इन्होने अपने नाटको मे अवश्य समावेश किया है । 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' मे चरित्रांकन, वस्तुविन्यास और रचना शैली शेक्सपीयर या द्विजेन्द्र बाबू की पद्धति पर आधृत हैं। कार्य-व्यापार म सक्रियता तथा सघर्ष भी पाश्चात्य ढग का है। 'राज्यश्री' और 'विशाख' पर भारतेन्दुकालीन नाटकों और पारसी रगमच की छाप नजर आती है । यह सब होते हुए भी यदि हम प्रसाद के नाटको का विश्लेषणात्मक अध्ययन करें तो यह स्पष्ट होता है कि उनम भारतीय और पाश्चात्य दोनो नाट्यादर्शों का सुभग सामजस्य हुआ है ।

प्रसाद के नाटक अभिनेय नही है । उनमे रगमच विषयक दोष दृष्टिगत होते है । दृश्यो और अको का विभाजन सुव्यवस्थित नही है । नाटको मे कई अनावश्यक घटनाओ की भरमार रहती है जिनको रगमच पर प्रदर्शित नही किया जा सकता । भिन्न-भिन्न नाटकीय प्रसगो के बीच दीर्घ अवधि का व्यवधान रहता है और एक ही अक मे एक साथ अनेक स्थानो पर घटनाएँ घटती हैं जिन्हें रगमच पर बताना किसी प्रकार सभव नही है। इन दोषो का कारण यह है कि प्रसादजी को प्रत्यक्ष रगमचीय अनुभव नही था । वे नाट्य-प्रदर्शन के शिल्पशास्त्र से अनभिज्ञ थे, अत उनके नाटक खेलने योग्य नही हो सके । फिर भी पिछले कुछ वर्षों मे काफी काट छाँट के बाद सुशिक्षित और कुशल अभिनेताओ ने रसज्ञ दर्शको के समक्ष इनके सफल प्रयोग किये हैं । यह प्रसन्नता का विषय है ।

अत म डॉ० सोमनाथ गुप्त के ही कथन का हम समर्थन करते हैं कि, "वस्तुविन्यास, योजना, शैली, भाषा सौष्ठव, गीतिसामजस्य और उदात्त भावनाओं एवम् भावुकता तथा दार्शनिकतापूर्ण सवादो से प्रसाद ने जिस नूतन सृष्टि का निर्माण किया है, वह हिन्दी-साहित्य के लिए गौरव की वस्तु है ।"[3]

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक . डॉ० नगेन्द्र, षष्ठ सस्करण, १९६०, पृ० १०-११

२. वही।

३. हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास—डॉ० सोमनाथ गुप्त, पृ० १५७

अन्य ऐतिहासिक नाटक

प्रसाद के अनतर उसी प्रकार की सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना की निरूपण-प्रवृत्ति हरिकृष्ण प्रेमी, गोविंदवल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार आदि लेखकों के ऐतिहासिक नाटकों में पाई जाती है। किन्तु इन नाटककारों में न प्रसाद का सा इतिहास-विषयक गंभीर अध्ययन-मनन ही पाया जाता है और न प्रसाद के जैसी महान् प्रतिभा ही दृष्टिगत होती है। फिर भी इन सभी नाटककारों का हिन्दी नाट्य साहित्य में विशिष्ट स्थान है और इनकी कृतियों से हिन्दी नाट्य साहित्य समृद्ध एवं सम्पन्न हुआ है। प्रसादोत्तर नाट्यसाहित्य में गणनापात्र कृतियाँ निम्नांकित हैं।

'रक्षाबन्धन'

हरिकृष्ण प्रेमी का सुप्रसिद्ध नाटक 'रक्षाबन्धन' १९३४ में प्रकाशित हुआ। इसका कथानक मेवाड के महाराणा संग्रामसिंह की पत्नी महारानी कर्मवती से सम्बन्धित है। गुजरात का शासक बहादुरशाह मेवाड पर आक्रमण करता है। जब मेवाड को बचाने की कोई आशा नहीं रहती तब कर्मवती मुगल सम्राट् हुमायूं को राखी भेजकर उसे अपना भाई बनाती है। मानवता के गुणों से विभूषित हुमायूं धार्मिक भेदभावों को भूलकर अपने पिता के शत्रु स्व० संग्रामसिंह की पत्नी कर्मवती की राखी को स्वीकार कर उसकी सहायता के लिए बंगाल से दौडा-दौडा मेवाड पहुँचता है। पर दुर्भाग्य से उसके पहुँचने के पहले ही बारह हजार राजपूतनियों के साथ कर्मवती जौहर की ज्वाला में में भस्म हो चुकी होती है। हुमायूं बहादुरशाह को हराता है और कर्मवती की चिता की भस्म सिर आँखों पर लगाकर दुःख के साथ लौटता है। इस प्रकार इस नाटक में मानवता की भव्य भावना प्रगट हुई है। नाटक का प्रधान उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम एकता के राष्ट्रीय आदर्श का निरूपण करना है। एतदर्थ हिन्दू कर्मवती द्वारा मुसलमान हुमायूं को राखी बाँधने का कथानक इस नाटक में लिखा गया है। हुमायूं आदर्श चरित्र है और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रतीक है। कर्मवती और जवाहरबाई वीर क्षत्राणियों की त्याग और बलिदान की भावनाएँ प्रस्तुत करती हैं। लेखक ने श्यामा और विजय की प्रणय-कथा द्वारा नाटक में सजीवता और रोचकता पैदा कर दी है। श्यामा का मानव-सेवा का आदर्श वस्तुत ऊँचे धरातल की चीज है। इस नाटक पर गांधीजी के आदर्शों का अधिक प्रभाव पडा है। यदि अत्यधिक गीतों और आदर्शोन्मुख संभाषणों का इस नाटक में प्रयोग न हुआ होता तो यह नाटक हिन्दी के सर्वोत्तम नाटकों में स्थान पाता।

'शिवा-साधना' (१९३७)

'रक्षाबंधन' की भाँति इस नाटक में भी हिन्दू मुस्लिम-ऐक्य का आदर्श प्रस्थापित किया गया है। इसमें शिवाजी को 'भारतवर्ष में जनता का 'स्वराज्य' स्थापित करने' वाले असाम्प्रदायिक जनतांत्रिक नेता के रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया है। शिवाजी के जीवन की प्रायः सभी घटनाओं का इस नाटक में समावेश किया गया है। सैनिकों द्वारा उपहारस्वरूप लाई गई रूपवती मुसलमान युवती को माता के रूप में सम्मानित करते समय शिवाजी की सच्चरित्रता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हमें प्राप्त होता

है। रामदास का पात्र राष्ट्रसेवा, त्याग और स्वराज्य-प्राप्ति के लिए कटिबद्ध होने की भावना का प्रकाशन करता है। जेबुन्निसा प्रेम और सहानुभूति की उपासिका है। यह नाटक मुगलयुगीन वातावरण को तादृश चित्रित करता है। पात्रो की सख्या अधिक होने से अधिकाश पात्रो का यथोचित चरित्र चित्रण नही हो सका है। कथानक मे इतिहास और कल्पना का सम्मिश्रण स्वाभाविक प्रतीत नही होता है। इसके उदाहरण हैं, शिवाजी और जेबुन्निसा का प्रेम, अफजलखाँ द्वारा उसकी पत्नियो का वध, आदि।

'प्रतिशोध'

प्रेमीजी ने 'प्रतिशोध' की रचना भी १६३७ मे की है। इसका कथानक बुदेलखड की वीरभूमि से सम्बन्धित है। इसमें बुदेलखड के वीर चपतराय तथा उनके पुत्र छत्रसाल के जीवन-वृत्त को अकित किया गया है। छत्रसाल की माता के मृत्यु-पूर्व व्यक्त इन उद्गारो को लेकर नाटक का नामाभिधान हुआ है,—"छत्रसाल सहरा मे है, उससे कह देना कि तुम्हें सब प्रकार साधनहीन, भिखारी बनाकर माँ और बाप दुनिया से चल बसे। माँ-बाप की मृत्यु का प्रतिशोध शत्रु से लेना न भूल जाना • (मृत्यु)।'[1] इसका कथानक सुदीर्घ एवम् जटिल है। फलत इसमें इतस्तत शिथिलता आ गई है। पात्रो का भी बाहुल्य है। केवल चपतराय, लालकुँवरि, छत्रसाल आदि कतिपय पात्रो का समुचित अकन हो सका है। क्रूर, हिंसक, धर्मान्ध औरगजेब का अत मे पश्चात्ताप करना सचमुच नाट्योपकारक प्रसग है। यह कल्पना इस नाटक के लिए सतर्पक सिद्ध हुई है। वीररस-प्रधान इस नाटक मे युद्ध, रक्तपात, षड्यत्र के दृश्य ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि करते हैं। विजया के आत्मबलिदान का दृश्य हृदयस्पर्शी एवम् करुण है। मातृभूमि की रक्षा का स्वर भी इस नाटक मे मुखरित है।

'स्वप्न-भग' (१६४०)

हिन्दू मुस्लिम एकता की ही समस्या इस नाटक मे प्रेमीजी ने प्रस्तुत की है। इसका नायक दारा है जो हिन्दू मुस्लिम एकता का अनन्य उपासक है। लेखक का कथन है कि 'हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए उस महापुरुष (दारा) ने अपने जीवन की बलि दे दी। उस समय दारा का जो स्वप्न-भग हुआ, वह आज तक भग ही पडा है।" दारा के जीवन की उत्तरकालीन घटनाओ को इस नाटक मे स्थान दिया गया है। नाटक का खलनायक औरगजेब अतिशय निरकुश, निर्मम और निष्ठुर है। उसे प्रेरणा देने वाली बहिन रोशनआरा भी कम क्रूर, कठोर और कुचक्री नही है। उसके निमित्त रक्तपात और हिंसा होती है। प्रकाश के सभापरण मे हिन्दू मुस्लिम एकता की भावना प्रगट हुई है। दारा की करुण और शोकपूर्ण मृत्यु का प्रसग इसमे अतीव हृदयद्रावक है। इस नाटक की यह विशेषता है कि इसमे लेखक ने बहुत कम पात्रो का समावेश किया है जिससे चरित्राकन सुस्पष्ट और समुचित हो सका है। पात्रो के मनोविश्लेषण और अतर्द्वन्द्व की झलक अन्य नाटको की अपेक्षा इसमे सबसे अधिक मिलती है। 'स्वप्नभग' प्रेमीजी का काफी मॅजा हुआ नाटक है।"[2]

---

१. 'प्रतिशोध' हरिकृष्ण प्रेमी—प्रथम अक, आठवा दृश्य
२. डॉ० नगेन्द्र आधुनिक हिन्दी नाटक, पृष्ठ ३२

'आहुति' (१९४०)

इसमे हरिकृष्ण प्रेमी ने शरणागत मीर महिमाशाह की रक्षा के लिए रणथभौर के राणा हमीरसिंह की आहुति की कथा को नाट्य रूप दिया है। आदर्शोद्गारो के कारण नाटक के कथाप्रवाह मे मदता आ गई है। अत भी प्रतीतिजनक नही है। यह भावना-प्रधान सामान्य कोटि की रचना है। प्रेमीजी ने १९४५ मे 'मित्र' नाटक की रचना की। इसमे उन्होने अलाउद्दीन के सेनापति महबूब और जैसलमेर के राणा के छोटे पुत्र रत्नसिंह की मित्रता के इतिवृत्त को आदर्श रूप मे प्रतिपादित किया है जिसमे यथार्थता की कमी है।

'विषपान' (१९४५)

प्रेमीजी के 'विषपान' नाटक का वृत्तात मेवाड की प्रसिद्ध राजकुमारी कृष्णाकुमारी से सम्बन्धित है। इसी विषय पर गुजराती कवि नर्मद ने सन् १८६९ मे 'कृष्णाकुमारी' नामक नाटक की रचना की है जिसकी विवेचना हम पूर्ववर्ती पृष्ठो मे कर चुके हैं। दोनो नाटको मे कथानक को छोडकर विशेष साम्य नही है। कवि नर्मद के नाटक में अमीरखाँ के षड्यत्र के कारण अजित कृष्णाकुमारी को विष दे देता है और हरिकृष्ण प्रेमी यह दिखाते हैं कि कृष्णाकुमारी स्वय ही विषपान करके अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देती है। इसीलिए प्रेमीजी के नाटक का नाम 'विषपान' है। भाषा, शैली, रचना-विधान, सवाद, चरित्राकन और वस्तु-विन्यास सभी दृष्टियो से गुजराती के 'कृष्णाकुमारी' की अपेक्षा हिन्दी का 'विषपान' श्रेष्ठ है। 'कृष्णाकुमारी' प्रारभिक युग की असफल रगमचीय कृति है, जब कि 'विषपान' अर्वाचीन युग की सोद्देश्य साहित्यिक कृति है। इसमे देशभक्ति और जातीय एकता की भावना अभिव्यक्त हुई है।

'उद्धार' (१९४९)

महाराणा हमीर के मेवाड द्वारा उद्धार की ऐतिहासिक घटना को प्रेमीजी ने इसमे नाटकीय रूप दिया है। राष्ट्रीय नेता वस्तुत लोकसेवक हैं। हमारी इस वर्तमान विचारधारा को दृष्टि के समक्ष रखकर लेखक ने राणा हमीर के पात्र को सामतवादी न बनाकर जननायक के रूप मे प्रस्तुत किया है। 'उद्धार' मे राष्ट्रीयता का आदर्श लेखक की प्रेरणा का मूल उत्स है। पूर्वोल्लिखित नाटको की सभी बातें इसमे भी पाई जाती हैं।

'शपथ' (१९५१)

हरिकृष्ण प्रेमी का केवल यही नाटक गुप्त-युग से सम्बन्धित है। हूणो के मालव देश पर आक्रमण और दशपुर के नायक विष्णुवर्धन के प्रतिरोध की गुप्तयुगीन कहानी 'शपथ' की प्रमुख घटना है। हूणो द्वारा अपने पिता की हत्या के पश्चात् विष्णुवर्धन बर्बर हूणो को भारत की सीमा से खदेडने की शपथ लेता है और देश की बिखरी हुई शक्ति को सगठित करता है। तदनतर देशद्रोही धन्यविष्णु की हत्या उसकी बहिन सुहासिनी करती है। हूण-सम्राट् तोरमाण का नर्तकी कचनी द्वारा वध होता है और अत मे मिहिरकुल पराजित होता है। सर्वसत्ता जनता के हाथ मे आती है। इस आधिकारिक घटना के साथ

विष्णुवर्धन और सुहासिनी तथा वत्सभट्ट और कचनी की प्रणय-कथाएँ प्रासंगिक रूप मे इसमे सम्मिलित की गई हैं। लेखक ने बडी कुशलता से सभी प्रसगो को सकलित कर कथानक का सुचारु रूप से विकास करने का प्रयत्न किया है। फिर भी इतस्तत तनिक- शिथिलता आ गई है। ऐतिहासिक नाटक होने से पात्रो की सख्या अधिक हो गई है, किन्तु नाट्यकार ने बहुत ही स्वाभाविकता से मुख्य पात्रों का चरित्र-चित्रण किया है। पात्रों के व्यक्तित्व-निरूपण मे वैविध्य एवम् सतुलन का निर्वाह हुआ है। विष्णुवर्धन में राष्ट्रीय नेता का आदर्श प्रत्यक्ष हुआ है और मिहिरकुल गुणावगुण-समन्वित वास्तविक पात्र है। वत्सभट्ट, सुहासिनी और कचनी का चरित्रोद्घाटन समीचीन है। परतु 'शपथ' के पात्रो मे अतर्द्वन्द्व का बडा अभाव है।

प्रसाद के नाटको की तरह 'शपथ' नाटक के सवाद तत्कालीन ऐतिहासिक वातावरण के अनुरूप है। भाषा-शैली भी प्राजल और प्रौढ है। गीतो का प्रसगानुसार प्रयोग हुआ है। उज्जयिनी की नर्तकी कचनी के गीत सोद्देश्य ही है।

'शपथ' मे हमारी आजादी को सुरक्षित रखने के लिए कटिबद्ध रहने की भावना प्रकट हुई है। विष्णुवर्धन के ये शब्द हमारी वर्तमान आकाक्षा अभिव्यक्त करते है, "व (गणराज्य) अपने राष्ट्र भारत के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझकर एक दूसरे के प्रति प्रतिद्वद्विता न कर राष्ट्र के विकास मे एक-दूसरे के सहायक बनें।" इस दृष्टि से यह नाटक राष्ट्रीयता और देश की सर्वोपरिता का सदेशवाहक है।

'प्रकाश-स्तम्भ'

१९५४ मे हरिकृष्ण प्रेमी के इस नाटक का प्रकाशन हुआ। इसमे मेवाड के राजवश के आदिपुरुष बाप्पा रावल के जीवन से सम्बद्ध मुख्य घटनाओ का आधार लिया है। बाप्पा रावल का जीवन-चरित्र हमारे लिए 'प्रकाशस्तभ' बने, इस कल्पना से नाटक का नाम 'प्रकाशस्तभ' रखा है। वस्तु-विन्यास, चरित्राकन, सवाद-योजना इत्यादि की दृष्टि से यह नाटक सफल कृति मानी जा सकती है। बाप्पा रावल, हारीत, पद्मा, चपा, आदि का पात्र-निरूपण कुशलतापूर्वक हुआ है। बाप्पा रावल आदर्श व्यक्ति है, उनके द्वारा मानवता की वाणी मुखरित हुई है। अरबी सेनापति सलीम की पुत्री हमीदा से उनका विवाह साम्प्रदायिक भेदभाव को मिथ्या प्रतिपादित करने का उदाहरण है। देशभक्ति की भावना से यह नाटक सम्पन्न है।

इसमे आकस्मिक घटनाओ का समावेश कुछ स्थानो पर लेखक ने किया है। उससे नाटक का ऐतिहासिक वातावरण विशेष स्वाभाविक बन गया है। इस नाटक मे प्रेमीजी ने अभिनय की दृष्टि से नवीन प्रयोग किया है। इसकी रचना इस प्रकार की गई है कि केवल दो सेटिंग्स पर यह आसानी से खेला जा सके। इसमे दृश्य कम है और बिना दृश्य-परिवर्तन के यह सुगमता से खेला जा सकता है।

'कीर्तिस्तम्भ' (१९५५)

प्रेमीजी के इस नाटक म मेवाड क राजवश का गृहकलह और षड्यत्र चित्रित है। मेवाड के राणा ऊदाजी के पुत्र सूरजमल के मन मे मेवाड का राजसिंहासन पाने की इच्छा जागती है। तत्कालीन राणा रायमल के तीनो पुत्र सग्रामसिंह, पृथ्वीराज और जयमल के

बीच युवराजपद के लिए प्रतिस्पर्धा पैदा होती है। इसलिए मेवाड अशांति और आतक का क्रीडास्थल बन जाता है। इस नाटक मे लेखक की नाट्यकला का विकसित रूप नज़र आता है। प्रसंग-चित्रण म बडी कुशलता और विवेक से काम लिया गया है। कथानक मे सक्रियता और स्वाभाविकता के गुण है। कथा-विकास बडे कलात्मक ढग से होता है।

अन्य नाटकों की अपेक्षा इस नाटक मे पात्रो के चरित्र-चित्रण मे लेखक की विशेष प्रौढता और कुशलता का परिचय प्राप्त होता है। इसमे अनावश्यक पात्रो को मच पर प्रस्तुत नही किया गया है। केवल प्रधान पात्रो का प्रवेश हुआ है जिनका चरित्र चित्रण भी बडी सूक्ष्मता से किया गया है। इससे कही अस्वाभाविकता या एकरसता का दर्शन नही होता। सग्रामसिंह उत्कृष्ट गुणो से विभूषित है।

इस नाटक मे भाषा-शैली और सवाद-योजना की सुदरता सराहनीय है। तदुपरात प्रेमीजी ने सर्वप्रथम इसमे स्वगतों का प्रयोग नही किया है। इसमे क्लिष्ट उर्दू-शब्दों का भी प्रयोग नही हुआ है। भाषा सर्वत्र सरल और प्रसादगुणयुक्त है। नाटक मे अभिनेयता का भी गुण है।

'कीर्तिस्तभ' सोद्देश्य रचना है। देशप्रेम, भ्रातृत्व और एकता के आदर्शों की इस नाटक मे प्रस्थापना हुई है। नाटक के एक पात्र द्वारा प्रेमीजी अपनी भावना प्रगट करते हैं, "स्वार्थ, अभिमान और क्रोध मे आकर कभी जन्मभूमि के हित को मत भूलो! सत्ता और सम्मान पाने के लिए प्रतिस्पर्धा की भूल मत करो। देश के प्रत्येक व्यक्ति को अपने समान समझो!" यह आदर्श आज भी अनुकरणीय है।

इधर-उधर काट-छांट के बाद यह नाटक सरलता से खेला जा सकता है।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' की नाट्य-कला

सन् १९३३ से आज तक प्रेमीजी का नाट्यरचना क्रम बराबर चल रहा है। प्रसाद के पश्चात् प्रेमीजी ही एक ऐसे नाटककार हैं जिन्होने उनकी ऐतिहासिक नाट्य परपरा का पूर्णत निर्वाह किया है। 'शपथ' को छोडकर इनके शेष सभी नाटक मुस्लिम युग और मुगल युग की घटनाओ से सम्बन्धित हैं। हमारे युग की राष्ट्रीय चेतना इनकी समस्त रचनाओ मे प्रगट हुई है। गाधीवादी राष्ट्रीयता इनका प्रधान स्वर है। इसका प्रमुख अग 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' प्रेमीजी का केन्द्रस्थ आदर्श है। लेखक ने स्वय 'स्वप्न-भग' की भूमिका मे अपने इस आदर्श को स्पष्ट किया है "मैंने अपने नाटको द्वारा राष्ट्रीय एकता के भाव पैदा करने का यत्न किया है।" वस्तुत सभी नाटक राष्ट्रभक्ति, हिन्दू मुस्लिम एकता, देश की सर्वोपरिता, मानवता इत्यादि उच्च गुणो का उद्घाटन करते हैं। इन नाटको के कतिपय पात्रो के आदर्शोद्गार कही-कही बहुत लम्बे शुष्क भाषणो और उपदेशो का रूप लेते हैं। यह प्रेमीजी के नाटको की बहुत बडी सीमा है।

अधिकाश कथानक वीरप्रसू राजस्थान के उज्ज्वल इतिहास से सम्बन्धित हैं। इसीलिए वे वीररसाश्रित हैं। वीरता की प्रधान कथाओ के साथ लेखक ने प्रणय की गौण घटनाओ का भी इन नाटको म सुभग समन्वय किया है। इससे इनके ऐतिहासिक वातावरण म सजीवता और रोचकता आ गई है। इन नाटको का रचना-विधान पश्चिमी शैली का अनुसरण करता है। स्वगतो और गीतो का लगभग सभी नाटको मे प्रयोग हुआ है। 'कीर्तिस्तभ' अधिक यथार्थवादी प्रौढ रचना होने के कारण उसमे 'स्वगतो' का बहिष्कार

किया गया है। प्रेमीजी ने अपने नाटकों में एतिहासिकता का यथार्थ निरूपण करने के लिए तत्कालीन वातावरण को तादृश चित्रित करने का प्रयत्न अवश्य किया है। परन्तु अभीष्ट आदर्श की स्थापना के आग्रह के कारण नाटकों में सर्वत्र आधुनिकता की छाप उभर आई है। 'रक्षाबन्धन', 'शिवासाधना', 'आहुति', 'विषपान', 'स्वप्नभंग', 'शपथ' आदि इसके उदाहरण हैं।

प्रेमीजी के प्राय सभी ऐतिहासिक नाटकों के प्रधान पात्र धीरोदात्त और उच्चवर्गीय है। नायिकाएँ सच्चरित्र देवियाँ हैं। ये आदर्श पात्र अपना विशेष व्यक्तित्व न रखकर केवल नाटककार के नैतिक उद्देश्यों की अभिव्यक्ति के यदा-कदा माध्यम बन जाते हैं। 'स्वप्नभंग', 'शपथ' और 'कीर्तिस्तंभ' में पात्रों का अंतर्द्वन्द्व और चरित्रांकन अच्छा हुआ है। प्रेमीजी ने कुछ पात्रों की अवतारणा तो केवल उपदेश देने के लिए ही की है। यथा. 'रक्षाबंधन' के शाहसाहब, 'प्रतिशोध' के प्राणनाथ बसु, 'शिवासाधना' के रामदास और 'स्वप्नभंग' का प्रकाश। प्राचीन परंपरानुसार नाटककार ने खलनायकों की भी सृष्टि की है जिनका कर्तव्य नायक-नायिकाओं के मार्ग में अड़चनें और आपत्तियाँ उपस्थित करना है।

नाटकीय पात्रों के संवाद सरस, स्वाभाविक और सुस्पष्ट है। उनमें ओज गुण का पूर्ण निर्वाह हुआ है। प्रासादिकता का भी अभाव नहीं है। लेखक की नाट्य शैली बड़ी प्रभावोत्पादक तथा रोचक है। मुसलमान पात्र उर्दू भाषा बोलते हैं और हिन्दू पात्र शुद्ध हिन्दी। इस प्रकार पात्रानुसार भाषा-प्रयोग के कारण नाटकों का वातावरण अधिक प्राकृतिक प्रतीत होता है।

प्रेमीजी के नाटक रंगमंचीय गुणों से विहीन नहीं हैं। उनका दृश्य विधान इतना जटिल नहीं है कि उन्हें रंगमंच पर प्रस्तुत करने में कठिनाई उपस्थित हो। 'प्रकाशस्तंभ' और 'कीर्तिस्तंभ' में तो लेखक ने नवीनतम रंग-शिल्प का प्रयोग किया है। वस्तुत प्रेमीजी के नाटक साहित्यिक और रंगमंचीय गुणों से विभूषित हैं।

'राजमुकुट' (१९३५)

प्रसाद के खेवे के नाटककार गोविन्दवल्लभ पंत ने मेवाड़ के भावी महाराणा उदयसिंह के रक्षार्थ पन्ना धाय के पुत्र-बलिदान और त्याग की अमर कहानी 'राजमुकुट' में अंकित की है। अनेक आपत्तियों का मुकाबला करती हुई पन्ना उदयसिंह को अंत में राजमुकुट पहनाती है। इस दृष्टि से नाटक का शीर्षक सार्थक है। इस नाटक में कार्य-व्यापार और घटना-ऐक्य का भी निर्वाह हुआ है। बनवीर खलनायक है जिसने पन्ना के पुत्र को उदय समझकर उसकी नृशंसतापूर्वक हत्या की। पन्ना आदर्श चरित्र है। शीतलसेनी में ईर्षा, प्रतिहिंसा, निर्दयता और अकांक्षा के तामसी तत्त्व प्रगट हुए हैं। उसकी पाशविक महत्वाकांक्षा पन्ना के पुत्र और महाराणा विक्रम दोनों का विनाश कर तृप्त होती है। संस्कृत-परिपाटी के अनुसार नाटक का प्रारंभ मंगलाचरण से होता है और बालिकाओं के गीत के रूप में भरतवाक्य के बाद सुख में अंत होता है। इसमें अभिनेयता का गुण तो है, पर वह पारसी शैली की छाप लिये हुए है। बारह गीतों की भरमार, युद्ध, मरण, रसोई, हाथापाई के दृश्य और स्वगतों का अतिरेक इस नाटक को पारसी रंगमंचीय नाटकों की कोटि में प्रतिष्ठित करता है। पंतजी ने इस नाटक में सरल, सरस और स्वाभाविक संवादों का प्रयोग किया है। शैली में गतिशीलता है और भाषा सुबोध है।

विक्रम के प्रति विद्रोह और उसके दुराचारी कार्य-कलापों के अंत को चित्रित कर लेखक ने हमारी समसामयिक राजनैतिक समस्या का निदान प्रस्तुत किया है। नीतिहीन, विलासी, प्रजापीड़क राजा के खिलाफ बगावत करना और उसे हटाना प्रजा का परम कर्त्तव्य है। इस प्रकार लेखक ने प्रजाहितार्थ राजनैतिक क्रांति को श्रेयस्कर माना है।

'अन्तःपुर का छिद्र'

गोविन्दवल्लभ पंत का सन् १९४० में प्रकाशित यह बौद्धयुगीन ऐतिहासिक नाटक राजा उदयन और उसकी दो पत्नियों—पद्मावती और मागन्धी की कथा के आधार पर नारी-मन का चित्रण करता है।[१] पद्मावती नाटक की नायिका है जो वत्सराज उदयन की प्राणप्रिया पत्नी होते हुए भी भगवान अमिताभ के सात्त्विक सौन्दर्य पर मुग्ध है। उसकी यह मुग्धता ऊपर से शुद्ध, श्रद्धा और भक्तिजन्य दीखने पर भी भीतर से वासनाजन्य है। लेखक ने पद्मावती का बड़ा ही सुंदर मनोविश्लेषण किया है। मागन्धी भी अमिताभ के प्रति आकर्षित होती है, पर अमिताभ के द्वारा तिरस्कृत किये जाने पर वह प्रतिहिंसा-प्रेरित कुचक्रों और षड्यन्त्रों का जाल बुनती है और उसमें स्वयं फँस जाती है। अंत में उसकी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार पुरुष के प्रति दो नारियों के कामाकर्षण की प्रतिक्रियाओं का सूक्ष्म निरूपण इस नाटक में हुआ है। भावना की प्रधानता के कारण डॉ० नगेन्द्र ने 'अंतःपुर के छिद्र' को 'भावनाट्य' के अंतर्गत परिगणित किया है।[१] उदयन धीरललित नायक है। मागन्धी 'राजमुकुट' की शीतलसेनी की भाँति ईर्ष्या, घृणा, कुचक्र और प्रतिशोध की ज्वालाओं में दग्ध नारी का कुत्सित रूप प्रगट करती है। यह नाटक 'राजमुकुट' की शिल्प-शैली का अनुसरण करता है। उसकी सारी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ इस नाटक में दीख पड़ती हैं। उदयन और पद्मावती के पुनः प्रेम-सम्बन्ध द्वारा नाटक सुखान्त होता है। इसमें चरित्रांकन और दृश्य-विधान में लेखक ने बड़ी कुशलता का परिचय दिया है। इस नाटक की यह अपेक्षाकृत श्रेष्ठता है।

'दाहर या सिन्धु-पतन' (१९३३)

हिन्दी के सुप्रसिद्ध गीति-नाट्यकार और कवि उदयशंकर भट्ट 'प्रसाद' की ही रूपक शैली के लेखक हैं। इनके 'दाहर', 'मुक्तिपथ', 'शकविजय' आदि ऐतिहासिक नाटकों में प्रसाद की ही तरह दर्शन, कवित्वपूर्ण शैली, भावुकतापूर्ण ऐतिहासिक वातावरण तथा उदात्त पात्रों की सृष्टि होती है। 'दाहर' में ब्राह्मण-बौद्ध संघर्ष और ऊँच-नीच का जाति-भेद तीव्र रूप में उभर आया है। नाटककार ने यह प्रतिपादित किया है कि सिन्ध-पतन या दाहर-पराजय का मुख्य कारण ब्राह्मणों का पापयुक्त आचरण और बौद्धों का देशद्रोह है। दाहर-सम्बन्धी सभी प्रमुख घटनाएँ इतिहास-सम्मत हैं। लोहान, जाट, गूजर आदि जातियों को बराबरी का अधिकार देने के कारण ब्राह्मण लोग विरुद्ध हो जाते हैं। शत्रु कासिम की जड़ें मजबूत हो जाती है। इस प्रसंग द्वारा भट्टजी यह निर्देश करते है कि हमारी सामाजिक असमानता ने देश को दुर्बल और दास बनाया है। नाटक के अंत में दाहर की दो पुत्रियाँ परमाल और सूरज चतुराई से खलीफा द्वारा शत्रु कासिम का वध करवाती हैं और स्वयं भी

१. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० ११९

तलवार से कटकर जीवन समाप्त करती हैं। इस प्रकार 'दाहर' नाटक इन दो वीरांगनाओं की अमर कहानी बनता है। दाहर ब्राह्मण है। उसमें धीरोदात्त नायक के गुण हैं। मानूं, कासिम, परमाल, सूरज आदि अन्य पात्रों का सम्यक् परिचय इस नाटक की विशेषता है। भट्टजी की इस प्रारंभिक कृति के कथानक में नाट्योचित उतार-चढ़ाव का अभाव, लंबे-लंबे स्वगत और संवाद, निरर्थक गीत, क्लिष्ट भाषा-शैली आदि के कारण बहुत सी अस्वाभाविकताएँ आ गई हैं। अभिनेयता की दृष्टि से तो यह नाटक नितांत असफल है। इसके गीतों और पद्यमय संवादों पर पारसी शैली का असर दीख पड़ता है।

भट्टजी का 'मुक्तिपथ' नाटक सिद्धार्थ (भगवान् बुद्ध) के जीवनवृत्त पर आधारित १९४४ की रचना है जिसमें उपर्युक्त सभी बातें पायी जाती हैं। 'विक्रमादित्य' (१९३३) नितांत असफल ऐतिहासिक नाटक है।

'शक-विजय' (१९४९)

भट्टजी के ऐतिहासिक नाटकों में 'शक-विजय' अपेक्षाकृत उत्कृष्ट कृति है। इसकी वस्तु-योजना कुशलता से की गई है। जैनमतावलम्बी कालकाचार्य जैनधर्म के प्रचार के लिए अवन्ती में जाते हैं। उनकी बहिन साध्वी सरस्वती अत्यंत सौन्दर्यवती है। उससे अत्यधिक आकर्षित नगर-निवासी आश्रम में और नगर में अशान्ति पैदा करते हैं। फलतः सरस्वती राजा द्वारा बंदी बना ली जाती है। कालकाचार्य अपनी बहिन को छुड़ाने के लिए विदेशी शकों की सहायता लेते हैं। शकों का आक्रमण होता है और युद्ध में गंधर्वसेन मारा जाता है। तदंतर शकराज सरस्वती पर वासना-दृष्टि डालता है। सरस्वती आत्महत्या कर लेती है। कालकाचार्य भी अंत में उनके द्वारा आमंत्रित विदेशियों के प्रजा पर किये जाने वाले अत्याचारों से क्षुब्ध होकर आत्महत्या कर लेते हैं। इस नाटक में ब्राह्मण और जैन धर्माचार्यों का संघर्ष चित्रित किया गया है जो लेखक के कथनानुसार ऐतिहासिक सत्य है। "आज देश धर्म से भी महान् है, व्यक्ति और समाज से भी वृहत्तर है। देश की स्वतंत्रता, उसका सुख सर्वोपरि है।" इस भावना को जाग्रत करने के लिए लेखक ने यह नाटक लिखा है। सचमुच 'शक-विजय' हमारा युग-धर्म प्रत्यक्ष करता है।

इस नाटक में वरद और गन्धर्वसेन दोनों प्रमुख पात्र संस्कृत नाटकों के नायकों का प्रतिनिधित्व करते हैं। शकराज खलनायक है। कालकाचार्य का व्यक्तित्व बड़ा तेजस्वी है। मानव-सहज गुणावगुणयुक्त यह पात्र नाटक में प्राण भर देता है। सरस्वती तो साध्वी ही है। वह सहृदयता, सुकोमलता और सच्चरित्रता की प्रतिमा है। 'शक विजय' के संवाद छोटे हैं। उनमें स्वाभाविकता और मार्मिकता है। इस नाटक की संस्कृत-प्रचुर भाषा नाट्यानुकूल है। इतिवृत्त के अनुरूप ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि में भाषा सहायक सिद्ध हुई है। इसमें केवल दो ही गीत हैं जिनका प्रयोग उचित स्थानों पर ही हुआ है। यदि इस नाटक की काट-छाँट की जाय तो यह अच्छी तरह खेला जा सकता है। वस्तुतः 'शक-विजय' भट्टजी का श्रेष्ठ नाटक है।

'अशोक' (१९३५) और 'रेवा' (१९३८)

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के ये दो नाटक यद्यपि प्रसाद-परंपरा में परिगणित होते हैं, परंतु इनमें प्रसाद के नाटकों की-सी गंभीरता और गरिमा के दर्शन नहीं होते। 'अशोक' की

कथावस्तु मौर्यसम्राट् अशोक के जीवन के पूर्वार्द्ध से सम्बन्धित है और 'रेवा' मे काम्बोज के सम्राट् यशोवर्मा के चम्पा पर आक्रमण और उनकी जय-पराजय की कहानी अंकित की गई है। दोनो मे ऐतिहासिक और काल्पनिक वस्तुओ का सफल सम्मिश्रण कर लेखक ने प्राचीन संस्कृति का गौरवपूर्ण चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। वस्तु-विन्यास की कुशलता के अभाव मे ये कृतियाँ प्रथम पंक्ति की नही मानी जा सकती। 'अशोक' मे कई दृश्यों की अनावश्यक अवतारणा हुई है। 'रेवा' मे कृष्णवर्मा के वध का प्रसंग मूल वस्तु और उद्देश्य से मेल नही खाता। लेखक की सबसे बड़ी सफलता करुण वातावरण की सृष्टि है। चंडगिरि के अनुरोध से सुमन की हत्या के आज्ञा-पत्र पर अशोक जब हस्ताक्षर करता है उस समय का नाटकीय वातावरण अत्यंत आतंकपूर्ण और भयजनक चित्रित हुआ है। 'रेवा' पूर्णतया विषादान्त नाटक है। उसमे सर्वत्र करुणा की घनीभूत छाया का अनुभव होता है। नाटकीय करुण वातावरण को अधिक करुण और प्रभावोत्पादक बनाने मे 'अशोक' के कापालिक और 'रेवा' के पुजारी की भविष्यवाणी सहायभूत होती है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से दोनो नाटकों मे लेखक सफल हुआ है। 'अशोक' मे अशोक का अतीव कठोर और महत्त्वाकांक्षी व्यक्तित्व उभर आया है। उसके विरुद्ध उसका बड़ा भाई सुमन सात्त्विक गुणो से विभूषित है। दोनो के मध्य चारित्रिक वैषम्य अंकित कर लेखक ने अपनी चरित्रांकन-शक्ति का अच्छा-परिचय दिया है। सुमन की वाग्दत्ता पत्नी शीला का व्यक्तित्व भी सजीव है। चंडगिरि मे सत्-असत् तत्त्वों का सुन्दर समन्वय प्रगट हुआ है। 'रेवा' मे रेवा और यशोवर्मा के पात्र प्रमुखता प्राप्त करते हैं। रेवा कोमल और करुण है। यशोवर्मा विनम्र और सन्निष्ठ है।

चन्द्रगुप्तजी ने स्वयं स्वीकार किया है कि ये नाटक रंगमंच के लिए नहीं, अपितु रजतपट के लिए लिखे गये है। इसीलिए इनमें दृश्य-विधान की कुछ जटिलताएँ आ गई हैं। अंतर्दृश्य की रचना वस्तुतः नई टेकनीक का उदाहरण है। संवाद सजीव और समर्थ है। भाषा चुस्त और चमत्कारपूर्ण है। 'अशोक' के मौर्यकालीन वातावरण मे पात्रो द्वारा उर्दू-शब्दो का प्रयोग अस्वाभाविक नजर आता है।

'अशोक' की अपेक्षा 'रेवा' अधिक प्रौढ रचना है।

'हर्ष'

सन् १६३५ मे प्रणीत इस सांस्कृतिक नाटक मे सेठ गोविन्ददास ने हर्ष का जीवनवृत्त अंकित किया है जो इतिहास-प्रसिद्ध है। इसी के साथ तत्कालीन राजनैतिक और धार्मिक समस्याओं का भी नाटक मे दिग्दर्शन कराया है। नाटक की कथावस्तु गौरवपूर्ण और कलात्मक है। इसकी योजना सुगठित है और इसके कार्य-व्यापार मे सक्रियता है। 'हर्ष' नाटक वीररस-प्रधान है। अशोक, माधवगुप्त, शशांक आदि का चरित्र-चित्रण समीचीन है। हर्षयुगीन ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि मे लेखक को विशेष सफलता मिली है। नाटक का अंत अनिश्चित है। इस कृति का उद्देश्य मानव के हृदय-परिवर्तन के उच्चादर्श को प्रतिपादित करना है। इसमे देश-काल की अन्विति चित्रपट की योजनानुसार है।

'कुलीनता' (१६४१)

इस ऐतिहासिक नाटक मे सेठ गोविन्ददास ने 'कुलीनता' की सामाजिक समस्या उठायी है। प्रश्न यह है कि कुलीनता जन्मजात मानी जाय या कर्मजात? इस प्रश्न को

ऐतिहासिक वृत्त की सहायता से प्रस्तुत कर अत मे निष्कर्ष रूप मे लेखक ने कर्म की श्रेष्ठता पर कुलीनता को निर्भर माना है। नाटक का नायक यदुराय है जिसका निम्न वर्ण मे जन्म हुआ है। कुलीन कलचुरियो से सबधित उसके उद्‌गार नाटकीय समस्या को विशेष स्पष्ट करते हैं "ये हमें पशु से भी निकृष्ट समझते हैं। हममे कितने ही उच्च गुण क्यो न हों, हम उनके राज्यो मे किसी भी उत्तरदायी पद पर आसीन नही हो सकते।" 'कुलीनता' की यह समस्या आज भी उतनी ही ज्वलत और जटिल है। नाटक का वस्तु-विधान सुस्पष्ट है। तेरहवी शताब्दी के प्रारभ मे मध्यप्रात के त्रिपुरी राज्य पर कलचुरी-वशीय राजा विजयदेवसिंह राज्य करता है। उसका महामत्री सुरभी पाठक है। यदुराय अछूत गोडो का युवक नेता है। तत्कालीन जाति भेद के कारण कथानक म सघर्ष की उत्पत्ति होती है जिससे समस्या ज्यादा उभर आती है। अत में यदुराय के त्रिपुरी-अधिपति बनने पर नाटक का सुख मे पर्यवसान होता है। इस नाटक का चरित्राकन सुरेख है। सभी पात्र सजीव हैं। यदुराय और नागदेव मित्रता और देशभक्ति का आदर्श उपस्थित करते है। कुलीन वश के चण्डपीड का चरित्र नाटककार ने नाटक की मूलगत भावना को प्रत्यक्ष करने के लिए अकित किया है। विन्ध्यबाला नैतिकता की उपासिका है। रेवा सुदरी का चरित्र नारी सुलभ विशेषताओ से सम्पन्न है। नाटक के वातावरण मे प्राचीन वैभव का मनोहारी चित्रण हुआ है। इसमे अनेक स्थानो पर पात्रो द्वारा व्यक्त आदर्शोक्तियाँ गाधीजी के विचारो को स्पष्ट करती हैं और लेखक के गभीर चिंतन पर प्रकाश डालती हैं। मूलत यह वीररस-प्रधान नाटक है। पर शात रस की भी प्रतीति इसमें होती है। सपूर्ण नाटक द्वन्द्वात्मक परिस्थिति पर आश्रित है और रोमाचक अनुभव का स्रष्टा है। इसमे अभिनय-क्षमता का तनिक भी अभाव नही है।

'शशिगुप्त' (१६४२)

जयशकर प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक का नायक चद्रगुप्त ही सेठजी के 'शशिगुप्त' का प्रमुख पात्र है। चन्द्रगुप्त यहाँ 'शशिगुप्त' के नाम से अभिहित है। दोनो नाटको मे एक ही वस्तु है और समान पात्र हैं। पर प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक की सिद्धि 'शशिगुप्त' मे दृष्टिगत नही होती। डॉ॰ हरिश्चन्द्र सेठ की चन्द्रगुप्त-सबधी नई खोजो पर यह नाटक आधृत है जिसमे यह निरूपित किया गया है कि सिकन्दर भारत से विजयी होकर नही, प्रत्युत पराजित होकर लौटा था। सेठजी ने चन्द्रगुप्त के जीवन-वृत्त द्वारा देश गौरव, राष्ट्रीयता, स्वातन्त्र्य प्रेम, स्वदेशाभिमान इत्यादि उच्च कोटि की युग-भावनाएँ अभिव्यजित की हैं। इस नाटक का कथानक अत्यत विस्तृत है, पर नाटककार ने उसे बडी कुशलता से समेट कर नाटकीय रूप दिया है।

शशिगुप्त चाणक्य का शिष्य है। नाट्य-लेखक ने चाणक्य और शशिगुप्त इन दोनो मे भिन्न प्रकार की विशेषताओ का आरोप कर उनमे स्वतत्र व्यक्तित्व की स्थापना की है। "सेठजी का शशिगुप्त चाणक्य के हाथ का खिलौना-मात्र नही है।" नाटक का सूत्र-सचालन समर्थ राजनीतिज्ञ, प्रखर प्रतिभासपन्न और तेजस्वी व्यक्तित्व-समृद्ध चाणक्य करता है, परन्तु उसके कामो के पीछे व्यक्तिगत स्वार्थ का नाम तक नही है। लक्ष्य प्राप्ति के पश्चात् चाणक्य भारत का निष्कटक राज्य शशिगुप्त को सौपकर सन्यास ले लेता है। इस भव्य व्यक्तित्व के साथ लेखक ने शशिगुप्त की भी कार्यपटुता और बुद्धिमानी को पूर्णरूपेण प्रत्यक्ष

किया है। शशिगुप्त की प्रेयसी हेलेन के चरित्र में नारी सुलभ प्रेम, कोमलता और सहृदयता के गुण है। उसमें देशभक्ति भी विपुल मात्रा में है।

'शशिगुप्त' का समग्र वातावरण नाट्य वस्तु के अनुरूप समृद्धि और शालीनता से परिपूर्ण है। नाटक का प्रारंभ ही प्रभावशाली ढंग से होता है और तदनंतर क्रमशः प्रसंगों और पात्रों के घात प्रत्याघात से नाटकीय प्रभाव सघन बनता है। चाणक्य के सन्यासी बनने की अंतिम घटना का मन पर सारभूत प्रभाव पड़ता है। यदि गीतों की संख्या घटा दी जाय और नाटक में इतस्ततः परिवर्तन किये जायें तो 'शशिगुप्त' आसानी से खेला जा सकता है। सेठ गोविन्ददास ने इन नाटकों के अतिरिक्त 'शेरशाह', 'अशोक' आदि अन्य ऐतिहासिक नाटक इसी परंपरा में लिखे हैं।

'जय-पराजय'

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का एकमात्र ऐतिहासिक नाटक 'जय पराजय' है जिसकी रचना १९३७ में हुई है। इस नाटक की मुख्य कथा मेवाड़ के इतिहास से सम्बन्धित है और प्रासंगिक घटना के रूप में मंडोवर की कथा का निरूपण हुआ है। आदर्शवादी कुमार चण्ड के प्रति आकर्षित मंडोवर की राजकुमारी हंसाबाई को मेवाड़ के बूढ़े महाराणा लक्षसिंह से विवाह करना पड़ता है। वासना और विद्वेष से जलती हुई हंसाबाई अपने सौतेले भाई रणमल का सहयोग पाकर अपना और मेवाड़ का सर्वनाश करती है। रणमल द्वारा राघव की हत्या करवाई जाती है। अंत में चण्ड के ही प्रयत्न से मेवाड़ की रक्षा होती है। हंसाबाई की मलिन मनोवृत्ति से प्रपीडित चण्ड उसे ही राज्य सौंपकर हरिसिंह के साथ अनंत की ओर सदा के लिए चल देता है। इस प्रकार कथानक का अनपेक्षित अंत होता है जो अत्यंत मार्मिक और प्रभावोत्पादक है। प्रभावान्विति की दृष्टि-समक्ष रख कर नाटककार ने कथानक का बड़ा ही सुंदर नियोजन किया है। सभी घटनाएँ परस्पर सुशृंखलित और सुसंगत हैं। भारमली और राघव की प्रणय-कथा ने समस्त नाटक में सजीवता और कारुण्य की सृष्टि की है। नाटककार ने इस नाटक के उद्देश्य को भूमिका में स्पष्ट किया है "जीवन में जय-पराजय का चक्कर तो चलता ही रहता है। विजयी होकर अपने भाग्य को सराहना और पराजित होकर घुटनों में सिर रखकर बैठ जाना तो दुर्बलता है। निरंतर चलना, निरंतर लड़ते रहना ही तो जीवन है।" इस प्रकार अश्क ने इस नाटक में ऐतिहासिक तथ्यों के साथ जीवन को स्वस्थ और सक्रिय बनाये रखने की उन्मादस्यता का उद्घाटन किया है। इसके अनंतर नाटक में राजपूती टेक, प्रतिहिंसा, स्वदेश रक्षा आदि भावों का भी अंकन हुआ है। इन आदर्शों के बावजूद भी नाटक में यथार्थता का किंचिन्मात्र भी ह्रास नहीं हुआ है। यह लेखक की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

नाटक का नायक चण्ड है जो आदर्श का उपासक है। राघवदेव और हंसाबाई में जीवन की वास्तविकताएँ अधिक प्रगट हुई हैं। रणमल तो सभी प्रकार की दुर्वृत्तियों और दुर्गुणों का भंडार है। भारमली प्रसाद की देवसेना और मालविका के गौरव की अधिकारिणी है। वह इस युग की अमर सृष्टि है।[1] चंड, रणमल हंसाबाई प्रभृति पात्रों के जीवन में जय और पराजय के अंतर्द्वन्द्वों को पैदा कर लेखक ने नाटक की मूलभूत भावना को अधिक सुदृढ़ बना दिया है।

---

१. डा० नगेन्द्र 'आधुनिक हिन्दी-नाटक', पृ० ३६

भाषा, शैली, सवाद आदि सब-कुछ पात्रानुकूल हैं। अभिनय-तत्त्व का इसमे तनिक भी अभाव नही है। ऐतिहासिक हिन्दी नाटको मे 'जय पराजय' विशिष्ट स्थान का अधिकारी है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध समस्या प्रधान नाटको के लेखक लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'अशोक' (१९२७), 'गरुडध्वज' (१९४८), 'वत्सराज' (१९५०), 'दशाश्वमेध' (१९५२), 'वितस्ता की लहरें' (१९५३), इत्यादि ऐतिहासिक-सास्कृतिक नाटको का प्रणयन किया है। इनमे 'अशोक' लेखक की प्रारभिक रचना होने के कारण अत्यत सामान्य है। विदिशा के शुग सेनापति विक्रममित्र को नायक बनाकर मिश्रजी ने 'गरुडध्वज' नाटक लिखा है। विक्रममित्र पराक्रमी और शक्तिशाली होते हुए भी उसके नाम पर नाटक का शीर्षक न रखकर गुप्तवशीय राष्ट्रध्वज गरुडध्वज को सर्वोपरि स्थान देने के लिए नाटक का नाम 'गरुडध्वज' रखा गया है। इस नाटक मे विक्रममित्र की चरित्र-गाथा के अतिरिक्त नारीजाति की सुरक्षा का आदर्श भी प्रस्फुटित हुआ है। कौशलहीन चरित्र चित्रण, शिथिल वस्तु विकास तथा नीरस वातावरण-सृष्टि के कारण यह एक असफल कृति है।

'वत्सराज'[*]

लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'वत्सराज' नाटक का प्रकाशन सन् १९५० मे हुआ। भास के सस्कृत नाटक 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' और 'स्वप्नवासवदत्ता' के आधार पर इसकी रचना हुई है। इस नाटक मे वत्सराज उदयन की जीवन-घटनाओ का अकन किया गया है। उदयन और वासवदत्ता तथा पद्मावती की वैवाहिक समस्याओ के साथ उदयन पुत्र कुमार का बौद्ध धर्मानुयायी होना, उदयन का बौद्धधर्म पर शकालु बनना और अत मे कुमार के उद्धार के लिए उदयन का अपनी दोनो रानियो के साथ सिंहासन त्याग करना—इन मार्मिक प्रसगो का इस नाटक मे समावेश किया गया है। नाटककार का उद्देश्य गौतम बुद्ध की निवृत्तिमूलक विचारधारा पर उदयन की प्रवृत्तिमूलक जीवन दृष्टि की विजय दिखाकर 'अनासक्त कर्मयोग' के आदर्श की स्थापना करना है। नाटकीय पात्रो एव प्रसगो की सहायता से यह आदर्श बडी कुशलता से प्रतिपादित किया गया है। वस्तु का सगठन तथा विकास बडी कुशलता से हुआ है। तीसरा अक तो नाटक-कला का चरमोत्कर्ष प्रगट करता है।

उदयन इसका नायक है जो बहुत ही उच्च चरित्र का है। मत्री यौगन्धरायण कुशल राजनीतिज्ञ है। वासवदत्ता और पद्मावती नारी जीवन के अतर्लोक को उजागर करती हैं। सिद्धार्थ के ससार त्याग पर पद्मावती के मन के क्षोभ का बडे ही मनोवैज्ञानिक ढग से उद्घाटन हुआ है। सभी पात्रो को मानवीय सवेगो के साथ उपस्थित करने का लेखक ने सफल उद्योग किया है।

कथोपकथन, भाषा, शैली, वातावरण आदि की दृष्टि से यह नाटक उत्कृष्ट है। कथानक को दृश्यो मे विभाजित न कर केवल तीन अको मे विभाजित किया है। दस वर्षो की लबी घटनाओ को तीन अको मे समाविष्ट करने और दृश्यातर न करने के कारण सभवत यह नाटक अभिनयक्षम न हो सके, किन्तु अन्य सभी दृष्टियो से मिश्रजी का यह नाटक उनके श्रेष्ठ नाटको मे एक है।[1]

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का लेख—'हिन्दी-नाटक के सिद्धान्त और नाटककार' नामक पुस्तक में। पृ० २०८

मिश्रजी ने 'वत्सराज' के अनन्तर 'दशाश्वमेध' नाटक लिखा। इसमे पद्मावती नगरी के नागतरुण वीरसेन मथुरा के कुषाणराज वासुदेव की पुत्री कौमुदी और कुषाण शक्ति के पूर्वी क्षत्रप अगारक के प्रणय-त्रिकोण की कथा का निरूपण हुआ है। अगारक के साथ वीरसेन के द्वन्द्व-युद्ध मे अगारक की मृत्यु, वीरसेन की विजय और काशी के गंगा-तट पर कौमुदी को राजमहिषी के रूप मे स्वीकार कर वीरसेन का अश्वमेध यज्ञ करना—ये घटनाएँ भी इस नाटक मे आती हैं। नाटककार ने नाटक मे यह आशा व्यक्त की है कि "इस देश का इतिहास भारशिव नागो की तरह बराबर इस देश के वीरो के खड्ग से लिखा जाय।" इस आदर्शोद्‌गार के अतिरिक्त यह नाटक विशेष महत्त्वपूर्ण नही है।

'वितस्ता की लहरें' (१९५३)

मिश्रजी के इस नाटक का कथानक सिकन्दर के अभियान से सम्बन्धित है। सिकन्दर (एलेक्जेण्डर) को लेखक ने 'अलिक सुन्दर' के नाम से संबोधित किया है। नाटक के कथानक मे सिकन्दर का सेना-सहित वितस्ता नदी के किनारे आगमन और केकय के वीर पुत्र का उसके साथ युद्ध—इन दो घटनाओ को प्रमुख रूप से समाविष्ट किया है। लेखक को कथा-विकास के लिए कई कल्पना-सूत्रो का उपयोग करना पडा है जो न विश्वसनीय है और न उपादेय हैं। युवराज रुद्रदत्त और रजनी तथा भद्रबाहु और तारा की प्रणय-सम्बन्धी उपकथाएँ आधिकारिक घटना के साथ नीर-क्षीर की भाँति घुलमिल नही सकी हैं। इससे नाटक मे संविधान-सौष्ठव का अभाव खटकता है। सिकन्दर के पात्र द्वारा लेखक यह प्रतिपादन करने की चेष्टा करता है कि विध्वंस और संहार को प्रश्रय देने वाला कदापि महान् बन नही सकता तथा भारतीय संस्कृति की उदारता और महानता ही वरेण्य है। पुरु, सिकन्दर, रोहिणी, ताया आदि इस नाटक के उल्लेखनीय पात्र हैं। इन पात्रो मे अतर्द्वन्द्व दृग्गोचर नही होता। 'वत्सराज' की भाँति यह नाटक भी केवल तीन अंको मे विभक्त है। इसमे दृश्य नही हैं। संकलन-त्रय का निर्वाह करने की लेखक ने भरसक कोशिश की है। इस नाटक मे पात्रो की संवाद-योजना और ऐतिहासिक वातावरण की अवतारणा मे मिश्रजी को सफलता मिली है।

प्रख्यात ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने उपन्यास 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' की वस्तु को नाटकीय रूप देकर नाटक-क्षेत्र मे पदार्पण किया। इनके छ-सात ऐतिहासिक नाटको मे 'फूलो की बोली' और 'पूर्व की ओर' विशेष विवेचनीय हैं।

'फूलो की बोली'

इस नाटक का १९४७ मे प्रकाशन हुआ। अलबेरूनी की पुस्तक 'किताबुल हिन्द' से इसका कथानक लिया गया है। उज्जैन का एक व्यापारी व्याडि है जो माधव कहलाना अधिक पसंद करता है। वह स्वर्ण-रसायन के प्रयोगो से धन-प्राप्ति करना चाहता है और इसीलिए एक सिद्ध के चक्कर मे आ जाता है। कई परेशानियो के बाद अंत मे अपनी सर्वस्व सम्पत्ति खोकर वह परिश्रम को ही स्वर्ण-रसायन का प्रयोग मानने लगता है। इस नाटक मे चमत्कारिक घटनाओ का अस्वाभाविक प्रयोग हुआ है जिसमे औचित्य भंग होता है। सामान्य कोटि की इस कृति मे कोई नाट्यात्मक विशेषता उभरने नही पाई है।

'पूर्व की ओर' (१९५०)

भारत के पूर्वी द्वीपो पर भारतीय संस्कृति का प्रचार दिखाना इस नाटक का उद्देश्य

वर्माजी ने ईसा की तीसरी शताब्दी के आसपास की ऐतिहासिक घटना को कल्पना से अति-रंजित कर नाटकीय रूप दिया है। वल्लव-वंशीय अश्वतुंग अपने देश से निर्वासित होकर कुछ सैनिकों के साथ नगद्वीप जाता है। वहाँ की रानी धारा अश्वतुंग को पहले बंदी बनाती है, तदनंतर मुक्त कर उसमे सहयोग करती है। अश्वतुंग वहाँ भारतीय सभ्यता का प्रचार करता है और धारा से विवाह करता है। इस कथानक को उन्तीस दृश्यों और चार अंकों वाले वृहदकाय नाटक में अंकित किया गया है। नाटक में कई अनावश्यक और असंगत प्रसंगों के कारण औपन्यासिक विस्तार आ गया है और वस्तु विन्यास बहुत ही शिथिल और नीरस हो गया है। नायक अश्वतुंग राज-परिवार का है। धारा मगध से निर्वासित जिष्णु की पुत्री है जिसका चरित्रांकन सामान्यतः अच्छा है। नाटककार पात्रों के अंतर्लोक में प्रवेश नहीं कर पाया है, अतः उनका समुचित चरित्रांकन नहीं हो सका है। नाटकीय सभापण सरल और सहज होते हुए भी सुदीर्घ हैं। वातावरण नाट्यानुरूप नहीं है। आकस्मिकता के अवतरण से नाटक अप्रतीतिजनक और असफल बन गया है। रंगमंच के लिए भी यह कृति अनुपयुक्त है। वृन्दावनलाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासों में जितने सफल हुए हैं, दुर्भाग्य से ऐतिहासिक नाटकों में वे उतने ही असफल हुए हैं। वर्माजी के 'हंसमयूर', 'जहाँदारशाह' इत्यादि अन्य ऐतिहासिक नाटक हैं जो उपर्युक्त परंपरा में परिगणित होते हैं।

'कोणार्क' (१९५१)

जगदीशचन्द्र माथुर की यह एक उत्कृष्ट नाट्यकृति है। इसमें उत्कल के अंतर्गत कोणार्क के सूर्यमंदिर के निर्माण और विध्वंस की अत्यंत मार्मिक कथा का अंकन हुआ है जिसका आधार इतिहास, किंवदन्ती और कल्पना है। तेरहवीं शती का काल है। गंगवंशीय महाप्रतापी राजा नरसिंहदेव उड़ीसा में राज्य करता है। पूर्वीय चालुक्य वंश का राजराज उसका महामात्य है। विशु उसका महाशिल्पी है जो अपनी प्रेयसी चन्द्रकला को सगर्भा छोड़कर भाग आया है, परन्तु वह सुखी नहीं है। वह अपनी घनीभूत पीड़ा को कोणार्क के देवालय की रचना में साकार करने का प्रयत्न कर रहा है। उसके साथ अठारह वर्षीय युवक शिल्पी धर्मपद जुड़ा है। महामात्य राजराज शिल्पियों के प्रति कठोर और क्रूर है। वह उन्हें एक सप्ताह में देवालय का निर्माण-कार्य समाप्त करने का आदेश देता है। यदि समाप्त न हुआ तो वह उनके हाथ काट डालने की धमकी देता है। धर्मपद विशु की सहायता करता है और यथासमय मन्दिर तैयार हो जाता है। जब राजा नरसिंहदेव मन्दिर का निरीक्षण करने आता है, तब वह सुनता है कि महामात्य ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया है। धर्मपद राजा का पक्ष लेता है और युद्ध की व्यूह रचना कर प्रतिपक्षियों से लड़ता है। विशु को उस समय ज्ञान होता है कि धर्मपद उसकी प्रियतमा चन्द्रकला के उदर में उत्पन्न उसका ही पुत्र है। धर्मपद लड़ते-लड़ते आहत होता है, तब विशु उसे अपने पिता होने का रहस्य बता देता है। भीषण युद्ध जारी है। राजराज ससैन्य मन्दिर में घुसता है। विशु स्वयं मन्दिर का विध्वंस कर महामात्य से 'शिल्पी का बदला' लेता है। अंत में देवालय का विमान टूटता है और सबका विनाश होता है। लेखक ने इस हृदयस्पर्शी कथानक को तीन अंकों में सुन्दर नाटकीय रूप दिया है। जगदीशचन्द्र माथुर की कारयित्री प्रतिभा और रंगमंचीय अनुभव का अत्यंत विस्मित रूप हम इस कृति में पाते हैं। इसमें पाश्चात्य और भारतीय नाट्य-शैलियों का अद्भुत सामंजस्य पाया जाता है। इस

रचना मे सस्कृत नाटको जैसी प्रस्तावना और यूनानी एव पाश्चात्य नाटको जैसे उपक्रम (प्रोलोग) और उपसहार (एपिलोग) कुशलतापूर्वक प्रयुक्त किये गए हैं। समवेत-गान 'ग्रीक कोरस' का स्मरण कराता है। नाटक के गभीर वातावरण के मध्य लेखक ने एक विराट् युग को उसकी सपूर्ण सुदरताओ के साथ मूर्तिमान किया है। चद्रलेखा का प्रणय, देवालय की शिल्पसृष्टि, महामात्य का विद्रोह और जनता तथा कलाकार के अधिकार आदि से सम्बन्धित प्रसगो का इस प्रकार सगठन और नियोजन हुआ है कि यह समस्त कलाकृति पूर्णता को प्राप्त हुई है। इसके कथानक मे तीव्रतम सघर्ष की अवतारणा हुई है और कौतूहल तथा आकर्षण की सृष्टि करता हुआ वह कथानक विषादयुक्त परिस्थिति के मध्य पर्यवसित होता है। सघर्ष और सक्रियता की दृष्टि से तीसरा अक सर्वश्रेष्ठ है। इस नाटक की सर्वांग-सुदरता से प्रभावित होकर कविवर सुमित्रानदन पत ने ये उद्गार प्रगट किये हैं : "हिन्दी मे नाट्यकला की ऐसी सर्वांगपूर्ण सृष्टि अन्यत्र नही है।"[1]

विशु और धर्मपद के पात्रो द्वारा लेखक ने अतीत और वर्तमान को एक साथ साकार किया है। प्रौढ शिल्पी विशु मे सहनशीलता है, गाभीर्य है, चितन है। युवक धर्मपद विद्रोही है, क्रातिदूत है, शक्तिपुज है। दोनो के बीच पिता-पुत्र का सबध दिखाकर रचनाकार ने काल की अक्षुण्ण धारा की ओर सकेत किया है। विशु अपने प्रणय के अन्तर्दाह और अत-र्पीडा को प्रस्तर-खडो मे साकार कर मन को शात करने को सचेष्ट है। उसके व्यवहार और वचन मे अतर्द्वन्द्व तथा अनुताप बडी ही सूक्ष्मता से प्रगट होता है। धर्मपद की कला-साधना के साथ उसकी जनवादी भावना, समता सस्थापन की आकाक्षा और विद्रोहात्मक वृत्ति वस्तुत हमारी अर्वाचीन चेतना को उभारती है। वह सत्ता की मदाधता के आगे सिर झुकाने की अपेक्षा सर्वनाश पसद करता है। धर्मपद के ये शब्द उसके चरित्र का सम्यक् परिचय देते हैं—"यह उचित नही कि जब चारो ओर अत्याचार और अकाल की लपटें बढ रही हो, शिल्पी एक शीतल और सुरक्षित कोने में यौवन और विलास की मूर्तियां ही बनाता रहे।" लेखक ने इस प्रकार युगीन सत्य के साथ प्राचीन वस्तु का पूरा सामजस्य स्थापित किया है। विशु और धर्मपद के अतिरिक्त राजराज, नरसिंहदेव इत्यादि का भी सम्यक् चरित्राकन हुआ है।

इस नाटक की यह भी एक विशेपता है कि इसमें दृश्यो, गीतो, नारी पात्रो और स्वगतो का प्रयोग नही हुआ है फिर भी यह सपूर्ण और सबल रचना है। इसकी सवाद-योजना स्पृहणीय है। भाषा कवित्वपूर्ण है। शैली चित्रात्मक है। 'कोणार्क' समस्त रगमचीय आवश्यकताओ और उपकरणो की पूर्ति करता है। रसिक समाज के समक्ष इसका प्रयोग सफलतापूर्वक किया जा सकता है। नाटक के अत मे 'निर्देशक और अभिनेताओ के लिए सकेत' का परिशिष्ट जोडकर नाटककार ने इसकी अभिनय क्षमता मे अभिवृद्धि की की है। 'दृश्य काव्य' के सभी गुणो से सम्पन्न यह नाटक हिन्दी की अमर रचना है।

'अम्बपाली'

बौद्धयुगीन ऐतिहासिक और सास्कृतिक धारा की 'अम्बपाली' एक महत्त्वपूर्ण रचना

---

१. श्री सुमित्रानदन पत—प्राक्कथन : कोणार्क—ले० जगदीशचंद्र माथुर चतुर्थ संस्करण। सवत २०१४ वि०, पृ० ५

है। रामवृक्ष बेनीपुरी ने इसमे वैशाली की सुप्रसिद्ध राजनर्तकी अम्बपाली के जीवन वृत्त के साथ तत्कालीन राजनैतिक एवम् सामाजिक परिस्थितियो का भी निरूपण किया है। इस कृति की नायिका अम्बपाली है। वज्जियो का फाल्गुनोत्सव, अम्बपाली का राजनर्तकी के गौरवपूर्ण पद पर प्रस्थापन, अरुण-अम्बपाली का प्रणय, अजातशत्रु तथा भगवान् तथागत का अम्बपाली द्वारा पराभूत होना और अंत मे अम्बपाली का प्रव्रज्या ग्रहण करना—इन घटनाओ द्वारा लेखक ने सुदरी अम्बपाली के तेजस्वी और सम्मोहक व्यक्तित्व का कलात्मक चित्रण किया है। इसमे अम्बपाली ही सर्वेसर्वा है। पुष्पगधा, अजात, गौतम बुद्ध इत्यादि सभी पात्रो का उनके अपूर्व व्यक्तित्व के प्रभाव और प्रताप की अभिवृद्धि के निमित्त आगमन हुआ है। लेखक ने बडी गहराई और चतुराई के साथ इस नायिका के जीवन के आरोहो और अवरोहो का अकन किया है।

हमारे साप्रतिक जनतत्रीय शासन-प्रयोग को दृष्टि-समक्ष रखकर बेनीपुरी जी ने इस कृति मे वैशाली की सघ-शासन व्यवस्था का विवरण प्रस्तुत किया है। लेखक ने इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की अम्बपाली के जीवन-वृत्त के साथ बडे कलात्मक ढग से सगति स्थापित की है। नाटक की मूल भावना शृगाराश्रित है, किन्तु अरुण के प्रणय-प्रसग से इसमे विषादयुक्त परिस्थिति निर्मित हुई है। मर्मस्पर्शी गीतो, स्वाभाविक सवादो और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के कारण इस रचना मे आद्यत कवित्वपूर्ण वातावरण का दर्शन होता है। यह कृति बेनीपुरी जी के व्यक्तित्व और कृतित्व का अच्छा परिचय देती है।

'रूपलक्ष्मी' (१९५८)

कृष्णचन्द्र शर्मा भिक्खू ने 'अम्बपाली' से ही सम्बन्धित इस रेडियो-रूपक का सृजन किया है। यह एक सुन्दर काव्यात्मक कृति है। इसमे अम्बपाली ही सर्वेसर्वा है। अन्य १७ पात्र उसके चरित्र विकास के लिए आये हैं। "अम्बपाली के चरित्र की कुजी है जीवन, उसके विविध व्यापारो और उसके भोग-विलास मे सलग्न रहकर भी स्थिर रूप से उसके प्रति अनासक्ति और विरक्ति का भाव।" यह एक सफल रूपक है। भाषा स्वाभाविक और प्रवाहपूर्ण है। सवाद चुस्त और मार्मिक हैं। यह वस्तुत प्रशसनीय कृति है।

ऐतिहासिक नाटको मे अन्य उल्लेखनीय रचनाएं ये है सियारामशरण गुप्त कृत 'पुण्यपर्व' (१९३३), सत्येन्द्र-कृत 'मुक्ति-यज्ञ' (१९३७), सुदर्शन-कृत 'सिकन्दर' (१९४७), विष्णु प्रभाकर-कृत 'समाधि' (१९४९), दशरथ ओझा-कृत 'प्रियदर्शी सम्राट् अशोक' (१९५२), बनारसीदास करुणाकरकृत 'सिद्धार्थ बुद्ध' (१९५५), देवराज दिनेश-कृत 'यशस्वी भोज', सर्वदानद-कृत 'चेतसिह' (१९५७), चतुरसेन शास्त्री-कृत 'धर्मराज' (१९५७), हरिकृष्ण प्रेमी कृत 'सरक्षक' (१९५८), लक्ष्मीनारायण मिश्र-कृत 'जगत-गुरु' (१९५८) आदि।

१९०० के पश्चात् गुजराती ऐतिहासिक नाटक

१९०० के पश्चात् गुजराती मे ऐतिहासिक नाटको मे, 'आद्य नाटककार' रणछोड-भाई उदयराम के 'वेरनो वांसे वश्यो वारसो' (१९२२) नामक अत्यत सामान्य नाटक की प्रथम नाटक के रूप मे गणना होती है। इसमे फास के इतिहास पर आधारित वशपरपरागत शत्रुता-सम्बन्धी घटना अकित की गई है। 'मनुष्य के शुभ व्यवहार को उत्तेजित करने के

लिए' इस बोधप्रधान नाटक की रचना हुई है। अनावश्यक विस्तृत कथानक, असगत दृश्यातर, असभव घटना-परिवर्तन और चमत्कारपूर्ण परिस्थितियों के कारण यह नाटक केवल उल्लेखनीय है।

इसके बाद कवि कान्त द्वारा सुदर नाटकों का प्रणयन हुआ है जिनका प्रकाशन कवि के अवसान (१६ जून १९२३) के पश्चात् १९२४ में हुआ। 'रोमन स्वराज्य' और 'गुरु गोविंद सिंह' दोनों नाटक कवि कान्त के राष्ट्रोत्कर्ष-विषयक गभीर चिंतन, व्यापक ज्ञान तथा मौलिक दर्शन का सम्यक् परिचय देते है।

'रोमन स्वराज्य'

इस नाटक की कथावस्तु रोम के इतिहास से सम्बन्धित है। रोम के भूतपूर्व राजा का पुत्र टार्क्विन उसकी पत्नी के उकसाने पर राजा और सलियस की हत्या करता है और स्वय राजा बन बैठता है। उसका पुत्र सक्सेटस कोल्लटाइन की पत्नी ल्युक्रीशिया पर बलात्कार करता है, फलत उसका वध किया जाता है। ब्रूटस भी लडते-लडते जीवन समाप्त करता है। अत मे रोमन प्रजा, सामतशाही को समाप्त कर, 'रोमन स्वराज्य' स्थापित करती है, शत्रुओ को पराजित करती है और अपने कौसलो के द्वारा शासन करती है। इस ऐतिहासिक वृत्त को अविकल रूप मे इस कृति मे नाटकीय रूप दिया गया है। परतु इसमे कान्त ने हमारी रुचि और वृत्ति का पूरा ध्यान रक्खा है जिससे यह अप्रतीतिजनक नही बनने पाया है। भारत के राजाओ की तरह रोम के राजाओ का भी शासनाधिकार वश-परपरागत था। वे भारतीय नृपो की भाँति सर्वसत्ताधिकारी और अत्याचारी बन गये थे। लेखक न उनका हू ब-हू अकन किया है। रोम के रीतिरिवाज, रूढि-परपराएँ, जीवन-पद्धति इत्यादि की हमसे आश्चर्यजनक समानता है। इसी से 'रोमन स्वराज्य' मे निरूपित ये सारी बातें हमारे लिए अपरिचित प्रतीत नही होती। नाटक के पात्र तथा प्रसग रोम के होते हुए भी हमारे अपने दृष्टिगत होते हैं। परिणामस्वरूप, नाटक मे प्रेषणीयता के गुण का अभाव नहीं आने पाया है।

यह नाटक 'जालिम टुलिया' के नाम से प्रकाशन के पूर्व रगमच पर खेला जा चुका है। यह उसका परिवर्तित और परिवर्धित रूप है, फिर भी इसकी अभिनय-क्षमता तनिक भी कम नही हुई है। विभिन्न दृश्यो और तीन अको वाले इस नाटक की वस्तुसकलना समुचित रूप से हुई है। कार्य-व्यापार मे सघर्ष तथा गतिशीलता पैदा करने के लिए लेखक ने मुख्य ऐतिहासिक प्रसगो का ही चित्रण किया है और शेष ऐतिहासिक अशो का पूर्ववृत्त के रूप मे उल्लेख कर दिया है। इससे कृति नीरसता के दोष से मुक्त हो गई है। 'रोमन स्वराज्य' मे म स्वराज्य-प्राप्ति के इतिवृत्त की प्रधानता होने के कारण किसी एक पात्र को नायकत्व प्राप्त नही हुआ है। फिर भी सभी पात्रो का चरित्राकन सुरेख एव सुस्पष्ट है। टार्क्विन, टुलिया, ब्रूटस, ल्युक्रेशिया, सेक्सटस, होरेशियस, मूक्रियस आदि सभी पात्रो की विशिष्टता और वैयक्तिकता का प्रकाशन इस कृति मे कुशलतापूर्वक हुआ है। नाटक को कलात्मक रूप दने मे कवि की कवित्वपूर्ण अभिव्यक्ति भी कारणभूत है। कान्त की भाषा की नैसर्गिक प्रौढता और प्रभावोत्पादकता सारे नाटक को सजीवता और सरसता प्रदान करती है। इस सुखान्त रचना का हेतु भारतवासियो के मन में स्वराज्य प्राप्त करने की प्रेरणा जगाना है।

'गुरु गोविन्दसिंह'

कान्त ने इस नाटक मे सिक्खो के गुरु गोविन्दसिंह का चरित्राकन किया है। करुणात

कृति के दुर्भाग्यशाली नायक की भाँति इस नाटक मे गोविन्दसिंह के जीवन मे भी बाह्यातर भीषण सघर्ष चलते है। गुरु अत मे सफल तो होते है किन्तु उस सफलता के पश्चात् उन्हे कोई आनन्द या उल्लास का अनुभव नही होता, प्रत्युत विषाद की गहरी छाया उनके मन पर छा जाती है। इस स्थिति का प्रकाशन उन्होने दक्षिण-अभियान के समय अमीना के समक्ष किया है—"जिन्दगी अब मेरे लिए प्यारी नही रही। अच्छा, बिदा होता हूँ। सलाम।"[1] गोविन्दसिंह की उपस्थिति मे उनके दो पुत्र मुगलो के द्वारा जमीन मे जीवित गाड दिये जाते हैं और यशोदा तथा अनूपकुँवर दोनो जल मरती है। इसी के साथ अन्य कई मर्मान्तक वेदनाएँ उन्हे सहनी पडती हैं। गुरु के इस पुजीभूत अतर्दाह को कवि ने विषादिका की पराकोटि पर पहुँचा दिया है। यही उसकी सबसे बडी सफलता है। गुरु गोविन्दसिंह के चरित्र मे युद्धवीरता, दानवीरता और धर्मवीरता के लक्षण प्रगट हुए हैं। पर इस धीर, वीर, गभीर नायक के मन मे सत्-असत् का तुमुल युद्ध निरतर चलता रहता है जो उन्हे मानव बनाये रहता है। वे सर्वधर्म समभाव के उपासक हैं और हिन्दू-मुस्लिम एकता के महान् पुजारी हैं। इसीलिए वे मुसलमान स्त्रियो और पुरुषो के साथ मानवता का और भ्रातृत्व का व्यवहार करते हैं। उनमे स्वदेश प्रेम और नारी-सम्मान की मात्रा भी कम नही है। इस प्रकार गोविन्दसिंह एक महान् नायक के सर्वगुणों से अलकृत हैं। औरगजेब नाटक का खलनायक है। हिन्दू धर्म तथा हिन्दुओ के प्रति वैमनस्य, असहिष्णुता तथा धर्मान्धता से ओत-प्रोत उसके उद्गार नाट्योचित है। उनसे नाटक मे सघर्षमय परिस्थिति की सृष्टि होती है और सजीवता तथा रसात्मकता का सचार होता है। इस कृति मे अनूपकुँवर के अतर्द्वन्द्व का निरूपण वस्तुत दर्शनीय है। अपना सर्वस्व गुरु के चरणो मे समर्पित कर वह प्रेम की याचना करती है। गुरु गोविन्दसिंह सस्कृत नाटको के नायको की भाँति स्त्री-दाक्षिण्य प्रदर्शित नही करते, वरन् अपने विशुद्ध चरित्र और सुदृढ सकल्प का परिचय देते हुए उसे सिक्ख सघ में दीक्षित कर हरकिसनसिंह के साथ उसका विवाह करवा देते है। अतर्वेदना से जलती हुई यह नारी औरगजेब के बदीगृह मे जल जाती है।

इस नाटक का मूलभूत उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव को निर्मूल कर एकता की सस्थापना करना है। गुरु गोविन्दसिंह के आदर्श जीवन द्वारा कृतिकार ने अपने उद्देश्य को सफलतापूर्वक चरितार्थ किया है। नाटक के एक पात्र पीर मुल्लाशाह के द्वारा भी यही भावना अभिव्यक्त हुई है। हमारे देश के इस प्राण-प्रश्न को नाटकीय रूप देकर कवि ने अपनी राष्ट्रीयता, असाप्रदायिकता तथा मानवता का अच्छा परिचय दिया है।

समकालीन नाटको के प्रभाव से लेखक ने चमत्कारिकता और पराप्राकृत तत्त्व का इसमे समावेश किया है। इससे नाट्य-प्रभाव सघन बना है और नाट्योचित वातावरण की स्वाभाविकता निभ गई है। इसी प्रकार सगीतप्रधान कविताओ का भी नाटक मे समावेश हुआ है। उनमे कवि कान्त का काव्यत्व प्रगट हुआ है। 'गुरु गोविन्दसिंह' पूर्णरूपेण अभिनेय नाटक है। इस साहित्यिक तथा अभिनेय नाटक मे आकर्षक ओजपूर्ण सवाद तथा प्रवाहयुक्त सबल भाषाशैली नाटककार की सबसे बडी शक्ति है। इसमे उत्कृष्ट नाटक के अधिकाश गुण उपलब्ध है।

---

१. गुरु गोविन्दसिंह . ले० कवि कान्त, आवृत्ति पहली १६२४, तीसरा अक, तीसरा प्रवेश १०, ११

'संयुक्ता'

गुजराती सामाजिक उपन्यासों के सफल लेखक रमणलाल वसंतलाल देसाई का ऐतिहासिक नाटक 'संयुक्ता' १६२३ में प्रकाशित हुआ, यद्यपि इसकी रचना १६१५ में हुई थी और १६१६ में यह बड़ौदा में खेला भी जा चुका था। चार अंकों के इस नाटक का इतिवृत्त पृथ्वीराज चौहान और संयोगिता की प्रसिद्ध प्रणय-कथा से सम्बन्धित है। लेखक ने इसे नाट्योपयोगी बनाने के लिए इतस्तत परिवर्तन किया है। इस कृति के निर्माण-काल में गुजरात में व्यावसायिक नाटक-मंडलियों का बोलबाला था। रमणलाल देसाई गुजराती रंगमंचीय प्रवृत्तियों में बहुत अधिक रुचि रखते थे। वे गुजराती रंगमंच को अस्वाभाविकताओं और विकृतियों से मुक्त करने को सदा सचित रहते थे। इसी शुभ आशय से प्रेरित होकर उन्होंने इस नाटक की रचना की है जो साहित्यिक होते हुए भी रंगमंचीय विशेषताओं से सम्पन्न है। लेखक की प्रारंभिक रचना होने के कारण इसमें पात्रों और प्रसंगों का आवश्यकता से अधिक विस्तृत वर्णन हुआ है जो असंगत प्रतीत होता है। संयुक्ता पृथ्वीराज के प्रेम-प्रसंग तथा अन्य प्रणयाश्रित उपकथाओं के समावेश के कारण नाटक का पूर्वभाग शृंगार-रस-प्रधान है। किन्तु नायक नायिका के विरह तथा मृत्यु प्रसंग ने नाटक को अंत में विषादयुक्त बना दिया है। वैसे यह नाटक प्रधानत वीररसाश्रित है। इसके स्वयंवर तथा युद्ध के प्रसंग वीररस के उत्तम परिचायक हैं। नाटक की नायिका संयुक्ता तथा पृथ्वीराज के चरित्रांकन में विशिष्टता या कुशलता दृष्टिगत नहीं होती। पात्रांकन सामान्य स्तर का है। इस नाटक के आकर्षण का अधिकांश आधार संवाद-योजना तथा स्वगतों और गीतों का सम्यक् प्रयोग है। व्यग्रता तथा भावुकतापूर्ण स्वगत और हर्ष-शोकादि के गीत नाटकीय वातावरण की सृष्टि में सहायक सिद्ध हुए हैं। इसमें उर्दू-फारसी शब्दों का विशेष प्रयोग किया गया है। सारे नाटक पर व्यावसायिक रंगमंचीय नाटकों की छाप साफ तौर से उभर आई है। स्वगतों गीतों, संवादों और पात्र-प्रसंगों पर यह प्रभाव देखा जा सकता है पर इससे नाट्य कृति को विशेष हानि नहीं हुई है। रमणलाल देसाई की यह प्रथम रचना वस्तुत एक प्रशंसनीय कृति है।

'संयुक्ता' के अनन्तर सन् १६२६ में गुजरात के समर्थ साहित्य स्रष्टा कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी की सुप्रसिद्ध कृति 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' का प्रकाशन हुआ। इस कृति की विवेचना महाकवि जयशंकर प्रसाद के हिन्दी-नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' के साथ तुलनात्मक रूप में की जा चुकी है। अत यहाँ मात्र निर्देश ही पर्याप्त है।

'जहाँगीर नूरजहान' (१६२८)

कवि नानालाल ने मुगल बादशाह जहाँगीर और नूरजहाँ के इतिहास-प्रसिद्ध जीवन-प्रसंगों का आधार लेकर इस नाटक की रचना की है जो नाट्यरचना की दृष्टि से कवि के अन्य नाटकों की भाँति 'भावप्रधान नाटक' (Lyrical Drama) की परंपरा में परिगणित होता है। ऐतिहासिक तथ्यों का साद्यंत निर्वाह करते हुए नानालाल ने इस नाटक में 'दाम्पत्य जीवन' की सुषमा और संवादिता का अत्यंत भावप्रवण चित्र अंकित किया है। वैसे इस नाटक में वस्तु संकलन का अभाव है, किन्तु जहाँगीर और नूरजहाँ के प्रणयाश्रित दाम्पत्य जीवन की मधुर भावना द्वारा नाटककार ने एकसूत्रता निभाने का प्रयत्न किया है। इस

'अपद्यागद्य' शैली के नाटक मे कवि का आशय "इतिहास की कविता का अकन करना है।'[1] वस्तुत इसमे ऐतिहासिकता की भित्ति पर कविता की ही मनोहारी मजुल मूर्ति प्रतिष्ठित हुई है। किन्तु काव्यात्मकता के अतिरेक के कारण इसमे नाटक, इतिहास, और कविता का समन्वय नही हो पाया है। फलत समग्र रचना बिखरी हुई-सी, विशृखलित-सी प्रतीत होती है। जहाँगीर नाटक का नायक है और नायिका के रूप मे नूरजहाँ का चित्रण हुआ है। दोनो का व्यक्तित्व आकर्षक एव रोचक है। इनके अतिरिक्त नाटक मे लगभग चार दर्जन दूसरे छोटे-बडे पात्र है जिनमे से किसी का व्यक्तित्व उभरने नही पाया है। अपने अन्य नाटकों की भाँति इस नाटक मे भी कवि नानालाल को चरित्राकन अभीष्ट नही है। अत नाटक के पात्रो का उपयोग कवि ने अपनी दाम्पत्य भावना के निरूपण के लिए ही किया है। पात्रो को आत्मप्रकाशन के लिए मौका नही मिला है। कवि की घोर आत्मलक्षिता तथा निरी वैयक्तिकता नाटकीय वस्तु-विन्यास तथा चरित्र चित्रण मे बाधक सिद्ध हुई है।

अन्य नाटको की भाँति यह नाटक भी कवि की 'डोलन शैली' मे लिखा गया है। नाटक के काव्यात्मक सभाषण रोचक एव रसात्मक हैं। नाटक का समग्र वातावरण अत्यत कवित्वपूर्ण और प्रभावोत्पादक है। इस तीन अको और अठारह दृश्यो म विभाजित नाटक के कई अश स्वत पूर्ण और स्वतत्र हैं जिनका कार्य-कारण परपरानुसार मूल वस्तु से कोई सम्बन्ध नही है। नाटक मे सगठन-सौष्ठव के अभाव के साथ ही साथ स्थानान्विति का भी कवि न ध्यान नही रखा है। इसलिए यह नाटक अभिनेय नही, पाठ्य ही है। कवि नानालाल के पौराणिक परपरा के 'राजर्षि भरत' और 'विश्वगीता' नामक नाटको की विवेचना करते समय हमने उनके जिन विशिष्ट नाट्यतत्त्वो का विवेचन किया है, वे सभी तत्त्व इस नाटक मे और कवि के अन्य सभी नाटको मे पूर्णतया उपलब्ध होते हैं। इस नाटक का सर्वाधिक आकर्षण इसके सगीतप्रधान मधुर गीत हैं जिनमे कवि नानालाल की कारयित्री प्रतिभा का पूरी तरह उन्मेष हुआ है।

'शाहानशाह अकबरशाह' (१६३०)

कवि नानालाल का यह नाटक मुगल सम्राट् अकबर की प्रसिद्ध जीवन-घटनाओ पर आधारित है। अकबर की किशोरावस्था और पानीपत के युद्ध से लगाकर सलीम का विद्रोह और अकबर की चिंतायुक्त वृद्धावस्था तक के सभी महत्त्वपूर्ण जीवन-प्रसगो का इस नाटक मे समावेश किया गया है। माईने-अकबरी, दीने-इलाही, गोवधप्रतिबधक कानून और अकबर के नवरत्नो का भी इसमे यथाप्रसग उल्लेख हुआ है। इस रचना मे अकबर के इतिहास की सभवतः कोई महत्वपूर्ण घटना छूटने नही पाई है। कवि ने ऐतिहासिक तथ्यों का पूरी तरह निर्वाह किया है। इसीलिए इसमे अकबर के जीवन की विविधता और व्यापकता का पूरा दर्शन होता है। उसके प्रगल्भ व्यक्तित्व पर रचनाकार ने अच्छा प्रकाश डाला है और उसी के साथ सम्यक् ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि भी की है। कवि का लक्ष्य सर्वकल्याण, सर्वधर्म-समन्वय तथा राष्ट्रीय एकता की भव्य भावना का निरूपण करना है और इसी के आनुषगिक रूप मे अकबर की महानता का प्रत्यक्षीकरण भी करना है। इसमे अकबर की उदारता, धर्मसहिष्णुता और समन्वय-भावना को कवि ने प्रमुखता प्रदान की है। उसे

---

१. 'जहाँगीर-नूरजहान' नाटक का 'बादशाहनामा'—उपोद्घात : ले० कवि नानालाल, पृ० २२

मानवता के उच्च गुणों से अलंकृत किया है। वह युद्धवीर, धर्मवीर और दानवीर है। अकबर के इन गुणों के कारण यह नाटक वीररसाश्रित है। कवि की इतिहासनिष्ठा ने उन्हें अकबर के जीवन-वृत्तांत से सम्बन्धित केवल नाट्योचित प्रसंगों और पात्रों को चुनने का अवसर नहीं दिया है। इसमें सभी संगत-असंगत घटनाओं का समावेश होने से यह कृति कार्य की एकता तथा वस्तु की संकलना की दृष्टि से पूर्ण सफल नहीं बन सकी है। इस तीन अंकों के नाटक में अस्सी से ऊपर पात्र हैं और बाईस दृश्य हैं। अनावश्यक पात्रों और दृश्यों की अवतारणा के दोष से यह कृति मुक्त नहीं है।

कवि नानालाल के सभी नाटक भावना-प्रधान है। इस नाटक में भी कवि की 'सर्व-समन्वय' की भावना के साथ प्रणय, दाम्पत्य प्रभृति अन्य भावनाएं प्रगट हुई है। नाटक मे साद्यंत भावैक्य का पूर्ण निर्वाह हुआ है।

इस नाटक मे अकबर की स्वगतोक्तियाँ अत्यंत मार्मिक एवम् हृदयस्पर्शी है। अप्रतिम व्यक्तित्व-सम्पन्न अकबर की वृद्धावस्था के विषाद एवम् हताशा से समन्वित करुण हृदयोद्गार उसके भीषण अंतर्द्वन्द्व का बड़ा ही सूक्ष्म निरूपण करते है। इनमे कवि नानालाल की उच्च कोटि की नाटकीय प्रतिभा का दर्शन होता है। ये स्वगतोक्तियाँ गुजराती साहित्य मे अन्यतम तथा अविस्मरणीय स्थान की अधिकारिणी है। मुगलयुगीन वातावरण को यथार्थ रूप मे प्रस्तुत करने और पात्रों को स्वाभाविक बनाने के लिए कवि ने फारसी शब्दों का अधिक प्रयोग किया है। वस्तुत. नाटक के सवाद पात्रानुरूप, भावप्रवण तथा प्रभावोत्पादक है। इन्ही के कारण कतिपय दृश्यो का अभिनय किया जा सकता है। पात्रबाहुल्य तथा स्थान और वस्तु की अन्विति के अभाव में संपूर्ण नाटक खेला नही जा सकता। कवि ने नाटक की प्रस्तावना मे इस बात का पुनरुच्चारण किया है कि उनका नाट्यविधान गोथे की शैली की भाँति है।[1] अतः इस नाटक मे अभिनेयता के लिए आवश्यक अन्विति इत्यादि की अपेक्षा नही रक्खी जा सकती। इस नाटक की रचना कवि की परपरागत 'डोलन शैली' में हुई है। कवि नानालाल मूलतः कवि हैं। उनके कवित्व की झाँकी नाटक के गीतो, भजनो, रासो, गजलो, कव्वालियो और कवितो मे सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। इसके कारण नाट्यवस्तु की शुष्क ऐतिहासिकता तिरोहित हो जाती है और समग्र रचना आस्वाद्य बनती है।

'संघमित्रा' (१९३१)

कवि नानालाल को अशोक की सुपुत्री सघमित्रा के जीवन और कार्य ने बहुत अधिक आकर्षित किया है। संघमित्रा को वे अशोक की 'हृदयमाला' मानते है जो अशोक ने अपने गले से उतारकर शुभ कर्म के निमित्त सिंहलद्वीप को पहना दी।[2] इसी मार्मिक प्रसग से प्रभावित होकर नानालाल ने इस अशोक-विषयक नाटक की रचना की और संघमित्रा के प्रति अपने विशेष ममताभाव से कृति का नाम 'संघमित्रा' रक्खा। इसका कथानक चक्रवर्ती सम्राट् अशोक की समस्त जीवन-घटनाओं का समावेश करता है। इसके अंतिम ('जगत-प्रस्थान') नामक सप्तम अंक मे संघमित्रा और महेन्द्र के धर्मप्रचारार्थ सिंहलद्वीप के प्रति प्रस्थान का वृत्त वर्णित है। कवि की दृष्टि मे अशोक का चरित्र 'अथ से इति तक आदर्श' और उत्कृष्ट

---

१. 'शाहनशाह अकबरशाह' नाटक की प्रस्तावना, पृ० १६
२. 'संघमित्रा', विषयस्फोटन—ले० कवि नानालाल, पृ० ३१

है। उसी के आधार पर आदर्श की उत्कृष्टता और उपादेयता दिखाना इस कृति मे रचनाकार का मुख्य लक्ष्य है। इसमे अशोक के चरित्र मे स्खलन, द्विधा या अतर्द्वन्द्व का अभाव है; केवल सद्‌गुणो से ओतप्रोत अशोक का नाट्यगत चरित्र आकर्षक नही है। आदर्शों और जीवनकार्यों की दुहाई देने वाली अहकारी भावना अशोक के द्वारा सर्वत्र प्रगट होती है। कलिंग-विजय मे मानव-सहार के पश्चात् अशोक का मनोमथन और धर्ममय जीवन के प्रति उसका झुकाव नाट्यात्मक अभिव्यक्ति नही पा सका है। ऐतिहासिकता की अतिशयता तथा चरित्र-चित्रण, अतर्द्वन्द्व, कार्य-व्यापार इत्यादि नाटकीय तत्त्वो की न्यूनता के कारण यह कृति सामान्य कोटि की सिद्ध होती है। इसकी शैली, सवाद, गीत, रचना-विधान इत्यादि कवि के अन्य नाटको के समान ही हैं।

'श्री हर्षदेव' (१९५२)

महाकाव्य का कथानक ढूंढने-ढूंढते कवि नानालाल हर्षवर्द्धन की ऐतिहासिक वस्तु पा गये। उसी विषयवस्तु पर इस नाटक की रचना हुई है। 'जहाँगीर-नूरजहान' 'शाहाशाह अकबरशाह', और 'सघमित्रा' की तरह 'श्रीहर्षदेव' मे भी कवि का झुकाव इतिहास के तथ्यो का ईमानदारी से अकन करने की ओर अधिक है इसलिए यह नाटक भी इतिहास की रुक्षता और इतिवृत्तात्मकता लिये हुए है। इसके अतिम अक में 'निर्वेदत्व' का निरूपण अतिशय हृदयस्पर्शी और भावनागम्य है। इसमे हर्ष के चरित्र-विकास के लिए इतिहास के अन्य पात्रो और प्रसगो का समावेश किया गया है।

यह अपद्यागद्य शैली का नाटक कवि के अन्य नाटको की भाँति अग्रेज़ी रोमाटिक नाटकों की शैली को अपनाता है। जिसे कवि 'भावप्रधान नाटक' (Lyrical Drama) कहते हैं। शैली, सवाद, गीत, अभिनय इत्यादि सभी तत्त्वो की दृष्टि से यह रचना कवि के पुरोगामी नाटकों की परिपाटी का निर्वाह करती है। हर्ष के कतिपय मार्मिक उद्‌गारो और चार-पाँच मदर गीतों के कारण ही इस नाटक की महत्ता है, अन्यथा यह नानालाल कवि का बड़ा कमजोर नाटक है।

'कुमारदेवी'

लीलावती मुंशी ने इस नाटक की रचना १९३० मे की। इसकी कथावस्तु इस प्रकार है: चन्द्रगुप्त वैशाली के आतिथ्य का मौका पाकर वहाँ की राजकुमारी कुमारदेवी का अपहरण करता है। कुमारदेवी मगध की महादेवी की प्रतिष्ठा प्राप्त करती है। ईर्ष्यावश कुछ सामत चन्द्रगुप्त की हत्या का षड्यत्र करते है, पर कुमारदेवी की समयसूचकता के कारण वह बच जाता है। चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी अगदेश पर आक्रमण करते है। दो वर्ष तक युद्ध होता है। मत्रीश्वर सोमशर्मा और विष्णुनदन के कुचक्र से चन्द्रगुप्त शत्रुओ द्वारा बदी बना लिया जाता है। पर रानी कुमारदेवी वीरतापूर्वक उनका मुकाबला करती है। किला तोड़कर वह उसमे प्रवेश करती है और चन्द्रगुप्त को छुडा लाती है। अगदेश जीत लिया जाता है। मत्री पकड लिये जाते हैं और अत मे महादेवी कुमारदेवी सुख की सांस लेती है। इस पचाकी नाटक की नायिका कुमारदेवी है। समस्त कथानक उसे केन्द्र मे रखकर सकलित किया गया है। कुमारदेवी का प्रणय और शौर्य से समन्वित व्यक्तित्व बडा ही सजीव और आकर्षक है। वस्तु-विन्यास में गतिशीलता और कौतूहल-तत्त्व का निर्वाह हुआ है। नाट्य-सवाद और रचना-

शैली सप्राण और प्रभावोत्पादक हैं। भाषा सरल, सुंदर तथा सरस है। नाटक के कतिपय दृश्य अनावश्यक है। उनको छोडकर यदि घटना और पात्रों का संयोजन और संकलन किया गया होता तो 'कुमारदेवी' एक उत्कृष्ट दृश्य-काव्य बन पाता।

'पद्मिनी' (१९३४)

कवि कृष्णलाल श्रीधराणी का यह त्रिग्रंकी नाटक मेवाड की सुप्रसिद्ध महारानी पद्मिनी और मुसलमान बादशाह अलाउद्दीन खिलजी की ऐतिहासिक घटना से सम्बन्धित है। चित्तौड के महाराणा लक्ष्मणसिंह का अलाउद्दीन खिलजी के साथ संधि करना, अलाउद्दीन का पद्मिनी के पति भीमसिंह को बंदी बनाना, पति को छुडाने के लिए पद्मिनी का युक्ति करना, अंत मे युद्ध के पश्चात् पद्मिनी का जौहर करना—ये सारे प्रसंग नाटक मे वर्णित हैं। लेखक ने इसमे एक सर्वकालीन कूट प्रश्न प्रस्तुत किया है 'एक रमणी का चरित्र मूल्यवान है या हजारों लोगों के प्राण?' इस प्रश्न की तलस्पर्शी मीमांसा लेखक ने नाटक के 'उपोद्घात' मे की है और यह प्रतिपादित किया है कि नारी के चरित्र की रक्षा ही सर्वोपरि है। 'पद्मिनी' नाटक मे इसी आदर्श की स्थापना की गई है। चित्तौड की अत्यंत लावण्यमयी रानी पद्मिनी नाटक की नायिका है। वह सुंदरता, चरित्रशीलता, वीरता और बलिदान की जीवित प्रतिमा है। पद्मिनी के अपूर्व सौन्दर्य को उसके सर्वनाश का निमित्त बनाकर कृतिकार ने इस कृति मे घनीभूत विषाद के मार्मिक वातावरण को निर्मित किया है। इससे पद्मिनी का पात्र अधिक भव्य और दिव्य बन गया है। पद्मिनी के चरित्रांकन मे इतस्तत अर्वाचीन नारी के व्यक्तित्व की भी झलक मिलती है जो समीचीन नहीं। नाट्यवस्तु के विकास में श्रीधराणी ने संघर्ष-तत्त्व और सक्रियता का बडी ही कुशलता से निर्वाह किया है। पद्मिनी के महाबलिदान के समय नाटक अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है और वही उसका प्रभावोत्पादक अंत होता है जो अत्यंत हृदयस्पर्शी एवम् मर्मभेदी है। वस्तुत. श्रीधराणी का 'पद्मिनी' नाटक सरसता का अनुभव कराने वाला विचारोत्तेजक सुंदर नाटक है

'शर्विलक' (१९५७)

'गुजरात के विशिष्ट विद्वानो और प्राध्यापकों मे मूर्द्धन्य आचार्य रसिकलाल छोटालाल परीख'[1] की नाट्यकृति 'शर्विलक' 'साहित्य-अकादमी' द्वारा सन् १९५७-५८ की गुजराती की श्रेष्ठ रचना के रूप मे सम्मानित की गई है और एतदर्थ रसिकभाई को भारत-सरकार की ओर से पाँच हजार का राष्ट्रीय पारितोषिक प्राप्त हुआ है। 'शर्विलक' गुजराती नाट्य-साहित्य मे उत्कृष्ट कोटि का नाटक है। इसकी कथावस्तु आज से चौबीस सौ वर्ष पूर्व उज्जयिनी मे सर्जित राज्यक्रान्ति और राज्यपरिवर्तन की ऐतिहासिक घटना से सम्बन्धित है। नाटककार ने अपने असाधारण रचना कौशल द्वारा मूल ऐतिहासिक घटना को बीज रूप मे प्रतिष्ठित कर अन्य काल्पनिक कथाओं और पात्रों की सहायता से सभाव्यतापूर्ण अत्यंत यथार्थ ऐतिहासिक वातावरण के साथ 'शर्विलक' का निर्माण किया है। लेखक ने 'शर्विलक' की

---

१ प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलाल जी : 'गुजरात समाचार' नामक गुजराती दैनिक पत्र के रविवार, ता० १९ मार्च १९६१ के अंक 'साहित्य अने संस्कार' नामक विशेष स्तंभ मे प्रगट लेख।

रचना मे कवि भास के 'दरिद्र चारुदत्तम्' और शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' का आधार लिया है।" वस्तुत यह नाटक एक स्वतत्र साहित्यिक कृति है और अनूदित होने की शका केवल आभास है—नाटककार की 'अघटितघटनापटीयसी' माया है। और यह माया बुद्धिपुरसर निर्माण की गई है। इसके लिए नाटककार नि सशय अभिनदन का पात्र है।"[1]

'मृच्छकटिक' का गौण पात्र शर्विलक इस नाटक का नायक है और उसकी प्रेयसी मदनिका इसकी नायिका है। अवन्ती का राज्यपरिवर्तन नाटक की मुख्य घटना है। अवन्ती के राजा चडप्रद्योत के अवसान के पश्चात् वैदिक धर्मानुयायी महामात्य भरत रोहतक राजा के द्वितीय पुत्र पालक को राज्यसिंहासन पर आरुढ करता है जिससे ब्राह्मण-सस्कृति की रक्षा हो सके। परन्तु सिद्ध की भविष्यवाणी है कि जैनधर्मावलम्बी युवराज गोपालक का पुत्र आर्यक राज्याधिकारी होगा। नाटक के वस्तु-विकास का प्रारभ इस भविष्यवाणी से होता है। भरत रोहतक अवन्ती मे श्रमणो की सामर्थ्य को नष्ट करने के लिए वानप्रस्थाश्रम का त्याग कर राजनैतिक षड्यत्रो और सघर्षों की सृष्टि करता है। आर्यक बदी बनाया जाता है। वारागना वसतसेना की दासी और शर्विलक की प्रेयसी मदनिका आर्यक को युक्तिपूर्वक कारागृह से मुक्त करती है और तत्पश्चात् वह आत्महत्या कर लेती है। भरत रोहतक चारुदत्त का शिरच्छेद करवाता है। पालक मारा जाता है। वसतसेना बौद्ध भिक्षुणी बन जाती है। अत मे अपने सभी दुष्कृत्यो के सताप से उद्विग्न होकर और शर्विलक की सज्जनता से लज्जित होकर भरत रोहतक अपने गले की नस काटकर जीवन लीला समाप्त करता है। तदनतर आर्यक उज्जयिनी मे सिंहासनारूढ होता है और शर्विलक को महामात्य-पद अगीकार करना पडता है। इस प्रकार पाच अको और विभिन्न दृश्यो मे विभाजित इस नाटक की कथा समाप्त होती है।

इस रचना का प्रारभ प्राचीन नाट्य-परिपाटी की भाँति नादी और प्रस्तावना से होता है परतु समग्र नाटक की रचना प्राचीन रूपक पर आधृत नहीं है। चरित्र-चित्रण, पात्रो का मतर्द्वन्द्व, नाटकीय सघर्ष, द्वन्द्वात्मक परिस्थिति का सृजन इत्यादि पाश्चात्य नाट्य-शैली के अनुसार हैं। ब्राह्मणधर्म और श्रमणधर्म के साम्प्रदायिक विरोध से नाट्यसघर्ष का बीजारोपण होता है। अनेक जटिल समस्याओ के मध्य वस्तु विकसित होती है। शेक्सपीयर के नाटकों की भाँति मच पर आत्महत्याएं प्रदर्शित की गई हैं। श्मशान मे चारुदत्त का शव और मदनिका की चिता का दृश्य भी पाश्चात्य नाट्य-परपरानुसार है। नाटक का कथानक विभिन्न परिस्थितियो के घात-प्रत्याघातो के साथ तीव्र गति से अग्रसर होता है। अत मे अनेक महत्त्वपूर्ण पात्रो की मृत्यु से उद्भूत घनीभूत विषादमय वातावरण के मध्य इसका सुख में पर्यवसान होता है। यह करुण परिस्थिति यूनानी दु खातकियो के वातावरण का स्मरण कराती है। राज्यपरिवर्तन की प्रधान धारा के साथ लेखक ने मदनिका शर्विलक और वसतसेना-चारुदत्त के प्रेमप्रवाह प्रवाहित किये है। इससे इस वीररसाश्रित नाटक में शृगारभावना का मधुर समन्वय हो गया है जो नाटक के लिए सतर्पक सिद्ध हुआ है। नाटक के प्रारभिक पृष्ठो में शकार द्वारा हास्यरस के अकुर फूटते जरूर हैं, परन्तु राज्य-क्रान्ति की भीषण ज्वालाओ में जलकर वे भस्म हो जाते है। पात्रो और प्रसगो के आन्तरिक सघर्ष का नाट्योचित निरूपण कर नाटककार ने 'शर्विलक' को अत्यन्त प्रभावोत्पादक

---

१. प्रो० रा० ब० आठवले—'प्रराचना' 'शर्विलक नाटक मे : पृ० १४

ढग से समाप्ति की है जो उसकी गहरी नाटकीय सूझ और समझदारी का प्रमाण प्रस्तुत करती है।

पात्र-निरूपण की दृष्टि से शर्विलक का चरित्र सचमुच उच्च और आदर्श है। वह वीर नायक के सभी गुणों से अलकृत है। कर्तव्य की बलिवेदी पर उसकी प्रणय-भावना का उत्सर्ग जितना भव्य है उतना ही रोमाचक भी है। शर्विलक की प्रियतमा मदनिका का पात्र नाटक में सबसे अधिक आकर्षक है। उसका त्याग और समर्पण श्लाघनीय है। वसन्तसेना का चरित्र भी कम महत्त्वपूर्ण नही। नाटककार ने मदनिका, वसन्तसेना और तरुवेणा द्वारा नारी-हृदय की सुषुप्त कोमल भावनाओ का रमणीय आविष्कार किया है। चारुदत्त यद्यपि गौण पात्र है, फिर भी उसका प्रभावशाली व्यक्तित्व नाटक में सर्वत्र उभर आया है। ब्राह्मणधर्म को प्रमुख और चिरस्थायी पद पर प्रतिष्ठित करने के निमित्त अनेक दुष्ट कृत्यों और अधम विचारो में डूबा हुआ खल-चरित्र भरत रोहतक अन्त मे पश्चात्ताप की ज्वालाओ से विदग्ध आत्महत्या करता है। मानव-मन में अवस्थित देव-तत्त्व की विजय का इस परिणति द्वारा सकेत वस्तुत युक्ति-युक्त है।

'शर्विलक' की उत्कृष्टता और आकर्षण का एक उपकरण नाट्योचित सवाद-रचना भी है। लेखक ने रसोपकारक सुन्दर सवादो की सृष्टि कर अपनी कलाप्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। कतिपय सवाद और स्वगत तो गद्य काव्यो की कोटि मे पहुँच जाते हैं। नाटक म कही-कही पद्यमय सवादो और काव्यमय उक्तियो का भी प्रयोग किया गया है जो पुरान रगमचीय नाटको और 'भवाई' के सवादो के समान होते हुए भी नितान्त उपयुक्त और मनोहर है। इसकी भाषा विषय और वातावरण के अनुरूप है। इस नाटक की यदि काट-छाँट की जाय तो यह आसानी से खेला भी जा सकता है और सामाजिकों का पूरी तरह मनोरजन कर सकता है। अन्त में निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि प्राचीन और अर्वाचीन नाट्यादर्शों का सुभग समन्वय करने वाली यह नाट्यकृति गुजराती का गौरव-ग्रथ है।

गुजराती क अन्य ऐतिहासिक नाटको मे अम्बालाल नारणजी जोशी-कृत 'वीर शाहु' (१९३०), मूलशकर याज्ञिक-कृत 'श्री हर्ष-दिग्विजय' (१९३३) गजेन्द्रलाल शकर पड्या कृत 'छैल्लो पावापति', प्रह्लाद चन्द्रशेखर दिवानजी-कृत 'वैशालिनी वनिता' (१९३८), केशव ह० शेठ कृत' 'राजनदिनी' (१९४२) इत्यादि उल्लेखनीय है।

तुलनात्मक अध्ययन

१९०० क अनन्तर हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओं मे जो ऐतिहासिक नाटक लिखे गये हैं उनमे से एक भी नाटक इतिहास के स्थूल तथ्यो का निरूपण नही करता। ऐतिहासिक इतिवृत्तो क आधार पर या तो भव्य भूतकालीन आदर्श सस्कृति का अकन कर वर्तमान मे उसके पुन प्रस्थापन की ओर इगित करना इन ऐतिहासिक नाटककारो को अभीष्ट है या इतिहास क पात्रो और प्रसगो की सहायता से आधुनिक विचारो तथा समस्याओ को प्रस्तुत करना आलोच्य नाटकों का प्रधान उद्देश्य है। हिन्दी मे जयशकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक भूतकालीन भव्य भारतीय इतिहास तथा महान् सस्कृति के पृष्ठ खोलते है। इसी प्रकार कवि नानालाल ने 'सघमित्रा' तथा 'श्रीहर्षदेव' द्वारा अतीत के उज्ज्वल नररत्नो का चरित्राकन कर अपनी आदर्शवादी भावना का प्रतिपादन किया है। हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशकर

भट्ट, गोविन्दवल्लभ पंत, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सेठ गोविन्ददास इत्यादि के नाटकों में यही प्रवृत्ति पाई जाती है। हिन्दी की तुलना में गुजराती में बहुत ही थोड़े ऐतिहासिक नाटकों की रचना हुई है। यह अभाव खटकता है।

१६०० के पश्चात् देश में राष्ट्रीय जागृति का प्रारंभ होता है। लोकमान्य तिलक और राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के नेतृत्व में इसी समय जनजागरण, विदेशी दासता से मुक्ति के निमित्त राजनैतिक आंदोलन और स्वदेशाभिमान की प्रबल भावना देश में सर्वत्र दृष्टिगत होती है। आसेतु-हिमालय सेवा, समर्पण और संगठन की नई चेतना फैल जाती है। यह वायुमंडल हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के नाटककारों को प्रेरणा तथा प्रोत्साहन प्रदान करता है। ऐतिहासिक घटनाओं और चरित्रों का आधार लेकर सभी नाटककार राष्ट्रीय जागरण की भावना अभिव्यक्त करते हैं। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में और 'प्रताप-प्रतिज्ञा', 'शिवासाधना', 'शपथ', 'शशिगुप्त', 'जय-पराजय', 'रक्षा-बन्धन', 'शक-विजय', 'राजमुकुट' इत्यादि अन्य हिन्दी नाटकों में राष्ट्रीयता, स्वदेश-भक्ति, देशसेवा तथा स्वतन्त्रता की भव्य भावनाएँ प्रगट हुई हैं। गुजराती के 'रोमन स्वराज्य', 'गुरु गोविन्दसिंह' आदि नाटक इन्हीं राष्ट्रादर्शों को अंकित करते हैं। हमारी नवीन जनतांत्रिक शासन-व्यवस्था की प्रेरणा 'शिवासाधना', 'शपथ' तथा 'अम्बपाली' में साकार है।

अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति ने देश में वर्गविग्रह और साम्प्रदायिक विद्वेष की आग पैदा की और राष्ट्र की एकता और अखण्डता की भावना छिन्न भिन्न कर दी। देश में सर्वत्र हिन्दू-मुस्लिम दंगे होने लगे। जनता में साम्प्रदायिकता का विष फैल गया। महात्मा गांधी ने धार्मिक सहिष्णुता और साम्प्रदायिक एकता को राष्ट्र का प्राण-प्रश्न मानकर उसे सर्वमान्य बनाने के लिए भगीरथ प्रयत्न शुरू किये। देश के सभी नेताओं ने इसमें पूरा सहयोग दिया। आलोच्य दोनों भाषाओं के नाटककारों के लिए यह युगादर्श प्रेरकबल सिद्ध हुआ। इसे नाटकीय रूप देने के लिए गुजराती में 'गुरु गोविन्दसिंह', 'शहंशाह अकबर शाह' वगैरह नाटकों का प्रणयन हुआ और हिन्दी में हरिकृष्ण प्रेमी के लगभग सभी नाटक इसी ज्वलन्त प्रश्न को प्रमुखता प्रदान करते हैं। इसके अलावा प्रसाद के 'स्कंदगुप्त' का बौद्ध-ब्राह्मण विग्रह, रसिकलाल छोटालाल परीख के 'शर्विलक' का श्रमण-ब्राह्मण-वैमनस्य हमारे वर्तमान युग के इन्हीं साम्प्रदायिक संघर्षों का ही प्रतिबिम्ब है। गांधी जी न केवल राजनैतिक नेता ही थे, वे उच्च कोटि के संत थे और मानवता के महान् उपासक थे। उनकी मानवता हिन्दू-मुस्लिम एकता, हरिजनोद्धार, नारी उत्कर्ष, सर्वधर्म-समभाव और सत्य अहिंसा-साधना द्वारा प्रगट हुई है। गांधी जी देश के सभी साहित्य स्रष्टाओं के लिए प्रेरणामूर्ति रहे हैं। उनकी मानवता की भावना ने 'दाहर', 'कुलीनता', 'रक्षाबन्धन', 'शहंशाह अकबरशाह', 'गुरु गोविन्दसिंह' इत्यादि हिन्दी-गुजराती नाटकों में समान रूप से अभिव्यक्ति पाई है। गांधी युग में जो सामाजिक समस्याएँ उभर कर सामने आई हैं, उनमें स्त्री स्वातन्त्र्य की जटिल समस्या भी एक है। नारी का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। उसकी भी अपनी वैयक्तिक इच्छा-अनिच्छाएँ हैं। उसे बेजान पुतला मानना मंद बुद्धि का परिचय देना है। इस नारीसमस्या को लेकर दोनों भाषाओं के दो मूर्धन्य नाटककारों ने नाटक लिखे। कन्हैयालाल मुंशी ने अपने 'ध्रुवस्वामिनी देवी' नाटक में 'अनमेल विवाह' के प्रश्न को और जयशंकर प्रसाद ने अपनी 'ध्रुवस्वामिनी' कृति में विवाह-मोक्ष (divorce) के प्रश्न प्रस्तुत कर नारी के अधिकारों का समर्थन किया है। श्रीधराणी की 'पद्मिनी'

नानालाल का 'जहाँगीर-नूरजहाँ' भी सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डालते है। इस प्रकार हिन्दी-गुजराती नाटककारों ने इतिहास का आधार लेकर भूतकालीन ऐतिहासिक-सांस्कृतिक वातावरण की पृष्ठभूमि की सहायता से अर्वाचीन राजनैतिक आदर्शों, सामाजिक समस्याओं और मानवतावादी मूल्यों का आकलन किया है। यदि हम आलोच्य ऐतिहासिक नाटकों के कालक्रम पर दृष्टिपात करें तो प्रतीत होगा कि दोनों भाषाओं के नाटककारों ने जैन-बौद्ध धर्म के उत्थान-काल से लगाकर मुगल-युग की समाप्ति तक के समय को समाविष्ट किया है। हिन्दी मे प्रसाद ने प्रधानत बौद्ध, मौर्य और गुप्त-युग की सांस्कृतिक चेतना को साकार किया है और हरिकृष्ण प्रेमी न मुस्लिम युग की घटनाओं को नाटकीय रूप दिया है। गुजराती के कवि नानालाल के 'शहशाह अकबरशाह' तथा 'जहाँगीर-नूरजहाँ' नाटक मुगल-युग से सम्बन्धित हैं और उनके दो अन्य नाटक अशोक और हर्षकालीन हैं।

हिन्दी और गुजराती म लगभग सभी ऐतिहासिक नाटक वीररसाश्रित है क्योंकि इन नाटकों मे शौर्य और वीरता प्रधान ऐतिहासिक इतिवृत्त अंकित किये गये हैं और धीर, वीर, गभीर इतिहासप्रसिद्ध चरित्रों को नायकत्व प्रदान किया गया है। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'अजातशत्रु' इत्यादि सभी ऐतिहासिक नाटकों मे वीररस की प्रधानता है। यही परपरा हरिकृष्ण प्रेमी और सेठ गोविन्ददास के तथा कवि नानालाल और कवि कात व ऐतिहासिक नाटकों मे देखी जाती है। 'प्रताप प्रतिज्ञा', 'अशोक', 'जयपराजय', 'कुमारदेवी', 'पद्मिनी', 'सयुक्ता' इत्यादि हिन्दी-गुजराती नाटकों मे वीररस की सृष्टि की गई है। इस समानता के साथ यह भी देखा जाता है कि अधिकाश नाटकों मे वीररसाश्रित प्रधान घटनाओं के साथ साथ प्रणयाश्रित शृंगारप्रधान गौण प्रसग भी निरूपित हुए हैं जो या तो प्रेमी प्रेमिकाओं की सयोगावस्था के सुखद दृश्यों की सृष्टि करते है या वियोगजन्य वेदना की करुण परिस्थिति अकित करते हैं। 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'रक्षाबन्धन', 'शपथ', 'जय-पराजय' आदि हिन्दी-नाटकों मे और 'गुरु गोविन्दसिंह', 'शर्विलक' प्रभृति गुजराती नाटकों मे इस प्रकार की प्रणय-सम्बन्धी कथाएँ मुख्य घटनाओं के साथ बडी स्वाभाविकता और सुश्लिष्टता म गुफित की गई हैं। इनसे नाटकीय वातावरण अधिक आकर्षक और सजीव बन गया है। सभी नाटकों मे वीररस के साथ करुण, हास्य, अद्भुत इत्यादि रसों में स एक-दो अन्य रसों का भी पुट मिलता है। इस प्रकार रसपरिपाक की दृष्टि से दोनों भाषाओं के नाटकों मे समानता है।

दोनों भाषाओं के वीररसाश्रित चरित्रप्रधान इन ऐतिहासिक नाटकों मे अधिकाश नाटक सुखात है। हिन्दी नाटक 'दाहर', 'शक-विजय' और 'रेवा' तथा गुजराती नाटक 'पद्मिनी' विषादात रचनाएँ है। इसके अतिरिक्त हिन्दी और गुजराती के इन नाटकों म एक और समानता दृष्टिगोचर होती है। कुछ नाटकों का अत सुख और दुख स समन्वित होता है। प्रसाद के नाटकों की 'सुखात भावना' प्राय वैराग्यपूर्ण शान्ति से समन्वित होती है। उनके नाटक न पूर्णत सुखान्त होते है न दुखान्त। ये नाटक सुखान्त अथवा दुखान्त न होकर प्रसादान्त' है।[1] इसी प्रकार 'रक्षाबन्धन' म हुमायूँ, 'जय पराजय' म वड, 'गुरु गोविन्दसिंह' म गुरु गोविन्दसिंह, और 'शहशाह अकबरशाह' मे अकबर अन्त म सुख या शान्ति के भोक्ता नही बनते। दुख या विषाद की अन्तर्दाह से विदग्ध ये प्रमुख पात्र निर्वेदावस्था म हमारे दृष्टिपथ से प्रस्थान करते है और नाटकों का अन्त सुखदु खान्वित शात

१ आधुनिक हिन्दी नाटक डॉ० नगेन्द्र, पृ० १०-११

वातावरण के बीच होता है ।

'साहित्यदर्पण-कार' आचार्य विश्वनाथ ने नाटक की कथावस्तु का प्रख्यात होना आवश्यक माना है "नाटकम् ख्यातवृत्तम् स्यात् ।" इस सिद्धान्त का अक्षरशः पालन आलोच्य दोनो भाषाओ के ऐतिहासिक नाटको मे हुआ है । उपलब्ध सभी नाटक इतिहास-प्रसिद्ध पात्रों या प्रसगो पर आधृत है । नाटककारो ने अपने अभीष्ट आदर्श को नाटकीयता प्रदान करने के लिए मूल इतिवृत्त मे परिवर्तन एवम् परिवर्द्धन अवश्य किया है, किन्तु उन्हे विकृत या सम्भाव्यता-विहीन नही बनाया है । हमने पीछे यह बताया है कि १६०० के पूर्व के भारतेन्दुकालीन हिन्दी नाटक और नर्मदकालीन गुजराती नाटक यद्यपि भारतीय नाट्यतत्त्वो को आत्मसात् करते हैं, किन्तु उनका ज्यादा झुकाव पाश्चात्य रचनापद्धति की ओर है । १६०० के उपरान्त आलोच्य नाटको मे क्रमशः पश्चिमी तत्त्वो की प्रमुखता बढती जाती है । हिन्दी मे भारतेन्दु के अनन्तर प्रसाद के नाटक और गुजराती मे रणछोडभाई के अनन्तर 'कान्त' के नाटक इस कथन के ठोस प्रमाण हैं । दोनो नाटककारो की रचना-शैली मे पाश्चात्य तत्वो की प्रधानता है । तत्पश्चात् हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास, उदयशकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगदीशचन्द्र माथुर आदि-आदि हिन्दी नाटक-रचयिताओ के और कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी, कवि नानालाल, रमणलाल वसतलाल देसाई, कृष्णलाल श्रीधराणी इत्यादि गुजराती नाटककारो के नाटक पाश्चात्य नाट्य-परपरा का पूर्णत पालन करते हैं । वस्तुविन्यास, चरित्राकन, सघर्षात्मक परिस्थिति की सृष्टि, अत इत्यादि सभी नाट्यतत्त्व पश्चिम के नाटको के अनुसार हैं ।

बदरीनाथ भट्ट के 'दुर्गावती', प्रसाद के 'राज्यश्री' और 'विशाख', प्रेमचन्द के 'कर्बला' वगैरह नाटक वस्तुविन्यास की दृष्टि से समीचीन और सुचारु नही हैं । सगठन-सौष्ठव का इनमे अभाव है । इन नाटको की घटनाएँ विशृखलित हैं । यही स्थिति गुजराती के आद्य नाटककार रणछोडभाई उदयराम के नाटक 'वेरनो वासे वदयों वारसो' की है । तदनतर प्रसाद के नाटको और 'कान्त' के दो नाटको मे नाट्यशिल्प का विकसित रूप दृष्टिगत होता है । यद्यपि हिन्दी मे जयशकर प्रसाद के नाटको की भाँति गुजराती मे इस धारा के उत्तम सास्कृतिक-ऐतिहासिक नाटको का सृजन कर किसी भी नाटककार ने अपनी उच्च कोटि की नाट्यात्मक प्रतिभा का परिचय नही दिया है, फिर भी मुशीजी के 'ध्रुवस्वामिनी देवी' और रसिकलाल छोटालाल परीख का 'शर्विलक'—ये दो कृतियाँ वस्तुविन्यास तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं । इसी प्रकार जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' और बेनीपुरी का 'अम्बपाली' नाटक हिन्दी मे नाट्यकला के उत्तम नमूने पेश करता है । १६०० के पूर्व के नाटको की विवेचना करते समय यह सकेत किया गया है कि 'महाराणा प्रताप' पर गुजराती मे गणपतराय भट्ट ने और हिन्दी मे राधाकृष्णदास ने अपने-अपने नाटक लिखे हैं । तदन्तर जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' का 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक इस विषय का श्रेष्ठ नाटक है । गुजराती मे और व्यावसायिक रगमचीय नाटको मे प्रताप-चरित्र अकित हुआ है । परन्तु उनका साहित्यिक-मूल्य नगण्य है । १६०० के पश्चात् 'ध्रुवस्वामिनी' के ऐतिहासिक वृत्त ने दोनों भाषाओ के श्रेष्ठ नाटककारो—कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी और जयशकर प्रसाद—को नाट्यरचना की ओर प्रवृत्त किया । दोनो लेखको के ध्रुवस्वामिनी विषयक नाटको की तुलनात्मक समीक्षा पूर्ववर्ती पृष्ठो में प्रस्तुत की जा चुकी है । इसके अतिरिक्त मेवाड़ कृष्णाकुमारी से सम्बन्धित कवि नर्मद ने गुजराती में और हरिकृष्ण प्रेमी ने

शीर्षक से हिन्दी में नाट्यरचना की। 'अशोक' की महानता से प्रभावित होकर लक्ष्मीनारायण मिश्र[1], चन्द्रगुप्त विद्यालंकार[2], दशरथ ओझा[3] और रासबिहारी लाल[4] ने हिन्दी में नाटक लिखे है। गुजराती में कवि नानालाल ने 'संघमित्रा' नाटक में अशोक के ही आदर्श और उत्कृष्ट चरित्र का निरूपण किया है। इसी प्रकार विषयवस्तु की दृष्टि से कवि नानालाल की 'श्री हर्षदेव' नामक नाट्यकृति और सेठ गोविन्ददास के 'हर्ष' नाटक में समानता है। राजस्थान की महारानी पद्मिनी के चरित्र ने गुजराती के सुप्रसिद्ध कवि कृष्णलाल श्रीधराणी और द्विजेन्द्र बाबू के बँगला-नाटकों के अत्यन्त सफल हिन्दी अनुवादक रूपनारायण पांडेय को प्रेरित और प्रभावित किया है। इसी के फलस्वरूप दोनो नाटककारों के पद्मिनी-सम्बन्धी नाटक उपलब्ध होते हैं। जहाँ हिन्दी मे चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, शिवाजी, महर्षि चाणक्य, महात्मा ईसा इत्यादि महान् पुरुषो के चरित्रों को नाटकीय रूप दिया गया है, वहाँ गुजराती मे गुरु गोविन्दसिंह, जहाँगीर, अकबर, शर्विलक इत्यादि को नाट्यसृष्टि में नायकत्व प्रदान किया गया है। विषय-साम्य न होते हुए भी दोनो भाषाओ के उक्त मुख्य पात्रो मे चारित्रिक विशेषताएँ बिल्कुल एक-सी नजर आती हैं। गुरु गोविन्दसिंह और शिवाजी दोनों शूरता, वीरता, देशभक्ति, साम्प्रदायिक समभावना, उदारता आदि उच्च गुणों से विभूषित हैं। चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त की भाँति शर्विलक धीरोदात्त नेता है। इन उज्ज्वल पात्रो के अलावा दोनो भाषाओ के नाटकों के खलनायकों की चरित्रगत विशेषताएँ समान हैं। औरंगज़ेब का क्रूर-कठोर व्यक्तित्व 'प्रतिशोध', 'शिवासाधना', 'स्वप्नभंग' और 'गुरु गोविन्दसिंह' मे उभर आया है। 'पद्मिनी' का अलाउद्दीन, 'शर्विलक' का भरत रोहतक, 'स्कन्दगुप्त' का भट्टार्क, 'जय-पराजय' का रणमल और 'कोणार्क' का राजराज—इन सभी प्रतिनायकों मे असत् तत्वों का समान रूप से समावेश हुआ है। दोनो भाषाओ के ऐतिहासिक नाटकों की अमर सृष्टि हैं इनके नारी-पात्र। नारी-जीवन के अन्तर्लोक की सुन्दरता और समृद्धि का मनोहर प्रकाशन हिन्दी-गुजराती के इन नाटको मे हुआ है। नारी समर्पण की देवी है। वह प्रेम की पुजारिन है। नारी अपने आंतरिक आलोक से सृष्टि को सुषमायुक्त और सौन्दर्यपूर्ण बनाती है। नारी अबला नही है, वह सबला भी है। अवसर आने पर वह अपने प्राणों की भी बाज़ी लगा देती है। इस सत्य का साक्षात्कार हमे 'स्कंदगुप्त' की देवसेना, 'जय पराजय' की भारमली, 'रक्षाबंधन' की श्यामा, 'अम्बपाली' की अम्बपाली' 'पद्मिनी' की 'पद्मिनी' और 'शर्विलक' की मदनिका एवं वसंतसेना में होता है। ये सब नारी-जीवन की उज्ज्वलता तथा दिव्यता का प्रकाशन करती हैं। इसी श्रेणी के अन्य नारी पात्रों मे राज्यश्री (राज्यश्री), मल्लिका (अजातशत्रु), अलका (चन्द्रगुप्त), कर्मवती (रक्षाबन्धन), पन्ना (राजमुकुट), सरस्वती (शकविजय), नूरजहाँ (जहाँगीर नूरजहाँन), अनूपकुँवर (गुरु गोविन्दसिंह), कुमारदेवी (कुमारदेवी), ध्रुवस्वामिनी (हिन्दी और गुजराती दोनो नाटकों की) गणना-पात्र हैं। नाटककारों ने इस नारी सृष्टि मे पर्याप्त वैविध्य एवं वैभिन्न का परिचय दिया है। १९०० के पश्चात् रचे गये दोनो भाषाओ के समस्त नाटकों के पात्रो के विषय मे भी यह आसानी से कहा जा

---

१. 'अशोक' (१९२७)
२. 'अशोक' (१९३५)
३. 'प्रियदर्शी सम्राट अशोक',
४ 'अशोक' अशोक-विषयक नाटक), १९५२

सकता है कि इनका आधुनिक दृष्टि से मनोविश्लेषण हुआ है और लेखकों ने इनके अंतर्द्वन्द्व के प्रकाशन में पूरा ध्यान रक्खा है।

पिछले पृष्ठों में यह निर्देश किया जा चुका है कि दोनों भाषाओं के प्रारंभिक नाटक संस्कृत नाट्य-रचना से प्रभावित रहे हैं। संस्कृत नाटकों के नांदी, सूत्रधार, प्रस्तावना, अंकावतार, विदूषक, भरतवाक्य, रसनिष्पत्ति इत्यादि नाट्यांग उनके मूल रूप में १६०० के बाद के नाटककारों ने ग्रहण नहीं किये हैं। नवीन शैली और शिल्प के सुष्ठु रूप का आविष्कार करने के लिए बीसवीं सदी के दोनों भाषाओं के नाट्य-लेखकों ने उपर्युक्त संस्कृत रूपकांगों का आंशिक रूप में उपयोग किया है और उसी के साथ पाश्चात्य रचनातंत्र का अधिकांश आधार लिया है। भारतेन्दु नर्मद युग के अनंतर जो हिन्दी-गुजराती नाटक उपलब्ध होते हैं, उनकी शैली और स्वरूप में भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य-रचना-विधान का अद्भुत सामंजस्य पाया जाता है। प्रसाद के सभी नाटक हिन्दी में इस कथन को प्रमाणित करते हैं। गुजराती में 'शर्विलक' नाटक का प्रारंभ नांदी और प्रस्तावना से होता है। उसमें द्वन्द्वमूलक परिस्थिति, घातप्रत्याघातमय विषयवस्तु और संघर्षमय पात्रसृष्टि पश्चिमी नाटकों के अनुसार है। इस प्रकार की सुंदर समन्वयात्मक शैली हिन्दी 'कोणार्क' में भी पाई जाती है। बीसवीं शती के दोनों भाषाओं के कई नाटक शेक्सपीयर की दु:खान्तियों (Tragedies) से प्रभावित हैं। 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी', 'अशोक', 'चन्द्रगुप्त', 'जयपराजय', 'कुलीनता', 'वत्सराज' इत्यादि हिन्दी नाटकों और 'रोमन स्वराज्य', 'गुरु गोविन्दसिंह', 'जहाँगीर-नूरजहान', 'शाहानशाह अकबरशाह', 'पद्मिनी', 'शर्विलक' प्रभृति गुजराती नाटकों पर शेक्सपीयर के दु:खान्त नाटकों की छाप स्पष्टतः परिलक्षित होती है। इन ऐतिहासिक नाटकों के षड्यंत्र, संघर्ष, युद्ध, वध, आत्महत्याएँ, हिंसा वगैरह यूनानी या शेक्सपीयर के नाटकों का तादृश वातावरण प्रस्तुत करते हैं। आलोच्य हिन्दी-गुजराती नाटकों में शेक्सपीयर के नाटकों की भाँति भय, आतंक और विषाद से संमिश्रित करुण वातावरण की सृष्टि करने के निमित्त कहीं कापालिक[1], कहीं पुजारी[2] और कहीं ब्राह्मण[3] के द्वारा अमंगल की भविष्यवाणी करवाई गई है और कहीं पराप्राकृत तत्त्वों (Supernatural elements) का भी उपयोग[4] किया गया है।

हिन्दी-गुजराती के अधिकांश ऐतिहासिक नाटकों के कथानक अंकों के साथ दृश्यों में भी विभाजित हैं। स्वगतों और गीतों का भी उनमें समावेश हुआ है। किन्तु हिन्दी की विशिष्ट कृति 'कोणार्क' में तो स्वगतों, गीतों, नारीपात्रों और दृश्यों का प्रयोग नहीं हुआ है, फिर भी यह एक अत्यन्त सफल रचना है। 'अशोक', 'चन्द्रगुप्त', 'पूर्व की ओर', 'अजातशत्रु' आदि हिन्दी के और 'जहाँगीर-नूरजहाँ', 'शहेशाह अकबरशाह', संयुक्ता', 'कुमारदेवी' इत्यादि गुजराती के नाटकों में अनावश्यक दृश्यों का समावेश किया गया है। यही नहीं, आकस्मिक घटनाओं या पात्रों का अवतरण कर चमत्कारिता और कौतूहल की सृष्टि करने का भी

---

१. अशोक नाटक—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
२. रेवा ,, — ,, ,,
३. (अ) जयपराजय नाटक—अश्क (आ) ध्रुवस्वामिनी प्रसाद
४. (अ) महात्मा ईसा—उग्र (आ) ध्रुवस्वामिनी—प्रसाद
(इ) गुरु गोविन्दसिंह—'कान्त'
(ई) शाहानशाह अकबरशाह—कवि नानालाल

उनमें प्रयत्न किया गया है। ये प्रयत्न पुरानी व्यावसायिक नाटक कंपनियों के नाटकों की युक्तियों का स्मरण कराते हैं। 'दुर्गावती', 'महात्मा ईसा', 'राज्यश्री', 'राजमुकुट', 'अन्तपुर का छिद्र', 'दाहर', पूर्व की ओर', इत्यादि हिन्दी नाटकों में जो लंबे स्वगतों, पद्यबद्ध संवादों, अनावश्यक गीतों, गजलों वगैरह का दर्शन होता है, वह स्पष्टतः पारसी रंगमंच का ही प्रभाव है। इसी तरह गुजराती के 'रोमन स्वराज्य' और 'संयुक्ता' पर पेशेवर नाटक कंपनियों के नाटकों की शैली का प्रभाव स्पष्ट है। उत्तम गुजराती नाटक 'शर्विलक' के पद्यात्मक संवादों और काव्यमय उक्तियों की रचना 'भवाई' या 'रंगभूमि' को दृष्टि-समक्ष रखकर की गई है। 'कोणार्क', महात्मा ईसा', 'प्रताप प्रतिज्ञा', जयपराजय', 'रक्षाबंधन', 'राजमुकुट' इत्यादि हिन्दी नाटक तथा 'शर्विलक', 'रोमन साम्राज्य', गुरु गोविन्दसिंह', 'संयुक्ता', 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' इत्यादि गुजराती नाटक आसानी से खेले जा सकते है। 'रेवा', 'अशोक' (चन्द्रगुप्त विद्यालंकार) और 'अशोक' (सेठ गोविंददास) रजतपट के अधिक अनुकूल हैं। इस प्रकार का कोई नाटक गुजराती के इन ऐतिहासिक नाटकों में नहीं है। कवि नानालाल और कवि प्रसाद के सभी नाटक अनभिनेय हैं। दोनों में कवित्व का आधिक्य है और गहन चिंतन के बोझ से नाट्य-तत्त्व दब गए हैं। प्रसाद के नाटकों की भाषा संस्कृतनिष्ठ और शैली काव्यात्मक है तो नानालाल के 'डोलन शैली' के नाटक भावाधिक्य तथा कल्पनातिरेक के कारण वास्तविकता से दूर हैं। दोनों महान् कवियों के नाटकों में गीतिकाव्य के उत्तम तत्त्वों से विभूषित मधुर गीतों का समावेश हुआ है।

ऐतिहासिक नाटकों में ऐतिहासिक वातावरण की सम्यक् सृष्टि के लिए रीति-रिवाज, वेशभूषा, वार्तालाप, भाषा-शैली इत्यादि का ऐतिहासिक इतिवृत्तों और चरित्रों के अनुरूप होना आवश्यक है। हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के इन सभी नाटकों में समान रूप से ऐतिहासिक वातावरण का निर्वाह हुआ है। बौद्ध, मौर्य और गुप्तकालीन 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'अशोक', 'हर्ष', 'संघमित्रा', 'श्रीहर्षदेव', 'शर्विलक' इत्यादि नाटकों में पात्रानुरूप संस्कृतमय संवादों की रचना की गई है। इससे प्राचीन सांस्कृतिक वातावरण की गरिमा तथा गंभीरता का सम्यक् निर्वाह हो सका है। मुस्लिम और मुगलयुगीन नाटकों में हिन्दू पात्रों की भाषा का झुकाव संस्कृत की ओर रहता है और मुसलमान पात्र उर्दू भाषा का प्रयोग करते है। इससे नाटकों में अधिक स्वाभाविकता आ पाई है। 'शाहनशाह अकबरशाह', 'जहाँगीर-नूरजहान', 'गुरु गोविन्दसिंह', 'प्रतापप्रतिज्ञा', 'रक्षाबंधन', 'स्वप्न-भंग', 'जयपराजय' वगैरह कई नाटक इस कथन की पुष्टि करते हैं। वीररस से सम्बन्धित इन ऐतिहासिक नाटकों के संवाद ओजपूर्ण और प्रभावोत्पादक हैं।

अन्त में यह निर्देश करना असंगत न होगा कि हिन्दी का 'कोणार्क' और गुजराती का 'शर्विलक' ये दो ऐतिहासिक नाटक वस्तुविन्यास, चरित्रांकन, समस्या निरूपण, संवाद-योजना, भाषाशैली आदि सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट है। हिन्दी के जयशंकर प्रसाद की इस धारा के नाट्य सृजन में अप्रतिम कारयित्री प्रतिभा प्रगट हुई है। यह विशेषतः उल्लेखनीय है। कवि नानालाल के कवित्वपूर्ण भावनाटक भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। कुल मिलाकर यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि दोनों भाषाओं के ये ऐतिहासिक नाटक हमारी राष्ट्रीयता के निर्वाहक है।

आठवाँ अध्याय

सामाजिक नाटक

इस प्रबंध के प्रारंभिक पृष्ठों में यह निर्देश किया जा चुका है कि आधुनिक नाटक के उद्भव और विकास में किस प्रकार पाश्चात्य संस्कृति और साहित्य ने प्रेरणा दी। अंग्रेजी शिक्षा और संस्कार के कारण देश में सुधारवादी भावना जागी। उसे ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज इत्यादि के सांस्कृतिक-सामाजिक आंदोलनों ने प्रश्रय प्रदान किया। फलत भारतेन्दु-नर्मद-युग में सामाजिक सुधार और सांस्कृतिक नव जागरण की चेतना सर्वत्र दृष्टिगत होने लगी। तत्कालीन हिन्दी गुजराती दोनों भाषाओं के नाटकों में इसी जागृति के लक्षण उपलब्ध हैं। इनमें नाटककार समाज की रूढ़ियों और परंपराओं का आकलन और विवेचन करता है, उनके गुण-दोषों का निदर्शन कर उनका समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के यूरोपीय सामाजिक समस्या-नाटकों (Social problem plays) की भाँति हमारे नाटकों में भी सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। परन्तु इनका नाट्य स्वरूप अपरिपक्व और शैली-शिल्प प्रारंभिक प्रयोगावस्था का है। इन नाटकों में बाल-विवाह, अनमेल विवाह, विधवा-विवाह, मद्यपान, वेश्यागमन, पारिवारिक कलह, सामाजिक कुरीतियाँ वगैरह अनेक सामाजिक प्रश्नों को नाट्य विषय बनाया गया है। इस लोकोन्मुखी प्रवृत्ति में नाटककारों की समाज-सुधार और जनोत्कर्ष की कल्याणकारी भावना निहित है। वे समाज को सभी प्रकार की विषमताओं और विकृतियों से विमुक्त संस्कारी और सुंदर देखना चाहते हैं। अपने इस अभीष्ट की सिद्धि के लिए इन लेखकों ने साधारण वर्ग के सामाजिक नाटकों के अतिरिक्त समस्यामूलक नाटक, व्यंग्यात्मक नाटक, प्रहसन इत्यादि का भी प्रणयन किया है। यहाँ हिन्दी गुजराती के उन सामाजिक नाटकों का विवेचन प्रस्तुत किया जायगा जिनमें समाजगत एवम् व्यक्तिगत समस्याओं का तथा प्रगतिशील सामाजिक चेतना का चित्रण हुआ है।

१९०० से पूर्व

हिन्दी सामाजिक नाटक

हिन्दी के पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की तरह सामाजिक नाटकों के प्रवर्तक भी भारतेन्दु बाबू हरिश्चद्र हैं। इनके सामाजिक विषयों से सम्बन्धित तीन नाटक उपलब्ध होते हैं। 'विद्यासुंदर' (१८६८) 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३) और 'प्रेमयोगिनी' (१८७५)। इन नाटकों में भारतेन्दु की सर्जनात्मक प्रतिभा का दर्शन होता है।

विद्यासुन्दर

इस प्रेम-नाटक की मौलिकता के विषय में हिन्दी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। अ।

रामचन्द्र शुक्ल इसे अनुवाद मानते हैं[1] डॉ० सोमनाथ गुप्त का मानना है कि यह रूपान्तरित है,[2] और डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इसे छायानुवाद माना है।[3] भारतेन्दु स्वयं 'विद्यासुंदर' को अनुवाद नहीं, वरन् छायानुवाद मानते हैं।[4] बंगला के नाटककार महाराजा यतीन्द्र मोहन ठाकुर ने प्रसिद्ध कवि भारतचन्द्र राय के 'विद्यासुंदर' काव्य के आधार पर इस नाटक की रचना की। यह कलकत्ता में विद्यासुंदर यात्रा मंडली द्वारा अनेक बार अभिनीत होता रहा। "संभवतः भारतेन्दु जी कलकत्ते में इस नाटक का अभिनय देखकर इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने हिन्दी में यह नाटक लिख डाला।"[5] यह नाटक अठारह वर्ष के किशोर भारतेन्दु की पहली रचना है। इसमें विद्या और सुंदर के प्रेम और गांधर्व विवाह की रोचक कथा अंकित है। विवाह-संबन्धी सामाजिक समस्या को प्रस्तुत करने वाला यह हिन्दी का सर्वप्रथम रूपांतरित नाटक है। इसमें हीरा मालिन परंपरागत हिन्दू विवाह का समर्थन करती है और विद्या लड़के-लड़की की स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन-साथी की पसंदगी की नई विचारधारा का प्रतिपादन करती है। इस प्रकार विवाह-सम्बन्धी सामाजिक प्रश्न का सूत्रपात भारतेन्दु के इस नाटक द्वारा हिन्दी में होता है। प्रेम-विषयक इस नाटक का अनुकरण कर आगे हिन्दी में कई नाटक लिखे गये। यथा—विन्ध्येश्वरी प्रसाद त्रिपाठी का 'मिथिलेश कुमारी' (१८८८), खड्गबहादुर मल्ल का 'रति कुसुमायुध' (१८८५), वजर प्रसाद का 'मालती वसंत' (१८९६) आदि। भारतेन्दु के इस प्रथम अपरिपक्व नाटक में वस्तु-संकलना, चरित्रांकन, भाषा आदि के दोष हैं। पर प्रारंभिक रचना में प्रौढ़ता की आशा रखना संगत नहीं। तीन और विभिन्न गर्भांकों (दृश्यों) में विभाजित इस नाटक में प्रस्तावना, नांदी, सूत्रधार इत्यादि का लोप है। इस विषय में इस पर बंगला और अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव है। नाटक में कौतूहलवर्द्धक प्रसंगों के प्रयोग में पारसी रंगमंचीय नाटकों की परिपाटी के निर्वाह की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। शृंगार-रसाश्रित इस सुखान्त नाटक का हिन्दी नाट्य-साहित्य में ऐतिहासिक मूल्य है।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'

भारतेन्दु का यह नाटक हिन्दी का पहला मौलिक सामाजिक नाटक है। मद्यपान और मांसाहार का विरोध करने के लिए व्यंग्य और विनोदपूर्ण शैली में प्रस्तुत नाटक की रचना हुई है। इस सामाजिक प्रहसन में कल्पित वृत्त का आधार लिया गया है। इसके नायक महाराजा गृद्धराज हैं जो मांसभक्षी हैं। सूत्रधार द्वारा मांसलीला-विषयक अभिनय करने के प्रस्ताव के साथ कथानक का प्रारंभ होता है। राजा, मंत्री आदि मांस भक्षण को शास्त्र-सम्मत मानते हैं। उनके द्वारा शराब और व्यभिचार का भी खुलकर समर्थन होता है। तदनंतर एक समाज सुधारक बंगाली विधवा-विवाह का प्रचार करता है। धूर्तराज गंडकीदास ढोंगी वैष्णव है जो कुकर्मरत है। मद्यपान से उन्मत्त राजपुरोहित चरित्रभ्रष्ट है।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ८ वाँ सं०, पृ० ४६१
२. हिन्दी-नाटक साहित्य का इतिहास, चतुर्थ सं०, पृ० ३८
३. आधुनिक हिन्दी साहित्य, द्वि० सं०, पृ० २३१
४ 'विद्यासुंदर' नाटक का उपक्रम : द्वि० सं० पृ० १
नोट.—इसका प्रथम-संस्करण अप्राप्य है।
५. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा, पृ० १८७

नाटक में कमिटी द्वारा मद्य निषेध का प्रस्ताव करने की बात चलती है। सुधार के पक्ष-विपक्ष में हास्य व्यंग्ययुक्त विवाद के पश्चात् अंत में यमराज के दरबार में गृद्धराज पुरोहित और गडकीदास दण्ड पाते हैं और सज्जनों को कैलासवास मिलता है। इस प्रकार काव्योचित न्याय (Poetic justice) का निर्वाह कर यह नाटक समाप्त होता है। भारतेंदु ने अपनी सुधारवादी भावना को इसमें नाटकीय रूप दिया है। इसकी रचना पद्धति संस्कृत नाट्यानुवर्तिनी है। इसमे नांदी, सूत्रधार, विदूषक, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि समाविष्ट हैं। यह हिन्दी का पहला प्रहसन है। इसमे बडे मीठे, हास्यपूर्ण संवादों द्वारा भ्रष्टाचार पर व्यंग किया गया है। यह नाट्यकला की दृष्टि से उत्तम कृति नही है।

'प्रेमयोगिनी'

भारतेन्दु की चार दृश्यों वाली यह रचना अपूर्ण है। इसके उपलब्ध चार गर्भांकों (दृश्यों) मे काशी के सामाजिक और धार्मिक जीवन के कृष्णपक्ष का यथार्थ चित्रण है। इसमे न कथा का तारतम्य है और न शीर्षक की सार्थकता है। पडों, गुडों, दलालों और पंडितों के कार्यकलापों का जो चित्र इस कृति मे मिलता है वह हिन्दू समाज की पतनोन्मुख प्रवृत्ति का परिचायक है। विविध बोलियों के अस्वाभाविक मिश्रण वाली संस्कृत शैली की यह अपूर्ण नाटिका भारतेन्दु की प्रतिभा के अनुरूप नही है।

'जैसा काम, वैसा परिणाम' १८७७

भारतेन्दु-काल के सफल प्रहसन-लेखक बालकृष्ण भट्ट के इस प्रहसन मे विसवादी दाम्पत्य जीवन का निरूपण किया गया है। मालती का पति रसिकलाल वेश्यागामी और शराबी है। वह पतिव्रता मालती की अवहेलना कर दुर्व्यसनों मे अपने धन का अपव्यय करता है। धन समाप्त होने पर रसिकलाल को उसकी प्रिय वेश्या मोहिनी अपमानित कर अपने घर से बाहर कर देती है। इधर मालती पति को सुधारने के लिए एक युक्ति रचती है। रात्रि को रसिकलाल के लौटने के समय अपनी दासी को पुरुष का वेश पहनाकर वह उसके साथ प्रेमाभिनय करती है। इसे देखकर रसिकलाल रोषोन्मत्त हो जाता है। तब मालती अपनी सच्ची वेदना बताकर रहस्योद्घाटन करती है। इससे रसिकलाल का हृदय परिवर्तन होता है। इस प्रकार इस नाटक मे मदिरापान और वेश्यागमन के दुष्परिणाम को दिखाया गया है और एक पत्नीव्रत के आदर्श की प्रस्थापना की गई है। इस काल का यह एक उत्कृष्ट प्रहसन है जिससे हास्य और व्यंग द्वारा लेखक ने सामाजिक समस्या का नाट्योचित ढंग से निरूपण किया है। मालती का चरित्र इसमे आकर्षक है। वह पतिपरायण, सहनशील तथा सच्चरित्र हिन्दू पत्नी है। रसिकलाल तो सचमुच 'रसिक' जीव है। वह 'जैसा काम, वैसा परिणाम' शीर्षक को सार्थक करता है। इस नाटक मे पर्दा प्रथा, बालविवाह, अशिक्षित स्त्री समाज आदि पर भी व्यंग किया गया है। प्राचीन परंपरा के इस नाटक मे भट्ट जी ने खड़ी बोली, ब्रजभाषा, अंग्रेजी आदि विभिन्न भाषाओं के शब्दों का अच्छा मिश्रण किया है जिससे संवादों मे जान आ गई है।

'दुःखिनी बाला' रूपक (१८८०)

राधाकृष्णदास-कृत इस नाटिका मे विधवा और वहम के प्रश्न का निरूपण किया

गया है। दो लड़के हैं एक लड़का सुंदर और सस्कारी है दूसरा कुरूप और असंस्कारी। सुंदर सुशील लड़की सरला की जन्मपत्री दूसरे कुरूप और असंस्कारी लड़के से मिलती है। अत उसके साथ सरला का विवाह हो जाता है। किन्तु जन्मपत्री के अच्छी तरह मिलने के बावजूद उस लड़के की मृत्यु हो जाती है। लड़की बालविधवा हो जाती है और जीवन की वेदनाएँ असह्य होने पर वह अत मे विषपान कर आत्महत्या कर लेती है। इस प्रकार यह लघु रूपक दु खान्त बनता है। राधाकृष्ण दास ने इस रचना मे जन्मपत्री पर अध-विश्वास, बाल-विवाह, तथा विधवा-जीवन—इन तीन सामाजिक प्रश्नो को एक साथ लिया है। इस कृति का प्रारंभिक नाम 'विधवा-विवाह' नाटक था। यह उसका परिवर्तित आदर्शवादी सुधारमूलक रूप है। इसमे गर्भांको के स्थान पर प्रवेशो का प्रयोग हुआ है। यह सामान्य कोटि की नाटिका है।

'कलिकौतुक' रूपक (१८८६)

प्रतापनारायण मिश्र ने देश की सामाजिक दशा का वास्तववादी चित्र इस रूपक मे प्रस्तुत किया है। कलियुग के प्रभाव से पति-पत्नी दोनो लम्पट बन जाते हैं। पति किशोरीदास रासलीला देखने के बहाने रात्रि को बडी देर तक घर से बाहर रहता है और कुकर्म करता है। इधर उसकी पत्नी श्यामा भी दूसरे पुरुष रसिकविहारी के साथ मौज करती है। श्यामा की सखी चपा भी महा दुराचारिणी है। नाटककार ने हमारे सडे हुए पारिवारिक जीवन की विकृतियो का अकन कर उसे सुधारने को इगित किया है। यह निम्न स्तर का नाटक है और अश्लीलताओं से भरा हुआ है।

इस धारा मे देवकीनदन त्रिपाठी के दो नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। 'बाल विवाह' नाटक (१८९१) बाल लग्न की समस्या प्रस्तुत करता है और 'प्रचड गोरक्षक' (१८८१) का सम्बन्ध गोवध और गोरक्षा के प्रश्न से है। त्रिपाठी जी ने प्रहसन भी लिखे हैं। उनमे से 'रक्षाबधन' मे मदिरापान और वेश्यागमन 'जय नारसिंहकी' मे अधविश्वास, 'स्त्री-चरित्र' मे लम्पट स्त्री का चरित्र और 'वेश्याविलास' मे वेश्या के कुकृत्य दिखाये हैं।

भारतेन्दुकालीन अन्य सभी नाटककारो का ध्यान सामाजिक समस्याओ की ओर गया है। परतु उनके नाटक कलात्मक दृष्टि से अत्यत साधारण हैं और उनका कोई नाटकीय महत्व नही है। फलत उनमे से कुछ नाटककारो की कृतियो का उल्लेख ही पर्याप्त है। काशीनाथ खत्री-कृत 'बाल विधवा सताप' (१८८१), तोताराम कृत 'विवाह विडबन' (१८८६), गोपालदास गहमरी कृत 'विद्या विनोद' (१८९२) और राधाचरण गोस्वामी कृत 'बूढे मुँह मुँहासे' (१८८७) मे बाल-विवाह, बाल विधवा, वृद्ध विवाह, अनमेल विवाह इत्यादि विवाह सम्बन्धी विविध सामाजिक समस्याओ को स्थान प्राप्त हुआ है। किशोरीलाल गोस्वामी का 'चौपट-चपेट' (१८९१) पतिपरायण नारी का आदर्श प्रत्यक्ष करता है। गायो का वध रोकने के निमित्त १८८२ मे 'गोसकर' नाम से प्रतापनारायण मिश्र और अबिकादत्त व्यास ने नाटक लिखे।[1]

इन प्रारंभिक सामान्य कक्षा के नाटको म न वस्तुसगठन का समीचीन रूप दृष्टिगत होता है और न चरित्राकन मे कौशल ही। इनमे सामाजिक चेतना उभर कर सामने ज़रूर

१. भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य डॉ० गोपीनाथ तिवारी, पृ० ४८१

आई है, पर पारसी रगमचीय नाटकों की तरह स्थूल, अशिष्ट हास्य, असगत सवाद और अनावश्यक गीतों का समावेश होने के कारण इनका साहित्यिक मूल्य अधिक नही है। किन्तु यदि हम तत्कालीन साहित्यिक स्थिति को दृष्टि-समक्ष रक्खें तो इन सभी रचनाओं का ऐतिहासिक मूल्य आँका जा सकता है। इनमें से कई नाटक पूरी तरह अभिनेय भी हैं। उदाहरणार्थ 'जयनारसिंह' 'कलिकौतुक' रूपक, 'गोसवर नाटक' आदि।[1] ये नाटक शैली की दृष्टि से भारतेन्दु की समन्वयवादी नाट्य शैली का अनुसरण करते हैं जिसमें भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-तत्त्वों का सामजस्य हुआ है। नादी, प्रस्तावना और भरतवाक्य के साथ अक और गर्भाक (दृश्य) की योजना भी अधिकाश नाटकों म मिलती है। गद्य-पद्य मिश्रित सवादों और स्वगतों की इनमे भरमार है। इन नाटको के कतिपय पात्रो से उनके प्रदेश, वर्ण या वर्ग की बोलियों का उपयोग करवाया है। इससे कही तो स्वाभाविकता आई है और कहीं क्लिष्टता और कृत्रिमता का भी अनुभव होता है। इस काल के अधिकाश प्रहसन उत्कृष्ट कोटि की हास्योत्पत्ति नही करते। उनमे स्थूल अशिष्ट एव ग्राम्य हास्य की सृष्टि की गई है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के प्रहसन अवश्य सुरुचि का परिचय देते हैं। इन प्रहसनो मे हास-परिहास के साथ-साथ व्यग्य द्वारा तत्कालीन सामाजिक दूषणों पर प्रहार भी किये गये हैं। सामान्यत सभी लेखकों की सुधारवादी दृष्टि रही है। इस धारा के तेजस्वी स्रष्टा और द्रष्टा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का इस युग के सभी लेखकों ने अनुसरण किया है।

गुजराती सामाजिक नाटक

गुजराती साहित्य म नर्मद-दलपत-युग प्रधानत' समाज सुधार की प्रवृत्तियों का युग है। इस समय कई शक्तिशाली समाज सुधारक पैदा हुए जिन्होंने वनिता-विश्राम 'अनाथालय, कन्या पाठशालाएँ, इत्यादि सार्वजनिक सस्थाएँ खोली और अनेक मण्डलों तथा साहित्यिक प्रवृत्तियो द्वारा जन जीवन म नई चेतना पैदा की। कवि नर्मद ने स्वय कोई सामाजिक नाटक नही लिखा। किन्तु उनके अनुयायी और बबई यूनिवर्सिटी के सबसे पहले गुजराती ग्रेजुएट नगीनदास तुलसीदास मारफतिया ने "गुलाब" नामक एक सामाजिक नाटक लिखा जिसका प्रकाशन ५ अगस्त, १८६२ को हुआ।

'गुलाब'

यह गुजराती भाषा का सर्वप्रथम सुदर मौलिक नाटक है। पुस्तक की प्रस्तावना मे लेखक ने यह उल्लेख किया है कि "मैं सस्कृत नही जानता, इसलिए सस्कृत नाटको की रचना-शैली से अनभिज्ञ हूँ। मेरे इस नाटक का रचना-विधान अग्रेजी पर आधृत है।"[1] वस्तुत 'गुलाब' नाटक अग्रेजी नाट्य परपरा का अनुसरण करता है। इसके पाँचो अक दृश्यों मे विभाजित हैं। प्रारभ का 'प्रवेशक' अग्रेजी 'प्रोलोग' का स्मरण कराता है। तीसरे अक के प्रारभ मे 'कोरस' का प्रयोग किया गया है जिसे नाटककार तो 'मगलाचरण' कहता है पर वह यूनानी नाटकों के 'कोरस' के समान है। नाटक मे शिखरिणी, शार्दूल, अनुष्टुप

---

१ देखिए 'गुलाब' नाटक की प्रस्तावना—ले० श्री नगीनदास तुलसीदास मारफतिया, द्वि० आ०, १९५८, पृ० १०

आदि संस्कृत छंदोंवाली कई लंबी-लंबी 'कविताओं' का भी उपयोग हुआ है। श्री चंद्रवदन महेता का कथन है कि इस पर्व-रचना पर अंग्रेजी या लैटिन का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।[1] इसका प्रारंभिक 'मंगलाचरण' संस्कृत नाटक का नांदीपाठ ही है। नाटक के नायक भोगीलाल और नायिका गुलाब के प्रणय-प्रसंग का शृंगारिक चित्रण कालिदास की शाकुन्तलीय प्रणय-भावना का स्मरण कराता है और इन बातों के कारण इस नाटक पर संस्कृत नाटक का प्रभाव सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु 'गुलाब' का वस्तु-विन्यास तथा चरित्र चित्रण तो पाश्चात्य नाट्यानुवर्ती है। इस प्रकार गुजराती का यह पहला सफल हेतु-लक्षी गंभीर नाटक भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाट्य रचना विधियों का सफल सामंजस्य करता है।

नाटक की विषय वस्तु दो भागों में विभक्त है। प्रारंभिक दो अंकों में सरकारी दफ्तरों की रिश्वतखोरी के खिलाफ आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त नायक भोगीलाल की विद्रोहात्मक सुधारवादी भावना का निरूपण हुआ है। तदनंतर अंतिम तीन अंक भोगीलाल और गुलाब के प्रेम और अंतर्जातीय लग्न से सम्बन्धित है। इस दृष्टि से भी यह नाटक नये युग की नयी चेतना का उन्मेष करने वाला पहला गुजराती नाटक है। नाट्यकार ने कृति के दोनों विषयों को सम्यक् रीति से सुश्रृंखलित नहीं किया है, फलतः पूर्वार्द्ध के दो अंक और उत्तरार्द्ध के तीन अंक सुसंकलित और सुग्रथित नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है मानो दो नाटकों को एक ही में समाविष्ट किया है और भोगीलाल का पात्र दोनों को जोड़ने वाली कड़ी है। जिस गुलाब नायिका पर नाटक का नामाभिधान हुआ है वह नाटक के उत्तरार्द्ध (अंक ३ प्रवेश २) में आती है। पूर्वार्द्ध से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह असंगत और अयोग्य है। इसमें स्थान और काल की अन्विति की भी चिंता नहीं की गई है। दोनों नाट्य घटनाओं के बीच पंद्रह वर्ष की दीर्घ अवधि है। इससे औचित्य का ह्रास होता है। कथा-विकास में भी काफी शिथिलता है।

नायक भोगीलाल के पात्र को छोड़कर शेष सभी पात्रों का चरित्र चित्रण अधूरा और अस्पष्ट है। परन्तु लेखक का प्रयोजन प्रसंगों एवं पात्रों द्वारा नर्मदयुगीन सामाजिक सुधार के आदर्श की प्रस्थापना करना है जिसमें वह पूर्ण रूप से सफल हुआ है। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, इसमें शुद्ध गुजराती के साथ ठेठ सूरती बोली भी प्रयुक्त हुई है। इस स्वाभाविक सम्मिश्रण से रचना में जान आ गई है। बीच बीच में अंग्रेजी और पारसी-गुजराती के शब्द प्रयोगों ने भाषा-सौंदर्य में अभिवृद्धि की है। यदि रचना काल को दृष्टि-समक्ष रखकर गुजराती सामाजिक जीवन को चित्रित करने वाली इस यथार्थवादी कृति का मूल्यांकन किया जाय तो निस्संदेह यह एक श्रेष्ठ कृति सिद्ध होगी।

रणछोडभाई उदयराम के सामाजिक नाटक

रणछोडभाई उदयराम के पूर्व कवि दलपतराम ने यूनानी नाट्य-रूपान्तर 'लक्ष्मी' (१८५१) और नगीनदास मारफतिया ने मौलिक सामाजिक नाटक 'गुलाब' (१८६२) का प्रणयन अवश्य किया है, परन्तु दोनों रचनाकार न किसी प्रकार की परंपरा प्रारंभ कर सके हैं और न उस समय इनके नाटकों को छोड़कर अन्य कोई नाटक ही लिखे गये हैं। इनका

१. 'गुलाब' नाटक ले० श्री नगीनदास तुलसीदास मारफतिया, 'भूमिका', पृ० १५

गुजराती नाटकों पर कोई प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता। रणछोड़भाई उदयराम में उच्च सर्जनात्मक प्रतिभा थी। उन्होंने ६२ वर्ष की अपनी सुदीर्घ सरस्वती-साधना के फलस्वरूप अन्य विषय के ग्रंथों के साथ-साथ अठारह नाटक लिखे जिनमें ग्यारह मौलिक हैं। ये समस्त नाटक साहित्यिक और रंगमंचीय गुणों से विभूषित है। इतना ही नहीं, इनके ही द्वारा गुजराती में नाटक की अखंड धारा अग्रगामी बनी है। इनके पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों का अध्ययन पूर्ववर्ती पृष्ठों में प्रस्तुत किया जा चुका है। यहाँ रणछोड़भाई-कृत 'जयकुमारी विजय' (१८६४), 'ललिता दु.खदर्शक' (१८६६), 'प्रेमराय अने चारुमती' (१८७६), 'निद्य शृंगार निषेधक' रूपक (१९२०) और 'वंठेल विरहाना कूडा कृत्य' (१९२३)—इन सामाजिक नाटको का विवेचन अभीष्ट है।

'जयकुमारी विजय' नाटक

रणछोड़भाई ने अपने इस प्रथम नाटक को १८६१ मे 'जयकुमारी नो विजय' नाम से लिखना शुरू किया। १९६२ से 'बुद्धिप्रकाश' पत्रिका मे इसके अंश धारावाहिक रूप मे प्रगट होने लगे और १९६४ मे 'जयकुमारी विजय' के शीर्षक से इसका पुस्तक-रूप मे प्रकाशन हुआ। नाटक की प्रस्तावना मे यह संकेत है कि 'भवाई' के प्रति अभाव और सामान्य जन को नाटक के प्रति आकर्षित करने के शुभाशय से नाट्यलेखन की प्रवृत्ति का आरंभ किया गया है। लेखक की ये भावनाएँ उनके इस नाटक मे पूरी तरह चरितार्थ होती है। यह 'भवाई' की बीभत्सता से मुक्त, सरस और सुबोध शैली का शिष्ट नाटक है। इसका कथानक विवाह-समस्या से सम्बन्धित है। जयकुमारी गरीब माँ-बाप की बेटी है। धनपति सुखलाल का इकलौता बेटा प्राणलाल विद्यानुरागी है। वह जयकुमारी को अपनी कृति 'बोधमाला' भेंट देता है। यही से दोनों के मन मे प्रेमभाव जागता है। प्राणलाल जयकुमारी के परिवार की मदद करता है और उसके साथ घनिष्ठता का सम्बन्ध स्थापित करता है। अंत मे दो अन्य संस्कारी और सुधारवादी दम्पती की सहायता से कई कठिनाइयों के बीच दोनो का विवाह होता है। इस प्रकार यह अष्टांकी नाटक सुख मे पर्यवसित होता है। इस नाटक मे सस्कृत परंपरा के नांदी, सूत्रधार, विदूषक, भरतवाक्य इत्यादि को स्थान प्राप्त हुआ है और उसी के साथ दृश्यांतर, वस्तुविन्यास, चरित्रांकन इत्यादि पर पाश्चात्य नाट्य-शैली का प्रभाव है। लम्बे-लम्बे गद्यात्मक संभाषण एवं प्रेम-पत्र, अनावश्यक नीतिमूलक श्लोक, बहुत ही छोटे-छोटे दृश्य, उपन्यासपरक शैली और शिथिल वस्तुविकास—इन दोषों के कारण यह नाटक बहुत ही सामान्य कोटि का बन गया है। जयकुमारी का पात्र बड़ा सजीव और स्वाभाविक है। हिन्दू समाज की जटिल समस्या को नाटकीय रूप देने का यह शुभारंभ प्रशसनीय है। समग्र घटना हृदयस्पर्शी है। इस नाटक का कई बार व्यावसायिक नाटक-मंडलियों द्वारा सफल अभिनय हो चुका है। इसका अनुकरण कई लेखकों ने किया है और तत्कालीन नाट्य-शैली इसके रचनातंत्र पर निर्मित हुई है।[1]

'ललिता-दु:खदर्शक' नाटक

रणछोड़भाई को इस नाटक द्वारा अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसने उन्हें अमरता प्रदान की। बम्बई की 'गुजराती नाटक मंडली' ने 'ललिता-दु.खदर्शक' नाटक कई वर्षों तक

१. सर रमणभाई नीलकंठ—'रणछोड़भाई उदयराम शताब्दी-ग्रंथ', पृ० ८०

खेला। उन खेलो की लोकप्रियता अकल्प्य है। इस नाटक की कथा और पात्र तत्कालीन समाज के अविभाज्य अग बन गये। आज भी ललिता और नदन गुजरात के अविस्मरणीय पात्र हैं। इस नाटक की सभी विद्वानो ने मुक्त कठ से प्रशसा की है। 'ललिता दु खदर्शक' गुजराती का पहला दु खान्त नाटक है। इसमे अनमेल विवाह का दुष्परिणाम दिखाया गया है। और उसी के साथ यह भी बताया गया है कि जो लोग अपनी पुत्री के वर की पसदगी मे शील के बदले कुल को महत्त्व देते हैं वे किस प्रकार दु खी होते है। इस नाटक की नायिका ललिता है जो जीवराज नामक सम्पत्तिवान की पुत्री है। उसका विवाह उच्चवशीय नन्दकुमार से होता है, जो दुराचारी, वेश्यागामी और असस्कारी है। वह प्रियवदा वेश्या के जाल मे फँसता है और ललिता पर असह्य अत्याचार करता है। पूरणमल नन्दकुमार की हत्या कर ललिता को वश मे करता है। तदनतर ललिता शिकारी, वेश्या इत्यादि के चगुल मे फँस जाती है। अत मे जब वह अपने माता-पिता से मिलती है तब वे उसे पिशाचिनी समझकर त्याग देते हैं। अपरिमित कठोर यातनाएँ सहती हुई ललिता अपनी जीवन-लीला समाप्त करती है। यह शोकपर्यवसायी नाटक साद्यन्त हृदयविदारक दृश्यो से भरा हुआ है। ऐसा अनुभव होता है मानो इसमे वेदना पुजीभूत हो गई है। ललिता पर शिकारी के अत्याचार, नदी म डूबने की घटना, वेश्या के यहाँ ललिता की विवशता, अँधेरी रात मे भीषण आँधी के बीच ललिता का प्रस्थान। शिवालय मे ललिता का एकाकी जीवन, पिशाचिनी के रूप मे उसकी भर्त्सना और अत मे दु खद मृत्यु—ये सारी घटनाएँ जितनी मर्मस्पर्शी हैं उतनी ही चितनीय है। लेखक ने ललिता के पात्र द्वारा नारी जीवन की करुण कहानी अकित की है।

'ललिता दु खदर्शक' नाटक पाश्चात्य दु खान्त नाटको का अनुसरण करता है। नादी, सूत्रधार, भरतवाक्य आदि का अभाव, दृश्यो की योजना, पात्रो की रगमच पर मृत्यु, विषादपूर्ण परिसमाप्ति इत्यादि इसे पश्चिमी नाटकों की परपरा मे रखते है। इस पचाकी नाटक के सवाद और स्वगत गद्य मे हैं। पर बीच-बीच मे पद्यात्मक सभाषणो और गीतो का उपयोग किया गया है। कई पद्य-खड लम्बे और उबाने वाले है। नाटक के सभी पात्रो मे वैयक्तिक विशेषताएँ है। पात्रो के नाम उनके गुणानुसार रखे गये हैं जैसे ललिता, दमराज, छलदास, पूरणमल आदि। इस रचना के नदन, पथीराम और ललिता आकर्षक पात्र हैं। यद्यपि इनके चरित्र चित्रण मे विशेष कौशल दृष्टिगत नही होता, परन्तु आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व के इस नाटक मे पात्रो के सूक्ष्म मनोविश्लेषण की आशा नही रखी जा सकती। पात्रानुरूप भाषा का प्रयोग आकर्षक है। इस करुण रसाश्रित नाटक मे नन्दकुमार और प्रियवदा के प्रसग द्वारा हास्योत्पत्ति का भी प्रयत्न किया गया है। पथीराम यदा-कदा अपने लाक्षणिक पाडित्य-प्रदर्शन द्वारा 'भवाई' के 'रँगले' की याद ताजी करता है। इसकी वस्तु मे आधुनिक नाटको की सी सनियता नही है। पात्रो की अर्थहीन पुनरुक्तियो और अतिशयोक्तियो के कारण नाटक मे अस्वाभाविकता और नीरसता का अनुभव होता है। कथानक सुग्रथित और सुसकलित अवश्य है। नवीन शैली के इस शिष्ट नाटक का स्थान रणछोडभाई के ही नाटको मे नही, अपितु तत्कालीन सभी नाटको म शीर्षस्थ है। लेखक के 'जयकुमारी-विजय' और 'ललिता-दु खदर्शक' इन हेतुलक्षी नाटको ने गुजराती सामाजिक नाटको के समक्ष जिस मार्ग को प्रशस्त किया, उसका अनुसरण परवर्ती कई नाटककारो ने किया है। 'विद्या विजय' (१८७७), 'कजोड़ा दु खदर्शक' (१८८३), 'तारा विजली कष्ट निवारण' (१८८६), 'रमणी नाटक' इत्यादि इसके प्रमाण है। वस्तुत 'ललिता दु खदर्शक' गुजराती रगमचीय नाट्य-साहित्य मे

ध्रुवपद का अधिकारी है।

इसके दस वर्ष पश्चात् रणछोडभाइ ने 'प्रेमराय अने चारुमती' नाटक लिखा। इसमें प्रेमराय और चारुमती के प्रणय-प्रसग, राज-परिवार के षड्यत्र, और पात्रो के परस्पर विद्वेष की कहानी अकित की गई है। इस नाटक में रणछोडभाई के नाटको की सभी सुन्दरताएँ और त्रुटियाँ उपलब्ध होती हैं। इसकी केवल एक विशेषता उल्लेखनीय है। लेखक ने आधुनिक ढग के 'फ्लैशबैक' या शेक्सपीयर के हेमलेट की भाँति 'अतनाटक' का नवीन प्रयोग किया है। प्रेमराय के पूर्व जीवन के कुचक्रो का केवल वर्णन न कर उसे दृश्यक्षम बनाया है। 'निद्य शृगार निषेध' नाटक में व्यावसायिक रगमच के अतिशृगारिक और बीभत्स प्रदर्शनो पर निंदात्मक उद्गार प्रगट हुए हैं और पेशेवर नाटक कम्पनियो पर निर्मम प्रहार किये गये हैं। इसमे लेखक का शुभाशय प्रगट हुआ है और उसी के साथ उसकी सुरुचि, सामाजिक समानता तथा सस्कारप्रियता प्रगट हुई है। इस नाटक की कथावस्तु का उत्तरार्द्ध 'वठेल विरहाना कूडा कृत्य' म गुम्फित है। इन दोनो नाटको मे कोई उल्लेखनीय बात नहीं है। दोनो सामान्य कोटि के नाटक है। अतिम नाटक के प्रकाशन (१९२३) के समय रणछोडभाई गोलोकवासी हुए।

'भट्टनु भोपालु'

सुप्रसिद्ध गुजराती समीक्षक स्व० नवलराम लक्ष्मीराम पड्या ने सन् १८६७ मे मोलियर के एक फ्रेंच प्रहसन के फीलिंग-कृत अग्रेजी-अनुवाद 'The dumb wife or The Mock Doctor' का गुजराती मे रूपातर किया। यह कृति गुजराती साहित्य मे अतिशय प्रख्यात है। इसमे नवलराम ने मूल पात्रो और प्रसगो को गुजराती वातावरण के अनुकूल परिवर्तित कर दिया है। नाटक का प्रधान पात्र भोला भट्ट एक वैद्यराज है जो अपने विभिन्न हास्यास्पद कार्यों और व्यवहारो के जरिये ऐसी परिस्थिति पैदा करता है कि जिससे वह सबकी हँसी मजाक का साधन बनता है। वह मानव-स्वभाव की विचित्रताओ और विलक्षणताओ को तादृश प्रस्तुत करता है। नाटक के अन्य सभी पात्र भोलाभट्ट के चरित्र की पूर्ति के निमित्त आये हैं। इस नाटक का परिस्थिति-पात्र और सवादजन्य हास्य अत्यत स्थूल है। कमालखाँ और नाई के गपशप्प मे, नत्थू काका की उक्तियो मे और भोला भट्ट तथा शिवकोर के वाग्युद्ध मे अशिष्टता, ग्राम्यता और कुरुचि का परिचय मिलता है। कहीं-कहीं अनायास ही भोला भट्ट के द्वारा अर्थसूचक लाक्षणिक उद्गार प्रगट हो जाते हैं जो सूक्ष्म, स्वाभाविक हास्य उत्पन्न करते है और पात्र के व्यक्तित्व को तनिक गरिमा प्रदान करते हैं। इस कृति के सवाद, भाषा, वातावरण, पात्र आदि सूरत जिले से सम्बन्धित है। सवादो और भाषा शैली मे सचमुच बडा आकर्षण है। तत्कालीन नाट्य परपरा का अनुसरण कर लेखक ने इसमे गीतो और कविताओ का समावेश किया है और उसी के साथ वृद्ध-विवाह-निषेध, स्वेच्छानुकूल विवाह इत्यादि सामाजिक समस्याओ का भी कथानक मे समावेश किया है। हास्यरस से भरपूर 'भट्टनु भोपालु' का प्रथम सफल गुजराती रूपातरित प्रहसन के रूप मे ऐतिहासिक महत्त्व है।

'मिथ्याभिमान' (१८७१)

कवि दलपतराम ने पूर्वोल्लिखित 'लक्ष्मी नाटक' और 'स्त्री-सभापण' के पश्चात् 'मिथ्याभिमान' नामक प्रहसन लिखा। इसका प्रकाशन नवलराम के प्रहसन 'भट्टनु भोपालु' के पश्चात् हुआ है किन्तु इसकी रचना उसके पूर्व हुई है। 'मिथ्याभिमान' गुजराती का

सर्वप्रथम मौलिक प्रहसन है। इस नाटक का नायक जीवराम भट्ट है जिसे रात को कुछ भी दिखाई नहीं देता। अपने इस अधेपन को छिपाने के लिए मिथ्याभिमानी जीवराम भट्ट दभपूर्ण आचरण करता है। उसी का निरूपण इस नाटक मे हुआ है। इस नाटक मे लाक्षणिक शब्दो, वाक्यो, सवादो और प्रसगो के द्वारा हास्य उत्पन्न करने का सफल प्रयत्न किया गया है। जीवराम और 'रँगले' की द्विअर्थी उक्तियाँ, बेसिर-पैर की बातें और मूर्खतापूर्ण प्रवृत्तियाँ सारे नाटक मे हँसी के फव्वारे छोडती है। इसमे कथानक और पात्रो का इस प्रकार चित्रण किया गया है कि पाठक या दर्शक बिना हँसे रह नही सकता। इस प्रहसन का सबसे बडा दोष अपने मिथ्याभिमान के लिए जीवराम भट्ट का मृत्यु पाना है। इस मृत्यु प्रसग का इस हास्यरस प्रधान कृति मे निरूपण सुसगत प्रतीत नही होता। इसमे औचित्य भग होता है। इस प्रकार का 'काव्योचित न्याय' (Poetic Justice) दु खान्त नाटको के रचना-विधान के ही उपयुक्त है, न कि प्रहसनो के। यदि इस दोष का परिहार हो जाता तो यह नाटक गुजराती का एक आदर्श प्रहसन बन जाता।

'मिथ्याभिमान' पर सस्कृत, अग्रेजी और लोक नाट्य 'भवाई'—इन तीनो की नाट्य-शैलियो का प्रभाव पडा है। नाटक के आरभ मे पूर्वरग, नादी, सूत्रधार आदि सस्कृत नाट्य-तत्त्वो की परिपाटी को निभाया गया है। इसका 'प्रहसन' स्वरूप पश्चिमी प्रहसन शैली पर आधारित है। अको, प्रवेशो और प्रसगो की योजना भी यूरोपीय नाट्यानुवर्तिनी है। 'मिथ्याभिमान' का 'रँगला' तो सीधे 'भवाई' लोकनाटक से ही लिया गया है।[1] दलपतराय ने स्वय इस कृति को सबसे पहले 'भुगक विनानी भवाई' (बिना भूँगल बाजे का भवाई-नाटक) नाम से अभिहित किया था। इसकी रग-सूचनाएँ, भाषा इत्यादि भी भवाई शैली की है। १९वी शती मे गुजरात मे प्रचलित सस्कृत, अग्रेजी और भवाई—इन तीनो की नाट्य शैलियो का सुभग सामञ्जस्य 'मिथ्याभिमान' मे पाया जाता है। अभिनय-कला की दृष्टि मे यह पूरी तरह सफल है। गुजरात मे अनेक स्थानो पर इसका कई बार सफल प्रदर्शन हो चुका है। गुजराती प्रहसन परपरा का प्रारभकर्त्ता 'मिथ्याभिमान' नाटक यथार्थत उत्कृष्ट प्रहसन है।

उपर्युक्त प्रसिद्ध सामाजिक नाटको की परपरा का तत्कालीन अन्य अनेक नाटको ने अनुकरण किया है। वे नाटक नाट्यकला की दृष्टि से बहुत निम्न स्तर के है। अतएव उनमे से कुछ नाटको का मात्र उल्लेख ही पर्याप्त है —पानाचद आनदजी का 'व्यभिचार खडन' *नाटक (१८७०), रूपशकर गगाशकर का 'विधवा-दु खदर्शक' नाटक (१८७१)*, बापालाल का 'मद्यपान दु खदर्शक नाटक' (१८७४), नरभेराम दवे का 'बाल विधवा रूपवती दु खदर्शक' (१८७७), केशवलाल का 'कन्या विक्रय खडन' नाटक (१८८८) इत्यादि।

१९०० से पूर्व के सामाजिक नाटकों की विशेषताएँ

भारतेन्दु और कवि नर्मद के युग मे नवजागरण के शुभ लक्षण सभी क्षेत्रो मे दृष्टिगोचर होते हैं। नई शिक्षा और सस्कृति के प्रभाव तथा प्रताप के कारण शिक्षित लोगो मे वैयक्तिक और सामाजिक सुधार की उत्कट अभिलाषा ने इस समय प्रबल रूप धारण किया था। उसी का दर्शन हमे नाट्य-साहित्य मे भी होता है। हिन्दी के पहले सामाजिक नाटक

१. 'साठाना साहित्यनु दिग्दर्शन' ले०- श्री हीरालाल (?) पीताबरदास देरासरी प्रकाशन सन् १९११, पृ० १०६

गुजराती 'ललिता दु खदर्शक' मे नादी, प्रस्तावना, भरतवाक्य इत्यादि सस्कृत नाट्यागो का अभाव है। वे पश्चिमी नाट्य शैली पर आधारित हैं। गुजराती का 'ललिता दु खदर्शक' नाटक (१८६६) अग्रेजी 'ट्रेजेडी' की परपरा का पहला दु खान्त सामाजिक नाटक है। इसी शैली का अनुवर्ती 'रणधीर और प्रेममोहिनी' (१८७७) हिन्दी का पहला करुणान्त नाटक है। उसका वातावरण ऐतिहासिक होने से ऐतिहासिक नाटको के अध्याय मे हमने उसकी विवेचना की है। दोनो भाषाओं के दु खात नाटको की परपरा लगभग एक ही दशक मे शुरू होती है। इसी समय प्रहसनो की धारा का भी प्रारभ हो जाता है। गुजराती का पहला प्रहसन 'मिथ्याभिमान' सन् १८७१ ई० मे और हिन्दी का पहला प्रहसन 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' सन् १८७३ ई० मे प्रकाशित होता है। इन प्रहसनो मे प्रस्तावना, सूत्रधार, नादी-पाठ, विदूषक इत्यादि प्राचीन नाट्याग समाविष्ट है। इनकी शिल्पविधि यूरोपीय प्रहसनो की अनुवर्तिनी है। विशिष्ट पात्रो, प्रसगो और सवादो की सहायता से इन प्रहसनो मे हास्योत्पत्ति होती है। पाठको और दर्शको का पूरा मनोरजन करने के उपरात ये प्रहसन समाज जीवन के किसी न किसी दोष पर व्यग और कटाक्ष भी करते है। इस प्रकार ये आनद के साथ उपदेश देने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करते है। यहाँ यह स्मरणीय है कि इनमे से अधिकाश प्रहसनो का हास्य और व्यग स्थूल एव ग्राम्य हैं। वे लेखको की सुरुचि का परिचय नही देते। उनमे उच्चस्तरीय शिष्ट हास्य एव मार्मिक सूक्ष्म व्यग का अभाव है। 'मिथ्याभिमान' और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'—इन दोनो मे प्रकारातर से काव्योचित न्याय (Poetic Justice) का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है। 'जैसा काम वैसा परिणाम', 'भट्टनु भोपालु' आदि भी इसी कोटि के प्रहसन है।

हिन्दी और गुजराती के इस काल के लगभग सभी सामाजिक नाटको मे अक और दृश्य योजना, गद्य-पद्य-मिश्रित सवाद, भाषा वैविध्य, सगीतप्रधान कविता, अभिनयता इत्यादि नाट्य-लक्षण दृग्गोचर होते है। ये सभी नाटक प्रारभिक युग के है। अत इनमे नाट्य-कला का चरमोत्कर्ष नही देखा जाता। अधिकाश नाटको मे वस्तुविन्यास के दोष आ गये है। इनका चरित्राकन भी पूर्ण मनोवैज्ञानिक नही है। अक-दृश्य-विभाजन असतुलित है। इनमे अनावश्यक गीतो, सुदीर्घ सभाषणो एव स्वगतो की भरमार है। तत्कालीन रगमच (पारसी नाटक तथा भवाई) की असगतियाँ तथा अस्वाभाविकताएँ कतिपय नाटको की कलात्मकता का भी ह्रास करती है। 'विद्यासुदर', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'जैसा काम वैसा परिणाम', 'दु खिनी बाला' रूपक इत्यादि हिन्दी नाटक तथा 'गुलाब', 'ललिता दु ख-दर्शन', 'जयकुमारी विजय', 'मिथ्याभिमान' प्रभृति गुजराती नाटक इस आलोच्य काल के महत्त्वपूर्ण नाटक हैं। उनमे भी उपर्युक्त दोषो मे से कतिपय दोष समाविष्ट हो गये है। यह सब होते हुए भी १९वी शती मे सामाजिक यथार्थ को निर्भीकतापूर्वक नाट्य-रूप देना और नई रूपक-शैली का निर्माण करना तत्कालीन नाटक-लेखको की महान् उपलब्धि है। इससे कोई इन्कार नही कर सकता।

१९०० के पश्चात्

हिन्दी-नाटक

१९०० के पश्चात् बहुत बड़ी सख्या मे सामाजिक नाटको का प्रणयन होने लगा। विषय और शैली दोनो दृष्टियो से इस धारा के नाटको मे पर्याप्त वैविध्य और नावीन्य

परिलक्षित होता है। परम्परागत सामाजिक नाटको के अलावा व्यग और विनोदपूर्ण प्रहसन, समस्याप्रधान यथार्थवादी नाटक, नई शैली के आधुनिक नाटक तथा प्रतीकात्मक गद्य एवम् पद्यमय नाटक इस धारा मे उपलब्ध होते हैं। नाटक-प्रवृत्तियो की इतनी व्यापकता अन्य विषय के नाटको मे दृष्टिगोचर नही होती।

बीसवी सदी के प्रारभिक नाटको मे मिश्रबन्धु का 'नेत्रोन्मीलन' (१९१५) विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस नाटक मे बडे ही रोचक ढग से सरकारी अदालतो के 'न्याय के नाटक' का यथार्थ चित्रण किया है। प्रजा किस प्रकार अदालतो से आतकित रहती है, अधिकारी और वकील लोग क्या-क्या कारनामे करते हैं, और कानून की चक्की मे जनता किस तरह पिस जाती है—इन विषयो पर इस नाटक मे प्रकाश डाला गया है। पारसी नाटको की तरह तीन अप्सराओ के नाच-गान से नाटक का आरभ होता है। उर्दू-मिश्रित पूर्वी हिन्दी भाषा सवादो मे प्रयुक्त हुई है। इनमे महाजन का सिपाही, गजराजसिह अमीरअली और निसारअली से उलझकर हाथ तुडवाता है। फिर अली-भाइयो पर फौजदारी अदालत मे मुकदमा चलता है। अत मे मुकदमा हाईकोर्ट मे पहुँचता है। इस मुकदमेबाजी से दोनो पक्षो को भारी हानि होती है। हिन्दी मे यह नाट्य-वस्तु नवीन है, पर वैसे यह नाटक अत्यत सामान्य कोटि का है।

प्रहसन

हिन्दी मे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के युग मे हास्य एवम् व्यग की जो प्रहसन-परपरा शुरू हुई उसका निर्वाह द्विवेदी-युग मे भी हुआ। इस युग के प्रहसनो मे कई नये सामाजिक और राजनैतिक विषयो को स्थान दिया गया। पुराने खेवे के लेखको मे बदरीनाथ भट्ट ने 'चुगी की उम्मीदवारी' (१९१४), 'लबडधोधो' (१९२६), 'विवाह-विज्ञापन' (१९२७) और 'मिस अमेरिका' (१९२९) नामक प्रहसन लिखे। इनमे सार्वजनिक चुनाव, पुनर्विवाह, और पाश्चात्य सभ्यता की अनुभक्ति इत्यादि की हँसी उडाई गई है। इन प्रहसनो मे बहुत सस्ते ढग का हास्योद्रेक हुआ है। शब्दो और नामो को बिगाड कर हँसी पैदा करने की इनमे कोशिश की गई है। कही-कही अश्लीलता से भरे हुए पात्रोद्गार दृष्टिगत होते है। जहां परिस्थितिजन्य हास्योत्पत्ति होती है वहाँ स्वाभाविकता का अवश्य परिचय होता है। परतु इन प्रहसनो मे वैसे प्रसग बहुत कम आते है। बदरीनाथ भट्ट के इन प्रहसनो मे बहुत ऊँची कक्षा का हास्य नहीं है।

हिन्दी प्रहसन-परपरा मे जी पी श्रीवास्तव ने सबसे अधिक योगदान दिया है। इनके कुछ प्रहसन मौलिक हैं और कुछ रूपान्तरित हैं। मोलियर व कतिपय प्रहसनो को सर्वप्रथम हिन्दी मे रूपातरित करने का श्रेय श्रीवास्तव जी को है। 'उलटफेर' (१९१८), 'दुमदार आदमी' (१९१९), 'गडबडझाला' (१९१९), 'मरदानी औरत' (१९२०), 'भूलचूक' (१९२८), 'साहित्य का सपूत (१९३४) इत्यादि इनके कई मौलिक प्रहसन हैं। इन प्रहसनो मे हमारे समाज-जीवन क विभिन्न पहलुओ को हास-परिहास का विषय बनाया गया है। ये सभी रचनाएँ स्थूल और निम्न कोटि के हास्य की सृष्टि करती हैं। इनमे न स्वाभाविकता है और न शिष्टता। सर्वत्र फूहडपन, कुरुचि, अश्लीलता और कृत्रिमता का परिचय मिलता है। लेखको, प्रकाशको, स्त्रियो, व्यापारियो और समाज के अन्य लोगों की भद्दी आलोचना कर इन प्रहसनो मे हास्य उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है। बेढगे नाम, पात्रो की बेतुकी

बकवास, भौंडे भावोद्गार, जूती-पैजार इत्यादि श्रीवास्तव जी के हास्य के उपकरण है। इन सभी प्रहसनो मे मोलियर का अनुकरण करने की अत्यत असफल और हास्यास्पद चेष्टा की गई है। लेखक मे मोलियर की सर्जनात्मक प्रतिभा और प्रखर बुद्धि का अशमात्र भी नही है। श्रीवास्तव जी के प्रहसनो का यदि कोई मूल्य है तो केवल इतना ही कि इन्होने भारतेन्दु-युगीन हास्य परपरा का यथाशक्ति निर्वाह कर हिन्दी भाषा मे हास्यप्रधान नाट्य सृष्टि की महान् सभावनाओ का निर्देश किया।

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने अपने 'मधुर मिलन' (१६२३) मे वृद्ध-विवाह और बाल-विवाह पर हास्यपूर्ण शब्दो द्वारा करारा व्यग किया है। 'उग्र' के 'चार बेचारे' (१६२६), मे सम्पादक, अध्यापक, सुधारक और प्रचारक को उपहसनीय बनाया है। 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' (१६२६) मे सुदर्शन ने ब्रिटिश सरकार के पिट्ठू की बडे अच्छे ढग से भद्द उडाई है। तदत्तर गोविन्दवल्लभ पत-कृत 'कजूस की खोपडी' (१६२३), उग्र-कृत 'उजबक' आदि प्रहसन भी उल्लेखनीय है। भारतेन्दु के अनन्तर हिन्दी मे उपलब्ध सभी प्रहसनो मे उत्कृष्ट कोटि के हास्य का अभाव है। न उनमे शैलीगत कलात्मकता है और न उच्च कोटि की नाट्यात्मक सूझ है। सभी प्रहसन सामान्य स्तर के हैं। इस हास्य परपरा का उत्कृष्ट रूप उपेन्द्रनाथ अश्क आदि परवर्ती लेखको के नाटको मे परिलक्षित होता है जिसकी विवेचना यथास्थान की जायगी।

समस्या-नाटक

सामाजिक समस्या-नाटको के पुरस्कर्ता यूरोप मे सुप्रसिद्ध नाटककार हेनरिक इब्सन, जार्ज बर्नार्ड शॉ इत्यादि हैं। इन्होने पश्चिमी नाटको को शेक्सपीयर की भावुकता और कल्पनाशीलता से मुक्त कर यथार्थ के धरातल पर प्रतिष्ठित किया। इनके नाटको मे बौद्धिकता, जीवन की वास्तविकता तथा विचारो की वैज्ञानिकता है। साथ ही इनमे कला की उत्कृष्टता और जीवन की यथार्थता का भी सुदर सामजस्य हुआ है। बर्नार्ड शॉ ने एक स्थान पर समस्या-नाटको के बारे मे कहा है कि "मात्र समस्या-नाटक मे ही सच्चे नाटक के दर्शन होते हैं। जीवन की फोटोग्राफी नाटक नही है। मानव की इच्छा और उसकी परिस्थिति के बीच के सघर्ष अर्थात् समस्या को प्रतीक रूप मे प्रस्तुत करना ही नाटक है।"[1] इस कथन से समस्या-नाटको का प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है। इस परपरा के नाटक प्रेम, विवाह-विच्छेद स्त्री-स्वतत्रता, कामजन्य समस्याएँ, मानव की निरकुश वैयक्तिकता, मानसिक कुठाएँ, सैद्धान्तिक सघर्ष इत्यादि वर्तमान जीवन के अनेक जटिल प्रश्नो का निरूपण और विवेचन करते हैं। प्राचीन रूढिगत मान्यताओ और आदर्शों की कटु आलोचना कर उनके खोखलेपन का प्रदर्शन करना भी इन नाटको का लक्ष्य है। इनके पात्र साधारण जन-जीवन से सम्बन्धित

[1] "............only in the problem play is there any real drama, because drama is no more setting up of camera to nature, it is the presentation in parable of the conflict between man's will and his environment, in a word, of problem"—preface to Mrs Warren's Prefession"—

George Bernard Shaw.
p 274

होते हैं और अंत मघर्षों से प्रपीडित रहते हैं। इनका बडा ही सूक्ष्म मनोविश्लेषण समस्या-नाटकों मे होता है। इन विशिष्ट प्रकार के नाटको की शैली भी व्यंगात्मकता को लिये हुए रहती है। इन नाटको मे न गीत होते है, न स्वगत और न भावुकतापूर्ण सवाद। साथत इनका वातावरण यथार्थता और स्वाभाविकता को लिये हुए रहता है। कथोपकथन घरलू बातचीत के समान सरल एव अकृत्रिम होते है। पात्रो के व्यवहार और कार्यकलाप मे बडी सजीवता और स्वाभाविकता रहती है। इन नाटको के अभिनय के समय रगमच पर तडक भडक और ठाट-बाट के दर्शन नही होते। उनके स्थान पर सर्वत्र सीधी सादी सुसगत और वास्तविक साज-सज्जा तथा वेशभूषा परिलक्षित होती है। इस प्रकार जीवन की वास्तविकता पूर्णरूपेण इन नाटको में प्रदर्शित की जाती है। शेक्सपीयर के रोमाण्टिक नाटको की प्रतिक्रिया के रूप मे इब्सन, शॉ आदि के इन विचारप्रधान यथार्थवादी नाटको का प्रणयन हुआ है। अपने नाटको मे मानव जीवन की जटिलताओ और विभीषिकाओ को अत्यत कलात्मक ढग से उभार कर इन नाटककारो ने समाज को नवीन एवम् निष्पक्ष चिंतन की ओर प्रवृत्त किया है। "अन्य महान् नाटको की भाँति समस्या नाटक भी 'मानव-जीवन के कीमती दस्तावेज' हैं। जब तक मनुष्य को मनुष्य के अनुभवो मे रस है, तब तक इन नाटको की 'अपील' बनी रहेगी।"[1]

लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या नाटक

पश्चिमी समस्या-नाटको का हिन्दी नाटको पर पूर्ण प्रभाव पडा है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या नाटक इसके उदाहरण हैं। शेक्सपीयर की नाट्य शैली स अभिभूत द्विजेन्द्रलाल राय ने बंगला मे रोमांटिक नाटक लिखे और हिन्दी मे जयशकर प्रसाद भी उससे प्रभावित हुए। "लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या नाटको का निर्माण जयशकर 'प्रसाद' जैसे नाटककारो की काव्यमय तथा भावुकतापूर्ण रचनाओ के विरुद्ध हुआ। उन्ह समस्या-नाटको के निर्माण की प्रेरणा इब्सन और शॉ से मिली।"[2] मिश्र जी ने इस परपरा के अपने नाटको मे "जीवन की आधुनिक समस्याओ—विशेषकर 'सेक्स' के आतरिक सत्य को व्यक्त करने का प्रयत्न ' किया है।[3] 'सन्यासी' १९३१, 'राक्षस का मदिर' (१९३१), 'मुक्ति का रहस्य' (१९३२), 'राजयोग' (१९३४), 'सिंदूर की होली' (१९३४), और 'आधी रात' (१९३७), इनके समस्या-नाटक हैं। मिश्र जी हिन्दी समस्या-नाटको के जनक माने जाते है। इस श्रेणी के नाटककारो म व अग्रगण्य है।

'सन्यासी'

यह मिश्र जी का पहला समस्या-नाटक है। कालेज मे पढने वाली मालती नामक युवती इसकी नायिका है। उससे उसका सहपाठी विश्वकात प्रेम करता है। प्रोफेसर रामशकर भी मालती से प्रेम करते हैं। वे अपने प्रतिद्वन्द्वी विश्वकात को कालेज से निकलवा देते हैं और किसी तरह मालती से विवाह कर लेते हैं। उधर विश्वकात जिस पत्र से सम्-

---

१ Dr R C Gupta The Problem play Preface

२ हिन्दी-नाटकों का विकास—श्री शिवनारायण एम० ए०, प्र० स० १९५१, पृ० ७०।

३ आधुनिक हिन्दी नाटक डॉ० नगेन्द्र, षष्ठम सस्करण, जनवरी १९६०, पृ० ५३

न्वित है, उस पत्र के संपादक मुरलीधर के प्रति किरणमयी नामक विवाहिता महिला आकर्षित है। विश्वकात के वयोवृद्ध प्रोफेसर दीनानाथ ने उस महिला से अपना दूसरा विवाह किया है, अतः दोनो मे मनमुटाव रहता है। राजनैतिक कारणवश मुरलीधर जेल मे जाता है जहां उसकी मृत्यु हो जाती है। प्रोफेसर दीनानाथ और उनकी पत्नी किरणमयी विवश होकर सहजीवन जीने का समझौता कर लेते है। अत मे सब ओर से निराश होकर विश्वकान्त संन्यासी बन जाता है। इस प्रकार इस नाटक मे मानवीय कामवासना को केन्द्र बनाकर वृद्धविवाह एवम् नारी-समस्या को उभारा गया है। इस नाटक मे 'एशियाई सघ' को लेकर राजनैतिक समस्या का भी चित्रण हुआ है। इसमे राष्ट्रीयता, खादी, गिरफ्तारी आदि के प्रसग यत्र-तत्र मिलते है। मालती और किरणमयी आधुनिक नारी समाज के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जो शिक्षित, बुद्धिवादी एवम् स्वैराचारी है। दो प्रोफेसरो द्वारा लेखक ने सफेदपोश उपाधिधारी प्राध्यापकों की कामुकता पर प्रहार किया है। अत मे समझौते को समस्या का अत माना है।

'राक्षस का मंदिर'

यह नाटक भी काम-समस्या को लेकर चलता है। असगरी नामक एक मुसलमान वेश्या रामलाल वकील की आश्रिता है। रामलाल दभ और मिथ्याचार के प्रतीक हैं। असगरी उनके प्रौढत्व के कारण उनसे संतुष्ट नही है और उनके पुत्र रघुनाथ के प्रति आकृष्ट है। तदन्तर रघुनाथ का विवाहित मित्र मुनीश्वर भी असगरी के प्रेम-पाश मे आबद्ध हो जाता है। मुनीश्वर रामनाथ से प्रपंच कर उसकी सारी सम्पत्ति वेश्याओं के सुधार के नाम पर ले लेता है और एक मातृ-मदिर खोलता है। आगे जाकर मातृ-मदिर का भेद खुलता है। अत मे अपनी समस्त सम्पत्ति का दान कर असगरी को मुनीश्वर के उस 'राक्षस के मदिर' मे रहना पडता है। इस नाटक मे मनुष्य के दुहरे व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। बाहर से सदाचारी, सेवाव्रती और सुशिक्षित दीखने वाले व्यक्ति का आतरिक जीवन कितना दूषित और घृणित होता है इसका निर्देश लेखक ने मुनीश्वर के पात्र द्वारा किया है। मुनीश्वर बाहर से सफेदपोश है मगर भीतर से बिलकुल काला है। मुनीश्वर का द्वन्द्व आज के शिक्षित सस्कारी व्यक्ति का द्वन्द्व है। इब्सन के 'समाज के स्तंभ' नामक नाटक की तरह इसमे भी समाज के तथाकथित स्तंभो पर कटु आलोचना है। अत मे सद्वृत्तियो की विजय दिखाकर लेखक ने भारतीय दृष्टिकोण को महत्त्व प्रदान किया हैं।

'मुक्ति का रहस्य'

उमाशकर शर्मा अपनी डिप्टी-कलेक्टरी से इस्तीफा देकर असहयोग आदोलन मे सम्मिलित होते है और जेल जाते हैं। छूटने पर वे अपनी पत्नी को तपेदिक से पीडित पाते हैं। आशा नामक एक देवी के सपर्क मे आने पर उमाशकर उसके प्रति आकर्षित होते हैं। वह उनकी पत्नी की सेवा करने के लिए उनके घर मे रहती है। प्रेमाध आशा डॉ. त्रिभुवननाथ की सहायता से रुग्णा पत्नी को विप दे देती है। इस कुकृत्य मे उसे प्रतिदान के रूप मे डॉक्टर को अपने कौमार्य-भग का अवसर देना पडता है। नारी-हत्या और चरित्र-स्खलन-इन दो पापो के कारण अशात आशा उमाशकर के समक्ष अपने कुकृत्यो को स्वीकार करती है। उनके पावित्र्य को विशुद्ध बनाये रखने के लिए वह डॉक्टर से विवाह कर लेती है।

उमाशंकर आशा से निराश होकर अपनी सारी पैतृक सम्पत्ति चाचा को ऋण के बदले मे देकर सब तरह स मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार मिश्रजी ने इस नाटक मे मुक्ति का रहस्य दिखाया है। इस नाटक की नायिका आशा है जो 'चिरन्तन नारी समस्या' का प्रतिनिधित्व करती है। उसके जीवन मे नारी की सहज विचित्रताओ का दर्शन होता है। उमाशंकर वैयक्तिक कुठाओ और अतर्विरोधो से ग्रसित हैं। उनका चरित्र स्वाभाविक प्रतीत नही होता। त्याग और मुक्ति की परपरागत भारतीय भावना की अत मे प्रतिष्ठा इस रचना को समस्या-नाटक की कोटि से दूर ले जाती है।

'राजयोग'

इस नाटक की भी प्रधान समस्या नारी जीवन से सम्बन्धित है। ग्रेजुएट चम्पा इसकी नायिका है जो गजराज की अवैध पुत्री है। कालेज मे उसे राजा शत्रुसूदनसिंह के दीवान रघुवरसिंह क पुत्र नरेन्द्र से प्रेम होता है, किन्तु दुर्भाग्य से चम्पा को शत्रुसूदनसिंह से विवाह करना पडता है जिनकी एक पत्नी जीवित है। चम्पा का वैवाहिक जीवन विषम बन जाता है। नरेन्द्र राजयोग (मैस्मरिज्म) सीखन चला जाता है। लौटने पर वह चम्पा के जीवन की सत्य घटना शत्रुसूदन, के समक्ष गजराज द्वारा उद्घाटित कराता है। शत्रुसूदन, चम्पा और गजराज इससे मानसिक कष्ट का अनुभव करते हैं। अत मे नरेन्द्र के यौगिक चमत्कार द्वारा चम्पा का दाम्पत्य जीवन सुदर बनता है। 'राजयोग' नाटक नारी जीवन की परतत्रता, वैवाहिक जीवन की विषमता, बहुविवाह की कुप्रथा इत्यादि समस्याओ को प्रत्यक्ष क ता है। नाटक की सुशिक्षित नायिका चम्पा भावुक, विवश और परतत्र है जो नारी जीवन की समस्याएं लकर उपस्थित होती है। उसमे स्त्री का दुर्बल रूप अभिव्यक्त हुआ है। शत्रुसूदनसिंह का पात्र रूढिग्रस्त सामतवादी परपरा का प्रतिनिधित्व करता है जो केवल विलास को जीवन-ध्येय मानता है। चम्पा के जन्म की कहानी समाज की उस परपरागत समस्या की ओर इंगित करती है जिसका परिणाम महाभारत के कर्ण को भुगतना पडा था। आज भी यह प्रश्न उतना ही ज्वलत और जटिल है। इन गभीर समस्याओ को सन्निविष्ट करने के बावजूद भी इस नाटक का रचना कौशल सामान्य स्तर का है। न पात्रो का मनोविश्लेषण वैज्ञानिक है, न वस्तु सकलन कौशलयुक्त है। इसम नाटक समस्याएँ सुलझने के बदले उलझ गई हैं। यौगिक चमत्कारों का उपयोग भी प्रासगिक नहीं।

'सिन्दूर की होली'

मिश्रजी के समस्या-नाटको मे उत्कृष्ट कोटि का नाटक "सिन्दूर की होली" माना जाता है। इसमें वैधव्य और प्रेम का नारी समस्या को उसके मौलिक रूप मे उठाया गया है। डिप्टी कलक्टर मुरारीलाल अपने एक मित्र की हत्या करवाकर प्रायश्चित्त रूप मे उसके पुत्र मनोजशकर का लालन पालन करते हैं और अपनी पुत्री चन्द्रकला से उसका विवाह करने का सकल्प करते हैं। चन्द्रकला को चित्र सिखाने क लिए मुरारीलाल के यहाँ विधवा मनोरमा रहती है। मुरारीलाल का उसके प्रति वासनात्मक आकर्षण शुरू होता है। मनोजशकर भी उसकी ओर आकृष्ट होने लगता है। दोनो ओर क इस आकर्षण क बीच मनोरमा वैधव्य का पुरस्कार करती है। उधर चन्द्रकला क मन मे विवाहित रजनीकान्त के लिए 'प्रथमदर्शन का प्रेम' जागता है। भगवतसिंह जब अपने इस भतीजे रजनीकान्त की हत्या

करवाता है तब चन्द्रकला उसके हाथ से अपने सिर पर सिंदूर लगवाकर विवाह कर लेती है। यही 'सिंदूर की होली' है। इस प्रकार विषादयुक्त वातावरण में नाटक का समापन होता है। इसमें कई समस्याएँ एक साथ उभर कर आई हैं—प्रणय और वैधव्य के अतिरिक्त, सिक्के की शक्ति, कानून का कपट, वासना की विषमता आदि। "प्रस्तुत नाटक मिश्रजी की कलागत प्रौढ़ता और परिपक्वता का द्योतक है।" इसमें विभिन्न पात्रों और प्रसंगों के सहयोग से नाटक की मूलभूत समस्या 'चिरंतन नारीत्व की समस्या' का प्रतिपादन हुआ है, जो वस्तुतः चिंतनीय है। मनोरमा के द्वारा वैधव्य और प्रणय का संघर्ष अभिव्यक्त हुआ है और चन्द्रकला प्रथम दर्शन के प्रेम एवम् समर्पण की उत्कट भावना प्रगट करती है। दोनों पात्र मानसिक द्वन्द्व से पीड़ित हैं। अन्य पात्रों की भी वैयक्तिक समस्याएँ मुखर हुई हैं। मुरारीलाल द्वारा मानवीय दुर्बलताओं का बड़ा मनोवैज्ञानिक ढंग से उद्घाटन हुआ है। 'जीवन की समस्त समस्याओं को हल करने का एक मात्र आधार बुद्धिवाद है।' मिश्रजी की यह धारणा मनोरमा का पात्र इस नाटक में इस प्रकार अभिव्यक्त करता है "संसार की समस्यायें ... जिनके लिए आजकल इतना शोर मचा है, तराजू के पलड़े पर नहीं सुलझाई जा सकती ... वे पैदा हुई हैं बुद्धि से और उनका उत्तर भी बुद्धि से मिलेगा।"[1] लेखक का बुद्धिवाद के प्रति यह पक्षपात नाटक में चरितार्थ नहीं हो पाया है। चन्द्रकला के अंतिम व्यवहार में बौद्धिकता के स्थान पर भावुकता ही अग्रस्थान पाती है। मनोरमा के हृदयोद्गारों में भी कम भावुकता नहीं। जिन समस्याओं को इस नाटक में उठाया गया है उनके विश्लेषण में गहरे अनुभव और सूक्ष्म चिंतन का अभाव खटकता है। फिर भी अपेक्षाकृत यह रचना श्रेष्ठ है।

'आधी रात'

इसमें भी मायावती के पात्र द्वारा नारी की विवशता का चित्र खींचा गया है। यह एक असफल कृति है। मायावती विलायत से शिक्षित होकर आती है। उसके दो प्रेमी हैं। प्रेमोन्मादवश एक प्रेमी दूसरे प्रेमी की हत्या करता है। फलतः उसे काले पानी का दंड होता है। तदन्तर मायावती प्रकाशचन्द्र से विवाह करती है। धीरे-धीरे वह नारी के व्यक्तित्व एवम् स्वातंत्र्य-सम्बन्धी अपने पाश्चात्य विचार छोड़कर परंपरागत भारतीय सन्नारी की महत्ता स्वीकार करती है और उसी तरह अपना जीवन निर्माण करती है। इसमें लेखक यह सिद्ध करना चाहता है कि नारी-जीवन का भारतीय आदर्श श्रेयस्कर और स्वीकार्य है। इस नाटक में प्रेतात्मा के अतिप्राकृत सत्य का लेखक ने उपयोग किया है जो युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। इसमें आदर्शों की भी बड़ी उलझन दृष्टिगत होती है। पता नहीं 'सिन्दूर की होली' के पश्चात् इस नाटक में मिश्रजी की नाट्य-कला अधिक विकसित क्यों नहीं हो पाई?

मिश्रजी के समस्या-नाटकों की विशेषताएँ

मिश्रजी के उपर्विवेचित समस्या-नाटक विषय, शैली और स्वरूप की दृष्टि से इब्सन और शॉ की नाट्य-परंपरा से संबन्धित हैं। यह निर्देश किया जा चुका है कि मिश्र-

---

१. 'सिंदूर की होली'. श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र—चतुर्थ संस्करण, २००६, वि० सं०, पृ० ५६

जी पर इन दोनों नाटककारों का प्रभाव पड़ा है जो रोमान्टिक नाटकों के घोर विरोधी और विचार तथा समस्या-प्रधान नाटकों के प्रखर पक्षपाती थे। मिश्रजी ने भी प्रसाद और द्विजेन्द्रलालराय की नाट्य-सृष्टि के विरोध में अपने समस्या-नाटक लिखे। उन्होंने द्विजेन्द्र-बाबू की भावुकता तथा रोमान्स की कटु आलोचना करते हुए यह भी उद्घोषणा की कि 'द्विजेन्द्रलालराय से बढ़कर अंत करण का अन्धा साहित्यकार मेरी दृष्टि में दूसरा नहीं आया।'[1] किन्तु दुर्भाग्य से मिश्रजी स्वयम् अपने इन नाटकों में रोमांस और भावुकता का आँचल नहीं छोड़ सके। इसका समर्थन डॉ० नगेन्द्र ने भी किया है।[2] इस बात को छोड़-कर यदि मिश्रजी की रचनाओं का अध्ययन किया जाय तो 'सन्यासी' से सम्बन्धित उनका यह कथन उनके अन्य सभी नाटकों के लिए भी सर्वांश सत्य प्रतीत होता है कि "मैंने जो अनुभव किया है उसे इस नाटक के रूप में मैं तुम्हारे सामने रख देता हूँ। यथार्थ ज्यों-का-त्यों ईमानदारी के साथ।"[3] वस्तुत 'मुक्ति का रहस्य' 'राक्षस का मंदिर' 'सिन्दूर की होली' आदि सभी नाटकों में शहरी शिक्षित लोगों के यथार्थ जीवन के चित्र बड़ी ईमानदारी के साथ पेश किये गये हैं और प्रेम, काम-वासना विवाह, वैधव्य, वेश्या-जीवन आदि कई सामाजिक समस्याएँ पूरी सचाई के साथ उठाई गई हैं। इन सभी नाटकों का प्रधान विषय नारी और काम वृत्ति (सेक्स) है। आनुषंगिक रूप में अन्य सामाजिक एवम् राजनैतिक विषय भी स्थान पा गये हैं। इन नाटकों में सामाजिक समस्याओं का निरूपण इस प्रकार हुआ है कि वे पाठक या दर्शक की परंपरागत विचारधाराओं को एकदम झकझोर देती हैं और नये सिरे से उन पर विचार करने को उन्हें बाध्य कर देती हैं। 'सन्यासी' की मालती और किरणमयी, 'मुक्ति का रहस्य' की आशा, 'राजयोग' की चपा और 'सिन्दूर की होली' की मनोरमा तथा चन्द्रकला नारी-समस्या के प्रतिनिधि पात्र हैं। इनके द्वारा यौन विकार की प्रबलता एवम् प्रभुता का भी चित्रण हुआ है। अधिकांश पुरुष पात्र पतित मनोवृत्ति के परिचायक हैं। इन नाटकों में 'चिरन्तन नारीत्व ने पुरुष की अहमन्यता पर विजय प्राप्त की है।"

मिश्रजी के इन समस्या नाटकों की रचना शैली भी नवीन और मौलिक है। जीवन के यथार्थ वातावरण की सृष्टि के निमित्त इनमें स्वगतों और गीतों का बहिष्कार किया गया है। नाट्य संवाद सरलता और स्वाभाविकता के गुणों से अलंकृत हैं। समस्याओं का उद्घाटन करने और व्यक्ति तथा समाज की रूढ़िगत मान्यताओं पर निर्मम प्रहार करने में संवाद प्रबल साधन का काम देते हैं। मिश्रजी के सभी नाटक त्रिअंकीय हैं और उनका अंत विषादिका की भाँति गाम्भीर्यपूर्ण है। इन नाटकों की भाषा में कहीं भी क्लिष्टता या कृत्रि-मता नहीं है। सर्वत्र सरलता तथा प्रासादिकता है। लेखक ने प्रसाद की काव्यमयता तथा भावुकता से मुक्ति पाने की चेष्टा अवश्य की है, किन्तु वह उसमें सफल नहीं हो सका है। कई नाट्य-संवाद उच्च-कोटि के काव्यत्व के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इन नाटकों में अभिनेयता के तत्वों का अभाव नहीं है। रंगमंच-विषयक लेखक की यह मान्यता इन नाटकों में चरितार्थ हुई है . "रंगमंच का संगठन ऐसा होना चाहिए कि दर्शकों को ऐसा न मालूम

---

१. "मुक्ति का रहस्य" की भूमिका—ले० श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृष्ठ २२।
२. 'आधुनिक हिन्दी नाटक'—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ४६।
३. 'सन्यासी' की भूमिका—ले० श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृ० ७।

हो कि हम लोग किसी अजनबी जगह मे या किसी जादू-घर मे आ गये हैं । . . रंगमंच और हमारे स्वाभाविक निवास मे कोई बहुत विशेष अंतर नहीं व्यक्त होना चाहिए।"[1]

अंत मे यह निर्देश करना आवश्यक है कि मिश्रजी मे इब्सन और शॉ की नाट्य-प्रतिभा नहीं है। इन नाटककारो की भाँति वे समस्याओ की गहराई मे नहीं पैठ पाते। बौद्धिकता और भावुकता के विरोधी तत्वो को समाविष्ट करने के कारण मिश्रजी के नाटक समस्या-नाटको के सफल उदाहरण नहीं कहे जा सकते। मिश्रजी मे भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों का विचित्र सम्मिश्रण दृष्टिगत होता है। उनके विषय मे आचार्य नंददुलारे वाज-पेयी का यह कथन सत्य है कि "कलाकार के रूप मे उनकी कला यथार्थोन्मुख है। लेकिन विचारो के क्षेत्र म वे आदर्शवादी और परंपरावादी हैं।"[2]

अन्य समस्या नाटक

व्यक्ति की समस्याओ के साथ ही साथ सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं ने भी हिन्दी नाटको मे स्थान प्राप्त किया है। इसके उदाहरण सेठ गोविन्ददास के नाटक प्रस्तुत करते हैं। सेठ जी ने अपने जीवन मे गांधीजी के पथ का अनुसरण करने की चेष्टा की है। अपने नाटको मे वे 'व्यावहारिक आदर्शवाद' द्वारा जीवन एवम् जगत् के प्रश्नो को हल करने की कोशिश करते रहते है। 'उनके नाटको मे हमे पिछले युग के सामाजिक और राजनैतिक जीवन की बुद्धि-पाक सुथरी आलोचना मिलती है।'[3] 'प्रकाश' (१९३५), 'स्वातन्त्र्य सिद्धान्त' (१९३८), 'सेवापथ' (१९४०), 'त्याग और ग्रहण' (१९४३), 'सन्तोष कहाँ ?' (१९४५), 'महत्त्व किसे ?' (१९४७), 'गरीबी या अमीरी' (१९४७), 'बड़ा पापी कौन ?' (१९४८), 'सुख किसमे ?' (१९४९) आदि सेठजी ने कई सामाजिक नाटको का सर्जन किया है। सेठजी की सबसे बड़ी सीमा यह है कि वे जीवन की ऊपरी सतह को ही स्पर्श कर पाते हैं। गहराई तक पहुँचना उनके लिए संभव नहीं है। उनके नाटको मे समस्याओ को स्थूल दृष्टि से देखा गया है और सामान्य ढंग से अंकित किया गया है।

'प्रकाश'

सेठजी का पहला सामाजिक नाटक है। इसमे वर्तमान सामाजिक समस्याओ के साथ-साथ राजनैतिक परिस्थितियो पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसका नेता प्रकाश है जिसकी माँ का उसके पिता जमींदार अजयसिंह ने गर्भावस्था के समय मिथ्या संदेह के वशीभूत होकर परित्याग किया था। प्रकाश जनता का मनोनीत नेता बनता है और आंदोलन जगाता है। इस नाटक मे उच्चवंशीय लोगो की निंदा की गई है। सेठजी ने 'प्रकाश' के प्रारंभ म उपक्रम (Prologue) और अन्त मे उपसंहार (Epilogue) का नवीन प्रयोग किया है। इसमे 'साड' का प्रतीक रूप मे प्रवेश हुआ है। इस नवीन प्रयोग मे लेखक को विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है। वैसे भी यह सामान्य स्तरीय कृति है। 'सिद्धान्त स्वातन्त्र्य नाटक' मे चतुर्भुजदास, उसके पुत्र त्रिभुवनदास और पौत्र मनोहरदास के बीच विचार स्वातन्त्र्य के संघर्ष का निरूपण हुआ है। प्रसंगानुसार देश-सेवा और राष्ट्रीयता के आदर्श का भी संकेत किया गया है। इस रचना मे कार्यान्विति एवम् प्रभावान्विति का

१. 'मुक्ति का रहस्य' की भूमिका 'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ'—ले० श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृष्ठ २४
२. 'नया साहित्य नये प्रश्न' श्री नंददुलारे वाजपेयी, पृ० १६९-६८।
३. आधुनिक हिन्दी नाटक—डा० नगेन्द्र, पृ० ६६।

देनी है और पिता के पास चली जाती है। उसके पिता लक्ष्मीदास उसे फिर से अपना लेते हैं। वे अचला से अधिक उसके बच्चे को चाहते हैं। इसे अपमान समझकर अचला फिर पिता का घर छोड़ती है और विद्याभूषण के ही नगर मे अकेली रहकर निर्धनता और विवशता से सघर्ष करती है। अपनी साधना मे सफल होने पर जब पति से मिलना चाहती है तब पति स्वयम् उससे यह कहने आता है कि धन जीवन का अनिवार्य अग है। इस रहस्योद्घाटन के पूर्व विद्याभूषण के हृदय की धडकन बन्द हो जाती है। अचला अपने पुत्र सरस्वतीचन्द्र के साथ आजीवन स्वावलबन और त्याग के मार्ग पर दृढतापूर्वक चलती रहती हैं। इस नाटक की कथावस्तु बडी ही रोचक एवम् आकर्षक है। नाटककार ने उसका कलात्मक ढग से विकास किया है। अन्त आकस्मिक और अस्वाभाविक है जो नाट्य-सौन्दर्य मे त्रुटि पैदा करता है। इस कृति मे अचला का पात्र अत्यन्त सजीव और सुन्दर है। उसकी भावुकता, कर्तव्यपरायणता और मानसिक पीडाओ का सुचारुरूपेण उद्घाटन हो सका है। विद्याभूषण का त्याग एवम् भोग-सम्बन्धी सघर्ष वस्तुत मानवी स्वभाव का ही प्रदर्शन करता है। लक्ष्मीदास न केवल लक्ष्मी-दास है, वह स्नेहशील पिता भी है। इस नाटक मे लेखक ने मानव के पतन को सहानुभूतिपूर्वक देखा है। पात्रो के अन्तर्द्वन्द्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने मे लेखक को बडी सफलता मिली है। इसके स्वगत चरित्राकन को अधिक स्पष्ट करते हैं। नाटक के गीत पात्रो एवम् प्रसगो के अनुरूप हैं। यह आदर्शवादी रचना सेठजी के व्यक्तित्व का अच्छा प्रतिनिधित्व करती है।

'दुःख क्यो', 'सतोष कहाँ', 'सुख किसमे', 'महत्त्व किसे', इत्यादि सभी नाटक राजनैतिक, सामाजिक और वैयक्तिक समस्याओ से समन्वित सेठजी के आदर्शवाद की प्रस्थापना करते हैं। इन सभी नाटको मे सिद्धान्तो की मीमासा अधिक है और नाटकीय सघर्ष एवम् कार्य व्यापार की न्यूनता है। सेठजी के अधिकाश नाटक प्रचारात्मक कृतियो के निकट हैं। वे उत्तम समस्या नाटको मे परिगणित नही होते। उनमे भाषा की सरलता और स्वाभाविकता विचारो की मौलिकता और स्पष्टता तथा कथावस्तु की स्पष्टता अवश्य रहती है जो वस्तुत श्लाघनीय है। इस दृष्टि से सेठजी हिन्दी नाटककारो मे स्थान पाने के अधिकारी हैं।

'अगूर की बेटी'

गोविन्द वल्लभ पत का नाटक 'अगूर की बेटी' सन् १६३७ मे प्रकाशित हुआ। तीन अको और पद्रह दृश्यो के इस नाटक मे यह दिखाया गया है कि शराब के कारण किस प्रकार व्यक्ति अपने परिवार के साथ बरबाद हो जाता है और सत्सग के सुप्रभाव से वह किस प्रकार फिर से सुखी बन सकता है। 'अगूर की बेटी' का नायक मोहनदास है जिसके क्रिया-कलापो से कथा का विकास होता है। उसकी पत्नी कामिनी नायिका के रूप मे चित्रित हुई है। दोनो का चरित्र चित्रण वास्तविक और सुस्पष्ट है। कामिनी पतिपरायण, चरित्रशील और आदर्श नारी है जो पति के सभी अत्याचारो को सह लेती है और अत मे वह विनोदचन्द्र के छद्म रूप मे पति को सुधारती है। विनायक की पत्नी बिन्दु मे भी नारी स्वभाव की सुन्दरताएँ दृग्गोचर होती हैं। माधव मे खलनायक के सभी दुर्गुण विद्यमान हैं। इस नाटक में कार्य व्यापार मे बडी सक्रियता और गतिशीलता है। घटनाओ के घात-प्रत्याघातों से कथानक तीव्र-गति से अग्रसर होता है। अत मे उसका सुख मे पर्यवसान होता है जो पाश्चात्य सुखान्तकी (comedy) का स्मरण कराता है। इस नाटक की यह विशेषता है कि इसमें कौतूहल तत्व अत तक बना रहता है। नाटक की समाप्ति के समय पात्रो का पूरा भेद खुलता

के साथ लेखक ने अशोक और मातादीन के पारिवारिक जीवन की रोचक घटनाओं का भी समन्वय किया है। वस्तुत यह नाटक लेखक की रचना प्रतिभा का अच्छा परिचय देता है। इसका नायक भावनाशाली अशोककुमार है। इसमे मातादीन का चरित्र-विकास भी समुचित रूप से हुआ है। उसका हृदय परिवर्तन करने वाली आभा अत्यन्त उदात्त एवं आदरणीय नारी है। वह स्त्री-जीवन के अन्तर्लोक का तेज प्रगट करती है। अन्य सभी पात्रों का चरित्रांकन बड़ा सजीव है। रचना-विधि भी बहुत ही कलापूर्ण है। शर्माजी की भाषा-शैली प्राजल एवं परिष्कृत है। 'अपराधी' वातावरण, सवाद आदि की दृष्टि से उत्कृष्ट है। यह कृति पूर्णतया अभिनेय है। इसमे अभिनय की नितान्त नवीन टेक्नीक का प्रयोग किया गया है जो रगमच एवं चित्रपट दोनो के लिए उपयुक्त है। "अपराध और अपराधी के सम्बन्ध मे हमारी पुरातन धारणा को परिवर्तित करने के लिए चुनौती देने वाला"[1] यह नाटक हिन्दी मे नई परम्परा का प्रारभकर्ता है।

'साध'

पृथ्वीनाथ शर्मा ने 'साध' नाटक की रचना १९४४ मे की। इसकी कथावस्तु इस प्रकार है: कुमुद पाश्चात्य सभ्यता की उपासिका है। वह उन्मुक्त प्रेम की पक्षपाती है और विवाह एवं मातृत्व को तिरस्कार की दृष्टि से देखती है। उसे अजित से प्रेम है। परन्तु विवाह को बधन समझकर इसमे वह पाणिग्रहण नही करती। माता राजेश्वरी और सखी मृदुला के समझाने पर कुमुद अजित से विवाह करती है। सन्तानोत्पत्ति के प्रति उसे अपार घृणा है। अत वह अपने मन मे तथा पति स सदैव उलझती रहती है। कुशल अजित कुमुद की विचित्रता निभा लेता है। तदन्तर कुमुद मोहन नामक बालक के सम्पर्क मे आती है जो अपने स्नेह तथा सौन्दर्य से कुमुद का मानस परिवर्तन कर देता है। कुमुद मे सन्तान प्राप्ति की आकाक्षा जागती है जो नारी-जीवन की शाश्वत साध है। लेखक ने इस नाटक द्वारा शिक्षित युवतियो की अस्वाभाविक जीवन पद्धति तथा असन्तुलित विचारसरणी की आलोचना की है। 'साध' शर्माजी की अपेक्षाकृत प्रौढ रचना है। इसमे वस्तु-विन्यास का अकृत्रिम रूप प्रगट हुआ है। पात्र अन्तर्द्वन्द्वयुक्त है। कुमुद के अन्तर्संघर्ष का चित्रण करने मे लेखक को बहुत अधिक सफलता मिली है। कुमुद के मन मे एक ओर नारी-जीवन की विवाह और सन्तान-प्राप्ति की सनातन साध है और दूसरी ओर पाश्चात्य कृत्रिम सभ्यता से अभिभूत होकर वह स्त्री-स्वतन्त्रता का अनर्गल अर्थ कर बैठती है। इन द्वन्द्वमूलक परिस्थितियो के बीच कुमुद तीव्रतर मानसिक सघर्ष का अनुभव करती है। लेखक ने इसका बड़ी कुशलता से सूक्ष्मालेखन किया है। कुमुद के जीवन एव व्यवहार परिवर्तन मे भी बड़ी स्वाभाविकता तथा सगति है। अजित का पात्र कुमुद के चरित्रविकासार्थ अवतरित हुआ है, फिर भी वह महत्वपूर्ण है। उसकी मानसिक स्वस्थता तथा सहनशीलता सराहनीय है। अजित के चरित्र द्वारा लेखक ने भारतीय दृष्टिकोण प्रगट किया है। भाषा, शैली, चरित्रांकन, वस्तु-सगठन सब तरह से यह नाटक सफल है।

बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'चुम्बन' (१९३७) 'आवारा' (१९४२) आदि सामाजिक नाटक लिखे हैं। 'चुम्बन', मे भारतीय मजदूर की दयनीय दरिद्र स्थिति का यथार्थवादी चित्र है।

---

१. डॉ० सोमनाथ गुप्त—हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—पृ० १९५

'आवारा' जमींदारों की विलासिता का नग्न रूप पेश करता है। ये नाटक मध्यम स्तर के हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क के सामाजिक नाटक

उपेन्द्रनाथ अश्क हिन्दी के बहुमुखी प्रतिभा के लेखक हैं। वे उपन्यासकार, कहानीकार, कवि और नाटककार के रूप में प्रसिद्ध हैं। किन्तु इन सबमें उनका नाटककार का रूप सर्वाधिक सफल माना जाता है। 'जय पराजय' को छोड़कर उनके सभी नाटक सामाजिक हैं जिनमें जीवन के मृदु-कटु अनुभव अंकित हुए हैं। अश्क नवीन नाट्य शैली और शिल्प के प्रयोगकर्ता हैं। 'प्रसाद के बाद हिन्दी-नाटक का जो नयी दिशा में उत्थान हुआ है, उपेन्द्रनाथ अश्क उसके प्रमुख प्रतीक और स्तंभ माने जायेंगे। इसका कारण कि शायद ही अन्य किसी नाटककार ने नयी पद्धति को इतनी लगन के साथ अंगीकार किया है और इतने परिश्रम और निश्चय के साथ सँवारा है।'[1]

'स्वर्ग की झलक' (१९३९)

अश्क का यह पहला सामाजिक नाटक है जो व्यंग्य प्रधान है। इसमें लेखक ने उच्च शिक्षा-प्राप्त युवकों और युवतियों की वैवाहिक समस्याओं का विश्लेषण किया है। रघुनंदन एक शिक्षित नवयुवक है जो अल्पशिक्षित या अशिक्षित युवती से इसलिए विवाह करना नहीं चाहता कि वह उसके जीवन को पूर्णता प्रदान नहीं कर सकती। वह उमा नामक उच्च-शिक्षा प्राप्त युवती के पीछे लट्टू है। उसकी यह कल्पना है कि उमा उसके जीवन को स्वर्ग बना देगी। वस्तुतः उमा स्वर्ग तो क्या स्वर्ग की झलक भी रघुनंदन को नहीं दिखा सकती। इस सत्य का साक्षात्कार रघुनंदन उस समय करता है जब वह अपने प्रोफेसर राजेन्द्र और मित्र अशोक के दाम्पत्य जीवन को निकट से देखने का अवसर पाता है। दोनों की पत्नियाँ सुशिक्षिता और सस्कृता हैं। किन्तु उन्हें भोजन बनाने, घर संभालन-सजाने और बच्चों का लालन-पालन करने की तनिक भी चिंता या रुचि नहीं है। ये देवियाँ 'कंसर्ट' में जाने की सज धजकर घूमने-घामने की और पाश्चात्य जीवन व्यवहार का अंधा अनुकरण करने की ओर विशेष प्रवृत्त रहती हैं। फलतः उनके दाम्पत्य जीवन में सवादिता नहीं है। उसमें एक प्रकार का बनावटीपन और दिखावा आ गया है। भीतर से इन सुशिक्षित परिवारों का जीवन, कलह, क्लेश और अशांति से भरा हुआ है। इस तथ्य का ज्ञान प्राप्त होते ही रघुनंदन की स्वर्ग की कल्पना विफल हो जाती है। और वह कम पढ़ी लिखी लड़की रक्षा से वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ता है। इस नाटक द्वारा लेखक नारी शिक्षा का विरोध नहीं करता, किंतु शिक्षित नारी को सर्वसाधारण का वास्तविक जीवन जीने की सलाह देता है। आधुनिक नवयुवकों के विवाह विषयक रंगीन सपनों पर भी लेखक ने मार्मिक व्यंग्य किया है। स्वच्छंदताप्रिय शिक्षित युवती से विवाह कर सुख शांति की आशा रखना आकाश-कुसुमवत् है। अश्क ने इस नाटक में आधुनिक नारी पर जो व्यंग्य कसे हैं। उन्हें पढ़कर या मंच पर अभिनीत होते देखकर उन्मुक्त हास्य की सृष्टि होती है। श्रीमती अशोक और अशोक के संवाद अतियथ

---

१. श्रीमती कौशल्या अश्क द्वारा संपादित "नाटककार अश्क" नामक ग्रंथ में श्री इन्द्रनाथ मदान का लेख। 'नाटककार अश्क'—प्र० सं०, १९५४ पृ० १४

हास्यास्पद हैं। यह नाटक रगमच पर कई बार खेला जा चुका है और इसके सवादो और सभापणो को सुनकर दर्शकगण हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये हैं। इस नाटक का व्यग्य बडा करारा और गहरा है। इसमे मध्यम वित्त-वर्ग की रिक्तता पर भी प्रकाश डाला गया है। अशोक और राजेन्द्र शिक्षित वर्ग के प्रतिनिधि पात्र हैं। उनमे धुरीहीनता है और झूठा दम है। श्रीमती राजेन्द्र, श्रीमती अशोक और उमा आधुनिक उच्च शिक्षा-प्राप्त नारियो के खोखलेपन और अप्राकृतिक जीवन को प्रत्यक्ष करती हैं। नाटक की भाषा चुस्त और चुटीली है। नाटकीय सवादो मे सजीवता और सरलता है। इसमे कार्य-व्यापार तथा प्रभावैक्य की भी कमी नही है। 'स्वर्ग की झलक' की गणना अश्क के अच्छे नाटको म होती है।

'छठा बेटा' (१९४०)

अश्क के इस समस्या प्रधान सामाजिक नाटक म वृद्ध पिता के प्रति पुत्रो की स्वार्थ-जन्य भावनाओ का हास्य-व्यग्यमय चित्रण हुआ है और उसी के साथ मानव मन की अतृप्त वासनाओ का स्वप्न द्वारा उद्घाटन भी हुआ है। इस दृष्टि से यह नाटक 'स्वप्न नाटक' की परपरा का भी निर्वाह करता है। इसकी कथा सक्षेप मे इस प्रकार है · प० बसतलाल रेलवे के रिटायर्ड अधिकारी हैं। वे शराबी हैं। उनके छह बेटे हैं, जिनमे से छठा बेटा कही चला गया है। शेष पाँच बेटे पिता की अवहेलना और उपेक्षा करते हैं। एक दिन बडे बेटे की पत्नी दस रुपये का नोट देकर प० बसतलाल को आटा खरीदने भेजती है। किन्तु वे उन रुपयो की शराब पीते हैं और लॉटरी खरीदते हैं। लौटने पर उन्हे डाँट फटकार सहनी पडती है। वे लेटते हैं। उनकी आँख लग जाती है। स्वप्न मे वे देखते है कि उन्हे लॉटरी के तीन लाख रुपये प्राप्त हुए हैं। इससे पाँचो बेटे उनकी सेवा-चाकरी करने लगते है। रुपये ऐंठने के लिए वे उन्हे शराब पिलाते हैं और सब तरह से उनकी खुशामद करते हैं। लेखक ने पुत्रो की इस स्वार्थपटुता और चाटुकारिता के प्रसग को अत्यत हास्य एवम् व्यग्यपूर्ण शैली मे प्रस्तुत किया है। पाँचो लडको के व्यवहार से हँसी के फव्वारे छूटने लगते हैं। जब पिता से रुपया छीन लिया जाता है तब वे लडके उन्हे अपने साथ रखने से इनकार कर देते हैं। और अत मे छठे बेटे दयालचद का आगमन होता है, जो प० बसतलाल को सब तरह से सुखी करने का आश्वासन देता है। इतने मे स्वप्न टूट जाता है और वे यथार्थ जीवन के धरातल पर आ जाते हैं जहाँ न दयालचद है और न सुख-शाति है। इस प्रकार इस नाटक का अतीव विषादपूर्ण अत होता है। यह कृति प्रारभ म जितनी हास्योत्तेजक है अत मे उतनी ही वेदनाजन्य है। अश्क ने इस नाटक के हास्य और व्यग्य द्वारा भी गभीरतम समस्या का प्रतिपादन किया है। प्रो० एलार्डाइस निकल ने अमरिकी लेखक काफमैन और हार्ट की व्यग्यपूर्ण रचनाओ के विषय मे यह कहा है कि, "उनके बाह्य मनोविनोद के पीछे गभीर उद्देश्य की स्पष्ट धारा प्रवाहित होती है जो उन्हे गणनातीत ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान करती है।" निकल का यह कथन अश्क की इस कृति के विषय मे भी उतना ही सत्य है। इस नाटक का रचना विधान इतना आकर्षक एवम् नवीन है कि वह रगमच पर प्रारभ से अत तक दर्शको के चित्त को पूरी तरह खीचे रह सकता है। स्वप्न दृश्य मे "प० बसत-लाल के अवचेतन मन की दबी हुई अतृप्त कामना साकार हो उठी है।"[1] इस दृश्य की

---

१. नाटककार अश्क — सं० श्रीमती कौशल्या अश्क, प्र० स० १९५४ पृ० २०९

योजना द्वारा अश्क का नाटकीय कौशल तो प्रगट होता ही है, तदुपरात उनकी अतर्मन के स्तरों के खोलने की अद्भुत शक्ति का परिचय भी प्राप्त होता है।

'अलग-अलग रास्ते'

अश्क ने इस नाटक की रचना सर्वप्रथम १९४३ मे 'आदि मार्ग' नामक एकाकी के रूप मे की थी। तदनतर यह इस त्रिअकी के रूप मे १९५४ मे प्रकाशित हुआ है। हमारे समाज मे नारियो के दो वर्ग दृष्टिगत होते हैं एक परपरावादी, रूढियो और प्राचीन सस्कारो का पुजारी और दूसरा प्रगतिवादी, नवीन भावनाओ और आदर्शों का उपासक। दोनो मे सतुलन एवम् सामजस्य नही है। अत उनमे निरतर सघर्ष चलता रहता है। यह एक सामाजिक समस्या है। इसके अलावा पुरुष का नारी को दासी या उपभोग की वस्तु समझना एक और समस्या है। जिसने नारी-जीवन को कुठित बना रखा है। समाज मे नारी विषयक विचार एवम् व्यवहार का विरोध तीव्र अशाति पैदा कर रहा है। अश्क के अलग अलग रास्ते मे इन्ही समस्याओ को प्राधान्य प्राप्त हुआ है।

प० ताराचन्द की दो पुत्रियाँ हैं, राज और रानी। एक पुत्र है जिसका नाम पूरन है। राज का पति प्रो० मदन उसे त्याग कर एक दूसरी लडकी सुदर्शन से, जो एम० ए० पास है, प्रेम करता है। राज प्राचीन परपरानुवर्तिनी है। अत त्यक्ता होने पर भी वह पतिव्रता बनकर पति की पूजा करती है। परन्तु प्रो० मदन उससे घृणा करता है। वह सामाजिक एव मनोवैज्ञानिक समस्याओ म उलझा हुआ है। उसका अतर्द्वन्द्व उसे चैन नही लेने देता। अन्त म सुदर्शन को वह अपनी पत्नी बनाता है। फिर भी राज के मन मे मदन के प्रति विद्वेष या घृणा नही जागती। रानी का विवाह त्रिलोकचन्द वकील से हुआ है। काफी दहेज न मिलने के कारण त्रिलोक रानी को छोड देता है। रानी भी राज की तरह पिता के घर मे रहती है। रानी समाज मे स्त्री के स्वाभिमान एव सम्मान को आवश्यक मानती है। वह पुरुषो के साथ समानाधिकार का दावा करने वाली आधुनिक युवती है। पिता ताराचन्द पुरानी लीक पर चलने वाले व्यक्ति हैं, अतएव अपनी इस विद्रोहिणी पुत्री को पति-परायणता का बोध देते हैं। पिता-पुत्री मे सदा वैचारिक मतभेद चलता है। एक दिन रानी पति की तरह पिता को भी छोडकर इब्सन की 'नोरा' ('डॉल्स हाउस' की नायिका) की भाँति चल देती है। नई चेतना का प्रतीक उसका भाई पूरन उसका साथ देता है। रानी और राज दोनो बहनो के दो अलग अलग रास्ते हो जाते हैं। इस प्रकार नाटककार ने नारी की पुरातन और नूतन जीवन-दृष्टि के सघर्ष की यथार्थ कहानी इस कृति मे पेश कर वर्तमान युग की युवती के समक्ष स्वातन्त्र्य, स्वाभिमान और स्वावलम्बन का आदर्श उपस्थित किया है। प्रसगवश इसमे सम्मिलित परिवार के दुष्परिणामो का भी उल्लेख है। नाटक के सभी पात्र कृति की मूलभूत समस्या को उजागर करने मे सहायक सिद्ध होते हैं। इस नाटक की यह विशेषता है कि इसमे पात्र और समस्या—दोनो को समान महत्ता प्रदान की गई है। इसका अन्त सुखात्मक होते हुए भी दुखमूलक है। रानी और पूरन का प्रस्थान विषादयुक्त है। इस नाटक की कथावस्तु यथार्थ जीवन को अभिव्यक्त करती है। इसका चरित्राकन अत्यत सबल है। सवाद पात्रानुकूल हैं। प्रसगो के घात-प्रतिघातो के द्वारा दर्शकों को उलझाये रखने की उनमे असाधारण शक्ति है। यह कृति कई बार भारत के कई नगरो मे पूरी सफलता के साथ खेली जा चुकी है।[1]

१. 'अलग-अलग रास्ते' में 'ऐतिहासिक पद'—ले० श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क', १९५४, पृ० २२।

यह मास्को (रूस) के टेलिविज़न पर भी जून १९५८ में प्रदर्शित की जा चुकी है।[1] यह नाटक साहित्यिक एवं रंगमंचीय दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

'अंजो दीदी' (१९५५)

उपेन्द्रनाथ अश्क के इस चरित्र-प्रधान मनोवैज्ञानिक नाटक की कथावस्तु हमारे अभिजात्य वर्ग से सम्बन्धित है। इसकी नायिका अंजलि है, जो अपनी चारित्रिक विचित्रताओं और मानसिक ग्रन्थियों के कारण अपने पारिवारिक एवं दाम्पत्य जीवन को विषादयुक्त बना देती है। वह मनुष्य जीवन में नियंत्रण और अनुशासन को सदा अनिवार्य समझती है। उसे यह मां या नाना से विरासत में प्राप्त हुई है, जिससे वह अत्यन्त दृढ़ता एवं आग्रहपूर्वक चिपकाये हुए है। इसी के फलस्वरूप वह अपना ही नहीं, अपने पति वकील इन्द्रनारायण, पुत्र नीरज, पुत्रवधू ओमी आदि परिवार के सभी सदस्यों का जीवन शुष्क, नीरस एवं यंत्रवत् बना देती है। समय की नियमितता के पालन तथा पारिवारिक परंपरा के निर्वाह का दुराग्रह अंजो दीदी में अत्यधिक है। उसके कठोर अनुशासन से सारा घर आतंक और रहस्यमयी घुटन का अनुभव करता है। अंजो दीदी का जीवन व्यवहार एक मनोवैज्ञानिक समस्या है। अश्क ने अंजो दीदी के अन्तर्मन की गहराई में पैठकर उसका अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है जो वस्तुतः प्रशंसनीय है। उसकी सनक का प्रधान कारण उसकी अहंवादिता और नाना के वंश-परम्परागत संस्कार हैं जो सारे परिवार का सत्यानाश करते हैं। वह टूट जाती है पर झुक नहीं पाती। उसके मरने पर भी उसका प्रचंड आतंक सारे परिवार पर हावी रहता है। उसके बाद उस परंपरा का पालन ओमी करती है। सचमुच अंजो दीदी दया का पात्र है।

वकील इन्द्रनारायण को शराब की लत है। उन्हें अंजो दीदी के कठोर नियंत्रण के कारण परेशानी है। वे छिप-छिपाकर क्लब में शराब पीते हैं। उनकी तबीयत मनमौजी और मस्त थी। पर अंजो की सख्ती से वे संजीदा बन गये हैं। उनकी एकमात्र आकांक्षा है. "इस घर को घड़ी की तरह नहीं, इन्सानों की तरह जीना चाहिए।"[2] श्रीपत जीवन की सरलता और अकृत्रिमता की प्रतिमूर्ति है। वह बच्चों की तरह अंजो दीदी की व्यवस्था को अव्यवस्था में परिणत कर देता है। "मानसिक अंतर्द्वन्द्व से भरे इस नाटक की चालक-शक्ति श्रीपत है।" वह अतिवाद का विरोध कर मध्यम मार्ग का अनुमोदन करता है। "चारित्रिक आतंक से स्वतंत्र उस जीवन का रूप वह सामने रखता है, जो दबाव, जुल्म और मानसिक वासना से मुक्त, अपनी प्रतिभा से प्रस्फुटित होना चाहिए। सम्भवतः यही लेखक का मूल मंतव्य है।"[3] इस कृति के द्वारा लेखक ने व्यक्ति की कुंठा के दुष्परिणामों को प्रगट किया है। साथ ही खलील जिब्रान की उस पंक्ति को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि, "बच्चों को सब कुछ दो, पर अपने विचार मत दो।"

दो अंकों का यह नाटक नाटकीय रूप-विधान एवं रंगमंचीय प्रदर्शन की दृष्टि से पूर्णतः सफल है। इसमें अश्क के कलात्मक दृष्टिकोण तथा रंगमंचीय अनुभव का अच्छा

---

१. नीलाभ प्रकाशन—प्रयाग द्वारा प्रेषित पत्र : ता० ७०-११-५८।
२. अंजो दीदी—श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क', १९५४, पृ० १४०।
३. 'अंजो दीदी—एक मूल्यांकन'—ले० श्री सतीशचन्द्र श्रीवास्तव, पृ० १८।

परिचय मिलता है। यह कृति कई बार आकाशवाणी पर प्रसारित और रंगमंच पर अभिनीत हो चुकी है।[1]

'अंधी गली' (१९५६)

अश्क का यह नाटक शरणार्थियों के आगमन के पश्चात् देश के समाज जीवन में उत्पन्न नवीन समस्याओं और संघर्षों को चित्रित करता है। इसमें सात अंक हैं जो स्वतंत्र और स्वतः पूर्ण एकांकी भी हैं और सम्मिलित रूप में एक संपूर्ण नाटक का भी निर्माण करते हैं। यह अश्क का नवीन नाट्य प्रयोग है जो वस्तुतः स्तुत्य है। कौल साहब, विन्दा बाबू, कैप्टन लीकू, रामचरण क्लर्क, श्रीमती कौल, विन्देश्वरी आदि इसके पात्र हैं जो सड़ी अंधी गली में आ पड़े हैं और ज्यों त्यों कर जिन्दगी काटते हैं। इन्हें लेकर लेखक ने हमारे सामाजिक आदर्शों के खोखलेपन का और निम्न मध्यवर्गीय जीवन की यथार्थ वस्तु-स्थिति का हास्यास्पद ढंग से निरूपण किया है। इसमें एक व्यक्ति के जीवन-वृत्त या घटना का समावेश नहीं हुआ है। इसमें सामाजिक दूषणों से भरी हुई एक गली में पात्रों और प्रसंगों की प्रवृत्तियों का निरूपण है। अश्क ने अपनी प्रौढ़ व्यंग्यात्मक शैली में नितांत यथार्थ चित्रण 'अंधी गली' का अंकित किया गया है। " 'अंधी गली' संकेत है, निम्न मध्यवर्गीय हृदय की उन सँकरी गलियों का जो खुल जायँ तो हमारे जीवन को सुखद और प्रशस्त बना दें।" रंगमंच की दृष्टि से इस कृति में काफी नवीनता और प्रयोगशीलता है जो अश्क की पैनी दृष्टि का परिचय देती है।

इसके अनन्तर अश्क के अन्य सामाजिक नाटकों में 'कैद' (१९४५), उड़ान (१९४६), 'भँवर', 'पैंतरे' आदि गणना पात्र हैं।

अश्क की नाट्य-कला

अश्क के नाटकों का रचना काल १९३७ से शुरू होता है और आज तक वे अविश्रान्त रूप से नाट्य सृष्टि में संलग्न हैं। उनके नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे रंगमंचीय और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से उत्कृष्ट हैं। हमारे समकालीन नाटककारों में शायद अश्क ही ने स्पष्ट रूप से प्रसाद के बाद रंगमंच और साहित्य दोनों के मानदंड पर सही उतरने वाले नाट्य साहित्य को प्रस्तुत किया।"[2] अश्क प्रयोगशील नाटककार हैं। 'कैद' और 'उड़ान' लघु नाटक हैं। 'छठा बेटा' स्वप्न नाटक है और 'अन्धी गली' सात एकांकियों और सात अंकों का एक संपूर्ण नाटक है। इस दिशा में अश्क युगान्तरकारी नाटककार कहे जा सकते हैं।

अश्क के नाटकों के विषय जितने समाजगत हैं उतने ही व्यक्तिगत हैं। 'अलग-अलग रास्ते' की राज और रानी, 'छठे बेटे' के पं० बसन्तलाल, 'स्वर्ग की झलक' का रघु, 'अंजो दीदी' की अंजलि, 'कैद' की अप्पी और 'भँवर' की प्रतिमा की जो वैयक्तिक समस्याएँ हैं वे समाज से असंपृक्त नहीं हैं। ये सभी समस्याएँ यथार्थ के धरातल पर अवस्थित हैं और स्वस्थ समाज-रचना के लिए नये हल की प्रतीक्षा कर रही हैं। इनका मनोविज्ञान से विशेष सम्बन्ध है। इन-

---

१. नाटककार अश्क—सं० श्रीमती कौशल्या 'अश्क', पृ० २२१।

२. श्री जगदीशचन्द्र माथुर: 'सेठ गोविन्ददास अभिनंदन ग्रंथ' पृ० १७०

नाटकों के सभी पात्र बड़े जानदार और व्यक्तित्व-सम्पन्न हैं। वे केवल वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व करने वाले 'टाईप' नहीं हैं। उनके अंतर्मन में प्रवेश कर निगूढ़तम भावों का समस्त सुन्दरताओं और दुर्बलताओं के साथ प्रकाशन करना 'अश्क' की एकान्त विशेषता है। मनोविश्लेषणात्मक चरित्रांकन इन्हें सहज साध्य है।

अश्क के नाटकों में हास्य और व्यंग्य का गहरा पुट रहता है। सामाजिक विद्रूपता की कटु आलोचना करने के लिए इन नाटकों में हास्य का प्रभावशाली माध्यम के रूप में प्रयोग हुआ है। भारतेन्दु परंपरा के प्रहसनों में स्थूल हास्य एवं व्यंग्य हैं जिससे अभद्रता और अश्लीलता की सृष्टि होती है। इसीलिए उनकी चोट भी गहरी नहीं होती। इस विषय का विवरण हम पूर्ववर्ती पृष्ठों में 'प्रहसन' स्तंभ के अन्तर्गत प्रस्तुत कर चुके हैं। उन भारतेन्दु कालीन नाटकों के हास्य व्यंग्य की अपेक्षा अश्क के नाटकों का हास्य एवं व्यंग्य बड़ा सूक्ष्म एवं पैना है जो दिल पर करारी चोट करता है। 'पैंतरे', 'छठा बेटा', 'अंजो दीदी', 'स्वर्ग की झलक' आदि इसके उदाहरण हैं। उनका हास्य स्वाभाविक, सबल और प्रभावोत्पादक है। व्यंग्य मार्मिक एवं सप्रयोजन है।

अश्क के नाटकों के संवाद स्वाभाविक और सजीव होते हैं। पात्रानुकूल संवाद-योजना करने में उन्हें बड़ी सफलता मिली है। दैनिक जीवन की वार्तालाप-शैली को उन्होंने अपनाया है जिसमें पात्र अपने संवादों में यदा कदा खंडित वाक्यावलियों का भी प्रयोग करते हैं। अधूरे शब्द और वाक्य तथा अनकही भंगिमाएँ उनके संवादों में कभी-कभी प्रयुक्त होती हैं जिससे नाटकीय वातावरण में घरेलूपन का समावेश होता है। अश्क की शैली पर पाश्चात्य समस्या नाटककारों का काफी प्रभाव पड़ा है। उसमें सक्रियता, गतिशीलता तथा सरलता के गुण पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। कहीं उनकी शैली सांकेतिक और प्रतीकात्मक भी हो गई है जिससे प्रतिपाद्य हेतु आकस्मिक ढंग से अभिव्यंजित हो जाता है। अश्क अपने नाटकों में संकलनत्रय का बड़ी खूबी के साथ निर्वाह करते हैं। उनके सभी नाटक कई बार अनेक स्थानों पर सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं।[1] वस्तुतः प्रसाद के बाद हिन्दी नाटक का जो नयी दिशा में उत्थान हुआ है, उपेन्द्रनाथ अश्क उसके प्रमुख प्रतीक और स्तंभ माने जायेंगे।[2]

अन्य नाटककार

वृन्दावनलाल वर्मा ने लगभग सात आठ सामाजिक नाटक लिखे हैं। इन नाटकों में अन्य हिन्दी सामाजिक नाटकों की भाँति समाज की भिन्न भिन्न समस्याओं का प्रतिपादन किया गया है। इनमें 'राखी की लाज' (१९४३), 'बांस की फांस' (१९४७), 'पीले हाथ' (१९४८), और 'खिलौने की खोज' (१९५०) विशेष महत्त्व रखते हैं।

'राखी की लाज'—में राखी बांधने के हिन्दू रिवाज को बनाये रखने की हिमायत की की गई है। वर्मा जी राखी की सुन्दर प्रथा को चिरकाल तक जीवित रखने के आकांक्षी हैं। इस नाटक में डाकुओं के साथी मेघराज सपेरे का उच्च चरित्र अंकित किया गया है जो अपनी धर्म की बहन चम्पा की सब तरह से सहायता करता है और अंत में राखी की लाज रखने के लिए जीवन समर्पित कर देता है। 'बांस की फांस' में कॉलेज के लड़कों की प्रणय-

१. देखिए—'ज्यादा अपनी कम परायी', श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, प्र० सं० १९५१, पृ० २११।
२. श्री जगदीशचन्द्र माथुर—'सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रंथ', पृ० ३७०–३७१।

सम्बन्धी निम्न-स्तरीय मनोवृत्ति पर प्रकाश डाला है। गोकुल और फूलचन्द कॉलेज के छात्र हैं जो अनाथ रतन देवी भिखारिन पुनीता और उच्च वंशीया मन्दाकिनी की जीवन रक्षा करते हैं। पुनीता का विवाह गोकुल से हो जाता है, पर मन्दाकिनी फूलचन्द के प्रेम को ठुकरा देती है, क्योंकि फूलचन्द अपने उपकार का अभिमान कर उसे जलील करता है। 'पीले हाथ' में दहेज प्रथा और मिथ्याभिमान की कटु आलोचना की गई है।

'खिलौने की खोज'—वर्मा जी का यह नाटक मानव-मन का विश्लेषण करता है। इसका सम्बन्ध फ्रॉयड के काम सिद्धान्त से है। सलिल और सरूपा छुटपन में परस्पर प्रेम करते हैं। सलिल, सरूपा की चाँदी की तस्वीर जो खिलौने के समान है, चुरा लेता है। तदनन्तर दोनों के जीवन प्रवाह भिन्न दिशाओं में प्रवाहित होते हैं। सरूपा का विवाह सेतुचन्द नामक सम्पत्तिवान व्यक्ति से हो जाता है। इससे वह बीमार रहती है। उधर सलिल डॉक्टर बन जाता है, पर अविवाहित रहता है। उसे मानसिक चिंताओं से तपेदिक का रोग हो जाता है। वह सरूपा के ही गाँव में स्वास्थ्य सुधारने के निमित्त रहता है। उसका सेतुचन्द से परिचय होता है जो उसका बड़ा ख्याल रखता है। सरूपा का नन्हा बच्चा सलिल का खिलौना उठा ले जाता है। उसकी खोज में यह शुभ परिणाम आता है कि सरूपा और सलिल दोनों स्वस्थ हो जाते हैं। इस प्रकार लेखक ने दोनों के रोग का मूल कारण काम-वृत्ति का दमन माना है। इसका उपचार सुप्त एवं दमित मनोविकारों का उदर्वीकरण है। वस्तुतः यह नाटक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से सम्बन्धित विषय को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करता है। वासनाओं को अप्राकृतिक रीति से दबाने पर अनेक रोग होते हैं। पश्चिमी मनोविज्ञान के आचार्यों ने इसे प्रमाणित किया है। वर्मा जी ने इसी तथ्य को इस कृति में नाटकीय रूप दिया है। यह नाटक इस दृष्टि से विशिष्ट धारा का माना जायगा। इसमें सरूपा और सलिल का अन्तर्द्वन्द्व समुचित रूप से दिखाया गया है। नाट्य-कला की दृष्टि से भी यह नाटक सफल है। इसे छोड़कर वर्मा जी के अन्य नाटकों में घटनाओं का कलात्मक संयोजन नहीं हुआ है। पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व भी उनमें दृष्टिगत नहीं होता। शैली-शिल्प में नवीनता का अभाव है। वर्मा जी के नाटक उच्च कोटि के नहीं कहे जा सकते।

'कमला' (१६३६)—उदयशंकर भट्ट ने इस नाटक में अनमेल विवाह और नीति-अनीति सम्बन्धी मान्यता को अपना विषय बनाया है। कमला एक सुशिक्षित युवती है जिसका विवाह देवनारायण नामक एक वृद्ध के साथ होता है। देवनारायण सन्देहशील एवम् विचित्र स्वभाव के व्यक्ति हैं। उन्हें कमला के चरित्र पर सदा सन्देह बना रहता है। उनका यह सन्देह बालक शशि के कारण और भी पक्का हो जाता है। वह यह समझ बैठते हैं कि शशि कमला का ही पुत्र है, जो कमला की चरित्रहीनता से उत्पन्न हुआ है। कमला इससे अतिशय मानसिक व्यथा का अनुभव करती है। जब उसकी सहनशीलता की हद आ जाती है तो वह आत्म-हत्या कर लेती है। यथार्थतः शशि कमला का नहीं, अपितु उमा का अवैध पुत्र है जो देव-नारायण के ज्येष्ठ पुत्र के दुराचार का फल है। इस प्रकार इस नाटक में एक साथ कई समस्याएँ समाविष्ट हो गई हैं। लेखक ने कमला की कौमार्यावस्था की भूलों को दिखाकर आधुनिक युग की स्वच्छन्द युवतियों की असयमितता पर प्रकाश डाला है। 'कमला' नाटक अन्त में नारी-जीवन की करुण कहानी बनता है। हमारे समाज में नारी केवल वासना-तृप्ति की वस्तु मानी जाती है। उसका चरित्र सदा ही सन्देह का विषय रहा है। वह एक ऐसी वस्तु है जिसका कोई भी पुरुष किसी भी समय दुरुपयोग कर सकता है। उसका कोई स्वतन्त्र

व्यक्तित्व नहीं है। उसमे कोई समझदारी नहीं है। इस प्रकार की परम्परागत मान्यताओं को इस नाटक में आलोचनात्मक दृष्टि से पेश किया गया है। नई वैज्ञानिक विचारधारा को अपनाने का संकेत भी इसमे है। इस नाटक के वस्तु विन्यास, चरित्रांकन, संवाद योजना आदि मे लेखक को सफलता मिली है। देवनारायण और कमला यथार्थ जीवन के पात्र हैं। उनके अन्तर्द्वन्द्व एवं संघर्ष को लेखक ने बड़े कौशल से निरूपित किया है। इस नाटक मे गीतों की अस्वाभाविकता नहीं है। बहुत ही कम स्वगतों का उपयोग किया गया है। भाषा नाट्योचित है। पर दृश्य-विधान की अव्यवस्था के कारण इसमे अभिनय क्षमता का अभाव है। वैसे यह नाटक भट्ट जी के श्रेष्ठ नाटकों म से एक है।

'मुकुट' (१९४९)—नित्यानन्द हीरानन्द का वात्सल्य का यह समस्या प्रधान नाटक द्वितीय है जो दो घंटों मे बड़ी आसानी से खेला जा सकता है। इसमे अभिनय के उपयुक्त सभी तत्त्व विद्यमान हैं। यह नाटक पूंजीपतियों और मजदूरों की अर्थमूलक समस्या को लेकर रचा गया है। राजबहादुर जगदीशचन्द्र मिल-मालिक है। कैलाशचन्द्र उनका पुत्र है जो मजदूरों के प्रति कठोर है। गोपाल मिल-मजदूर है जिसकी पत्नी रत्ना तादिक से बीमार है। गोपाल को रत्ना की सेवा शुश्रूषा के लिए कुछ दिन की छुट्टी चाहिए। परन्तु कैलाशचन्द्र मंजूर नहीं करता। इसी बीच कारखाने मे रस्सी के टूटने से दुर्घटना हो जाती है, जिसमे गोपाल का हाथ और पैर कट जाते हैं। वह काम करने के योग्य नहीं रहता। इधर मिल के डॉक्टर मोहन और कैलाशचन्द्र एक प्रणय-प्रसंग के सिलसिले मे उलझ पड़ते हैं। डॉ० मोहन त्याग-पत्र देकर मजदूरों का नेतृत्व करता है और गोपाल को उसके हाथ पैर कटने का मुआवजा देने की मांग करता है। इसी झगड़े मे मिल मे हड़ताल शुरू होती है। मजदूरों का पैसा मिलना बन्द हो जाता है। गोपाल इससे आर्थिक संकट म आ पड़ता है। रत्ना की बीमारी भीषण रूप धारण करती है। स्थिति विषम बनती है। सौभाग्य से रायबहादुर की बुद्धिमानी और दूरदर्शिता के कारण हड़ताल समाप्त होती है। मजदूरों की मांगें स्वीकृत होती हैं। डॉ० मोहन की मिल मे पुनः नियुक्ति होती है और उसका विवाह रायबहादुर की पुत्री कमला के साथ हो जाता है। कमला फूलों का मुकुट डॉक्टर को पहनाती है और नाटक का सुख म पर्यवसान होता है। इस कृति म पूंजीपतियों और मजदूरों की मूल समस्या के साथ लेखक ने कैलाशचन्द्र और डॉ० मोहन की प्रणयाश्रित गौण समस्या भी सम्मिलित की है। रचना-कौशल के कारण सभी घटनाएं नीर-क्षीर की भांति परस्पर घुल मिल गई हैं। कोई घटना अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये नहीं रहती। कैलाशचन्द्र इस नाटक का खलनायक है जो दुराचार, प्रपंच, कठोरता और अदूरदर्शिता का परिचय देता है। डॉ० मोहन की सच्चरित्रता, त्याग एवं सेवापरायणता सराहनीय हैं। गोपाल मजदूरों का नेता है जो समाजवादी विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करता है। रायबहादुर जगदीशचन्द्र पुरानी पीढ़ी के उदार पूंजीपति हैं जिनमे समझदारी है, समझौते की भावना है। वे सोच-समझकर कदम उठाते हैं। इस नाटक के संवाद विषयानुकूल सरल एवं सुन्दर हैं और शैली प्रभावोत्पादक है। इस कृति पर गॉल्सवर्दी के 'स्ट्राइक' नाटक का विशेष प्रभाव पड़ा है।

'समर्पण' (१९५०)

जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' ने इस नाटक मे विवाह-समस्या को प्रमुखता दी है और साथ-साथ राजनैतिक प्रवृत्तियों का भी चित्रण किया है। इला इस नाटक की नायिका है,

जो विवाह को जन सेवा मे बाधक मानती है। उसने अपनी सेवा-सस्था मे उन्ही लोगो को सदस्य बनाया है जो विवाह न करने को कृतनिश्चय हैं। युवक नवीन भी इस सस्था का सदस्य है, जो मजदूरो का नेता है। विवाह न करने के प्रतिबंध के कारण सेवा सस्था के कई सदस्य धीरे-धीरे उससे मुक्त हो जाते हैं। इला और नवीन एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं। इसी समय हडताली मजदूरो का नेतृत्व करते हुए नवीन गोली खाकर मर जाता है। उसकी शहादत के बाद इला का दमित आकर्षण जोर पकडता है और वह नवीन के प्रति प्रेम की घोषणा करती है। अन्त मे नवीन के लिए वैधव्य स्वीकार कर इला हमेशा के लिये आत्म समर्पण करती है। इस नाटक मे लेखक ने विवाह को एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता माना है और यह प्रतिपादित किया है कि विवाह सेवामार्ग मे बाधक नही, साधक है। इसमे इला तथा अन्य पात्रो द्वारा सेवा, समर्पण और सहनशीलता की जो आदर्श भावनाएं प्रगट हुई हैं वे गाधीवादी चिंतन से अधिक मेल खाती है। नवीनचन्द्र समाजवादी विचारधारा का नवयुवक है। नाटक के विभिन्न पात्रो द्वारा लेखक ने आदर्शों की विवेचना अधिक की है। इससे कथानक के विकास मे शिथिलता आ गई है और चरित्राकन भी कौशलहीन बन गया है। इस दृष्टि से यह नाटक सामान्य ही माना जायगा।

'पैसा परमेश्वर'

आधुनिक सभ्यता के खोखलेपन को चित्रित करने वाले इस नाटक की रचना रामनरेश त्रिपाठी ने सन् १९५३ मे की। इसमे इस वैज्ञानिक युग की विभ्रमिता पर करारा व्यग्य किया गया है। आज प्रत्येक व्यक्ति पैसे को परमेश्वर मानने लगा है। पैसे के लिए जघन्य-से-जघन्य पाप करने को मनुष्य उतारू हो जाता है। उसका यथार्थ निरूपण इस कृति मे है। डॉक्टर, वकील, सेठ, साहूकार, महन्त, कथावाचक, मजदूर, नेता' अध्यापक, चित्रकार, पुलिस, डाकू आदि सभी पैसे के लिए किन कुकृत्यो मे फँसते हैं, इसका तादृश चित्र प्रस्तुत कर लेखक ने हमारी पूंजीवादी समाज-रचना की कटु आलोचना की है। इस नाटक मे हास्य एव व्यग्ययुक्त शैली का प्रयोग किया गया है। इसकी भाषा प्रासादिक एव सजीव है। उद्देश्य निरूपण मे कहीं-कही अतिरजकता का अनुभव होता है। वैसे यह नाटक उच्चस्तरीय नही कहा जा सकता।

'रुपया तुम्हें खा गया (१९५५)'

भगवती चरण वर्मा का यह नाटक 'पैसा परमेश्वर' की भाँति आधुनिक अर्थ प्रधान भौतिक सस्कृति की निस्सारता पर प्रकाश डालता है। परन्तु यह कृति 'पैसा परमेश्वर' की अपेक्षा उत्कृष्ट है। इसमे लेखक ने बडी ही कुशलता से मानिकचन्द के पात्र द्वारा "भौतिक और पूजीवादी सस्कृति की मान्यताओ को मिथ्या" प्रमाणित किया है। इसके साथ लेखक ने अत्यन्त सूक्ष्मता से मानव मन के अन्तर्द्वन्द्वो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। प्रारभ मे मानिकचन्द एक फर्म मे क्लर्क है। उसका जीवन सुख एव सतोष के साथ व्यतीत होता है। दुर्भाग्य से उसके मन मे सपत्तिवान होने की लालसा जागती है। वह उस फर्म से दस हजार रुपये चुराकर भाग जाता है और दूसरे शहर मे जाकर व्यापार करता है। अपनी प्रपच बुद्धि और वाग्-चातुर्य से वह करोडो रुपये कमाता है तथा धनवान और पुत्रवान बनता है। परन्तु रुपया आते ही उसके घर की शांति, सतोष, स्नेह और सवादिता समाप्त हो जाती है। उसके

घर मे किसी से किसी का प्रेम या ममत्व नही रहता । सेठ मानिकचन्द रुग्ण हो जाता है। परन्तु उसकी पत्नी, पुत्र उसकी सेवा नही करते । फिर उसे सट्टे मे घाटा होता है । उस आघात से वह विक्षिप्त बन जाता है । उसे डाक्टर जयलाल सपूर्ण विश्राम लेने की सलाह देता है, पर उसे किसी भी प्रकार की शाति प्राप्त नही होती। उसी समय उसके पुराने कैशियर किशोरीलाल का आगमन होता है। इस किशोरीलाल को उसने गबन के मिथ्या दोषारोपण मे जेल भेज दिया था। अब किशोरीलाल मानिकचन्द को सात्वना देने आया है। मानिकचन्द उससे क्षमा-याचना करता है । उसकी अशानि दूर करने के लिए किशोरीलाल उससे कहता है—"उस दिन जब तुम दस हजार रुपया चुराकर लाये थे तब तुमने समझा था कि तुम रुपया खा गये लेकिन तुमने रुपया नही खाया, रुपया तुम्हे खा गया।" मानिकचन्द को यह कथन सत्य प्रतीत होता है । इस वास्ते "रुपया तुम्हें खा गया" चिल्लाता हुआ अन्त मे वह मर जाता है। इस प्रकार लेखक ने सर्वभक्षी अर्थ पिशाच की सहार लीला का नाट्योचित निरूपण किया है ।

इस नाटक मे मानिकचन्द और उसके परिवार के सदस्य उस मानव मनोवृत्ति के प्रतीक है जो केवल लक्ष्मी की उपासना करते हैं । किशोरीलाल और उसका पुत्र डॉ० जयलाल स्नेह और सौहार्द के प्रतिरूप हैं । इन दो विरोधी वर्गो के पात्रो द्वारा लेखक ने घटना-विकास मे सघर्ष, स्वाभाविकता तथा गतिशीलता पैदा की है और नाट्यादर्श सिद्ध किया है। सभी पात्र सजीव हैं । नाटक का वातावरण प्रभावोत्पादक है । इसकी रचना रगमच को दृष्टि-समक्ष रखकर की गई है । १९५९ मे भावनगर (गुजरात) मे 'कोविदसघ' द्वारा यह नाटक बडी ही सफलता से खेला गया था ।

'नारी की साधना' (१९५५)

अभयकुमार योधेय का दो अको का यह सामाजिक नाटक नारी समस्या का अच्छा निरूपण करता है । इस नाटक का नायक राजेन है । वह पाश्चात्य आचार विचार का उपासक है । उसकी पत्नी करुणा परम्परागत भारतीय नारी जीवन को अपनाये हुए है। इसलिए दोनो के दाम्पत्य-जीवन म सवादिता नही है । एक दिन राजेन करुणा से क्रुद्ध होकर कही चला जाता है । दुनिया की ठोकरें खाकर वह जीवन का सही पाठ सीखता है और अन्त मे लौट आता है । वह अपने दुर्व्यवहारो के लिए करुणा से क्षमा माँगते हुए कहता है "कर्त्तव्य के सम्मुख नारी से पूर्व पुरुष को नतमस्तक होना पडेगा।" इस तरह योधेय जी ने भारतीय नारी की सहिष्णुता, धैर्य, भावना और पतिपरायणता की पुरुष की कठोरता एव क्रूरता पर विजय प्रदर्शित की है । इस दृष्टि से यह पुरानी परिपाटी का आदर्शवादी नाटक है । इसके कथानक, चरित्र चित्रण और नाट्य शिल्प मे कोई विशेषता या नवीनता नही है । नाटक की भाषा-शैली और सम्वाद योजना मे अवश्य सरसता है। गीतो मे भाव-प्रवणता है । भैया और गौरी इसके चिरस्मरणीय पात्र हैं । हृदय-परिवर्तन के आदर्श की सार्थकता ही इस नाटक की विशेषता है ।

'सुबह के घटे'

उदीयमान कवि नरेश मेहता का 'सुबह के घटे' नाटक सर्वप्रथम 'सकेत'[1] मे प्रकाशित

---

१. 'सकेत'—प्रधान सपादक—श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, नीलाभ प्रकाशन, प्रयाग ।

हुआ। यह पाँच अकों और विभिन्न दृश्यो का एक नवीन शैली-शिल्प सपन्न नाटक है जिसका कथानक राजनैतिक वातावरण को चित्रित करता है। इस नाटक का नायक एमन है जो आजीवन क्राति का उपासक रहा है। उसने अपने बचपन मे अग्रेजी शासन के अत्याचार देखे हैं। उसके माता-पिता एव जमीदार की नृशसता के शिकार बन चुके हैं। एमन अनाथ है। सामाजिक एव राजनैतिक परिस्थितियाँ उसे क्रातिकारी बनाती हैं। एक डाकगाडी लूटने के अपराध मे वह काले पानी की सजा पाता है। पन्द्रह वर्ष के पश्चात् वह छूटता है। एमन पक्का कम्युनिस्ट है। उसी के साथ वह भावनाशील लेखक भी है। दक्षिणा उसकी प्रेयसी एव 'कॉमरेड' है। दोनो मे घनिष्ठता का सम्बन्ध है। १६४२ मे पुन. एमन पकडा जाता है। स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् वह बीमारी के सिलसिले मे रिहा होता है। किन्तु कांग्रेस शासन मे वह फिर से कम्युनिस्ट हडतालो और आन्दोलनो मे सक्रिय भाग लेता रहता है। अन्त मे किसान आन्दोलन के समय हिंसा, लूट, हत्या आदि के अभियोग मे उसे फाँसी की सजा दी जाती है। एक दिन सुबह के घटे बजते हैं और उसी के साथ उसके जीवन का भी सदा के लिए घटा बज जाता है। इस प्रकार नरेश मेहता ने इस करुणात नाटक मे समसामयिक राजनैतिक समस्याओं और मानवीय सम्वेदनो का सम्यक् निरूपण किया है। लेखक का यह विचार और विश्वास है कि अग्रेजो के शासन और आज के काग्रेसी शासन मे विशेष अन्तर नही है। केवल व्यक्ति बदले हैं, राज्य-पद्धति और शासकीय नीति मे कोई फर्क नही पडा है। लेखक के विचारो से हम सहमत हों या न हो, यह भिन्न वस्तु है, किन्तु यह तो निर्विवाद रूप म कहा जा सकता है कि लेखक ने प्रतिपाद्य विषय का निरूपण अत्यन्त प्रभावशाली और कलात्मक ढग से किया है। पात्रो और प्रसगो का समन्वय और नाटकीय दृश्य-योजना इतनी कुशलता से की गई है कि कही भी यह कृति विशृखलित प्रतीत नही होती। जेल का वह एक दृश्य जिसका विभिन्न तीन अको मे उपयोग हुआ है कथासूत्र का कार्य करता है। उसी से प्रभावान्विति होती है। एमन और दक्षिणा के अतिरिक्त अन्य पात्रो का विकास नहीं हो पाया है। एमन का चरित्र सुरेख और सुस्पष्ट है। दक्षिणा मे नारी सहज गुण प्रगट हुए हैं। यह मूलत विचार-प्रधान कृति है। अत कृतिकार ने चरित्राकन पर विशेष ध्यान नही दिया है। भाषा अत्यन्त प्राजल एव प्रभावोत्पादक है। सम्वाद पात्रो एव प्रसगो के अनुरूप है। उसकी शैली बडी ही प्रवाहमान एव प्राणवान है। उसमे चित्रात्मकता का भी अभाव नही है। अपने 'प्रगतिवादी' विचारो के प्रदर्शन की अतिशयता यदि लेखक ने दूर की होती तो 'सुबह के घटे' हिन्दी की सर्वोत्कृष्ट कृतियों मे स्थान पाती।

'अधा कुआ' (१६५६)

हिन्दी के नये नाटककारो मे लक्ष्मीनारायणलाल मुख्य हैं। 'अघा कुआँ' इनका ग्रामीण जीवन विषय का अत्यन्त सुन्दर सामाजिक नाटक है। इसका कथानक सक्षेप मे इस प्रकार है सूका एक ग्रामीण नारी है जिसका शराबी पति भगौती बहुत ही क्रूर और उद्दड है। वह सूका को निर्दयतापूर्वक पशु की तरह पीटा करता है। गरीब सूका इससे तग आकर कई बार घर छोडकर भाग जाती है। परन्तु भगौती हर बार उसे पकड लाता है और उस पर पाशविक अत्याचार करता है। एक बार तो सूका आत्म हत्या करने के लिए एक अधे कुएँ म भी कूद पडती है। पर दुर्भाग्य से उसे निकाला जाता है। उसकी यातनाओ का अत नहीं आता। भगौती उसे परेशान करने के लिए लच्छी से भी विवाह कर लेता है। लच्छी

भगोती की पशुता देखकर सूका के प्रति सम्वेदनशील बनती है। फिर वह स्वयं भाग जाती है और सूका को भी उसके पुराने मंगेतर इन्दर के साथ भगाने की व्यवस्था करती है। जब इन्दर सूका के यहाँ आकर भगोती का बुरी तरह पीटने लगता है तब स्वयं सूका अपना जीवन देकर भगौती की रक्षा करती है।

'अंधा कुआँ' यथार्थवादी कृति है। अंधा कुआँ भारतीय ग्रामीण जीवन का प्रतीक है जिसमे सदैव जड़ता, अज्ञानता और पशुता का घोर अंधकार रहता है और जो परम्परागत रूढ़ियो एवं सीमाओं से बँधा रहता है। इस अंधे कुएँ मे विशेष रूप से नारी ही डूबी रहती है जिसकी मुक्ति का आज तक कोई चिह्न नही दीखता। लेखक ने इस उत्कृष्ट कृति द्वारा सामाजिक विकृतियो तथा विरूपताओं का पर्दा फाश कर नये जीवन-मूल्यो को प्रस्थापित करने का सकेत किया है। भगौती (भगवती) का विकृत, जड़, क्रोधी और बुद्धिहीन व्यक्तित्व हमारे ग्रामजनों का प्रतिनिधित्व करता है। सूका का समर्पण भारतीय नारी का आदर्श चरितार्थ करता है। उसका चरित्र बड़ा ही हृदयगम एव मोहक है। लेखक ने अत्यन्त सतर्कता के साथ इन दो पात्रो द्वारा ग्रामीण जीवन की कुंठाओं और कटुताओं को प्रत्यक्ष किया है। इसमे रचना शैली की उत्तमता का सहज ही परिचय हो जाता है। नाटक में आंचलिक वातावरण को यथार्थ रूप मे चित्रित करने के लिए कृतिकार ने ग्रामीण शब्दो, मुहावरों और ग्रामगीतो का भी कुशलता से प्रयोग किया है। इसमे अभिनय के सभी उपादानों का सम्यक् समावेश हुआ है। प्रयाग आर्टिस्ट एसोसियशन द्वारा ११ नवम्बर १९५५ को लक्ष्मी टाकीज में इसका सफल अभिनय हो चुका है।[1]

'मादा कैक्टस'

लक्ष्मीनारायणलाल का यह सुप्रसिद्ध प्रतीकात्मक नाटक सर्वप्रथम 'निकष'[2] के जनवरी १९५७ के अंक मे प्रकाशित हुआ। इसम विस्तृत कथानक का अभाव है। किन्तु लेखक ने 'कैक्टस' को केन्द्र मे रखकर अरविन्द सुजाता, आनदा आदि पात्रों के सहयोग से उच्च शिक्षित वर्ग के खोखलेपन और मिथ्याचार का यथार्थ चित्र अंकित किया है। चित्रकार अरविन्द इस रचना का नायक है। वह अपनी पत्नी सुजाता का इसलिए परित्याग करता है कि वह नये युग की नारी नही है। अरविन्द यूनिवर्सिटी लेक्चरर आनदा से नाता जोड़ता है। आनदा कला की उपासिका और मनस्वी प्रकृति की नवयुवती है। अरविन्द वैवाहिक जीवन, सतानोत्पत्ति आदि मे विश्वस नही करता। वह पुराने 'मारल वेल्यूज' को बाधा मानता है और वर्तमान 'सोशल स्ट्रैक्चर' को जड़मूल से बदलना चाहता है। इसी आदर्श को कार्यान्वित करन के लिए वह अपनी सहधर्मी आनदा के साथ रहता है। अरविन्द की सहचरी आनदा चार वर्ष बीमारी मे पीड़ित रहती है। अन्त मे उसका क्षयग्रस्त होना और 'मादा कैक्टस' का सूखना जीवन की वास्तविकता के द्योतक बनते है। इस कथानक मे सुधीर और मिस खान का विवाह सम्बन्धी प्रसग भी सकलित है। इन घटनाओं द्वारा लेखक ने प्रतीक योजना अत्यन्त सार्थक और सघन रूप मे की है। इसम अरविन्द तथाकथित नवीन कलाकारो का प्रतीक है जो जीवन संघर्ष से दूर रहकर कला साधना करना चाहते हैं और जिन्हें कलासर्जन के लिए कामिनी की मादक प्रेरणा आवश्यक

---

१. हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव—डॉ० श्रीपति शर्मा प्र० स० १९६१ पृ० २६५
२. 'निकष'-सपादक डॉ० धर्मवीर भारती' प्रकाशन, साहित्य भवन लि० प्रयाग।

रहती है। आनंदा उन नवीनयुग की उत्तराधिकारी देवियों का प्रतिनिधित्व करती है जो किसी के प्रति आत्म-समर्पण करना हेय समझती है और अपने ही अहम् और स्वार्थ को श्रेष्ठ और समुचित मानती हैं। सुजाता स्वस्थ, सुन्दर और सार्थक जीवन का प्रतिरूप है। मादा कैक्टस नये युग का मूल्य है। दद्दा और डॉ० पापा परंपरावादी विचारधारा के परिपोषक हैं। इस प्रकार विभिन्न विचाधाराओं के पात्रों का प्रतीक रूप में उपयोग कर लेखक ने नये युग की नयी मान्यताओं का आकलन किया है और अन्त में यह प्रतिपादित किया है कि कला और जीवन की पूर्णता कठोर साधना में है न कि पलायनवादी प्रवृत्तियों में। भौतिक सुखों का परित्याग कर उदात्त वृत्तियों का अंगीकार करना ही श्रेयस्कर है। इस कृति में न केवल पात्र ही प्रतीक हैं, समस्त वातावरण, संवाद, दृश्य-विधान, संगीत वगैरह सब कुछ प्रतीकात्मक है। इनसे नाटकीय प्रभाव की एकता और मार्मिकता में अभिवृद्धि हुई है। नाटक का अन्त सांकेतिक एवं व्यंजना-पूर्ण है जो दर्शक या पाठक के मन को झकझोर कर चिंतामग्न बना देता है। वस्तुत. 'मादा कैक्टस' हिन्दी का एक उत्कृष्ट प्रतीक नाटक है।

'डाक्टर' (१९५८)

विष्णु प्रभाकर का यह सामाजिक नाटक डॉक्टर अनीला की मनोवैज्ञानिक समस्या का निरूपण करता है। इसका कथानक डॉक्टर अनीला की भावना और कर्त्तव्य-सम्बन्धी संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व पर निर्भर है। अनीला का पुराना नाम मधुलक्ष्मी शर्मा है। उसका विवाह मि० सतीशचन्द्र शर्मा से होता है। तदन्तर मि० शर्मा इंजीनियर बनते हैं। अल्प शिक्षिता मधुलक्ष्मी का परित्याग कर वे 'सोसाइटी' में घूमने योग्य अन्य संस्कारी नारी से विवाह कर लेते हैं। इससे आहत एवं अपमानित मधुलक्ष्मी उच्च शिक्षा प्राप्त करने का संकल्प करती है और कठिन परीश्रम तथा अनन्य निष्ठा द्वारा वह डॉक्टरी की परीक्षा पास करती है। अब, वह डॉ० अनीला है। शहर में अच्छी 'प्रेक्टिस' है। उस की प्रतिष्ठा भी कम नहीं है। तदतर मि० शर्मा की नई पत्नी को 'ब्लेडर' में 'स्टोन' के कारण ऑपरेशन के लिए डॉ० अनीला के ही नर्सिंग-होम में लाना पड़ता है। डॉ० अनीला अनुपस्थित है। अत: उसकी सहयोगिनी डॉ० रुईया मिसेज शर्मा को दाखिल कर लेती है। डॉ० अनीला लौटकर मिसेज शर्मा की बात जानती है। उसे ज्ञात हो जाता है कि वह उसके भूतपूर्व पति मि० शर्मा की पत्नी है। अब उसके मन में प्रतिशोध की भावना जागती है। वह मिसेज शर्मा की हत्या कर अपने प्रति किये गये अन्याय का बदला लेना चाहती है परन्तु मानवता की भावना उसे रोकती है। मन में भावना और कर्त्तव्य का तुमुल युद्ध जागता है। अन्त में ऑपरेशन टेबल के समक्ष मानवता की विजय होती है और वह सफल ऑपरेशन कर रोगी के प्राण बचाती है। मि० शर्मा को जब सत्य घटना ज्ञात होती है तब वे लज्जित हो जाते हैं। यहीं नाटक समाप्त होता है।

का उज्जवल उदाहरण प्रस्तुत करती है और मानवता की सर्वोपरिता सिद्ध करती है। उसके चरित्र मे लेखक ने केवल आदर्शों की ही स्थापना नही की है। उसके कतिपय कुत्सित विचारो का दिग्दर्शन कराकर लेखक ने उसे माननीय स्तर पर प्रतिष्ठित किया है और उसे अधिक उज्ज्वल और महान बनाया है। मि० शर्मा पुरुषो की मलिन मनोवृत्ति के परिचायक हैं। तीन अको का यह नाटक प्रभाकर जी की प्रतिभा का समुचित परिचय देता है।

हिन्दी मे सामाजिक नाटको की सख्या बहुत अधिक है। अत यहाँ केवल महत्त्वपूर्ण नाटकों का उल्लेख करना ही पर्याप्त है —उदयशकर भट्ट का 'अन्तहीन अन्त' (१९४२), चन्द्रगुप्त विद्यालकार के 'देव और दानव' (१९५५) तथा 'न्याय की रात' (१९५८), कमलाकान्त पाठक का 'अभागिन' (१९५७), विनोद रस्तोगी के 'पुरुष का पाप' और 'नये हाथ' (१९५८) प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'विवाह विभ्राट' (१९५७), हरिकृष्ण प्रेमी का 'ममता' (१९५८), आदि।

(१९०० के पश्चात्)

गुजराती सामाजिक नाटक

'राईनो पर्वत' (१९१३)सर रमणभाई नीलकठ गुजरात के प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। एक ओर ये प्रखर समाज-सुधारक, अग्रगण्य प्रार्थना समाजी और नीति-परायण नागरिक थे तो दूसरी ओर इनके जीवन मे नाटककार, कवि तथा हास्य-लेखक के उच्च साहित्यिक गुणो का भी अद्भुत सामजस्य हुआ था। इस प्रकार इनका व्यक्तित्व सर्वतोमुखी था। इसीलिए आचार्य आनदशकर बापुभाई ध्रुव ने इन्हे 'सकल पुरुष' के नाम से सबोधित किया है। रमणभाई की अनेक विध शक्तियो का पूरा परिचय इनके एकमात्र नाटक 'राईनो पर्वत' द्वारा प्राप्त हो जाता है। वस्तु-सकलना, चरित्र-चित्रण, सवाद-योजना, उद्देश्य-निरूपण आदि सभी दृष्टियो से यह गुजराती की उत्कृष्टतम रचना है। "गुजराती नाट्य-साहित्य के अत्यत-महत्त्वपूर्ण सीमाचिह्न सा स्वस्थ और शिष्ट (Classical) शैली का यह नाटक गुजराती की मूल्यवान प्रशिष्ट कृति (Classic) है।"[1]

'राईनो पर्वत' की कथा का सम्बन्ध 'भवाई सग्रह' (स० श्री महीपतराय नीलकठ) मे उपलब्ध 'लालजी मणियार' के 'वेश' से है। उसमे एक दोहा है जो इस प्रकार है

"साइयाँ से सब कुछ होत है, मुझ बदे से कछु नाही।
"राई को परवत करे, परवत यागे ज माही ॥"

लेखक ने इसी दोहे को इस नाटक मे मध्यवर्ती विचार-तत्त्व के रूप मे दृष्टि-समक्ष रक्खा है। रमणभाई ने उक्त 'वेश' की क्षीण कथा का आमूल परिवर्तन कर इस नयी सप्ताकी नाट्य-कृति का सर्जन किया है। वस्तुत: इसका कथानक उत्पाद्य या कल्पित ही है जो इस प्रकार है रत्नदीपदेव गुजरात का राजा है। पर्वतराय अधर्म म उसकी हत्या करवाकर स्वयम् राज्य का स्वामी बन जाता है। रत्नदीपदेव की पत्नी अमृतदेवी अपने पुत्र जगदीप को लेकर मैके चली जाती है। तदतर जगदीप की जीवन-रक्षा एवम् उत्कर्ष के हेतु अमृतदेवी कनकपुर मे मालिन बनकर रहती है। वह अपना नाम जालका और बेटे का

1. राईनो पर्वत - (विवेचना अने विवरण) स० प्रो० अनतराम रावल द्वि० आ०, १९५६

नाम राई रख लेती है और नित्य-प्रति राजमहल में राजा पर्वतराय को फूल देने जाती है। पर्वतराय वृद्ध है। उसने अपना विवाह नव-यौवना लीलावती से किया है। एक दिन बगीचे में अनजाने ही राई द्वारा पर्वतराय का वध हो जाता है। इससे राज्य में विद्रोह एवम् विग्रह के फैलने की आशंका होने लगती है। उसे दूर करने के लिए जालका युक्ति करती है। राजा के अंगरक्षक शीतलसिंह से परामर्श कर यह तय किया जाता है कि शीतलसिंह नगर में यह संवाद प्रसारित करे कि पर्वतराय अपने वार्द्धक्य से मुक्त होकर नव-यौवन प्राप्त करने के निमित्त रूद्रनाथ मंदिर की गुफा मे छ. मास की चिकित्सा करवा रहे हैं। अतएव किसी को उनके दर्शन नही होंगे। जालका की यह युक्ति कारगर सिद्ध होती है। नियत अवधि के पश्चात् जालका राई को ही नव-यौवन प्राप्त पर्वतराय के रूप मे लीलावती का पति और कनकपुर का राजा घोषित करने का विचार करती है। राई प्रधान कल्याणकाम से परिचय प्राप्त करता है जो उसे सहायता देता है। छः मास व्यतीत होने पर भरे दरबार मे राई उपस्थित होता है और अपने जीवन की सत्य घटना कह देता है। वह यह भी कहता है कि वस्तुत: वह स्वयम् ही राज्य का उत्तराधिकारी है किन्तु जनता एवम् प्रधानों की इच्छा जानने के लिए फिर पंद्रह दिन की अवधि नियत की जाती है। इस वृतात से लीलावती और जालका दिग्मूढ हो जाती हैं। लीलावती जालका को उसके कुकृत्यों के लिए शाप देती है। फिर स्व० पर्वतराय की एकान्तवासी विधवा पुत्री वीणावती से राई का प्रेम होता है। राई की सच्चरित्रता, प्रामाणिकता और महानता से सभी लोग आकर्षित होते हैं। उसी के साथ उसके विरुद्ध शीतलसिंह, मंजरी और पुरोहित के प्रपंच असफल होते है। लीलावती की सम्मति से राई और वीणावती विवाह करते हैं। तदंतर जालका तथा लीलावती का अवसान होता है और अंत में राई जगदीप के रूप मे सिंहासनारूढ होता है।

रमणभाई ने इस अत्यन्त नाट्यानुकूल वस्तु की सहायता से अपने विचारों एवं आदर्शों का कलात्मक ढंग से निरूपण किया है। मनुष्य अपनी अज्ञानता के वश यह समझ बैठता है कि वह स्वयम् सर्व परिस्थितियों का नियंता है। यह मिथ्या है। यथार्थत. ईश्वर का ही सर्वशक्तिमान है। वही कर्त्ता और हर्त्ता है। उसकी इच्छा सर्वोपरि है। इस सत्य को इस कृति मे लेखक ने बडे ही प्रभावोत्पादक रूप में प्रगट किया है। महत्त्वकांक्षी कुशाग्रबुद्धि जालका के सारे प्रयत्न अन्त मे विफल होते हैं। शीतलसिंह भी पराजित होता है। ईश्वर का सत्यरूप अन्ततोगत्वा प्रगट होकर रहता है। परिणाम स्वरूप जालका और लीलावती की मृत्यु होती है, दुष्ट शीतलसिंह निष्प्रभ एवं निर्वीर्य बन जाता है। राई, वीणावती, कल्याणकाम, सावित्री इत्यादि सात्विक प्रकृति के पात्र सुख एवं शान्ति प्राप्त करते है। लेखक ने नीति की विजय प्रदर्शित कर सत्य के सामर्थ्य की प्रतिष्ठा की है और कृति के मुखपृष्ठ पर अंकित यह पंक्ति चरितार्थ की है कि—"साइयाँ से सब कुछ होत है।" अंग्रेज महाकवि मिल्टन ने अपने महाकाव्य 'पेरेडाइज लोस्ट' मे एक स्थान पर यह कहा है कि—"That I may assert Eternal Providence and Justify the ways of God to Man." मिल्टन का यह वक्तव्य इस कृति मे रमणभाई का रचनादर्श बन गया है। इस आस्तिकता की धर्म भावना के साथ लेखक ने कृति मे कतिपय सामाजिक समस्याओं का भी निरूपण किया है। नवयौवना लीलावती एवं वृद्ध पर्वतराय के वैवाहिक जीवन द्वारा वृद्ध विवाह और अनमेल विवाह की कु-प्रथा को उभारा गया है। इसे सामाजिक व्यंग्य का रूप देने के लिए ही वयोवृद्ध पर्वतराय को उनकी विधवा पुत्री वीणावती के समक्ष अल्पवयस्क लीलावती के साथ

विवाहित होने की घटना अंकित की है। वीणावती का जीवनवृत्त भारतीय विधवा की करुण कहानी है। राई के साथ उसके प्रेम और विवाह को प्रस्तुत कर रमणभाई ने यौवन सहज प्रणय और पुनर्लग्न की सुधारवादी भावना का समर्थन किया है। इस प्रकार यह कृति नीति और धर्म के शाश्वत मूल्यों के साथ समाज और जीवन की स्वस्थ एवं स्वच्छ भावना भी अभिव्यक्त करती है।

यह नाटक संगठन सौष्ठव की दृष्टि से अत्यंत सफल एवं संपूर्ण है। लेखक के प्रौढ़ और परिपक्व ज्ञान, अनुभव तथा दर्शन का यह शुभ फल है। रचयिता ने इसके प्रत्येक महान या गौण प्रसंग, पात्र एवं परिस्थिति का अंकन पूरी सावधानी से किया है। कहीं कोई गंभीर त्रुटि दृष्टिगत नहीं होती। इसलिए श्री रामनारायण पाठक ने इसकी विवेचना करते हुए यह मत प्रगट किया है कि "आधुनिक लोकप्रिय साहित्य कृतियों में ऐसी शायद बहुत ही कम कृतियाँ हैं जो 'राईनो पर्वत' की भाँति सूक्ष्म एवं विशाल आलोचना को सह सके।"[1] नाटक की मुख्य घटना जगदीप (राई) की जीवन कहानी है। उसी के साथ लेखक ने बड़ी सतर्कता एवं कलात्मकता के साथ दुर्गेश और कमला के स्नेह-लग्न तथा कल्याण-काम और सावित्री के प्रसन्न दाम्पत्य को सन्निविष्ट किया है। अंत में राई और वीणावती के प्रेमाचार का इतिवृत्त भी मूल वस्तु के साथ जुड़ गया है। रचनाकार में नाटक के रचना-विधान तथा वस्तु-विन्यास की इतनी पैनी सूझ है कि प्रारंभ से अंत तक इसमें कहीं भी शिथिलता, असंगति या नीरसता का समावेश नहीं होने पाया है। इसमें कोई भी घटना, अपना स्वतंत्र अनावश्यक अस्तित्व बनाये नहीं रहती।

'राईनो पर्वत' में भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्यतत्वों का सुभग सामंजस्य पाया जाता है। वैसे संस्कृत परिपाटी के अनुसार इसमें नान्दी, प्रस्तावना और भरत वाक्य नहीं हैं, परन्तु इसका रचनातंत्र संस्कृत नाट्यानुवर्ती है। सुदीर्घ सात अंकों में वस्तु विकास सुखान्त भावना, शिष्ट संवाद योजना, संस्कृत शैली की कविताएँ, विदूषक की भाँति वंजुल की हास्योत्पत्ति आदि सभी बातें संस्कृत नाट्य शैली का निर्वाह करती हैं। चमत्कारपूर्ण प्रभावोत्पादक नाट्यारंभ पात्रों एवं परिस्थितियों का अंतर-बाह्य संघर्ष, द्वन्द्वात्मक वस्तु विकास और विशिष्ट व्यक्तित्वयुक्त पात्र सृष्टि पश्चिमी नाटकों की भाँति हैं। नाटक में राई का अंतर्द्वंद्व हेमलेट का और जालका का व्यक्तित्व लेडी मैकबेथ का स्मरण कराता है। लम्बे स्वगतों और विस्तृत कथा-वस्तु के कारण नाटक में कहीं कहीं सक्रियता का अभाव दृष्टिगत होता है। अंतिम दो अंक सारे नाटक से पूरी तरह घुलमिल नहीं सके हैं परन्तु उनकी महत्ता असंदिग्ध है।

इस नाटक का नायक राई लेखक का मानसपुत्र है जिसमें उसकी सभी भावनाएँ, कल्पनाएँ तथा आकांक्षाएं मूर्तरूप हुई हैं। इसी पात्र के द्वारा कृतिकार ने ऋतलीला को साकार किया है। राई सात्विक प्रकृति का एक नीतिवान नवयुवक है। प्रारंभ में उस पर विलक्षण एवं विचक्षण व्यक्तित्व संपन्न माता जालका का प्रभुत्व रहता है, तब यह शांत, निष्क्रिय एवं प्रभाहीन दृष्टिगत होता है। परन्तु जालका की आज्ञा से जब लीलावती के चरित्र को दूषित करने की कसौटी की घड़ी उसके सामने आती है, तब वह दृढ़तापूर्वक माँ की अवहेलना कर अपने तप और तेज का परिचय देता है। वह अपने विशुद्ध चरित्र

---

१. साहित्य विमर्श—ले० श्री रामनारायण पाठक' पृ० १७४।

द्वारा सबका प्रीति भाजन बनाना है। वीणावती के प्रेम के लिए राज्य सत्ता, समाज आदि सबको छोडने के लिए वह उद्यत होता है और अत मे परपरा और रूढि को तोडकर उससे विवाह भी कर लेता है। उसका अतिम उत्कर्ष वस्तुत भव्य और दिव्य हैं। नाटक मे रजोगुणी जालका सूत्रधारिणी के उच्च पद पर आसीन है। उसमें प्रबल कार्य शक्ति दृढ सकल्प, बल और तेजस्वी व्यक्तित्व है। वह केवल साध्य को ही दृष्टि समक्ष रखती है। साधन के शुद्धाशुद्ध होने की उसे चिता नही। परतु लीलावती के शाप के बाद उसकी भीषण महत्वाकाक्षा और अदम्य मनोबल विलुप्त हो जाते है और उच्च न्याय के विधानानुसार उसका निधन होता है। लीलावती के पात्र द्वारा रमण भाई ने नारी जीवन की विशेषताएँ प्रगट की हैं। वह दयनीय चरित्र है। मधुर दापत्य जीवन की सवादिता सावित्री और कल्याणकाम ने चरितार्थ की है। 'कवि हृदय की उत्तमोत्तम सम्पत्ति द्वारा उनका निर्माण हुआ है।'[1] शीतलसिंह की प्रवृत्तियाँ खलनायक के ही अनुरूप हैं। वजुल की अवतारणा हास-उपहास की सृष्टि के निमित्त हुई है। नाट्य स्रष्टा ने इन विभिन्नता और विशिष्टता से परिपूर्ण पात्रों के द्वारा समाज के अत्यत वास्तविक चरित्रों को अकित किया है।

'पडित युग' की शिष्ट कृति होने के कारण 'राईनो पर्वत' का समग्र वातावरण सस्कारयुक्त, सयममय तथा सात्विकता से ओतप्रोत है। इसके सुदर भाववाही सवाद और रसाभिषिक्त कविताएँ सस्कृत की प्रशिष्ट नाट्य कृतियो के समान हैं। इसकी भाषा शुद्ध और सुस्पष्ट है तथा शैली शात और गभीर है। पर उसमे गतिशीलता, सक्रियता इत्यादि आधुनिक तत्त्व अनुपस्थित हैं। स्वगतो ने कही-कही लबे उपदेश प्रधान वक्तव्यो का रूप ले लिया है। यह 'पडित युग' का एक विशेष लक्षण है जो 'सरस्वती चद्र' मे भी उपलब्ध होता है। 'राईनो पर्वत' मे अभिनेयता के उपादानो का अभाव है "यह साहित्यिक नाटक है।"[2] गभीर चितन, विस्तृत कथानक, सुदीर्घ स्वगत भाषण तथा शिष्ट भाषा शैली के कारण यह 'पाठ्य नाटक' का आदर्श उपस्थित करता है।

इस आदर्श प्रधान उत्कृष्ट रचना का प्रधान रस शात रस है। परतु यह शात रस उस निर्वेदयुक्त 'शान्त रस' की परपरा मे नही आता जिसकी संस्कृत आलकारिको ने 'शान्तोपि नवमो रस' कहकर नवें रस के रूप मे गणना करने की कृपा की है। 'राईनो पर्वत' का मुख्य प्रयोजन प्रार्थना एव नीति की विजय द्वारा उपलब्ध शान्ति, स्वस्थता, आनद का आस्वाद करवाना है। इस दृष्टि से इस कृति मे परपरागत 'शात रस' की भावना बदल गई है। इस नाटक द्वारा लेखक 'परम शाति' की झलक दिखाने वाली नैतिक निर्णयजन्य शाति प्रदर्शित करता है। यह मात्र झलक ही है। ऐहिक जीवन मे तो शाश्वत शाति की प्राप्ति सभव नहीं है। अतएव यदि उसे सर्वांश रूप मे प्रगट नही किया जा सके तो आशिक रूप मे ही प्रगट करने की भावना इस नाटक का अद्वितीय अग है।"[3] शात रस के साथ शृगार, करुण और हास्य रस का भी परिपाक हुआ हुआ है। अन्त मे हम यह निष्कर्ष रूप मे कह सकते हैं कि सर रमणभाई नीलकठ की यह नाट्य कृति गुजराती की अमर रचना है।

---

१. श्री रामनारायण भाइ पाठक—साहित्य विमर्श।
२. श्री उमाशकर जोशी—'सस्कृति', जनवरी १९५८—पृ० २८।
३. श्री रामनारायण भाइ पाठक—साहित्य विमर्श—पृ० १९७।

'इन्दुकुमार' (१६०६)

कवि नानालाल का यह सर्वप्रथम नाटक है जो प्रेम और विवाह-विषयक सामाजिक समस्या पर आधारित है। इसकी रचना में लगभग पैंतीस वर्ष लग गये। विवाह और गृहस्थाश्रम, देश-भक्ति और स्वराज्य, संस्कृति-समन्वय, लोकोद्धार, त्याग, ब्रह्मचर्य इत्यादि विविध विषयों का इसमें कवि ने वैयक्तिक दृष्टि से विवेचन किया है। इस रचना में कथा के तारतम्य का अभाव है। इसके तीन अंकों को तीन विभिन्न नामों से अभिहित किया है। पहले अंक का नाम है 'लग्न', दूसरे का 'रास' और तीसरे का 'समर्पण'। यह अनुभव होता है कि नाटक के तीनों भागों में देह और आत्मा, भोग और त्याग, संसार और सेवा सम्बन्धी जीवन के कूट प्रश्नों का निरंतर मंथन चल रहा है। नाटक की मूलगत भावना के पीछे जीवन का यथार्थ प्रतिबिंबित नहीं होता, प्रत्युत कवि की आत्म परिमित कल्पना और भावुकता प्रगट होती है। 'इन्दुकुमार' में इन्दुकुमार नायक है जो अमृतपुर के सेठ जगन्नाथ का सुपुत्र है। उसे कांतिकुमारी नामक पुरकन्या से प्रेम है। परन्तु गुरु के आदेशानुसार इन्दुकुमार ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर एक वर्ष के लिए अज्ञातवास ग्रहण करता है। अवधि समाप्त होने पर वह लौटता है। किन्तु इसी बीच कान्तिकुमारी विरह-व्यथा से व्याकुल होकर विक्षिप्त-सी बन जाती है। अपनी भाभी प्रमदा की प्रेरणा से वह विलास-कुञ्जों में जाती है, किन्तु तुरत ही वह आत्मस्थ होकर लौट आती है। इधर इन्दुकुमार अपने मुनीम जीवनदास (आनन्द भगत) द्वारा स्थापित मंदिर का महन्त बनता है। कांतिकुमारी की विलास-कुंजों में जाने की भूल उसका जीवन विनष्ट करती है। इन्दुकुमार का उससे विवाह नहीं हो पाता और नाटक का सांकेतिक अन्त होता है जो करुणांत के अधिक समीप है। कवि नानालाल को इस कृति की लिखने की प्रेरणा रणछोड़भाई उदयराम कृत 'जयकुमारी विजय' नाटक से प्राप्त हुई है जिसमें 'स्नेह लग्न' का समर्थन किया गया है। 'इन्दुकुमार' में भी कवि ने 'स्नेह लग्न' की भावना का निरूपण किया है और अन्त में यह प्रतिपादन किया है कि प्रेम-मार्ग में पैदा होने वाली सारी विषमताओं का उत्तरदायित्व आप्तजनों का है जो प्रणयी युगल को सहानुभूति और सहयोग प्रदान नहीं करते। इस दृष्टि से यह नाटक समस्यामूलक बनता है।

इस नाटक की रचना-शैली के विषय में कवि ने स्वयम् प्रस्तावना में स्पष्टता की है कि यह भाव-प्रधान नाटक (Lyrical Drama) है। इसका रचना विधान गेटे या शैली की नाट्य-कृतियों से मिलता-जुलता है। शेक्सपीयर की शैली का या संस्कृत नाट्य शैली का इसमें अनुसरण नहीं किया गया है। यह रूपक ग्रीस की सौष्ठव प्रिय (Classical) पद्धति के अनुसार नहीं, अंग्रेजी कौतुकप्रिय (Romantic) पद्धति के अनुसार प्रणीत हुआ है। तदुपरान्त 'इन्दुकुमार' दृश्य नहीं, पर श्राव्य नाटक है। नानालाल की नाट्य शैली की विशेषताओं की विस्तृत विवेचना इनके पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों के संदर्भ में पीछे की जा चुकी है। कवि के सभी नाटक एक ही शैली का अनुसरण करते हैं; अतः यहाँ पिष्टपेषण न कर केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि 'इन्दुकुमार' कवि की 'डोलन शैली' का ही उदाहरण प्रस्तुत करता है जिसे 'अपद्यागद्य' के नाम से भी अभिहित किया जाता है। नाटक का समस्त वातावरण भावनायुक्त एवं काव्यात्मक है।

'इन्दुकुमार' में न कार्य-व्यापार का समावेश हुआ है और न संघर्षात्मक परिस्थिति की सृष्टि हुई है। भावनाओं के भाव-प्रतीकों के रूप में विविध पात्रों का अवतरण हुआ है। नायक इन्दुकुमार चिंतनशील, आदर्शवादी और भावुक है जिसे वास्तविकता का ज्ञान नहीं

है। नायिका कांतिकुमारी इन्दुकुमार की प्रियतमा है। वह ज्ञानी और बुद्धि-वैभवयुक्त है। स्नेह जीवन और सेवा-भावना उसके जीवन की प्रमुख अभिलाषाएँ है। इन्दुकुमार की आदर्शातिशयता उसके जीवन को करुण बना देती है। नपाली जोगिन स्त्री सेवा और प्रेम की प्रतिमूर्ति है। पाखडी तो प्रकृति की ही आत्मा है। उसके गीतो मे ब्रह्माड के शाश्वत के प्रश्न समाविष्ट हुए है। इन्दुकुमार की सबसे बडी विशेषता उसके भावप्रवण गीत हैं। 'ये गीत सदैव गुजरात के श्रेष्ठ भाव गीतो मे परिगणित होते रहेगे। यह नि सदेह कहा जा सकता है।''[1]

'जया अने जयत' (१९१४)

कवि नानालाल के नाटको मे 'जया अन जयत' सर्वश्रेष्ठ नाटक माना जाता है। इसमे कवि ने आत्म-लग्न और नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की भावना का निरूपण किया है। जया नायिका है और जयत नायक है। जया गिरिदेश की राजकुमारी है और जयत गिरिदेश क स्वर्गवासी मत्री का पुत्र है जो अपने पराक्रमो से सुप्रसिद्ध है। जया और जयत समवयस्क ह। दोनो एक दूसरे के प्रति आकृष्ट है और विवाह करना चाहते हैं। परन्तु जया की माता के विरोध के कारण वे विवश है। जया का सम्बन्ध काशीराज से तय किया जाता है। काशीराज तीर्थगोर की कन्या शेवती के साथ मुक्त विहार करता है। काशीराज से विवाह होने के भय से जया नगर छोडकर कही चली जाती है। राजा क्रुद्ध होकर गिरिदेश पर अधिकार जमा लेता है। जया के माता पिता निराधार स्थिति मे काशी मे निवास करते है। जयत जया की खोज करता हुआ अन्त मे हताश होकर काशी में 'हरिकुज' आश्रम स्थापित करता है। जया वाममार्गी आचार्य और पारधी की मलिन मनोवृत्ति से अपनी रक्षा करती हुई तेजबा के साथ काशी नगरी मे आ पहुँचती है। काशी मे तीर्थगोर की कुवासना से बचन क लिए जया गगा नदी मे कूद पडती है। सौभाग्य से जयत के शिष्य उसे बचाकर आश्रम म ले जाते हैं। 'सृष्टि की समस्त सु दरता' की मूर्ति जया को देखकर जयत विह्वल बन जाता है। तदन्तर 'स्वस्थचित' होकर जयत 'नैष्ठिक ब्रह्मचय का व्रत लेता है। जया के साथ उसका 'आत्मलग्न' होना है। जया गगा के उस पार जाकर 'सुन्दरियों' के लिए मठ स्थापित करती है। दोनो देह कर्पण और देहस्पर्श से मुक्त है और आत्मा से एक हैं। इस 'सायुज्य' भावना स देव और ऋषिगण प्रसन्न होते हैं और आशीर्वाद देते हैं। नाटक का अन्तिम दृश्य अत्यन्त प्रभावोत्पादक और सुदर है। कवि ने उसम नैसर्गिक तथा स्वर्गीय तत्वो का अपूर्व सयोग किया है जो वस्तुत हृदयगम है।

'जया अने जयन' नाटक की समस्या सामाजिक है, परन्तु वातावरण पौराणिक है। कवि न दोनो का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। उपर्युक्त कथानक कल्पनाप्रसूत है। कवि न राजा और रानी के रूढिगत लग्न जीवन, काशीराज और शेवती क निर्बन्ध व्यवहार तथा वामाचार्य और नृत्य दासी के दुराचारपूर्ण सम्बन्ध का प्रस्तुत कर अन्त म आत्म लग्न की महिमा गाई है। कवि क मतानुसार देहलग्न पाप है। स्थूल सम्बन्ध पशुता का द्योतक है। विषय-वासना और देहाकर्षण को भस्मीभूत कर आत्मा का आत्मा के साथ सयोग पवित्र और श्रेयस्कर है। इसलिए नाटक मे आत्म-लग्न की सात्विक भावना शीर्षस्थ है। इस दृष्टि म नाधन

---

१. श्री विजयराय कल्याणराय वैद्य, गुजरात साहित्य सभा, १९३२ नी समीक्षा, पृ० १८।

इसी भावना की अभिव्यजना हुई है। इस दृष्टि से यह नाटक भाव-नाट्य की कोटि में परिगणित किया जा सकता है। नाटक में समकालीन राजनैतिक आदर्श भी प्रस्फुटित हुए हैं।

इस नाटक का रचना-विधान तथा वस्तु विन्यास नानालाल के अन्य नाटकों की अपेक्षा अधिक कौशलयुक्त है। सभवत इसका कारण नाटककार का 'जया अने जयन्त' को रगमचीय दृश्य नाटक के रूप में प्रस्तुत करने का सकल्प है। इसमें न कथानक का अनावश्यक विस्तार हुआ है और न पात्र-सृष्टि अधिक निर्जीव या निष्क्रिय है। कवि की इस रचना में सर्वत्र घटनाजन्य वस्तु-प्रवाह है और साथ ही पात्रों का स्पष्ट तथा कलात्मक चित्रण भी है। नानालाल के व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व देवर्षि का पात्र करता है। वह नाटक के नायक और नायिका का प्रेरणा स्रोत है। तदुपरात नाटक की रसलक्षी एकसूत्रता भी उसी के द्वारा सिद्ध हुई है। उसके प्रारंभिक और अन्तिम हृदयोद्गार क्रमश नादी एव भरत-वाक्य का काम देते हैं। वस्तुत उसका चरित्र बडा सात्विक और सम्मोहक है। कवि नानालाल सदैव घोर व्यक्तिवादी रहे हैं। आत्मपरक आदर्शवादी अभिव्यक्ति उनकी कृतियो का साधारण लक्षण है। परिणामस्वरूप, इस कृति में भी सभी पात्रों को मुक्त वातावरण में आत्म-प्रकाशन का अवसर प्राप्त नही हुआ है। वे बन्धे-बन्धे से कवि के आज्ञानुवर्ती सेवक प्रतीत होते हैं। इस स्थिति मे जया और जयन्त भी पूर्णत मुक्त नही हैं। नानालाल ने उनका भी अन्तर्द्वन्द्व समीचीन ढग से चित्रित नही किया है।

कवि की 'डोलन शैली' एक ओर यदि सौन्दर्य साधक है तो दूसरी ओर वह उतनी ही सौन्दर्योद्घाटन मे बाधा उपस्थित करती है। इस शैली से नाटक मे काव्यत्वपूर्ण मनोहर वातावरण अवश्य सर्जित हुआ है। पर उसी के साथ एकरसता (Monotony) का दोष भी आ गया है। 'जया अने जयन्त' मे जया तथा जयन्त जिस शैली मे बोलते हैं उसी शैली मे पारधी भी बोलता है और अन्य सभी उच्च और निम्न वर्ग के पात्र उसी शैली का उपयोग करते हैं। यह न स्वाभाविक है और न सगत ही है। कवि अपने नाटको मे चमत्कारिकता की सृष्टि के निमित्त पराप्राकृत तत्वो का सदैव उपयोग करते हैं। इस कृति मे तो हिमगिरि, काशी आदि के अनेक दृश्य अद्भुत और अलौकिक हैं। देवर्षि का उड्डयन, काल गुफा का उद्घाटन, भूत, भविष्य और वर्तमान का आत्म-कथन, अप्सराओं का आगमन और प्रकाश-पुज का प्रसारण—ये सारी घटनाएँ अद्भुत रस की सृष्टि करती हैं। इनसे नाटकीय वातावरण की भव्यता और दिव्यता सघन रूप मे बनी रहती है और सामान्य पाठक इन चमत्कारों से पूर्णत आकृष्ट भी रहता है। किन्तु आधुनिक तर्क शुद्ध दृष्टि को यह सब युक्ति युक्त तथा सभाव्य प्रतीत नही होता। इस कृति का सबसे अधिक रमणीय प्रसग जया और जयन्त की हसो के साथ क्रीडा है। हालाकि त्रिकालदर्शन का प्रवेश नाट्य-वस्तु मे अनावश्यक है, तो भी वह इस कलाकृति का उच्चतम शिखर है। भव्य कल्पना द्वारा सूचनात्मक ढग से वस्तु-निरूपण की कवि-प्रतिभा का यह एक अन्य उदाहरण है।

कवि नानालाल की सुप्रसिद्ध काव्यालकृत रसिक भाषा-शैली का दर्शन इस रचना मे भी पूर्ण रूप से होता है। वही प्रासयुक्त भाषा लयात्मक गद्य, मधुर कोमल शब्दावली और स्वगत परम्परा सर्वत्र दृष्टिगत है। गीति काव्य के सभी तत्त्वो से समृद्ध उत्तम गीत इस कृति की सबसे बडी उपलब्धि है। अन्य उल्लेख्य वस्तु है कवि की सयमशील अभिव्यक्ति। प्रणय एव परिणय प्रधान यह नाटक कही भी स्थूल शृगार भावना प्रगट नही करता। इसमे कही भी असयमित या अश्लील कथन का उच्चारण नही होता। यह कवि के अन्तर्लोक की

पवित्रता और आध्यात्मिकता का परिचायक है।

इस कृति मे अभिनय-क्षमता नही है। काट छांट करने के पश्चात् ही यह रगमच के उपयुक्त हो सकती है। परन्तु "मन के रगमच पर अभिनय इस विशिष्ट कृति का गुजराती नाट्य साहित्य म अत्यधिक मूल्य है।"[1]

'उगती जुवानी' (१९२३)

च० क० ठाकोर का यह सामाजिक नाटक मूलत रगमच की आवश्यकता-पूर्ति के निमत्त रचा गया है। इसमे लेखक ने सम्मिलित हिन्दू परिवार की समस्या पेश की है। तदुपरात मद्य निषेध, विवाह प्रथा, उच्च शिक्षा इत्यदि सामाजिक विषयो पर भी प्रकाश डाला है। इसकी सवाद शैली सरल और वातावरण गार्हस्थ्य जीवनानुकूल है। नाट्कला की दृष्टि म इस रचना की परीक्षा करने पर यह एक असफल कृति सिद्ध होती है।

कन्हैयालाल माणेकलाल मुशी के सामाजिक नाटक

इस प्रबन्ध के 'पौराणिक नाटको' के अध्याय मे हम कन्हैयालाल माणेकलाल मुशी के पौराणिक नाटको की विवेचना कर चुके हैं और यह भी निर्देश कर चुके हैं कि मुशीजी गुजराती नाट्य साहित्य मे असाधारण प्रतिभा लेकर अवतरित हुए। मुशीजी ने सामाजिक नाटको का भी प्रणयन किया है। इनके इन नाटको मे सामाजिक परपराओ और रूढियों के प्रति विद्रोहात्मक एव व्यग्यात्मक विचारधारा प्रगट हुई है।

'काकानी शशी'

कन्हैयालाल मशी का यह सर्वप्रथम सामाजिक नाटक १९२९ मे प्रगट हुआ। इसमे आधुनिक युग की नारी की तथाकथित स्वतन्त्रता और समानता की भावना पर मार्मिक व्यग्य किया गया है। इसकी नायिका शशी है। बचपन मे ही वह अनाथ हो जाती है। उसे मनहरलाल काका पाल पोसकर बडा करते हैं। तदतर वकील कुदनलाल की पत्नी विधुमुखी, फौजदार मोतीराम की प्रेयसी शिवगौरी, पडोसिन गगा बहन इत्यादि के सहयोग से शशी, स्त्री-स्वातन्त्र्य और स्त्री-जागृति सघ का कार्य करती है। शशी के वाक्-चातुर्य और देह-सौंदर्य से वकील कुदनलाल और कवि गौरीशकर आकृष्ट रहते हैं। शिवगौरी का पति इन्द्रजीत तो उसे भगाने के प्रयत्न करता है। परन्तु शशी इन सब 'प्रेमियो' को उल्लू बनाती है। जब विवाह का अवसर आता है तब वह सबका त्याग कर मनहर काका से ही शादी कर लेती है और हमेशा के लिए 'काका की शशी' बन जाती है। जिस काका न उसे बचपन म कपडे बेचकर दूध पिलाया और लोगो के बर्तन मांजकर उसे सुखी किया वह उन्ह ही सुख देती है। इस कृति का अन्त रूढिवादी समाज को झकझोर देता है और यह सोचने को विवश करता है कि क्या शशी का विवाह मुसगत है। मुशीजी के इस नाटक मे उच्चशिक्षा प्राप्त नर-नारियो की कामुकता और स्वच्छदता पर व्यग्य है। लेखक का विचार है कि आधुनिकता के नाम पर आज क सस्कारी लोग अपनी अतृप्त काम-वासना ही परितृप्त करते हैं। स्त्री समानता का नेतृत्व करने वाली नारियाँ पुरुष के समक्ष तो अपने प्रेमाचार और सौंदर्य प्रदर्शन

---

१. साहित्य विहार प्रो० अनतराय रावल, पृ० १६७।

मे ही धन्यता का अनुभव करती हैं। नारी की इस 'नैसर्गिक निर्बलता' पर मुंशीजी ने मार्मिक कटाक्ष किया है। सभी पात्रों का निरूपण अत्यन्त स्वाभाविकता से हुआ है। नाटक मे 'काका' का गंभीर समृद्ध व्यक्तित्व मुंशीजी की इस पात्र सृष्टि मे विलक्षण एवं विशिष्ट है। नाटक की समाप्ति के समय शशी का 'काका' के साथ विवाह करना जितना आश्चर्य-जनक है उतना ही नाट्यात्मक भी है। इस प्रसंग से शशी उपहासनीय स्थिति से बच जाती है और नाटक दुःख मे पर्यवसित नही होता। इस नाटक का यह अन्त प्रहसनोचित हास्य-रस की सृष्टि नही करता। किन्तु गंभीरतापूर्वक हमें विचार करने को बाध्य करता है। इस दृष्टि से 'काकानी शशी' की गणना प्रहसन की कोटि म नहीं हो सकती। इसे Serio comedy कहना अधिक सुसंगत होगा। इस नाटक मे पर्याप्त अभिनयक्षमता है। अनेक बार अवैतनिक कलाकारों द्वारा यह सफलतापूर्वक खेला जा चुका है। रंगमंचीय एवं साहित्यिक गुणों से विभूषित 'काकानी शशी' मुंशीजी के सामाजिक नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है।

'ब्रह्मचर्याश्रम' (१९३१)

कन्हैयालाल मुंशी ने इस नाटक की रचना यरवदा जेल मे की है। नाटक की अधिकांश घटनाएँ जेल मे घटती हैं। सन् १९३० के गांधीजी के सत्याग्रह आन्दोलन मे भाग लेने के कारण डॉ० मधुभाई, बैरिस्टर नरोत्तम, सेठ गगादास, प्रो० छोटुभाई, श्री भगवानदास, इत्यादि को जेल होती है। जेल मे इन लोगो को अपना परिवार याद आता है। डॉ० मधुभाई सभी साथियों को ब्रह्मचर्य का उपदेश देते है। जेल से छूटने पर वे ब्रह्मचर्याश्रम स्थापित करते है और उनके सभी साथी उसमे रहते हैं। आश्रम के रसोइये दाजी पटेल के बीमार पडने पर उसकी भतीजी पेमली रसोई बनाने के लिए आती है। वह रूप-रंग से सुन्दर है। उसे देखकर आश्रमवासी अपना ब्रह्मचर्य व्रत भूल जाते हैं। उसे सहायता देने के बहाने सभी उसके निकट जाने का प्रयत्न करते हैं और विविध रूप से प्रेम प्रदर्शित करते हैं। पेमली के कारण उनमे द्वेष और वैमनस्य पैदा होता है और आश्रम टूट जाता है। इस प्रकार मुंशीजी का यह प्रहसन ब्रह्मचर्य के नाम पर तथाकथित गांधीवादियों द्वारा की जाने वाली आत्म प्रवंचना की कटु आलोचना करता है और मानव मन की यथार्थता का उद्घाटन करता है। पहले ही अंक मे लेखक ने सत्याग्रहियों के मन के उपहसनीय पक्ष को बडी ही कुशलता से उभारा है। तदन्तर अन्य अंकों म ब्रह्मचर्य की दाम्भिकता, आत्म-प्रतारणा, पारस्परिक ईर्षा, निन्दा, इत्यादि मानवी दुर्बलताओं का स्वाभाविक ढंग से प्रकाशन किया है। इसम जीवन की वास्तविकता के चित्र हैं। पेमली का चरित्र बडे ही कौशल से चित्रित किया गया है। उसका देहाती लहजा और सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि उसके व्यक्तित्व को आकर्षक बनाती है। गर्वाग्नि होते हुए भी वह आश्रमवासियों से अधिक संयमी और सतुलित है। इससे नाटक की मूल भावना विशेष प्रभावोत्पादक बनी है। अन्त तो बडा ही मार्मिक और व्यंग्यात्मक है।

मुंशीजी की यह कृति भाषा-शैली, संवाद-योजना, दृश्य-विधान, रचना-शिल्प इत्यादि की दृष्टि से सफल है। यह नाटक एक अच्छे प्रहसन का उदाहरण पेश करता है।[1] इसके अनेक सफल रंगमंचीय प्रयोग हो चुके है। गुजराती मे यह अत्यन्त लोकप्रिय प्रहसन है।

---

१. श्री रामनारायण पाठक—साहित्य विमर्श—पृ० १२८०।

'पीडाग्रस्त प्रोफेसर' (१९३४)

मुशीजी ने अपने उपन्यास 'स्नेह सभ्रम' के आधार पर इस सामाजिक प्रहसन की रचना की है। प्रो० प्रीतमलाल को इस कृति मे नायकत्व प्रदान किया गया है। उनकी पत्नी धनकोर सदा रुग्ण रहती है। प्रीतमलाल बहुधा घर से बाहर रहते हैं, अत उनकी पत्नी सदा उनसे अप्रसन्न रहती है। शमशेरबहादुर नामक एक दभी, दुर्बल, धनाढ्य सज्जन की पत्नी वसुधरा प्रीतमलाल के सम्पर्क मे आती है। दोनो समाज मे निंदापात्र बनते हैं। काकाजी और और जसकोर काकी उन्हे सन्मार्ग अपनाने का उपदेश देते हैं। एक बार सुमन, मोहिनी, छगिल आदि रात्रि व समय काकाजी के एक बगले मे एकत्रित होते है। कुछ मित्र चोर बनकर उनको डराते हैं। शमशेरबहादुरसिह उनका मुकाबला नही कर पाते। इसलिए वे अपमानित होते हैं। प्रीतमलाल बेसुध वसुधरा की सेवा-सुश्रूषा करते हैं। दोनो भागन की योजना भी करते हैं। परतु शमशेरबहादुरसिह की त्याग वृत्ति और उदार-भावना से पिघलकर वसुधरा प्रोफेसर को छोड देती है और पति के साथ पूना चली जाती है। प्रोफेसर हाथ मलते रह जाते है।

इस नाटक मे हमारे समाज के उच्च मध्यवर्गीय लोगो की जीवन समस्याओ का 'यथार्थ पृथक्करण एव सत्य दर्शन' है। नाटक के अन्त मे मुशीजी न यह प्रतिपादित किया है कि भावना और कर्त्तव्य के सघर्ष मे कर्त्तव्य की विजय वाछनीय है। इसक नायक प्रोफेसर प्रीतमलाल शिक्षित और सस्कारी होते हुए भी स्नेह की भ्रामक मान्यता के शिकार बने हुए है। यह हमारे सारे शिक्षित समाज की एक विडम्बना है। लेखक ने प्रीतमलाल और शमशेरबहादुर की मनोगत दुर्बलताएँ बडी सावधानी से प्रगट की हैं। नाटक मे शमशेरबहादुरसिह गौण पात्र होते हुए भी नायक का-सा महत्त्व पाता है। यह इस कृति का दोष कहा जा सकता है। उपाधिधारी प्रीतमलाल स्पष्टवादी, स्नेहशील, हँसोड एव सहृदय है और शमशेर अशिक्षित, लपट, दुर्बल, शुष्क एव मिथ्याभिमानी है। दोनो पात्रो को जोडने वाली कडी वसुधरा है जिसकी स्थिति बडी विषम है। वह भावना और कर्त्तव्य के द्वन्द्व के मध्य विवश सी बनी रहती है। नाटक के अन्य नारी पात्र स्त्री जीवन की स्वाभाविकताएँ प्रगट करते हैं। मुशीजी ने इस वैविध्यपूर्ण पात्र सृष्टि के द्वारा इस रचना म निर्बंध हास्य की सृष्टि की है। यह नाटक गुजराती रगमच पर वर्षों से प्रेक्षणीय बना हुआ है।

इसके अनतर सन् १९३४ मे कन्हैयालाल मुशी के तीन सामाजिक नाटको का एक सकलन 'सामाजिक नाटको' के नाम से प्रकाशित हुआ जिसमे 'बावा शेठनु स्वातत्र्य', 'आज्ञाकित' और 'बे खराब जण' सग्रहीत हैं। इन तीनो नाटको मे मुशीजी ने सामाजिक यथार्थ को उभारा है।

'बावा शेठनु स्वातत्र्य' मे दाम्पत्य जीवन की विसवादिता का चित्र है। बावा शेठ और उनकी पत्नी रेवा मे सदा अनमेल रहता है। रेवा बावा शेठ पर कठोर नियत्रण करती है। उससे मुक्त होने के निमित्त बावा शेठ राधा के साथ अपने प्रेम और विवाह की बात फैलाते हैं। रेवा इससे डर कर झुक जाती है और सेठ जी को स्वातत्र्य प्राप्त हो जाता है। उसी के साथ राधा और मगन को भी विवाह की अनुमति मिल जाती है। इस प्रकार हास्य-प्रिय मुशीजी ने पति पत्नी के सघर्ष की गभीर समस्या का अगभीर ढग से हास्ययुक्त समाधान प्रस्तुत किया है। एकाकी के कथानक को पचाकी मे समाविष्ट करने के असफल प्रयत्न के कारण यह कृति सामान्य कक्षा की बन गई है।

'आज्ञांकित'

इस कृति में मुंशीजी नारी-जीवन की करुण कहानी प्रस्तुत करते है। विधवा काशीबा अपनी दो पुत्रियों—सविता और कमला—का विवाह क्रमशः धीरजलाल और जोईता से करने वाली हैं। धीरजलाल सेठ हरकिशनदास का भतीजा है और जोईता उनका गुमास्ता है। सेठजी विधुर और प्रौढ हैं। वे काशीबा को पच्चीस हजार रुपया देकर सविता से विवाह कर लेते हैं और अपने आज्ञांकित भतीजे धीरजलाल की कमला से शादी करवा देते हैं। इस अनमेल विवाह से सन्त्रस्त और सक्षुब्ध युवा सविता घर छोडकर भाग जाती है और वेश्या बन जाती है। एक दिन सेठजी की वासना-तृप्ति के लिए जो वेश्या लाई जाती है वह सविता ही होती है। उन्हें पहचानने पर वह तत्काल ही सेठजी का तिरस्कार कर चली जाती है। इससे सेठजी को मर्मान्तक पीडा होती है और उनका अवसान होता है। अन्त मे सविता जोईता को अपनाती है। मुंशीजी का यह नाटक विषादयुक्त वातावरण में नारी-जीवन की विवाह समस्या की जटिलता का निर्देश करता है। इसका वस्तु-विधान सुश्लिष्ट और सप्रमाण है। यद्यपि यह कृति करुणान्तकी के अधिक निकट है तथापि इसमे जोईता द्वारा हास्य और व्यंग्य का भी उद्रेक हुआ है। जोईता की उक्तियों मे अर्थ सघनता एवं दार्शनिकता का पुट मिलता है। इस दृष्टि से यह पात्र महत्त्वपूर्ण है। वेश्या-जीवन अंगीकार करने पर ही सविता की वेदनाओं का अन्त होता है। यह स्थिति शरद् बाबू के उपन्यासों का स्मरण कराती है। मुंशीजी चाहते तो सविता को इब्सन की 'नोरा' के मार्ग का अनुसरण करवाकर उसके व्यक्तित्व को ऊपर उठा सकते थे। परन्तु उन्होने न जाने क्यों इसे उचित नहीं समझा। वैसे यह मुंशी जी का अच्छा नाटक है।

'बेखराब जण'

कन्हैयालाल मुंशी इस प्रहसन द्वारा आधुनिक युवतियों की विवाह स्वतंत्रता का समर्थन करते हैं। इसकी नायिका रभा 'आज्ञाकित' नाटक की सविता की भाँति अपना जीवन विनष्ट नही करती, प्रत्युत् पिताजी के विरुद्ध विद्रोह कर अपनी आकाक्षा स्वयं परिपूर्ण करती है। उसके पिता पुरुषोत्तम पोपडा है जो विलायत से लौटे हुए रामदास डगलीवाला से उसका विवाह करवाना चाहते हैं। रामदास ने इसके लिए उन्हे एक लाख रुपया भी दिया है। परन्तु रंभा डॉ० मोहन मेढीको से प्रेम करती है। अनेक कठिनाइयो और संघर्षों के पश्चात् अन्त मे वह उसी से विवाह करती है। इस प्रहसन मे डॉ० मोहन मेडीको प्रमुख हास्योत्पादक चरित्र है। वह आरंभ से अन्त तक अपनी विचित्रताओ के द्वारा मुक्त हास्य की सृष्टि करता रहता है। उसके व्यक्तित्व का निरूपण साद्यंत कौशलयुक्त तथा सतर्कतापूर्वक किया गया है। मुंशी जी के हास्यरस के सभी पात्रो में मोहन मेडीको प्रमुख एव प्रथम है। नाटक के अन्य पात्र गभीर हैं। लेखक ने विरोधी स्वभावो के पात्रो की सहायता से नाट्य-वस्तु मे क्रियाशीलता तथा कौतूहल की सृष्टि की है। इस कृति का कथानक सुदीर्घ है। परंतु बडी कलात्मकता से कृतिकार ने उसकी सकलना की है। कही भी नीरसता या रुक्षता की प्रतीति नही होती। इस नाटक मे अभिनेयता का अभाव है। यह इसकी बहुत बड़ी त्रुटि है।

'छीए तेज ठीक' (१९४६)

मुंशीजी की इस रचना मे मानव की एक विचित्र मनोवृत्ति को नाट्यात्मक रूप दिया

गया है। कभी-कभी कतिपय पुरुषो और स्त्रियो मे परस्पर आत्मा का परिवर्तन करने की आकाक्षा जागती है। इस अवाछनीय परिवर्तन के पश्चात् जो प्रतिक्रियाएँ होती है वे वस्तुत उपहसनीय हैं। मुशीजी का 'छीए तेज ठीक' प्रहसन उसी से सम्प्रन्थित है। पाश्चात्य सस्कारो मे रगा हुआ जितन्द्र भारतीय सस्कृति की उपासिका उर्वशी के सम्पर्क मे आता है। जितेन्द्र उससे तभी विवाह करने का निश्चय करता है जब दोनों की आत्माएँ परस्पर परिवर्तित होकर अभिन्नत्व प्राप्त कर ले। एक साधू की चमत्कार शक्ति से यह क्रिया सम्पन्न होती है। परतु आत्मा की अविभक्तता प्राप्त करने के स्थान पर वे दोनो एक दूसरे के जातीय सस्कार, स्वभाव और वाक्-शैली को अगीकार कर लेते हैं। परिणामस्वरूप जितेन्द्र मे स्त्रैणता आ जाती है और उर्वशी पुरुषो का सा अप्राकृतिक व्यवहार करने लगती है। इस विचित्र और विनोदयुक्त परिस्थिति द्वारा नाटक मे ऐसी बातें बनती हैं जिनसे अनवरत हास्य के फव्वारे छूटते रहते हैं। अन्त मे उसी साधू की सहायता से दोनो पात्र पुन मूल रूप ग्रहण करते है और यह घोषणा करते हैं कि 'हम जैसे हैं वैसे ही ठीक हैं।" यह नाटक इस हास्योत्पादक कथावस्तु के कारण रगमच पर अत्यधिक सफलता और लोकप्रियता प्राप्त करता रहा है। इस सफलता मे चमत्कार-युक्त और प्रभावोत्पादक सवादो का भी बडा योग है। मुशी जी ने हास्य रस की इस कृति मे अत्यत गम्भीरतापूर्वक यह कह दिया है कि आज फैशन परस्ती के जमाने मे पुरुष स्त्रैण और स्त्री निर्लज्ज और अस्त्रैण बनती जा रही है। यह जातीय गुणो का विपर्यय चिंतनीय विषय है। समाज के श्रेय और उत्कर्ष के लिए यह आवश्यक है कि स्त्री सुकोमलता और सुन्दरता की देवी बनी रहे और पुरुष पौरुषयुक्त नर वीर बना रहे। चौथे अक मे साधु के शब्दो मे लेखक अपने इसी मतव्य को प्रगट करता है। साहित्यिक-दृष्टि से यह सामान्य श्रेणी का प्रहसन है। इसमे सस्ता स्थूल हास्य है और कही-कही पात्र अशिष्ट एव असयमित भाषा का व्यवहार करते है। इससे सुरुचि का भग होता है। विपर्यय के दृश्यो मे असगति आ गई है। इन दोषो को छोडकर रगमचीय प्रहसन परपरा मे यह सर्वांश सफल कृति है।

'डॉ० मधुरिका' (१९४८)

कन्हैयालाल मुशी का यह नाटक गभीर भावो को अगभीर शैली मे प्रस्तुत करने वाले 'काकानी शशी' की परपरा का निर्वाह करता है। यह प्रहसन शैली का 'सुखान्त सामाजिक नाटक' (Social comedy) है। इसमे उच्च शिक्षा प्राप्त दम्पत्ति के जीवन की विसवादिता को नाटकीय रूप दिया गया है। इसकी नायिका डॉ० मधुरिका है जो अपनी डॉक्टरी मे और अन्य डॉक्टर मित्रो के साहचर्य मे व्यस्त रहती है। वह सतानोत्पत्ति को एक बखेडा मानती है। सतानोत्पत्ति न करने की शर्त पर वह बैरिस्टर नरेन्द्र से विवाह करती है। प्रणय-पिपासु नरेन्द्र मधुरिका की रुक्षता और अवहेलना से तग आ जाता है। उसका पितृ-हृदय मधुरिका के प्रेमी डॉ० गिरीश की उपेक्षिता पुत्री वासती पर उमड पडता है। दोनो उपेक्षित पात्रों मे पिता-पुत्री का सबध स्थापित हो जाता है। इससे डॉ० मधुरिका मे ईर्ष्या जागती है। वह नरेन्द्र और वासती के सम्बन्ध को सदेह की दृष्टि से देखने लगती है। लेखक ने इस विषम परिस्थिति को नाटकीय रूप देने के निमित्त नरेन्द्र को नीद मे रिवाल्वर से मधुरिका की उँगलियाँ उडाते हुए चित्रित किया है ताकि मधुरिका सर्जरी न कर सके। नीद खुलने पर नरेन्द्र अपनी पत्नी को परिवर्तित रूप मे पाता है। दोनो 'नई नगरी' बसाते हैं। अतिम दृश्य

मे हास्योद्रेक की पराकाष्ठा आ जाती है। डॉ० मधुरिका का प्रेमी डॉ० गिरीश नौकरो का हो-हल्ला सुनकर यह समझ बैठता है कि मधुरिका की हत्या हो गई। अतएव वह पुलिस को बुलाता है। सबके बीच नरेन्द्र और मधुरिका हाथ मे हाथ डालकर उपस्थित होते हैं और हास्य-रस के उल्लासमय वातावरण म नाटक समाप्त होता है। इस प्रहसन द्वारा मुशी जी अर्वाचीन युग के शिक्षित और सस्कारी कहे जाने वाले स्त्री-पुरुषो की विकृत मनोवृत्ति पर मार्मिक प्रहार करते हैं और यह आदर्श उपस्थित करते हैं कि आपसी समझौते पर ही दाम्पत्य-जीवन निर्भर है। स्त्री-जीवन की सार्थकता मातृत्व मे है। डॉ० मधुरिका के पात्र का आधार लेकर लेखक न सतानद्वेपी स्त्रियो की निंदा की है।

इस कृति मे सभी पात्रो म विशिष्ट व्यक्तित्व है। पितृ हृदय-नरेन्द्र सतुलित सयमी और स्नेहशील है। मधुरिका तनिक चचल, आत्मरत और अनुभवहीन है। परतु उसका हृदय निर्मल है, अत अन्त मे उसे जीवन सत्य का साक्षात्कार होता है। वासती तो निर्दोषता की प्रतिमूर्ति ही है। लेखक ने उससे उसकी आयु और अनुभव से अधिक काम लिया है जो अस्वाभाविक है। गिरीश गौरवहीन डॉक्टर है। उसके चरित्र-चित्रण मे भी तनिक असगति है। मनोरजक सवादो, क्षिप्र वस्तु विकास, आकर्षक पात्र-योजना और अभिनय गुण समन्वित शिल्प-शैली के कारण यह कृति मुशीजी की सुन्दर कृतियो मे परिगणित होती है।

मुन्शीजी के सामाजिक नाटको की विशेषताएँ

उपरि विवेचित कन्हैयालाल मुन्शी के सभी सामाजिक नाटको का प्रमुख विषय विवाह-समस्या है। आज पाश्चात्य सस्कृति का अन्धानुकरण करने वाले शिक्षित सस्कारी भारतीय स्त्री-पुरुषों का दाम्पत्य-जीवन अत्यन्त कलुषित एव विसवादी बन गया है। 'पीडा-ग्रस्त प्रोफेसर' 'डा० मधुरिका' और 'काकानी शशी' नाटक इसी समस्या को उभारते हैं। 'बाबा शेठनु स्वातत्र्य', 'बे खराब जण' आशाकित और 'छीए तेज ठीक' प्रहसन भी प्रकारांतर मे वैवाहिक समस्या पर ही प्रकाश डालते हैं। मुन्शीजी ने अपनी समस्त कृतियो मे उच्च मध्यवर्गीय समाज को लेकर प्रेम, विवाह, दापत्य-जीवन, अतृप्त काम वासना, स्त्री-समस्या आदि गभीर विषयो को उठाया है और हल भी पेश किया है। वस्तुत ये सारे प्रश्न चिंतनीय हैं जिन्होने हमारे सामाजिक जीवन को विशृखलित और विकृत बना दिया है। मुन्शी जी का विचार है कि दापत्य-जीवन की सवादिता और शान्ति स्नेह, समर्पण और पारस्परिक समझौते पर अवलबित हैं। डॉ० मधुरिका शशी, वसुधरा, (पीडाग्रस्त प्रोफेसर), रेवा, (बाबा शेठनु स्वातत्र्य) इत्यादि पात्रो के जीवन मे अन्त मे यही सत्य चरितार्थ होता है। कामवासना मनुष्य की प्राकृतिक वृत्ति है। 'ब्रह्मचर्याश्रम' क पात्रो की तरह उसका दमन करने से जीवन मे विकृतियाँ पैदा होती है। हमारे समाज की अधिकाश समस्याएँ कामजन्य है। प्रसन्न दापत्य और मधुर गार्हस्थ्य जीवन से ही उन समस्याओ का समाधान सभव है। इस विचार को मुन्शीजी ने अपनी इन रचनाओ मे नाटकीय रूप दिया है।

मुन्शीजी को मानव मनोविज्ञान का गहरा अनुभव और अध्ययन है। इसका ज्वलत प्रमाण इन नाटको द्वारा हमे प्राप्त होता है। इनके पात्र गुणावगुण समन्वित सजीव प्राणी हैं जिनमे चेतना है स्पदन है और निजी वैयक्तिकताएँ हैं। यह पात्र-सृष्टि हमारी जानी-पहचानी सर्वत्र सुलभ है। डॉ० मधुरिका, मनहरकाका, शशी, प्रोफेसर प्रीतमलाल,सेठ हरिकिसनदास, जितेन्द्र और उर्वशी मे जितनी विशेषताएँ हैं उतनी ही विचित्रताएँ भी है। ये सब

आकृष्ट है। इससे चिढकर चिद्‌घन कुंज और चन्द्रिका की उपस्थिति में विलास को चूम लेता है। इस पर कुंज विलास को नदी में फेंक देता है। दुःख-दग्ध चिद्‌घन साँप के काटने से अंधा हो जाता है। चन्द्रिका उसकी गुप्त रूप से सेवा करती है। अन्त में चिद्‌घन उसे पहचान लेता है। इधर विलास के विरह में कुंज मूढ-सा बन जाता है। उस विक्षिप्त मिट्ठा कर उसके डॉक्टर और वकील उसका धन हथिया लेना चाहते हैं। पर कवि की मन्निष्ठा से यह कुचक्र असफल होता है। कुंज विलास को ढूँढ पाता है और नाटक का सुखपूर्ण अन्त होता है।

मनुष्य के सन्देहात्मक स्वाभाव के दुष्परिणामों पर यह नाटक बेधडक प्रकाश डालता है। इसकी कथावस्तु सुसंकलित नहीं है। कार्य व्यापार में गतिशीलता का अभाव है। इस कृति की सफलता इसके संवादों पर अवलंबित है। संवाद बड़े मोहक, शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक हैं। स्वगतोक्तियाँ भी पात्रानुरूप प्रांजल एवं प्रेषणीयता के गुणों से विभूषित हैं। गीतों में संगीत तथा काव्य-तत्त्व का सुभग संयोग हुआ है। कवि का पात्र बुद्धिजन्य शिष्ट हास्य की सृष्टि कर नाटक को आकर्षक बनाता है। कुंज, विलास, चंद्रिका और चिद्‌घन सभी पात्रों का चरित्र चित्रण स्वाभाविक है। यह रंगमंचीय-शिष्ट नाटक गुजराती की गणना-पात्र कृति है।

'अंजनी' (१६३८)

रमणलाल व देसाई के इस नाटक की रचना एक व्यावसायिक नाटक मंडली के लिए हुई है। 'शंकित हृदय' की अपेक्षा यह निम्न स्तरीय कृति है। जयप्रसाद नामक संस्कारी युवक पूँजीपति है। वह निष्क्रिय जीवन बिताता है। इसका उसे दुःख है। अपनी बहन अंजनी से वह बार-बार जीवन में आकस्मिक घटनाओं की आवश्यकता का उल्लेख करता रहता है। वह जीवन की एकरसता और निष्क्रियता को समाप्त करना चाहता है। प्रियकांत के परिवार का कठोर और संयमशील व्यवहार उसका मानस-परिवर्तन करता है और अन्त में परिश्रम में उसे जीवन की सार्थकता दृष्टिगत होती है। लेखक ने इस वृत्त के साथ जयप्रसाद की मोटर-दुर्घटना, अंजनी पर हीरे की चोरी का आक्षेप, उसका आत्महत्या का प्रयत्न, उसके अपहरण का षड्यन्त्र, कमलालक्ष्मी का आकस्मिक निधन इत्यादि चमत्कार युक्त रोमांचक घटनाओं का अवतरण किया है जिससे मनोरंजकता पैदा होती है। इस नाटक के कई दृश्य अनावश्यक हैं। इसमें प्राचीन और नवीन नाट्य शैलियों का सम्मिश्रण किया गया है। पर उसमें कलात्मकता एवं स्वाभाविकता नहीं आने पाई है। इसलिए 'अंजनी' उत्कृष्ट कृति नहीं बन सकी है।

'अ० सौ० कुमारी' (१६३१)

यशवंत पंड्या का यह नाटक अनमेल विवाह की समस्या प्रस्तुत करता है। लेखक ने यह प्रतिपादित किया है कि विवाहित जीवन में अनमेलपन केवल आयु या शरीर का ही नहीं होता, मन तथा आत्मा का भी होता है जो अधिक कष्टकर एवं अशांतिदाता है। लेखक ने विभिन्न पात्रों एवं परिस्थितियों की सृष्टि कर नाटक की इस मूलभूत समस्या को बड़े ही कौशल से उभारा है। पात्रों के इस कृति में संविधान सौष्ठव भी हैं। पात्रों के आंतरिक आंदोलनों का इसमें सूक्ष्म निरूपण हुआ है और उसी के साथ लेखक ने अपनी विचारधारा का समुचित रूपेण प्रतिपादन किया है। इसके संवाद चुस्त एवं चमत्कारपूर्ण हैं। दृश्यांतर

अभिनयानुकूल हैं। कार्य व्यापार मे सक्रियता है। इसलिए यह कृति पूरी तरह अभिनेय है।

यशवत पड्या को अपने अन्य नाटक 'पडवा पाछल' (१६२७) मे अपेक्षाकृत कम सफलता मिली है। यह साधारण कोटि का सामाजिक नाटक है।

चन्द्रवदन मेहता के सामाजिक नाटक

अर्वाचीन नाटककारो मे कन्हैयालाल मुशी के बाद चन्द्रवदन मेहता का ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये १६२० से गुजराती रगमच से सक्रिय रूप से सलग्न हैं। गुजराती अव्यावसायिक रगमच के ये आरम्भकर्ता और पुरस्कर्ता हैं। इन्होने अपने अनवरत प्रयत्नो द्वारा गुजराती रगमच को व्यावसायिक नाटक मडलियो के दूषणो से मुक्त कर यथार्थवादी, स्वस्थ एव स्वच्छ धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। इस दृष्टि से चन्द्रवदन मेहता सदैव स्मरणीय रहगे। रगमच और अभिनय के प्रत्यक्ष अनुभव ने इन्हें नाट्य-लेखन की ओर प्रवृत्त किया। आज तक इनके कई एकाकी और बहुअकी नाटक प्रकाशित हो चुके है। इनके अधिकाश नाटक सामाजिक हैं। मानव-जीवन की यथार्थ समस्याओ का इनकी कृतियो मे निरूपण हुआ है। मेहताजी की सबसे बडी विशेषता इनकी प्रयोगशीलता है। ये अपने नाटको मे शिल्प, शैली, भाषा, अभिनय इत्यादि के नवीन प्रयोग करते रहते हैं।

'आग गाडी'

चन्द्रवदन मेहता ने इस नाटक की रचना १६३४ मे की। यह गुजराती का सबसे पहला यथार्थवादी नाटक है जो अभिनेयता के सभी गुणो से समलकृत है। इसके कई प्रयोग हो चुके हैं। गुजराती नाट्य-साहित्य मे सर्वप्रथम चन्द्रवदन मेहता ने 'आग गाडी' मे निम्न स्तर व दरिद्र श्रमजीवी लोगो को पात्रो के रूप मे प्रस्तुत किया है। इसका नायक रेलवे का गरीब आगवाला, बाघरजी है जिस पर एक दिन मे एक साथ तीन मुसीबतें टूट पडती हैं। बारह घटे की नौकरी के बाद थका-मादा बाघरजी जब घर आता है तब लाट-साहब की स्पेशल के साथ फिर से उसे जाने का हुक्म मिलता है। उसकी पत्नी रूखी और मित्र रामचरण भैया उसे जाने से रोकते हैं, पर नौकरी बनाये रखने के लिए उसे साहब की आज्ञा का पालन करना पडता है। वह जाता है। उसके साथ शराबी जोन्स ड्राइवर है। पुरानी दुश्मनी के कारण जोन्स बाघरजी की हत्या करता है। उसी समय रेलगाडी को सिग्नल देने के लिए मशाल लिये खडे हुए बाघरजी के बेटे नारणजी की सर्पदश से मृत्यु होती है और उसी गाडी से बाघरजी की गाय भी कट मरती है। इस प्रकार इस नाटक का दु खपूर्ण वातावरण मे पर्यवसान होता है। समग्र नाटक पर विषाद की घनीभूत छाया साद्यन्त छायी रहती है जिससे यह विशेष प्रभावोत्पादक बना है। नाटककार ने प्लेटफार्म के कतिपय हास्योत्पादक दृश्यो का सर्जन कर दु ख की इस सघनता को हल्का करने का प्रयत्न अवश्य किया है। इस रचना की यह बहुत बडी विशेषता है कि इसमे व्यक्त पददलित और पीडित लोगो के प्रति रचनाकार की हार्दिक सहानुभूति प्रचारलक्षी नहीं बनी है। यहाँ कलाकार की तटस्थता और अलिप्तता पूरी तरह निभायी गयी है।

इस नाटक मे आग गाडी से सम्बन्धित सारे वातावरण का दृश्य चित्र प्रस्तुत कर प्रभावैक्य की सृष्टि की गई है। यात्रियो की असुविधाएँ, रेलवे नौकरो की विभागीय विशेषताएँ, रिश्वतखोरी, चाय के विज्ञापन, साहबो की अहमन्यता इत्यादि सूक्ष्मतम तथ्यो का

लेखक ने बड़ी खूबी से निरूपण किया है। इस दृष्टि से भी यह कृति संपूर्ण यथार्थवादी है। इसके छोटे बड़े सभी पात्रों में सजीवता और वैयक्तिकता है। बावरजी, जोन्स, रूपी और रामचरण का चरित्रांकन तो इतनी सिद्धहस्तता से हुआ है कि वे गुजराती साहित्य के चिरजीव पात्र बन गये हैं। भाषा और संवाद पात्रानुरूप और विषयानुकूल हैं।

नाटक के अन्त में तीन मृत्युओं का एक साथ होना तनिक अस्वाभाविक प्रतीत होता है। रेलवे जीवन का विस्तृत विवरण भी विशेष आवश्यक नहीं है। इससे कथा-विकास में तनिक शिथिलता आई है। इन एक दो दोषों के होते हुए भी मेहताजी की यह कृति गुजराती का प्रथम उत्कृष्ट यथार्थवादी नाटक है।

'नागा बावा' (१९३७)

चन्द्रवदन मेहता का यह नाटक भिखमंगों की वास्तविक स्थिति प्रस्तुत करता है। इसमें कथानक का विस्तार नहीं है। लेखक ने अल्प कथा तत्त्व के आधार पर भिखमंगों की दुनिया को उसकी सारी सुन्दरताओं और कुरूपताओं के साथ अंकित किया है और उसी के साथ उच्चवर्ग की विकृत मनोवृत्ति पर व्यंग्ययुक्त प्रहार किये हैं। भिखमंगों का नेता बादशाह है जिसका आतंक सब पर छाया रहता है। बादशाह अपनी पुत्री गोपी का विवाह नगर सेठ के पुत्र के साथ करना चाहता है। इसीलिए वह गोपी को अंग्रेजी पढ़ने के लिए मसूरी भेजता है। जब गोपी अपने विवाह की बात जान लेती है तब वह उसका विरोध करती है। अन्त में नगर-सेठ के पुत्र से विवाह करने के बदले अपने पिता के सहयोगी माधव से विवाह करना उसे उपयुक्त प्रतीत होता है। इससे बादशाह अत्यन्त विक्षिप्त बन जाता है और तत्काल नाटक समाप्त हो जाता है। इस त्रिअंकी नाटक में चन्द्रवदनभाई ने भिखमंगों के अखाड़ों का और उनकी समाज व्यवस्था का तादृश चित्र प्रस्तुत किया है। लेखक का अधिकांश समय यही समस्या ले लेती है। अतः चरित्रांकन तथा वस्तु-विन्यास अधूरा ही रह जाता है। भिखमंगों की कहानी इसमें बहुत प्रतीतजनक नहीं है। फिर भी लेखक ने अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा इस नाटक को आकर्षक एवं सुन्दर बनाया है। साद्यंत नाटक में आधुनिक समाज-व्यवस्था पर जो करारे व्यंग्य कसे गये हैं वे मर्मभेदी और विचार-प्रेरक हैं। भिखमंगों और नौकरों को दुतकारने वाला क्रूर कठोर नगर-सेठ, चरित्रभ्रष्ट महंत, और पूँजीपति तिलककुमार— ये तीनों पात्र तथाकथित उच्च समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनका परिचय नितान्त यथार्थ रूप में दिया गया है। बादशाह तो इस नाटक का सबसे अधिक आकर्षक एवं रहस्यमय पात्र है। उसका दुहरा व्यक्तित्व नाटक में जान डाल देता है। इस नाटक में रंगमंचीय गुणों का पूरी तरह निर्वाह हुआ है। यह कई बार सफलतापूर्वक खेला जा चुका है विषय की नवीनता, वातावरण की यथार्थता, संवाद एवं शैली की व्यंग्यात्मकता तथा बादशाह की विलक्षणता के कारण 'नागा बावा' सदैव उच्च स्थान का अधिकारी रहेगा।

'शिखरिणी'

मेहताजी ने इस करुणांत सामाजिक नाटक की रचना १९४७ में की। इसमें संतानविहीन दंपती के जीवन की समस्या ने प्राधान्य प्राप्त किया है। धवल और उनकी पत्नी शिखरिणी अपनी निःसंतानावस्था के कारण चिंताग्रस्त हैं। संतानोत्पत्ति न होने के कारण

धवल का दोषपूर्ण रक्त है। इस दपती के साथ मनमौजी कवि शार्दूल भी रहता है। एक अन्य पात्र कलकी बहुधा इनके यहाँ आता-जाता रहता है। शिखरिणी और शार्दूल के मधुर सम्बन्ध से कलकी ईर्षा करता है। एक बार शार्दूल शिखरिणी से माता बनने का आग्रह करता है। तदनुसार शार्दूल के बालक की जन्मदात्री शिखरिणी बनती है। शार्दूल बालक को लेकर यात्रा करना चाहता है। परन्तु ईर्षालु कलकी उसे गोली मार देता है। यहीं नाटक समाप्त होता है। इस विलक्षण नाटक की घटनाएँ शिखरिणी और शार्दूल द्वारा सचालित और सयोजित है। नायिका शिखरिणी उदार, पतिनिष्ठ वात्सल्यमयी एव सरल प्रकृति की है। धवल साधुचरित है। शार्दूल मे तथाकथित कवि की कई विचित्रताएँ प्रगट हुई है। कलकी खलनायक के सभी दुर्गुणों को अपनाए हुए है। इस नाटक मे सघर्षात्मक परिस्थिति का सर्जक कलकी है। वह अपने वैयक्तिक जीवन की दुर्बलताओ को ढँकने के लिए नीति और परपरा की दुहाई देकर मित्रद्रोह करता है। उसकी सारी प्रवृत्तियाँ नाट्योपकारक बनती हैं। उनसे नाटक मे सक्रियता एव सजीवता की सृष्टि होती है और नाट्यवस्तु तीव्र गति से चरम सीमा पर पहुँच जाती है। मेहताजी ने विभिन्न पात्रो और नितान्त नवीन एव मौलिक प्रसगो की सहायता से 'शिखरिणी' को विशिष्टता प्रदान की है। इसमे 'सूत्रधार' की सहायता से नवीन रगमचीय शैलीशिल्प का आविष्कार किया गया है। लेखक ने इसमे हास्यरस पैदा करने का भी प्रयत्न किया है जो कही-कही अशिष्टतापूर्ण है।

इस नाटक का चिंतनीय पक्ष इसका कथानक है। क्या शार्दूल-शिखरिणी का सम्बन्ध वैध माना जाता सकता है? क्या उनका पारस्परिक सम्बन्ध मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र और यथार्थ जीवन के साथ सुसगत है? न जाने किस उच्चाशय से प्रेरित होकर कृतिकार को इस प्रकार का 'विलक्षण' विचार सूझा? यह नाटक स्वस्थ सामाजिक जीवन का परिपोषक कदापि नही माना जा सकता और इस दृष्टि से यह उपादेय नही है।

'पाजरापोल' (१९४७)

चन्द्रवदन मेहता का यह नाटक प्रहसन परपरा मे परिगणित होता है। इसमे विवाह समस्या पर प्रकाश डाला गया है। इसका कथानक समाज के उच्च वर्ग से सम्बन्धित है। नवरग और ज्योति दोनो पूँजीपति परिवार के हैं। उन्हे परिस्थितिवश विवाह करना पडता है। ज्योति अपने प्रेमी प्रेमल से सम्बन्ध बनाये रहती है। नवरग और ज्योति ने परस्पर यह समझौता कर लिया है कि वे एक दूसरे के वैयक्तिक विषयो मे हस्तक्षेप नही करेंगे। ज्योति की छोटी बहन छाया विधवा है जो यूरोप का परिभ्रमण कर आई है। वह नवरग को सुधारने के बहाने प्रेम करने लगती है। ज्योति अपने बगले को "पाजरापोल" कहती है जहाँ सब आकर प्रेम करते है। भूरा काका और भूरी फोई तथा लीला मामा और लोली मासी इसी 'पाजरापोल' से सम्बन्धित है। इनमे पुरुष विधुर है और स्त्रियाँ विधवाएँ हैं। इन प्रौढ़ युगलो के अतिरिक्त ज्योति के 'पाजरापोल' मे उसके पुराने गवार पति और प्रेमी कवि का भी आगमन होता है। इस प्रेमी समुदाय को एकत्रितकर लेखक ने हास-उपहास की मनोरजक परिस्थिति पैदा की है। यह मनोरजन कही-कही शिष्टता की सीमा लाँघ जाता है। प्रेमल और ज्योति की प्रणय-चेष्टाओं में भी अतिरजन एव अश्लीलता है। यह सब होते हुए भी यह प्रहसन प्रेक्षकों मे अद्भुत आकर्षण पैदा करता है।

ज्योति स्वभावत गभीर है, पर लेखक ने उसे कही-कही आवश्यकता से अधिक

भावुक बना दिया है। प्रेमल भी अपने आदर्शवाद को भूल कर प्रेम-प्रदर्शन में अत्यन्त अशिष्ट और अभद्र बन जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'पाजरापोल' के सभी पात्रो का व्यवहार न बुद्धिमगत है और न तर्कशुद्ध। वह या तो आडम्बरपूर्ण मिथ्याचार है या विकृत मनोवृत्ति का परिचायक है। पात्रो की विवाह-विषयक अधुनातन मान्यताएँ अवश्य चिंतनीय हैं। सम्भवत प्रेम विवाह और दाम्पत्य-जीवन से सम्बन्धित वर्तमान विचारधारा का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करना इसमे अभीप्ट है। इस दृष्टि से यह प्रहसन सफल माना जा सकता है।

लेखक ने ग्रामीण पात्रो की यथार्थता प्रगट करने के निमित्त सूरती एव सौराष्ट्री बोलियो का भी उपयोग किया है। शहरी पात्र ग्राम बोलचाल की गुजराती बोलते है। इसकी दृश्य-योजना और रचना-विधान कलात्मक है। 'शिखरिणी' की अपेक्षा यह नाटक अच्छा कहा जा सकता है।

'माझम रात'

सन् १९५५ मे प्रणीत चन्द्रवदन मेहता का यह सामाजिक नाटक मध्यवित्त वर्ग की दम-युक्त मनोवृत्ति और यथार्थ परिस्थित का अत्यत वास्तविक परिचय देता है। इसकी कथा समाज के मध्यवित्त वर्ग के प्रतिनिधि सुधन्वा के परिवार से सम्बन्धित है। सुधन्वा की पुत्री सध्या दरिद्र सजय से प्रेम करती है। उसके पुत्र ललित का विवाह सम्पत्तिवान परिवार की मन्दा से होने वाला है। मन्दा का पिता ललित को घर-जमाई बनाना चाहता है। अपनी पत्नी कुन्दन की आभूषण-प्रियता तथा फैशनपरस्ती के कारण आर्थिक सकट मे डूबा हुआ सुधन्वा अपना मकान मन्दा के पिता के हाथ बेच देता है। और वह गरीबो की चाल मे निवास करने को विवश होता है। इसी समय उसका ग्रामवासी छोटा भाई विनायक आ जाता है। वह अपनी भाभी कुन्दन को अनावश्यक खर्च करने के लिए लताडता है और मन्दा के दम्भ की निन्दा करता है। उसके बुद्धिकौशल से ललित पूँजीपति के हाथ बिकने से बच जाता है और सुधन्वा का सारा परिवार सुख एव शातिपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए देहात मे चला जाता है। लेखक ने मध्यवित्त वर्ग की झूठी मान्यताओं, मिथ्या प्रणय-चेष्टाओ और निरर्थक आकाक्षाओ पर मार्मिक प्रहार किये हैं। इसी के साथ यह भी दिखाया है कि यह वर्ग पूँजीपतियो के प्रति तिरस्कार की भावना प्रकट करने के बदले श्वानवत् उनकी चाटुकारिता करता है। मन्दा पूँजीपति समाज का प्रतिनिधित्व करती है। उसकी सारी चेष्टाएँ सकुचितता तथा मिथ्याभिमान से भरी हुई है। वह ललित से विवाह कर उसे अपना पति नही, आज्ञापालक सेवक बनाना चाहती है। लेखक ने बडी कुशलता से मन्दा का प्रकृतिजन्य रूप प्रकट किया है। पूँजीपति समाज के साथ दरिद्र मध्यवित्त वर्ग को प्रस्तुत कर इस विरोधी वातावरण द्वारा घटना-विकास तथा आदर्शोद्घाटन बडी ही मार्मिकता स हुआ है। सुधन्वा और कुदन द्वारा मध्यवर्ग की झूठी शान और ढकोसलो का प्रकाशन हुआ है।

इस कृति मे अनेक परिस्थितियाँ (Situations) नाट्यात्मक हैं। इनके द्वारा कृतिकार ने हास्यरस की सृष्टि की है। पात्रो के सवाद और नाट्यगत उक्तियाँ भी हास्योत्पत्ति मे योग देती हैं। यह नाटक गभीर सुखात नाटक (Serio Comedy) है। नाटक की सघन दु खानुभूति विनायक के सभाषणो मे उभर आती है। इसी लिए श्री विजयराय वैद्य इसे करुणारस प्रधान कृति मानते है।[१]

---

१. 'गुजराती साहित्य सभानी कार्यवाही'—सन् १९५५, पृ० ३६

'सोना वाटकडी' (१९५५)

चन्द्रवदन मेहता अपने इस नाटक मे पुरानी व्यावसायिक नाटक मडलियो के मालिको की मलिन मनोवृत्तियो का परिचय देते हैं। ये मालिक अपनी नाटक मडलियो द्वारा सामाजिक उन्नति का प्रयास नही करते, प्रत्युत अभिनत्रियो के साथ रागरग मे लीन रहते हैं। ये कला की साधना नहीं करते। उनकी साधना सुन्दरियो और सम्पत्ति तक ही सीमित रहती है। ये अपने अभीष्ट को सिद्ध करने के लिए भूत प्रेत और मन-तन्त्र का सहारा लेते हैं। अपने प्रतिस्पर्धियो की हत्या करने मे भी इन्हे तनिक हिचकिचाहट नही होती। मेहताजी ने सेठ माधवदास, सेठ किशनदास आदि पात्रो के द्वारा व्यावसायिक नाटक कपनी के अतर्जगत की कहानी अकित की है। इस कृति म सोन और रसेन्दु भावनापरायण आदर्श पात्र है। दला दलाल, सघरो, राणकी इत्यादि अन्य पात्रो का उपयोग लेखक ने मूलवर्ती भाव के प्रकाशनार्थ किया है। सभी पात्र यथार्थ जीवन से सम्बन्धित हैं।

लेखक ने सिद्धराज और राणकदेवी क ऐतिहासिक प्रणय-प्रसग को भी केन्द्रीय घटना के साथ कौशल पूर्वक गुफित किया है। मत्रो के द्वारा सिद्धराज और राणकी की प्रेतात्माएँ अवतरित होती हैं। यह पराप्राकृत तत्व (Supernatural elements) आधुनिक दृष्टि से प्रतीतिकर नहीं लगते। 'गुजरात की अस्मिता', महागुणराज का स्वप्न, उसकी समृद्धि इत्यादि सामयिक प्रश्न सिद्धराज के सदर्भ मे प्रस्तुत किये गए है। लेखक की वैयक्तिक आदर्श भावनाओ का इस कृति मे अच्छा परिचय प्राप्त होता है।

'होहोलिका' (१९५७)

मेहता जी का यह नवीन नाटक गुजराती 'लोक भवाई' का आधुनिक सस्करण है। इसका शैली शिल्प भवाई 'वेश' का अनुसरण करता है। इसमे भवाई के सभी उत्तम लक्षणो का पूरी तरह समावेश हुआ है। इसमे कथानक का अभाव है। समकालीन जीवन के विविध प्रसगो की झलक इसमे प्रत्यक्ष होती है। काजी, जीजी भाई, और होला गुरु 'होहोलिका' के विविध प्रसगो का सातत्य निर्वाह करते है। 'भवाई' की तरह इसमे साद्यत सवादो और अभिनय द्वारा हास्य की हिल्लोरें उठती रहती है। प्रेक्षक हँसत हँसते लोट-पोट हो जाते हैं। इस कृति का हास्योद्रक भवाई की भाँति स्थूल या अभद्र नही है। वह स्वस्थ एव सहेतुक है। न्याय की दाभिकता की कलई खोलने मे लेखक न भवाई सहज अतिशयोक्तियो का अवलबन लिया है। प्रेक्षकगण और 'मादक' भी इस कृति क प्रयोग में सम्मिलित होते हैं। इस दृष्टि से यह कृति सच्चे अर्थों मे 'सर्वजनीन कला' का रूप ले लेती है। प्रस्तावना से इसका आरम्भ होता है। तदतर गीत, नृत्य, सगीत और सवाद के मनोमुग्धकारी सामजस्य के साथ नाटक चरम सीमा की ओर अग्रसर होता है। बीच-बीच म 'रगला' अपना रग जमाता है और अत मे हास्य विनोद के वातावरण के बीच सामाजिक जीवन पर मार्मिक प्रहार करते हुए नाटक समाप्त होता है। यह कृति चन्द्रवदन मेहता की विनोदप्रियता तथा प्रयोगशीलता का जीवित उदाहरण प्रस्तुत करती है। इसी के साथ मेहताजी का यथार्थ बोध अभिव्यक्त होता है।

चन्द्रवदन मेहता क दो अन्य नाटक 'घटमाल' (१९५५) और 'त्रियाराज' भी यहाँ उल्लेखनीय है। 'घटमाल' सामाजिक प्रहसन है और 'त्रियाराज' फैंटसी है। दोनो 'प्रेमनु मोती अने बीजा नाटको' मे सग्रहीत हैं।

चन्द्रवदन मेहता के नाटकों की विशेषताएँ

चन्द्रवदन महता अर्वाचीन अद्यतन रंगभूमि के स्रष्टा है।[1] रंगमंच के निकटवर्ती सान्निध्य एवं प्रत्यक्ष अभिनयानुभव के फलस्वरूप इनके सभी नाटकों में रंगमंचीय गुणों का पूरी तरह निर्वाह हुआ है। उसी के साथ उनमें साहित्यिकता की लेशमात्र भी न्यूनता नही है। रंगमंचीय और साहित्यिक गुणों के सुभग समन्वय के उत्कृष्ट उदाहरण मेहताजी के नाटक है।

मेहताजी यथार्थवादी नाट्यकार है। इनकी कृतियों में पूरी सचाई के साथ सामाजिक यथार्थ उभर आया है। विविध साप्रतिक समस्याओं का इनमें वास्तविक निरूपण हुआ है। आज की अर्थ-व्यवस्था, नाट्य-समाज, रेलवे-जीवन, याचक-वर्ग, न्यायालय इत्यादि विभिन्न सार्वजनिक क्षेत्रों के ज्वलत प्रश्नो ने इनकी कृतियो में नाट्यात्मक रूप ग्रहण किया है। इन्ही के साथ प्रणय और परिणय के अत्यन्त जटिल प्रश्न भी समन्वित हो गये है। 'नागा बावा', 'शिखरिणी', 'पाजरापोल', 'माझमरात' और 'सोना वाटकडी' में प्रेम और विवाह की विकट समस्याएं उपस्थित की गई है। उनके निराकरण के विषय में लेखक स्वयं उलझा हुआ प्रतीत होता है। यह लेखक की व्यक्तिगत उलझन नही है, आज के युग और समाज की सक्रान्तिकालीन उलझन है। चन्द्रवदनभाई की दरिद्रों के प्रति बडी हमदर्दी है। इसका प्रमाण 'आग गाडी', नागा बावा', 'माझमरात' इत्यादि के पात्र प्रस्तुत करते हैं। इस हमदर्दी ने स्थूल प्रचारात्मक रूप ग्रहण न कर उत्कृष्ट नाट्यात्मकता का परिचय दिया है। यह कलाकार चन्द्रवदन मेहता की महान सिद्धि है।

मेहताजी के अधिकांश नाटक हास्य-प्रधान है। 'शिखरिणी' और 'पाजरापोल' में स्थूल हास्य का अधिक समावेश हुआ है। 'माझम रात' नाटक गभीर हास्य का उदाहरण प्रत्यक्ष करता है। स्वच्छ मुक्त हास-परिहास का दर्शन 'हो होलिका' मे होता है। इन कृतियो में समाज-जीवन पर बडे तीखे व्यग्य कस गये है। 'आग गाडी, 'नागाबावा' और 'माझमरात' गभीर सामाजिक नाटक है। इनमें कृतिकार का चिंतनशील व्यक्तित्व प्रगट हुआ है। मेहताजी के पात्रो मे जीवन की गहराई कम प्रगट होती है। उनका पूरी तरह मनोविश्लेषण नही होता। चरित्रगत अर्तद्वन्द्व का सूक्ष्म निरूपण इनकी कृतियो मे सुलभ नही है, इसलिए इनके पात्र अविस्मरणीय नही बन पाये है। 'शिखरिणी', 'नागा बावा', 'पाजरापोल' इत्यादि में जिन सामाजिक समस्याओ को प्रस्तुत किया गया है, वे सर्वसामान्य नही है। अत कम प्रतीतिकर है।

चन्द्रवदन मेहता प्रयोगशील नाटककार है। इन्होन रंगमच की दृष्टि से कई प्रयोग किये है। उपरि विवेचित नाटको मे इनके कतिपय नवीन प्रयोग दृष्टिगत होते है। इनके नाटको की शैली मे बडी चुस्ती और चमत्कार है। ये अपने नाटको में सदैव जनता की भाषा, का प्रयोग करते है। अत उनमें अस्पष्टता और क्लिष्टता नही आने पाती। आज गुजराती नाट्य-क्षेत्र मे मेहताजी का स्थान अग्रतम है।

'मोरना ईडा'

कवि कृष्णलाल श्रीधराणी का यह प्रतीकात्मक नाटक (Symbolic Drama)

---

१. विजयराव क० वैद्य, 'गुजराती साहित्य सभा कार्यवाही' सन् १९४५, पृ० ३८

१९३४ में प्रकाशित हुआ। विषय निरूपण, चरित्रांकन एवं विचार विवेचन की दृष्टि से यह कृति इब्सन, शॉ और ऑस्कर वाइल्ड के समस्या-नाटकों (Problem plays) की परंपरा का निर्वाह करती है। इसके प्रधान पात्र प्रो० अभिजित और बाबरी पुत्र तीरथ मनुष्य सहज स्वभाव की अपेक्षा भावों और विचारों के प्रतीक रूप हैं। प्रो० अभिजित अर्वाचीन ज्ञान विज्ञान का ज्ञाता है। वह आश्रम के जिज्ञासु छात्रों के समक्ष रसशास्त्र, नीति-शास्त्र, धर्म, तत्व-ज्ञान, राजनीति इत्यादि विषयों पर गंभीर और प्रभावशाली ढंग से अपने विचार प्रस्तुत करता रहता है। उसका व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक है। इस कृति में प्रो० अभिजित का पात्र लेखक की अविस्मरणीय सृष्टि है। दूसरा उतना ही महत्त्वपूर्ण पात्र बाबरीपुत्र तीरथ का है। वह अर्वाचीन ज्ञान से वंचित है। उसे केवल अंडे की गोलाई का ज्ञान है। पर स्वच्छंद स्वभाव का प्रकृति देवी का प्यारा पुत्र है। वह नैसर्गिक जीवन का उपासक है। बाह्य दृष्टि से इन दोनों में वैषम्य दीखता है, परंतु दोनों का अंतर्लोक समान रूप से समृद्ध और समुज्ज्वल है। प्रो० अभिजित का हृदय जिस मानवता से ओतप्रोत है, वही मानवता तीरथ में भी साकार है। इन दोनों के अतिरिक्त फाल्गुनी, आरती आदि भी अपने विशिष्ट गुणों से विभूषित हैं।

इस कृति में लेखक अर्वाचीन शिक्षा पद्धति के दोषों को प्रगट कर उसमें आमूल परिवर्तन के विचार प्रस्तुत करता है। श्रीधराणी ने वर्तमान निरर्थक शिक्षा प्रणाली की बड़े ही व्यंग्यात्मक ढंग से आलोचना की है। इस रचना के संवाद बुद्धि चातुर्य युक्त और अर्थसघन हैं। शैली अत्यंत सुंदर और सरस है। कृष्णलाल श्रीधराणी मूलतः कवि हैं। उनकी उत्कृष्ट कविताओं का साक्षात्कार हमें इस रचना में होता है। तीरथ की मृत्यु ने नाटक को विषादयुक्त बना दिया है। पर यह प्रसंग इस कृति की प्रभावोत्पादकता में अभिवृद्धि करता है। उच्च भावनाओं और विचारों से संपृक्त समस्या शैली का यह प्रतीक नाटक गुजराती का एक उत्कृष्ट ग्रंथ है।

'जीवती जुलियट' (१९३६)—

व्योमेशचन्द्र पाठकजी की यह कृति एक उत्तम सामाजिक प्रहसन है। इनमें मनुष्य को हास्यास्पद रूप में निरूपित किया है। विवाह वैयक्तिक विषय है या सामाजिक? विवाह की योग्यता अयोग्यता का मूलाधार क्या है? इन गंभीर प्रश्नों की अत्यंत अगंभीर शैली में इस रचना में मीमांसा की गई है। निरूपण, शैली इतनी विलक्षण और कौशल युक्त है कि हर पंक्ति द्वारा हास्योत्पत्ति होती है। रणजितलाल, बिन्दु, कोकिला, इत्यादि सभी पात्र इसमें विलक्षण और विचित्र हैं। साधारण जनसमाज में इस प्रकार के लोगों को पाना सरल नहीं है। उनका व्यवहार बड़ा विचित्र और असामान्य है। इन पात्रों के उद्गार और आचरण अखंड हास्यरस का स्रोत प्रवाहित करते हैं। कृति में इन्दु अधिकांशतः व्यवहारदक्ष एवं यथार्थवादी है, परंतु यह भी एक बार (पृष्ठ ६४-६५) तो पागलपन कर ही बैठती है। बिन्दु का चरित्रांकन अत्यंत आकर्षक है। अन्य पात्रों का भी चित्रण सुरेख और सुस्पष्ट है।

इस कृति में न केवल पात्र ही विचित्र है, अपितु प्रसंग, संवाद, वातावरण इत्यादि में भी विचित्रता दृष्टिगोचर होती है। इसी विचित्रता का पाठक जी ने पूरा उपयोग किया है और कृति को सफल बनाया है। इसकी भाषा सर्वत्र स्वाभाविक और सुंदर है।

सवादो मे कही कटाक्ष, कही व्यग्योक्ति, कही अन्योक्ति और कही सादगी है। यह सब उन्हे आकर्षक और हास्यक्षम बनाता है। लेखक ने अपने पात्रो मे हास्योद्गारो मे कही-कही शाश्वत सत्यो का अनायास ही उद्घाटन कर दिया है। इन नाटकीय मूर्ख पात्रो के बाल व्यवहार के पीछे जीवन की गभीर मीमासा प्रगट हुई है। इस प्रकार की सिद्धहस्तता बहुत कम लेखको मे पाई जाती है।

इस कृति मे केवल एक दो स्थानो पर ही स्थूल ग्राम्य हास्य के दर्शन होते है। तदुपरात तीसरे अक का चौथा प्रवेश (दृश्य) आवश्यकता से अधिक गभीर बन गया है। परतु लेखक न उसके अतिम भाग मे हास्यमय सभाषण रखकर फिर से उसे हल्का बना दिया है। "गुजराती रूपक साहित्य मे प्रहसन परपरा व उत्तमाशो से समृद्ध 'जीवती जुलियट' के समान दूसरा कोई प्रहसन उपलब्ध नही होता। पश्चिम के वुडहाउस और जेकब्स की हास्योत्पत्ति की नवीन शैली का दर्शन गुजराती मे सर्वप्रथम इसी मे हुआ है और तुलनात्मक दृष्टि से यह उससे किसी प्रकार कम नही।"[1]

'अवतरण' (१९४८)

सुप्रसिद्ध एकाकीकार जयतिदलाल का यह एक विलक्षण त्रिअकी नाटक है। इसका विषय आज के युग की आर्थिक एवम् सामाजिक विषमता है। इस ससार मे दिन-प्रतिदिन मानवता कम होती जा रही है। यह जगत इतना निकृष्ट होता जा रहा है कि माँ के गर्भ मे दस वर्ष से पडे हुए बच्चे इस पृथ्वी पर जन्म लेना स्वीकार नही करते। समाज और राज्य के सामने यह बहुत बडी समस्या है। अत मे एक डॉक्टर आपरेशन करके बच्चो की अनिच्छा के बावजूद उन्हे जन्म देता है। तब बच्चे ऐसी दुनिया चाहते हैं जो जीने योग्य हो। लेखक ने इस नाट्य-कृति द्वारा हमारे सर्वदेशीय पतन पर बडा करारा व्यग्य किया है और आज के सामाजिक ढाचे को शीघ्र परिवर्तित करने का सकेत किया है। इस कृति की विचारधारा का अग्रेज नाट्यकार इरविन शॉ के नाटक 'बरी दि डेड' की विचारधारा से साम्य दृष्टिगत होता है। उसमे युद्ध मे मरे हुए लोगो की लाशें दफन होना नही चाहती। वही विलक्षण स्थिति इस रचना मे भी है। द्वेष, अन्याय, स्वार्थ, शोषण, असमानता, बेकारी, भुखमरी, रोग इत्यादि सर्वदूषणो से भरी हुई इस सृष्टि मे न आने के लिए गर्भस्थ बच्चो का सत्याग्रह करना जितना मनोरजक है उतना ही विचार-प्रेरक है। वस्तुत हमने अपने ससार को इतना कुत्सित और कुरूप बना रखा है कि निर्मल चरित्र के किसी भी व्यक्ति का यहाँ रहना और जीना सभव नही। गर्भस्थ बच्चो का यह उद्गार भी चितनीय है कि उनका गर्भ मे आगमन भी इन्द्रियो के विलास का अन्यायी परिणाम है। उन्हे जन्म लेने मे क्योकर किसी प्रकार का आनद हो ? इस प्रकार लेखक ने वर्तमान युग की सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था पर निर्मम प्रहार किये हैं और उसकी अधमता का पर्दा फाश किया है। लेखक का सर्वतोमुखी गभीर चिंतन पूरे कला-कौशल से इस रचना मे नाट्यात्मकता प्राप्त कर सका है। यह लेखक की बहुत ही बडी सफलता है। इसमे कही अनावश्यक प्रसग या पात्र नही आये हैं। उपयुक्त चित्रो को सपूर्ण सतर्कता एवम् सयम के साथ अकित किया है। प्रसगानुसार मार्मिक व्यग्य और कटाक्ष का भी आधार लिया गया है।

---

१. आचार्य ढोलरराय माकड०—गुजरात साहित्य सभानी कार्यवाही, १९३६-३७, पृ० १३

यह कृति विचार-प्रधान एवम् समस्या मूलक है। अत परपरागत चरित्र-चित्रण या वस्तु-विन्यास का इसमे स्थान नही है। विविध प्रसगो की सहायता से प्रमुखत युगीन सत्य साकार हुआ है। नाटक के दूसरे अक मे नाट्य-वस्तु का निरूपण है। पहला अक उपक्रम (Prologue) और तीसरा अक उपसहार (Epilogue) सा प्रतीत होता है। नाटक की भाषा शैली विषय के अनुरूप सरल और सजीव है। सवाद अत्यत प्रभावशाली हैं। 'अवतरण' गुजराती की उत्कृष्ट कृतियो मे से एक है।

'पारकी जणी' (१९५०)

नदकुमार पाठक का यह नाटक समस्या-प्रधान सामाजिक नाटक है। इसका विषय समाज के उच्च वर्ग से सम्बन्धित है। प्रकाश एक पूजीपति का पुत्र है। रमा उसके पिता की अवैध पुत्री है। पिता की विषय-वासना प्रकाश को विरासत मे मिली है। वह रमा के प्रति आकृष्ट होता है। रमा उसे जीवन समर्पण करती है। तदन्तर प्रकाश सामाजिक प्रतिष्ठा से भयभीत होकर रमा का त्याग करता है। प्रकाश की चरित्रशील पत्नी मेघा उसके व्यवहार से सत्रस्त और सक्षुब्ध होकर घर छोडकर चली जाती है और अपने साथ 'पराई जायी' रमा को भी लेती जाती है। इस प्रकार रमा के दुखो का अत आता है और मेघा आदर्श चरित्र सिद्ध होती है। इसमे लेखक ने समाज के तथाकथित कुलीन लोगो की अधम मनोवृत्ति का अच्छा चित्रण किया है और उसी के साथ नारी-समस्या एवम् वैवाहिक जीवन की विषमता को भी उभारा है। मेघा सुशील, सच्चरित्र और निर्भीक नारी है जिसमे आदर्श-पालन की क्षमता है। लेखक ने अपनी नारी भावना की प्रतिष्ठा इसी पात्र द्वारा की है। पिता सुदरलाल और पुत्र प्रकाश अधम चरित्र हैं। विजया परपरा की पुजारिन है। वस्तु-सकलना, चरित्र-चित्रण, दृश्य-विधान और भाषा-शैली की दृष्टि से यह अच्छा नाटक है। यह पूर्णत अभिनेय भी है।

'मवो-झवो'

यशोधरा महता ने अपने इस सामाजिक प्रहसन का १९५१ मे प्रणयन किया। इसका कथानक इस प्रकार है अघोरघट के कथनानुसार रिद्धि, विशुद्धि और सिद्धि मत्र-तत्र की उपासना करती हैं। भूपण और श्रद्धाशकर भी उसमे सम्मिलित होते हैं। इस उपासना का हेतु वित्त प्राप्ति है। अघोरघट लोहे को सोना बनाने का प्रलोभन देकर इस परिवार से गहने और रुपये लेकर चपत हो जाता है। परतु मनोहर और महरवानजी की सहायता से अघोरघट का षड्यत्र पकडा जाता है और यह परिवार विनाश से बच जाता है। लेखक ने दभी साधुओ के प्रपचो और पढ़े-लिखे स्त्री पुरुषो के अन्धविश्वासो को नाटकीय ढग से पेश किया है। इसी के साथ लोगों की सम्पत्तिवान बनने की असयमित आकाक्षा पर व्यग्य किया है। इस प्रहसन मे विभिन्न पात्रो और प्रसंगो द्वारा निर्दश हास्य की सफल सृष्टि हुई है। अघोरघट खलनायक का कार्य करता है। नाटक का मध्यवर्ती भाव उसी के द्वारा प्रगट हुआ है। इसका वस्तु-विधान और रचना-शिल्प सामान्य कोटि का है। यह कृति अभिनेयता के गुणों से भरपूर है। इसके कई प्रयोग सफलता के साथ हो भी चुके हैं।

'हरिरथ चाले' (१९५५)

यशुभाई शुक्ल का यह नाटक ग्रामीण जीवन की वास्तविकताओं को प्रगट करता है। यह यथार्थवादी नाटकों की परंपरा का नाटक है। साधुराम ग्राम-सेवा में संलग्न है। उसकी प्रवृत्तियों में भाभी महालक्ष्मी, देसाई पुत्री कीकी, मट्टु,नट्टु, छोटु इत्यादि कई लोग सहयोग देते हैं। देसाई के पुत्र नवीन का धना हरिजन की पुत्री भीखी के साथ अनिच्छनीय सम्बन्ध बढ़ता है। उसी के परिणामस्वरूप भीखी सगर्भा होती है। नवीन भीखी और उसकी बेटी को छोड़कर शहर भाग जाता है। तदनंतर एक ओर देसाई के कुचक्र शुरू होते हैं और दूसरी ओर साधुराम की लोकप्रियता बढ़ती जाती है। देसाई साधुराम पर अनेक दोषों का आरोपण करता है। पर 'हरि की कृपा' से वह निर्दोष सिद्ध होता है और उसी के साथ नाटक का सुख में पर्यवसान होता है। लेखक ने इस कृति द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि हमारा ग्रामीण जीवन आज कुचक्रों और पापों का घर बन गया है। गाँवों में साधुराम की कोटि के सज्जनों की संख्या अत्यल्प है। लेखक ने यह भी प्रतिपादित किया है कि अंततोगत्वा 'सत्यमेव जयते'। इस दृष्टि से यह आदर्श-प्रधान सामाजिक नाटक है। इसमें अस्पृश्य वर्चों की विषम समस्या को उभारने के लिए रचयिता ने भीखी की पुत्री को महत्ता प्रदान की है। ग्रामीण जनता के मार्ग-दर्शक साधुराम के साथ किये जानेवाले खलनायक देसाई के नीच कृत्यों का चित्रण अत्यन्त वास्तविक है। मट्टु के कार्य-कलाप मनोरंजन हैं। महालक्ष्मी मंगलमूर्ति है। साधुराम का देसाई की नौकरी करना मानव की विवशता का अच्छा उदाहरण है।

इस नाटक के वस्तु-विन्यास में सक्रियता का अभाव नहीं है। सभी घटनाएँ सुसंगत और सुग्रथित हैं। वार्तालाप पात्रों और प्रसंगों के अनुरूप है। इसमें मधुर गीतों का भी समावेश हुआ है। परन्तु इसका शीर्षक नहीं है। नाट्यगीतों के द्वारा लेखक "हरिरथ के सदा चलने" की बात कहता है। यह नाटक मूलतः अभिनय के लिए लिखा गया है। इसमें साहित्यिकता की अपेक्षा अभिनय क्षमता अधिक है।

'सुमंगला' (१९५५)

नवोदित नाट्यकार शिवकुमार जोशी का यह नाटक वृद्ध-विवाह की सामाजिक समस्या पेश करता है। लेखक ने उसके साथ कई मनोवैज्ञानिक समस्याएँ जोड़ दी हैं और नाटक को एक सफल समस्यामूलक कृति का रूप प्रदान किया है। नाटक का प्रारम्भ सद्-गुणराय के पुनर्विवाह से होता है। वे विधुर हैं। मृत पत्नी के पुत्र गौतम के विलायत जाने के पश्चात् सदगुणराय विमला से पुनः विवाह करते हैं। गौतम को द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण लम्बे अरसे तक विलायत में रुका रहना पड़ता है। आठ वर्ष के अनन्तर जब उसका पुनरागमन होता है तब वह अपनी नई माँ विमला और सौतेली बहन सलीला के बारे में जानकारी पाता है। उसे पिता की कामलोलुपता पर रोष आता है। पर विधवा बहन लीला के समझाने बुझाने पर वह शांत होता है। किन्तु पिता-पुत्र में मनोमालिन्य बना रहता है। एक दिन स्वप्न में गौतम को उसकी स्वर्गस्थ माता उसके पिता के साथ सद्व्यवहार करने का आदेश देती है। 'माँ' कहकर चिल्लाते ही स्वप्न टूट जाता है और वहाँ उपस्थित उसकी नई माँ विमला वात्सल्यपूर्वक उसका हाथ पकड़ती है। संदेहशील सदगुणराय यह दृश्य देखकर जल जाते हैं। घर की स्थिति विषम बनती है। विमला गृह त्याग करने को तत्पर है। अन्त

मे लीला सबके मनमे सद्‌भावना पैदा कर गौतम और रसिका का पाणिग्रहण करवाती है। इस सुखांत नाटक के अन्तिम अंक का वातावरण विषाद की गहरी छाया से अच्छादित है। पाठक या दर्शक के चित्त पर समापन के सुख से प्रसन्नता का भाव नही जागता। अतः हम इसे पूर्णतः सुखान्त कृति नही कह सकते।

नाटक की नायिका लीला है जो मगलमूर्ति है। इसलिए इसे 'सुमगला' के नाम मे अभिहित किया है। मातृभक्त गौतम को इस कृति मे केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। उसके और मदगुणराय के सघर्ष द्वारा नाट्य-वस्तु का समुचित विकास हुआ है। गौतम का स्वप्न भी वस्तु विकास का महत्त्वपूर्ण अंग है। विमला नारी-जीवन की विवशता का प्रतिनिधित्व करती है। सलीला और प्रवीर की निर्दोष क्रीडाओ के द्वारा नाटक के वातावरण मे सजीवता और सरसता पैदा हुई है। सवाद आकर्षक है। भाषा प्रासादिकता से परिपूर्ण है। सुन्दर गीतो का भी इसमे समावेश हुआ है। इस कृति मे अभिनय-तत्त्वो का अभाव नही है। साहित्यिक एव रंगमंचीय दोनो दृष्टियो से 'सुमगला' सफल रचना है।

किशोर-मोकद-कृत 'तुफान शम्यु' (१९५६) एक दीर्घकाय कृति है जिसमे उत्तम नाटक के तत्त्वो का अभाव है। 'शयदा' का निअंकी नाटक 'अमर ज्योति' (१९५७) रंगमचीय रचना है। उसमे उदात्त भावना और शिष्टता का सुन्दर सामजस्य हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय सामाजिक नाटक ये है :— धूमकेतु का 'ठडी क्रूरता' (१९४२) उमेद कवि का 'घर कुकडी' (१९४२), धनसुखलाल मेहता का 'अर्वाचीना' (१९४६), अनत आचार्य का 'ब्रह्मचारी' (१९५५), शिवकुमार जोशी का 'अधारा उलेचो' (१९५५) इत्यादि।

सामाजिक नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन

१९०० से पूर्व भारतेन्दु-नर्मद युगीन नाटको मे जिस सर्वतोमुखी सामाजिक नवजागरण के लक्षण दृष्टिगत हुए और जो वैयक्तिक एवं सामाजिक सुधारवादी भावनाएँ अभिव्यक्त हुईं, उनका समुचित और स्पष्ट निरूपण परवर्ती युग के हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओ के नाटको मे अधिक उत्कटता से हुआ। तदुपरात विभिन्न प्रकार की विवाह समस्याएँ, सामाजिक कुप्रथाएं और राजनैतिक तथा शासकीय अनीतियां जो भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और कवि नर्मद के समय मे नाट्यात्मक रूप ग्रहण कर चुकी थी, १९०० के बाद के नाटककारो ने भी अपने नाटको मे उन्हें प्रस्तुत किया। परन्तु प्रथम एव द्वितीय विश्वयुद्ध जनित भीषण आर्थिक सघर्षों और भ्रष्टाचारो के कारण मानव-मूल्यो का जो विघटन हुआ, उनसे उपर्युक्त समस्याओ ने अत्यधिक जटिल रूप धारण कर लिया और उसी के फलस्वरूप अनेक नये मनोवैज्ञानिक प्रश्न भी उभर कर सामने आये। बीसवी शती के हिन्दी-गुजराती नाटक उन नये सर्वग्राही समस्या-मूलक प्रश्नो का बड़ी ईमानदारी और सचाई से यथार्थवादी अकन करते हैं। इसी के साथ उनके द्वारा नये नाट्य-शिल्प और शैली-स्वरूप का भी सूत्रपात होता है। सभी दृष्टियो मे १९०० के पश्चात् का नाट्य साहित्य प्रगति का परिचायक है।

'प्रेम और विवाह की समस्याएँ'

बीसवीं शती मे प्रणीत हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओ के सामाजिक नाटको के अधिकाश कथानक प्रेम, विवाह एव कामवासना पर आधृत है। पश्चिमी सभ्यता ने जहां

एक ओर हमारा आर्थिक ढाँचा बदल दिया है, वहाँ दूसरी ओर उसने हमारे सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन में विषमता पैदा कर उसका संतुलन एवं सामंजस्य निर्मूल कर दिया है। परिणामस्वरूप, कई नई विकट समस्याएं उद्भूत हो गई हैं। उनकी मूलवर्तिनी समस्या काम-विषयक है और जिसका सम्बन्ध विशेषत उच्च शिक्षा प्राप्त सभ्रांत लोगों से है। इस यौन-विकार ने ही प्रेम और विवाह की नई जटिल समस्याओं को जन्म दिया है। आज विश्व में व्यक्ति की सबसे बड़ी उलझन कामवासना है। इसी ने वैयक्तिक कुंठाएँ और विकृतियाँ पैदा की हैं। विश्व के सभी यथार्थवादी साहित्यकारों का प्रतिपाद्य विषय इन दिनों यही कामवासना (Sex) है। फ्रॉयड आदि मनोविश्लेषकों ने कामवासना को ही मानव की समस्त प्रवृत्तियों का मूल माना है। इब्सन, शॉ, गोल्सवर्दी आदि अनेक पश्चिमी नाट्यकारों की कृतियाँ इसी मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन करती हैं। हिन्दी और गुजराती के आधुनिक नाटकों की भी मूलगत समस्या यही कामवासना है। उसी के संदर्भ में प्रेम एवं विवाह की अन्य समस्याएँ अवतरित हुई हैं। हिन्दी में लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, पृथ्वीनाथ शर्मा, उदयशंकर भट्ट इत्यादि और गुजराती में कन्हैयालाल मुंशी, चन्द्रवदन महेता, जयंति दलाल, नंदकुमार पाठक इत्यादि के नाटक इस तथ्य के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

कामजनित प्रेम और विवाह से उत्पन्न समस्याओं के कई पहलू हैं, जिन्हें दोनों भाषाओं के नाट्यकारों ने नाट्यात्मक रूप प्रदान किया है। एक पहलू विवाहित स्त्री-पुरुषों का स्वच्छन्द प्रणयाचार तथा वासना जन्य व्यवहार है। उच्च शिक्षा प्राप्त अभिजात वर्ग के स्त्री पुरुष अपने दांपत्य-जीवन से संतुष्ट नहीं है। वे अन्य पुरुषों और स्त्रियों से आकृष्ट होते हैं, प्रेम करते हैं और अपनी वासनातृप्ति करते हैं। उनके द्वारा समाज की नैतिक परम्पराएँ टूटती हैं और 'अर्वाचीनता', 'प्रेम साधना' तथा 'स्वतंत्रता' के नाम पर वासना और व्यभिचार बढ़ता है। यह तथा-कथित उच्च संस्कार संपन्न वर्ग हर शहर में पाया जाता है जो वस्तुत कुंठाग्रस्त और कुत्सित है। हिन्दी में 'सन्यासी', राक्षस का मन्दिर', 'सिन्दूर की होली', 'मुक्ति का रहस्य', 'मादा कैक्टस' और 'डॉक्टर' के पात्र मुक्त प्रेम और रोमान्स के नाम पर विषय-वासना की ही पूर्ति करते हैं और साथ ही अपने दांपत्य-जीवन को विसंवादी एवं विषाक्त बनाते है। 'पीडाग्रस्त प्रोफेसर', 'डॉ० मधुरिका,' 'शिखरिणी' 'पाजरापोल', 'पारकीजणी' इत्यादि गुजराती नाटक उक्त समस्या को ही उभारते हैं।

इन दिनों हमारे सामाजिक जीवन की ज्वलंत समस्या 'प्रणय-त्रिकोण' है। एक युवती से दो युवक प्रेम करते है या दो युवतियाँ एक युवक के प्रति आकृष्ट रहती है। यह स्थिति नाटक में संघर्ष पैदा करती है और पात्र अन्तर्द्वन्द्व से प्रपीडित रहते हैं। 'प्रणय-त्रिकोण' की यह समस्या सर्वदेशीय एवं सर्वकालीन है। इसका मूलभूत आधार कामुकता है। 'सन्यासी', 'सिंदूर' की होली, 'आधीरात' 'दुविधा', 'काकानी शशी', 'शिखरिणी', 'डॉ० मधुरिका' इत्यादि हिन्दी और गुजराती नाटकों में ऐसे कई स्त्री और पुरुष पात्र विद्यमान हैं जो 'प्रणय-त्रिकोण' की समस्या साकार करते हैं। ये सभी पात्र शहरी और सुशिक्षित एवं उच्चवर्गीय है। इनका वासनाजन्य प्रेम और तद्विषयक प्रतारणा आज चिंतनीय है।

प्रेम और वासना से ही सम्बन्धित अवैध संतानोत्पत्ति की जटिल समस्या है। महाभारत के कर्ण की जन्म कथा आज भी समाज में पुनरावर्तन पाती है। आज भी विधवाएँ और कुमारिकाएं मातृत्व पाती हैं। उनकी संतानों की स्थिति समाज में अत्यन्त विषम एवं विघातक बनती है। हिन्दी और गुजराती के कतिपय चिंतनशील नाट्यकारों ने इस जटिल

सामाजिक समस्या को नाटकीय रूप प्रदान किया है। नंदकुमार पाठक कृत 'पारकीजणी' की रमा, और बचुभाई शुक्ल कृत 'हरिरथ चाले' की भीखी की वेटी अवैध संतान-समस्या को उभारती हैं। उदयशंकर भट्ट ने 'कमला' में उमा द्वारा, सेठ गोविन्ददास ने 'त्याग और ग्रहण' में विमला द्वारा और लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'राजयोग' में चंपा द्वारा इसी समस्या को अंकित कर यह निर्देश किया है कि तथा-कथित कुलीनता या सामाजिक व्यवस्था का दुराग्रह छोड़ कर इन धूल के फूलों को समाज में समुचित स्थान और अवसर प्रदान कर श्रेष्ठ नागरिक बनाना चाहिए। यह आज की मानवता की माँग है।

दोनों भाषाओं में विवाह-विषयक कथानकों में प्रेम-विवाह की भावना का भी अंकन हुआ है। इसमें प्रेमी और प्रेमिका दोनों प्रेम करते हैं और अनेक अड़चनों को पार कर अन्त में विवाह कर प्रेम-लग्न के आदर्श को चरितार्थ करते हैं। कन्हैयालाल मुंशी का प्रहसन 'वे खराब जण' परंपरागत देह-लग्न की स्थूल भावना प्रगट करता है, जबकि कवि नानालाल का 'जया अने जयन्त' आत्म-लग्न की सूक्ष्म भावना प्रगट करता है। समस्त हिन्दी-गुजराती नाटकों में यह नाटक इस दृष्टि से अन्यतम है।

'नारी समस्या'

आधुनिक युग का एक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन नारी-स्वातंत्र्य का है। पाश्चात्य चिंता-धारा, गांधीजी की विचारधारा तथा अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा ने नारी स्वातंत्र्य की भावना को काफी प्रश्रय दिया है। नारी का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है। उसे सम्मान देना पुरुष का कर्तव्य है। जितने अधिकार पुरुष को प्राप्त हैं उतने ही अधिकार नारी को समाज में प्राप्त होने चाहिएं। ये सारी बातें नारी-स्वातंत्र्य के आनुषंगिक रूप में उपस्थित हुई हैं। पश्चिम में इब्सन और शॉ के यथार्थवादी समस्या-नाटकों में नारी के तेजस्वी व्यक्तित्व ने सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की है। इसी विचारधारा का निरूपण हिन्दी-गुजराती के आधुनिक नाटकों में हुआ है। अश्क के 'अलग-अलग रास्ते' और लक्ष्मीनारायण मिश्र के कई समस्या-नाटकों में नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की गई है। गुजराती के 'काकानी शशी', 'सुमंगला', 'पारकी जणी' इत्यादि नाटकों में नारी को शक्तिसंपन्न, कर्तव्यपरायण, स्वतंत्र और सम्मानित रूप में प्रतिष्ठित किया है। दोनों भाषाओं के कतिपय नाटकों में पुरुष को दुराचारी और काम-लोलुप दिखाकर नारी की चरित्रशीलता को चरितार्थ किया है। इन नाटकों में यह प्रमाणित होता है कि "चिरंतन नारीत्व ने पुरुष की अहमन्यता पर विजय प्राप्त की है।"

नारी समस्या के इस आधुनिक स्वस्थ बुद्धिवादी चिंतन में भी एक बात स्पष्ट होती है कि बुद्धि सघन एवं तर्क-शुद्ध विचारों के समर्थक लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्र नाथ अश्क, कन्हैया लाल मुंशी, चंद्रवदन मेहता इत्यादि सभी नाटककार मत में तो नारी-जीवन की भारतीय भावना को ही श्रेयस्कर एवं स्वीकार्य मानते हैं। उनका मानना है कि यदि पति और पत्नी में पारस्परिक स्नेह, समर्पण एवं समाधानकारी वृत्ति हो तो दांपत्य-जीवन की विसंवादिता जाती रहे और उसके स्थान पर सुख, शांति एवं संवादिता प्रतिष्ठा प्राप्त करे। दांपत्य-जीवन की विषमता और कटुता के लिए अधिकांश उत्तरदायित्व चरित्रहीन पुरुषों का है। 'कमला' का देवनारायण, 'मुक्ति का रहस्य' का 'उमाशंकर', 'अंगूर की बेटी' का मोहनदास और 'नारी की साधना' का राजन ये सारे पात्र अपने ही कुकर्मों से दांपत्य जीवन को कटु बनाते हैं और नारी जीवन को बरबाद करते हैं। गुजराती नाटकों में

'काकानी शशी' के कुंदनलाल और गौरीशंकर, 'पीडाग्रस्त प्रोफेसर' का प्रीतमलाल, 'आशाक्ति' का हरिकिशनदास, 'मांकम गत, का कनक' 'पारकी जणी' का प्रकाश और 'सुमंगला' का सदगुणराय काम वासना से प्रपीडित कुपथगामी पात्र हैं जो अपनी पत्नियों के जीवन को विनष्ट करते हैं। यहाँ यह उल्लेख्य है कि परंपरागत आदर्शवादी भारतीय दृष्टिकोण का भी प्रकाशन दोनों भाषाओं के नाटकों में उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ 'सिंदूर की होली' की मनोरमा, 'आधीरात' की मायावती, 'गरीबी और अमीरी' की अचला, 'अंगूर की बेटी' की कामिनी, 'नारी की साधना' की करुणा और 'अधाकुआँ' की सूका भारतीय स्त्री-जीवन के सनातन आदर्श का प्रतिनिधित्व करती है। यही भावना गुजराती में 'राईनो पर्वत' की वीणावती और लीलावती, 'जया अने जयंत' की जया, 'अजनी' की अजनी, 'पारकी जणी' की मेवा और 'सुमंगला' की लीला उजागर करती है। ये सभी नारियाँ भारतीय नारी जीवन की भव्यता, उच्चता और आदर्श परायणता की प्रतिमूर्तियाँ हैं। हिन्दू पतियों, प्रेमियों या परिवार के सदस्यों ने नारी की कोमल भावनाओं का दुरुपयोग कर उससे क्रूरता एवं कठोरता का व्यवहार किया है और उसके जीवन को विषाद युक्त बनाकर जघन्य पाप किया है। यह वस्तु स्थिति 'अधा कुआँ' 'नारी की साधना,' 'कमला', 'आशाक्ति', 'सुमंगला' इत्यादि हिन्दी गुजराती करुणरसाश्रित नाटक प्रस्तुत करते हैं। नारी का वेश्या जीवन 'सन्यासी' और 'आशाक्ति' में समाविष्ट है, जो सनातन नारी समस्या का ही एक अंग है। वैधव्य या कौमार्य में मातृत्व प्राप्ति, कन्या विक्रय, अर्ध-शिक्षित या अशिक्षित स्त्री का पति द्वारा परित्याग, अनमेल विवाह इत्यादि ज्वलंत नारी समस्याओं का अत्यंत सबल, स्पष्ट तथा सम्यक् निरूपण हिन्दी और गुजराती के इन आलोच्य नाटकों में हुआ है। 'काकानी शशी' की शशी, 'डा० मधुरिका' की मधुरिका, 'शिखरिणी' की शिखरिणी, 'अजोदीदी' की अजोदीदी और 'डाक्टर' की अनीला नारी जीवन की विभिन्न समस्याओं को अंकित करती है।

अन्य सामाजिक समस्याएँ

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बीसवीं शताब्दी के समस्त हिन्दी और गुजराती सामाजिक नाटकों का प्रधान विषय विवाह और कामवासना से सम्बन्धित है। नारी-समस्या भी इसी का एक अंग बनकर आई है। इसके अनन्तर दोनों भाषाओं के नाटककारों का अन्य जिन विषयों की ओर समान रूप से ध्यान आकृष्ट हुआ है, वे ये हैं —

अधिक जटिल बना दिया है। मिल मालिक और मजदूर, पूंजीपति और गरीब, उच्च सम्पन्न वर्ग और निम्न दरिद्र वर्ग—यह वर्ग-भेद मशीन-युग की उपज है। इससे सामाजिक अव्यवस्था तथा आर्थिक असमानता के दूषण पैदा हुए हैं। फलत मानव-जीवन सतुलन एव सामजस्य खो बैठा है। इसकी अभिव्यक्ति आधुनिक नाटको मे हुई है। चद्रवदन मेहता का 'आग गाडी' नाटक रेलवे के आग वालो का भीषण दारिद्रय सपूर्ण यथार्थता एव ईमानदारी के साथ चित्रित करता है। 'नागा बावा' और 'भाभम रात' की मूलवर्तिनी समस्या अर्थ से सम्बन्धित है। 'अवतरण', 'हरिरथ चाले' इत्यादि मे आर्थिक प्रश्न ने विशेष स्थान प्राप्त किया है। इसी प्रकार 'मुकुट', 'समर्पण', 'पैसा परमेश्वर', पैसा तुम्हे खा गया', 'चुंबन', 'अधा कुआँ' इत्यादि हिन्दी नाटक सर्वभक्षी अर्थ-पिशाच की सहार-लीला के हृदय-भेदक दृश्य प्रस्तुत करते हैं। दोनो भाषाओ के इन नाटको मे यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है और समता-सस्थापन की भावना साकेतिक ढग से अभिव्यक्त की गई है।

राजनैतिक परिस्थिति

देश की राजनैतिक परिस्थिति के चित्र इन सामाजिक नाटको मे प्रासगिक रूप से प्रस्तुत हुए हैं। सेठ गोविन्ददास के सभी नाटको मे हमे गांधी युग के राजनैतिक जीवन की बुद्धि सगत आलोचना मिलती है। गुजराती नाटको मे 'मोरना ईडा', 'हरिरथ चाले' इत्यादि पर गाधी विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है। इसके अनतर राष्ट्रीयता, देश-भक्ति, स्वराज्य-भावना इत्यादि का प्रकाशन 'इन्दुकुमार', 'प्रकाश', 'सेवा-पथ' इत्यादि नाटक करते हैं। मद्य निषेध के आदर्श को 'अगूर की बेटी' और 'उगती जुवानी' मे नाट्यात्मक रूप दिया गया गया है। हिन्दी 'सुबह के घटे' साम्यवादी विचारधारा से सबधित है और गुजराती 'अवतरण' समाज मे सर्वदेशीय परिवर्तन की आकाक्षा अभिव्यक्त करता है। दोनो नाटक अपने-अपने क्षेत्र मे अद्वितीय हैं।

शात रसाश्रित गुजराती उत्कृष्टतम नाटक 'राईनो पर्वत' मे जिस परम ऋतु-लीला के दर्शन होते हैं और जो धर्म भावना अभिव्यक्त हुई है, वह हिन्दी नाटको मे दुर्लभ है। इसी तरह हिन्दी नाटक 'भादा वैक्टस' और 'अधा कुआँ' का यथार्थवादी जीवन-दर्शन गुजराती नाटको मे नही हुआ है। चन्द्रवदन मेहता के 'आग गाडी' और 'नागा बावा' के विषय इधर हिन्दी मे अछूते रह गये हैं, तो उधर उपेन्द्रनाथ अश्क की 'अजो दीदी' गुजराती नाटको मे अदृश्य है। गुजराती कवि नानालाल के भाव-नाट्य 'जया अने जयत' की आत्म-लग्न एव नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की आदर्श-भावना तो दोनो भाषाओ के नाटको मे अनन्य स्थान की अधिकारिणी है। फिर भी निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि हिन्दी और गुजराती के इन नाटको के विविध विषयो मे पर्याप्त समानता है।

चरित्र-चित्रण

बीसवी शती के नाट्यकारो का लक्ष्य न सस्कृत नाटककारो की तरह रस की निष्पत्ति करना है न कि प्रारभिक नाटको की भाँति स्थूल घटनाओ को प्रधानता देना है। उनका हेतु या तो समाज की ज्वलत समस्याओं का निरूपण करना है या पात्रो और प्रसगो की सहायता से विशिष्ट विचारो का प्रतिपादन करना है। इसीलिये इन विचार प्रधान और समस्या प्रधान नाटको मे पात्रो का परपरागत स्थूल चरित्र चित्रण नहीं हुआ है। पात्रो के मनोभावो का

'काकानी शशी' के कुदनलाल और गौरीशकर, 'पीडाग्रस्त प्रोफेसर' का प्रीतमलाल, 'आज्ञाकित' का हरिकिशनदास, 'मासम रात, का कनक' पारकी जणी का प्रकाश और 'सुमगला' का सदगुणराय काम वासना से प्रपीडित कुपथगामी पात्र हैं जो अपनी पत्नियो के जीवन को विनष्ट करते हैं। यहाँ यह उल्लेख्य है कि परपरागत आदर्शवादी भारतीय दृष्टिकोण का भी प्रकाशन दोनो भाषाओ के नाटको मे उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ 'सिंदूर की होली' की मनोरमा, 'आधीरात' की मायावती, गरीबी और अमीरी' की अचला, 'अगूर की बेटी' की कामिनी, 'नारी की साधना' की करुणा और 'अधाकुआँ' की सूका भारतीय स्त्री-जीवन के सनातन आदर्श का प्रतिनिधित्व करती है। यही भावना गुजराती मे 'राईनो पर्वत' की वीणावती और लीलावती 'जया अने जयत' की जया, 'अजनी' की अजनी, 'पारकी जणी' की मेधा और 'सुमगला' की लीला उजागर करती हैं। ये सभी नारियाँ भारतीय नारी जीवन की भव्यता, उच्चता और आदर्श परायणता की प्रतिमूर्तियाँ हैं। हिन्दू पतियो, प्रेमियो या परिवार के सदस्यो ने नारी की कोमल भावनाओ का दुरुपयोग कर उससे क्रूरता एव कठोरता का व्यवहार किया है और उसके जीवन को विषाद युक्त बनाकर जघन्य पाप किया है। यह वस्तु स्थिति 'अधा कुआँ' 'नारी की साधना,' 'कमला', 'आज्ञाकित', 'सुमगला' इत्यादि हिन्दी गुजराती करुणरसाश्रित नाटक प्रस्तुत करते हैं। नारी का वेश्या जीवन 'सन्यासी' और 'आज्ञाकित' में समाविष्ट है, जो सनातन नारी समस्या' का ही एक अग है। वैधव्य या कौमार्य मे मातृत्व प्राप्ति, कन्या विक्रय, अर्धशिक्षित या अशिक्षित स्त्री का पति द्वारा परित्याग, अनमेल विवाह इत्यादि ज्वलत नारी समस्याओ का अत्यत सजल, स्पष्ट तथा सम्यक् निरूपण हिन्दी और गुजराती के इन आलोच्य नाटको मे हुआ है। 'काकानी शशी' की शशी, 'डा० मधुरिका' की मधुरिका, 'शिखरिणी' की शिखरिणी, 'अजोदीदी' की अजोदीदी और 'डाक्टर' की अनीला नारी जीवन की विभिन्न समस्याओ को चित्रित करती है।

अन्य सामाजिक समस्याएँ

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बीसवी शताब्दी के समस्त हिन्दी और गुजराती सामाजिक नाटको का प्रधान विषय विवाह और कामवासना से सम्बन्धित है। नारी समस्या भी इसी का एक अग बनकर आई है। इसके अनन्तर दोनो भाषाओ के नाटककारो का अन्य जिन विषयो की ओर समान रूप से ध्यान आकृष्ट हुआ है, वे ये है —

मानवता—राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के हमारे सार्वजनिक जीवन मे आगमन के पश्चात् मानवता का स्वर विशेष रूप से साहित्य और जीवन मे मुखर हुआ है। हिन्दी और गुजराती के सभी नाटको मे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे मानवतावादी आदर्श भावना साकार हुई है। सेठ गोविन्ददास, विष्णु प्रभाकर, कृष्णलाल श्रीधराणी, बचुभाई शुक्ल इत्यादि नाटककारो के तो प्रतिपाद्य विषय ही मानवता व आदर्श का उद्घाटन करते है। 'त्याग और ग्रहण', 'अपराधी', 'डॉक्टर', 'राईनो पर्वत', 'मोरना ईंडा', 'नागा बावा', 'आग गाडी', 'अवतरण' इत्यादि कई हिन्दी-गुजराती नाटक मानवता की युग भावना अभिव्यजित करते है। धर्म, नीति, सदाचार, स्नेह, समता, सहिष्णुता, सहानुभूति इत्यादि उच्च मानवीय गुण मानवता के ही परिपोषक अश है। दोनो भाषाओ के नाटको म ये भाव सर्वत्र सुलभ है।

आर्थिक सकट—हमारी यत्रवादी विज्ञान प्रधान सस्कृति ने आर्थिक प्रश्नो को सबसे

अधिक जटिल बना दिया है। मिल मालिक और मजदूर, पूंजीपति और गरीब, उच्च सम्पन्न वर्ग और निम्न दरिद्र वर्ग— यह वर्ग-भेद मशीन-युग की उपज है। इससे सामाजिक अव्यवस्था तथा आर्थिक असमानता के दूषण पैदा हुए है। फलत मानव-जीवन सतुलन एव सामजस्य खो बैठा है। इसकी अभिव्यक्ति आधुनिक नाटको मे हुई है। चद्रवदन मेहता का 'आग गाडी' नाटक रेलवे के आग वालो का भीषण दारिद्रय सपूर्ण यथार्थता एव ईमानदारी के साथ चित्रित करता है। 'नागा बावा' और 'माझम रात' की मूलवर्तिनी समस्या अर्थ से सम्बन्धित है। 'अवतरण', 'हरिरथ चाले' इत्यादि मे आर्थिक प्रश्न ने विशेष स्थान प्राप्त किया है। इसी प्रकार 'मुकुट', 'समर्पण', 'पैसा परमेश्वर', पैसा तुम्हे खा गया', 'चुबन', 'अधा कुआँ' इत्यादि हिन्दी नाटक सर्वभक्षी अर्थ-पिशाच की सहार-लीला के हृदय-भेदक दृश्य प्रस्तुत करते है। दोनो भाषाओ के इन नाटको मे यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है और समता-सस्थापन की भावना सार्वत्रिक ढग से अभिव्यक्त की गई है।

राजनैतिक परिस्थिति

देश की राजनैतिक परिस्थिति के चित्र इन सामाजिक नाटको मे प्रासगिक रूप से प्रस्तुत हुए हैं। सेठ गोविन्ददास के सभी नाटको मे हमे गांधी-युग के राजनैतिक जीवन की बुद्धि सगत आलोचना मिलती है। गुजराती नाटको मे 'मोरना ईडा', 'हरिरथ चाले' इत्यादि पर गाधी विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है। इसके अनतर राष्ट्रीयता, देश-भक्ति, स्वराज्य-भावना इत्यादि का प्रकाशन 'इन्दुकुमार', 'प्रकाश', 'सेवा-पथ' इत्यादि नाटक करते हैं। मद्य-निषेध के आदर्श को 'अगूर की बेटी' और 'उगती जुवानी' मे नाट्यात्मक रूप दिया गया गया है। हिन्दी 'सुहह के घट' साम्यवादी विचारधारा स सबधित है और गुजराती 'अवतरण' समाज मे सर्वदेशीय परिवर्तन की आकाक्षा अभिव्यक्त करता है। दोनो नाटक अपने-अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं।

शात रसाश्रित गुजराती उत्कृष्टतम नाटक 'राईनो पर्वत' मे जिस परम ऋतु-लीला के दर्शन होते है और जो धर्म भावना अभिव्यक्त हुई है, वह हिन्दी नाटको मे दुर्लभ है। इसी तरह हिन्दी नाटक 'मादा कैक्टस' और 'अधा कुआँ' का यथार्थवादी जीवन-दर्शन गुजराती नाटको मे नही हुआ है। चन्द्रवदन मेहता के 'आग गाडी' और 'नागा बावा' के विषय इधर हिन्दी मे अछूते रह गये हैं, तो उधर उपेन्द्रनाथ अश्क की 'अजो दीदी' गुजराती नाटको मे अदृश्य है। गुजराती कवि नानालाल के भाव नाटक 'जया अने जयत' की आत्म-लग्न एव नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की आदर्श-भावना तो दोनो भाषाओ के नाटको मे अनन्य स्थान की अधिकारिणी है। फिर भी निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि हिन्दी और गुजराती के इन नाटको के विविध विषयो मे पर्याप्त समानता है।

चरित्र-चित्रण

बीसवी शती के नाट्यकारो का लक्ष्य न सस्कृत नाटककारो की तरह रस की निष्पत्ति करना है न कि प्रारम्भिक नाटको की भाँति स्थूल घटनाओ को प्रधानता देना है। उनका हेतु या तो समाज की ज्वलत समस्याओ का निरूपण करना है या पात्रो और प्रसगो की सहायता से विशिष्ट विचारो का प्रतिपादन करना है। इसीलिये इन विचार प्रधान और समस्या प्रधान नाटको मे पात्रो का परपरागत स्थूल चरित्र-चित्रण नही हुआ है। पात्रो के मनोभावो का

विश्लेपण करना और उनके अतर्द्वन्द्वो का प्रकाशन करना आधुनिक नाटककारो की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। उसी के साथ नाटकीय पात्र लेखको के विचारो को वहन करने वाले साधन का भी कार्य करते है।

हिन्दी और गुजराती के आलोच्य नाटक विशेषत समस्या प्रधान है। अत कुछ नाटको को छोडकर शेष सभी नाटको के पात्र अपना अविस्मरणीय रूप लेकर प्रत्यक्ष नही हुए है। वे लेखको के विचारो या समस्याओ के वाहक बन हुए है। हिन्दी मे लक्ष्मीनारायण मिश्र की और गुजराती मे चद्रवदन मेहता की पात्र सृष्टि इस कथन को प्रमाणित करती है। 'सन्यासी' की मालती और किरणमयी, 'मुक्ति का रहस्य' की आशा, 'राजयोग' की चपा, 'सिन्दूर की होली' की मनोरमा और चद्रकला नारी समस्या के प्रतिनिधि पात्र हैं। इसी प्रकार 'पाजरापोल' की ज्योति, 'माझम रात' की सध्या, 'शिखरिणी' की शिखरिणी इत्यादि नारी-जीवन के विविध पहलुओ पर प्रकाश डालती है। समस्याओ के साथ चारित्रिक विशेषताओ का अकन कन्हैयालाल मुशी और उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटको मे बडी सफाई और सावधानी से हुआ है। हिन्दी और गुजराती के आलोच्य नाटको मे कई पात्र समान विशेषताओ को लेकर अवतरित हुए है। गुजराती मे 'काकानी शशी' की शशी, 'पीडाग्रस्त प्रोफेसर' की वसुधरा, 'डॉ० मधुरिका' की मधुरिका, 'शकित हृदय' की चद्रिका, 'पाजरापोल' की ज्योति और 'माझम रात' की सध्या उच्च शिक्षा प्राप्त नारियाँ है जो स्वच्छद प्रणयाचार को उपयुक्त मानती है और वैवाहिक जीवन को बन्धन समझकर त्याज्य एव तिरस्कृत मानती हैं। इसी प्रकार की शिक्षित शहरी नारियाँ हिन्दी मे 'दुविधा' की सुधा, '.. घ' की कुमुद, 'मादा कैक्टस' की आनदा, 'समर्पण' की इला और 'अलग अलग रास्ते' की रानी हैं। इन नारी-चरित्रों का बडा ही सूक्ष्म मनोविश्लेपण हुआ है और लेखको ने बडी ही कुशलता से उनके अतर्मन के आन्दोलनो और कुठाओ को प्रगट किया है। ये पात्र जहाँ एक ओर सामाजिक समस्याओ को उभारते हैं वहाँ दूसरी ओर वैयक्तिक विशेषताओ का भी परिचय देते हैं। वस्तुत. इस नारी समाज से हमे आज की तथाकथित सस्कारी, उच्च शिक्षा प्राप्त, सभ्रान्त, परिवार की नारियो का स्पष्ट दर्शन होता है। इनका चरित्राकन बडा सुरेख और समुचित है। ये सभी स्वच्छद प्रकृति की नारियाँ अपनी वासनाजन्य प्रवृत्तियो की परिचायिकाएँ है।

इनके अतिरिक्त हिन्दी और गुजराती के सामाजिक नाटको मे नारियो का एक ऐसा वर्ग भी विद्यमान है जो समर्पण, सहनशीलता, त्याग और सच्चरित्रता के उच्च गुणो से विभूपित है। इनके द्वारा नारी के अतर्लोक का आलोक प्रकाशित हुआ है। हिन्दी मे 'अगूर की वेटी' की कामिनी और विन्दु, 'अपराधी' की आभा, 'अलग अलग रास्ते' की राज, 'कमला' की कमला, 'नारी की साधना' की करुणा, 'अधा कुआँ' की सूका और 'डॉक्टर' की सलीला—ये देवियाँ अपने आपको दुःख और चिन्ता की अग्नि मे तपाकर अपने विशुद्ध चरित्र द्वारा समाज को समुज्ज्वल और सुन्दर बनाती हैं। 'राईनो पर्वत' की सावित्री, 'पार की जणी' की मेवा, 'हरिरथ चाले' की महालक्ष्मी, 'मुमगला' की लीला इत्यादि स्त्री पात्रो द्वारा भारतीय नारी-जीवन की सुषमा और सौन्दर्य का प्रकाशन हुआ है।

'राईनो पर्वत' की रजोगुणी नायिका जालका का जो गभीर, शक्तिसम्पन्न, प्रभावोत्पादक एव अविस्मरणीय व्यक्तित्व गुजराती मे उपलब्ध है वह हिन्दी मे अलभ्य है। हिन्दी के नाटक 'अजो दीदी' की अजलि का अनुशासन एव नियमितताप्रिय व्यक्तित्व अविस्मरणीय है। उपेन्द्रनाथ अश्क ने उसके अतर्मन मे पैठकर बडा ही सतर्कता एव कलात्मकता से उसे

चित्रित किया है। उसके आतंकपूर्ण प्रगल्भ व्यक्तित्व से उसका सारा परिवार रहस्यमयी घुटन का अनुभव करता है। इस ढंग का विलक्षण पात्र गुजराती में कहीं नहीं देखा गया।

हिन्दी और गुजराती के इन नाटकों में पुरुष पात्रों के भी दो वर्ग हैं। पहला वर्ग उन लोगों का है जो या तो उच्च-शिक्षा प्राप्त हैं या अभिजात वर्ग से सबंधित हैं। अपनी अदम्य कामवासना से प्रेरित यह वर्ग अधम आचरण करता है। दूसरा वर्ग उन लोगों का प्रतिनिधित्व करता है जो संस्कार सम्पन्न, सदाचारी और सन्निष्ठ हैं और जिनके सत्कर्मों से समाज पूरी तरह लाभान्वित होता है। 'अलग अलग रास्ते' का मदन, 'दुविधा' का केशव, 'स्वर्ग की झलक' के अशोक और राजेन्द्र, 'कमला' का देवनारायण, 'त्याग और ग्रहण' का नीतिराज, 'मादा कैक्टस' का अरविन्द और 'डॉक्टर' का सतीशचन्द्र—ये सारे पुरुष पात्र यद्यपि उच्च-शिक्षा प्राप्त हैं परंतु इनके कृत्य निम्न-स्तरीय हैं। ये अनाचार और कामुकता के प्रति-रूप हैं। गुजराती में 'कावानी शशी' के कुन्दनलाल, गौरीशंकर और इन्द्रजीत, 'पीडा-ग्रस्त प्रोफेसर' का प्रीतमलाल, 'डॉक्टर मधुरिका' का गिरीश, 'शिखरिणी' का कलक, 'पार की जणी' का प्रकाश, 'पांजरापोल' का नवरंग, 'सुमंगला' का सद्गुणराय और 'आज्ञांकित' का हरिकिशनदास—इन पात्रों द्वारा उपर्युक्त प्रथम वर्ग का प्रतिनिधित्व हुआ है जिसे चरित्र-भ्रष्ट कहा जा सकता है। इसके नितांत विरुद्ध 'राईनो पर्वत' के जगदीप और कल्याण काम 'मोरना इंडा' का अभिजित, 'हरिरथ चाले' का साधुराम, 'त्याग और ग्रहण' का धर्मध्वज, 'सेवा पथ' का दीनानाथ, 'अपराधी' का अशोककुमार, 'साध' का अजीत और 'मुकुट' का मोहन सचरित्र हैं और मानवता के उच्च गुणों से समलंकृत हैं। उपरि उल्लिखित गुणावगुण समन्वित विभिन्न पात्रों द्वारा आधुनिक हिन्दी गुजराती नाट्यकारों ने मानव मन की सत-असत् वृत्तियों का बड़ी ही सूक्ष्मता से विश्लेषण किया है, मन के निगूढ़तम भावों का सुष्ठु प्रकाशन किया है और चरित्रगत आरोह-अवरोहों का स्पष्ट अंकन किया है। इस पात्र-सृष्टि में पूरी विविधता, विभिन्नता और विशिष्टता है। तदुपरांत यह हमारे सांप्रतिक शहरी समाज का पूरा प्रतिनिधित्व करती है। 'अंधा कुआँ' और 'हरिरथ चाले' के पात्र ग्रामीण जीवन से सबंधित हैं।

शैली

भारतेन्दु नर्मद-युग में ही हिन्दी-गुजराती के नाटक लेखक अपने नाटकों में पश्चिमी और भारतीय नाट्य शैलियों का समन्वय करने लगे थे। तदनन्तर जयशंकरप्रसाद और कन्हैयालाल मुंशी के जमाने में तो संस्कृत तत्त्वों का परित्याग कर पाश्चात्य तत्त्वों को सर्वांश रूप में अंगीकार करने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। आलोच्य नाटकों में इसका विशेषतः दर्शन होता है। १९१३ के श्रेष्ठ गुजराती नाटक 'राईनो पर्वत' में दोनों नाट्य-शैलियों का सुभग सामंजस्य पाया जाता है। 'शकित-हृदय' (१९२५) भी उसी परंपरा का निर्वाह करता है। कवि नानालाल के 'इन्दुकुमार' और जया अने जयंत' भाव नाटक अपनी 'डोलन शैली' की विशिष्टता के कारण गुजराती साहित्य में अन्यतम माने जाते हैं। इनके उत्कृष्ट गीत तो उत्तम गीति-काव्य के आदर्श-रूप हैं। इस प्रकार के नाटक हिन्दी में सुलभ नहीं हैं।

इसके बाद कन्हैयालाल मुंशी, चंद्रवदन मेहता तथा अन्य परवर्ती नाटककारों की कृतियाँ आती हैं जिनमें वस्तु-संकलना, चरित्रांकन, दृश्य-विधान, संवाद-योजना तथा नाट्य-शिल्प पश्चिमी नाटकों के अनुसार हैं। इसी प्रकार हिन्दी में लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्र-

नाथ अश्क तथा अन्य सभी आधुनिक नाटककारों की शैली पश्चिमी नाट्यानुवर्तिनी है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हिन्दी और गुजराती में कतिपय अर्वाचीन नाटककारों को इब्सन, शॉ, इत्यादि की यथार्थवादी शैली ने पर्याप्त आकर्षित किया है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्त समस्या नाटक इस शैली के परिचायक हैं। तत्पश्चात् पृथ्वीनाथ शर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट इत्यादि के समस्यामूलक नाटक यथार्थवादी शैली पर आधृत हैं। गुजराती में इब्सन शैली का अनुकरण बटुभाई उमरवाडिया, प्राणजीवन पाठक, यशवंत पंड्या आदि के एकांकियों में दृष्टिगत होता है। संपूर्ण नाटकों में इस यथार्थवादी शैली को कृष्णलाल श्रीधराणी ने 'मोरनाइंडा' में अपनाया है। तदंतर कन्हैयालाल मुंशी, चन्द्रवदन महेता, जयंतिदलाल इत्यादि के नाटकों में इसी शैली के कतिपय अंश उपलब्ध होते हैं। कहीं स्वगतों और गीतों का अभाव है, तो कहीं इत्यादि और रूढिगत सुखान्त भावना अनुपस्थित है। जीवन की यथार्थता को पूरी ईमानदारी से पेश करने के लिए इन नाटकों में पात्रानुरूप छोटे-छोटे संवादों, सरल और स्वाभाविक शब्दावली, प्रभावोत्पादक शैली तथा घरेलू वातावरण की सृष्टि की गई है। आज का नाटक सभी दृष्टियों से जीवन के अधिक निकट आ गया है। वह सही अर्थों में 'जीवन की आलोचना' है।

प्रहसन परंपरा

मानव जीवन सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं को उभारने और व्यक्ति तथा समाज की रूढिगत मान्यताओं, कुरीतियों और जड परंपराओं की आलोचना करने के निमित्त प्रहसनों और व्यंग्यमूलक कृतियों का आधार लेना परंपरागत है। हिन्दी में प्रहसनों का प्रारंभ भारतेन्दु युग से हुआ है। आज बीसवीं शती में भी उनका प्रणयन प्रचलित है। गुजराती में 'मिथ्याभिमान' और 'भट्टनु भोपालु' की प्रहसन-धारा परवर्ती अन्य नाटकों में प्रवहमान रही है। दोनों भाषाओं के प्रारंभिक प्रहसन यूरोपीय प्रहसनों की शिल्पविधि के ही अनुवर्ती हैं। इनमें विशिष्ट पात्रों, प्रसंगों या संवादों की सहायता से हास्योत्पत्ति होती है। व्यंग्य और कटाक्ष का भी आधार लिया जाता है। परंतु यहाँ यह स्मरणीय है कि इन प्रहसनों का हास्य स्थूल एवम् ग्राम्य अधिक है। व्यंग्य भी सूक्ष्म या मार्मिक नहीं हैं। आलोच्य काल में हिन्दी में बदरीनाथ भट्ट, बेचन शर्मा उग्र इत्यादि ने इसी कोटि के प्रहसन लिखे हैं। सुप्रसिद्ध हिन्दी प्रहसनकार जी० पी० श्रीवास्तव की भी सभी कृतियाँ अश्लील, एवम् अशिष्ट हास्योद्रेक करती हैं। उनके हास-परिहास में न स्वाभाविकता है और न संयमितता है। श्रीवास्तवजी की यह हास्य-परंपरा गुजरात में व्यावसायिक रंगमंचीय नाट्यकारों ने 'कॉमिक' के रूप में अपने नाटकों में निभाई है।

इसके पश्चात् गुजराती में कन्हैयालाल मुंशी और चन्द्रवदन महेता के प्रहसनात्मक नाटक और हिन्दी में उपेन्द्रनाथ अश्क के हास्य व्यंग्य मूलक नाटक उपलब्ध हैं। दोनों भाषाओं के इन नाटकों में "बाह्य मनोविनोदों के पीछे गंभीर उद्देश्य की प्रगल्भधारा स्पष्टतः प्रवाहित होती है।" मुंशीजी कृत 'ब्रह्मचर्याश्रम, 'छीए तेज ठीए', 'वावा शेठनु स्वातंत्र' इत्यादि, चन्द्रवदन महेता कृत 'पांजरा पोल, 'शिखरिणी, 'होहोलिका, इत्यादि, यशोधरा महेता कृत 'मवोभवो, ज्योतीन्द्रचन्द्र पाठकजी कृत 'जीवती जुतियट, और इस ढंग की अन्य कई गुजराती रचनाएँ गंभीर विचारों को अगंभीर प्रहसनात्मक शैली में अभिव्यक्त करती हैं। 'पैंतरे, 'छठा बेटा, 'स्वर्ग की झलक' आदि अश्क के प्रहसन इसी कोटि में परि-

गणित होते हैं। इनमे हास-परिहास के साथ गम्भीर एव मार्मिक व्यग्योक्तियाँ भी सम्मिलित रहती है जिनमे जीवन का कटु सत्य अभिव्यजित होता है। दोनो भाषाओ के इन प्रहसनो मे उच्च मध्यवर्गीय या उच्च शिक्षा प्राप्त समाज को उसकी विचित्रताओ, विकृतियो और विशिष्टताओ के कारण उपहसनीय बनाया है। 'ब्रह्मचर्याश्रम' मे तथा कथित गाधी-भक्त 'पीडाग्रस्त-प्रोफेसर' मे उपाधिधारी प्राध्यापक, 'छीए तेज ठीक' मे उच्च शिक्षा प्राप्त अभिजात वर्गीय युवक और युवती, 'पाजरापोल' मे विवाहाकाक्षी युगल, और 'मजो-मजो' मे धनलोलुप सम्भ्रात परिवार पर हास्य और व्यग्य किया गया है। हिन्दी के अश्क भी अपने सभी नाटको मे सफेदपोश, कुलीन वर्ग की खिल्ली उडाते हैं और उसके ढकोसलो, दभो और यौन विकारो का पर्दा फाश करते हैं। आधुनिक प्रहसनो मे यदा-कदा अतिशयोक्तियो और असगत उक्तियो द्वारा भी हास्य उत्पन्न करने का स्थूल प्रयत्न किया गया है। कही-कही इसने स्थूलता, अश्लीलता एव असयमितता का रूप ले लिया है। मुशीजी के 'छीए तेज ठीक' और 'ब्रह्मचर्याश्रम' म ऐसी ग्राम्यता और अशिष्टता इतस्तत समाविष्ट हो गई है। यही स्थिति चन्द्रवदन मेहता के 'पाजरापोल' और 'शिखरिणी' मे है। इस दृष्टि से अश्क के प्रहसन सुरुचिपूर्ण तथा शिष्टतायुक्त है। उनमे कही अभद्रता या अशिष्टता के उद्गार प्रगट नही हुए है। 'पैसा परमेश्वर' भी इसी प्रकार की हास्योत्पादक रचना है। उच्च कोटि का शिष्ट-हास्य और करारा व्यग्य 'काकानी शशी, 'डॉ० मधुरिका, 'माझम-रात, 'जीवती जुलियट, 'स्वर्ग की झलक' और 'अगो दीदी' मे सुलभ है। विशुद्ध हास्य और उन्मुक्त उल्लास से परिपूर्ण गुजराती कृति 'जीवती जुलियट' दोनो भाषाओ म अपनी विशिष्टता बनाये हुए है। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होता है कि गुजराती मे जितनी हास्य-व्यग्यात्मक कृतियाँ उपलब्ध है उतनी हिन्दी मे नही हैं। हिन्दी मे इस रूपक भेद का समृद्ध होना अभी शेष है।

'नवीन नाट्य प्रयोग'

आधुनिक नाटको मे शिल्प और शैलीगत अनेक नवीन प्रयोग दृष्टिगत होते हैं। समस्या-नाटको के सबसे अधिक लोकप्रिय रचना-विधान का आकलन पीछे किया जा चुका है। तदतर प्रतीत नाटको (Symbolic Dramas) की शैली लेखक-प्रियता प्राप्त कर रही है। *इसमे मानवीय सूक्ष्म भावो और विचारो को पात्रो के रूप मे प्रदर्शित किया जाता है।* प्रतीक नाटक की शैली पिराण्डेलो, मेटरलिक आदि पाश्चात्य नाट्यकारो की देन है। प्रतीक-परपरा के नाटक हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओं मे मिलते है। लक्ष्मीनारायण लाल के 'अधा कुआँ' और 'मादा कैक्टस' और कृष्णलाल श्रीधराणी का 'मोरना ईडा' प्रतीक शैली के नाटको के उदाहरण हैं। इनमे 'मादा कैक्टस' उत्कृष्ट है।

यूनानी नाटको की भाति इन दिनो नाटको मे उपक्रम (Prologue) और उपसंहार (Epilogue) का नवीन ढग से प्रयोग होन लगा है। जयन्ति दलाल ने 'अवतरण' नामक अपने त्रिअकी नाटक मे पहले अक को उपक्रम का और तीसरे अक को उपसहार का रूप दिया है। यह प्रयोग सेठ गोविन्ददास के 'प्रकाश' मे भी पाया जाता है।

गुजराती नाट्यकार चद्रवदन मेहता और हिन्दी नाट्यकार उपेन्द्रनाथ अश्क रगमच की शिल्प विधि से पूरी तरह परिचित हैं। अत दोनो के नाटको मे नये रगमचीय प्रयोग दृष्टिगत होते हैं। चन्द्रवदन भाई का 'हो होलिका' भवाई शैली को नवीन रूप मे प्रस्तुत

करता है, जबकि भट्टजी का 'अधी गली' सात एकांकियों और एक संपूर्ण नाटक को एक साथ एक ही कृति के रूप में पेश करता है। दोनों कृतियों में साहित्यिकता और अभिनेयता का शुभग समन्वय हुआ है। इन दोनों नाटककारों के सभी नाटक अत्यंत सफलतापूर्वक, अभिनीत हो चुके हैं। 'रुपया तुम्हे खा गया, 'अधा कुआँ' आदि को भी रंगमंच पर लोकप्रियता प्राप्त हुई है। गुजरात में रंगमंचीय परंपरा अधिक समृद्ध होने से अधिकांश साहित्यिक नाटक अभिनेय भी हैं। मुंशीजी के सभी सामाजिक नाटक कई बार खेले जा चुके हैं। उनकी लोकप्रियता असंदिग्ध है। 'शंकित हृदय, 'मंथो-फमो, 'हरिरथ चाले इत्यादि नाटक तो रंगमंच के लिए ही प्रणीत हुए हैं। जयंति दलाल, नंदकुमार पाठक, शिवकुमार जोशी आदि नाटककारों का रंगमंच से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अतः उनके नाटक अभिनयक्षम हैं। हिन्दी में लक्ष्मीनारायणलाल इसी पंक्ति के नाटककार हैं। आज स्वतंत्र भारत में रंगमंच का पुनरोद्धार हो रहा है। अतः निकट भविष्य में ही दोनों भाषाओं के सभी नाटक साहित्यिकता के साथ-साथ अभिनयता के गुण से भी समृद्ध होंगे, ऐसी आशा है।

नवाँ अध्याय

अन्य विषयक नाटक

पूर्ववर्ती अध्यायों मे हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओं के पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटको का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त दोनो भाषाओ मे कुछ ऐसे नाटक उपलब्ध होते है जिनका सम्बन्ध उन प्रकीर्ण विषयों स है जो इनमे परिगणित नही किये जा सकते। उनका स्वतन्त्र अध्ययन इस अध्याय मे प्रस्तुत किया गया है। कतिपय प्रतीकवादी विशिष्ट नाटक भी यहाँ सम्मिलित है।

राजनैतिक एवं राष्ट्रीय विचारधारा के नाटक

इस प्रबन्ध के प्रारम्भिक पृष्ठो म उस राजनैतिक परिस्थिति का चित्रण किया जा चुका है जिसने हमारे देश के नवोत्थान की पूर्वपीठिका तैयार की। १६५७ की राज्यक्राति के पश्चात् सारे देश मे नवजागरण का अनुकूल वायुमडल तैयार हुआ। स्वतन्त्रता और स्वायत्तता की भावना सर्वत्र प्रसारित हुई। इसी के परिणामस्वरूप राष्ट्रीयता और देश-प्रेम की भावना का दर्शन हमे तत्कालीन नाट्य-साहित्य मे होने लगा।

हिन्दी नाटको मे सर्वप्रथम राष्ट्र-प्रेम की भावना भारतेन्दु बाबू हरिश्चद्र ने 'भारत-दुर्दशा' (१६७६) मे अभिव्यक्त की है। इसमे भारत-प्रेम और शासक-प्रेम की विरोधी भावनाओ का अद्भुत सयोग हुआ है। 'भारतदुर्दशा' के प्रारम्भ मे भारतेन्दु ने यह निवेदन किया है कि

"अगरेज राज सुख साज साजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अतिख्वारी॥"

इस प्रकार इसमे अग्रेजी राज्य की प्रशसा की गई है और देश के धन के विदेश जाने की निंदा की गई है। फिर भारत की दुर्दशा पर दु ख प्रगट किया गया है और अन्त मे भयकर निराशा के साथ इस गभीर नाटक का पर्यवसान होता है। इस नाटक मे भारत, दुर्दैव, रोग आलस्य, अन्धकार, निर्लज्जता इत्यादि प्रतीक रूप में आते है। राष्ट्रीय धारा क इस नाटक का अनुकरण उस युग के अन्य नाटककारो ने भी किया है। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन का 'भारत सौभाग्य' (१८८८) और प्रताप नारायण मिश्र की 'भारत दुर्दशा' (१६०२) इसी विषय, शैली और भावना का अनुकरण करते हैं। भारतेन्दु प्रणीत गीतिरूपक 'भारत जननी' (१८७७) देश की करुण दशा पर प्रकाश डालता है। इसमे भारतीयों की पारस्परिक ईर्षा और शत्रुता का वर्णन है। उसीके साथ देश-भक्ति एव एकता की आवश्यकता पर भी जोर दिया गया है। भारतेन्दु का 'अधेर नगरी प्रहसन' (१८८१) एक ऐसे राजा पर करारे व्यग्य करता है जिसके शासन मे कोई न्याय, निति और व्यवस्था नही है। प्रकारान्तर से इसमे यह दिखाया गया है कि अग्रेजी शासन मे अधेर ही अधेर है। 'विषस्य विषमौषधम्' प्रहसन (१८७५) मे भारतेन्दु ने बडोदा के गायकवाड नरेश को उनके कुशासन के कारण सिंहासनाच्युत किये जाने पर हर्ष प्रगट किया है और सुदृढ तथा सबल केन्द्रीय अग्रेजी शासन की

प्रशंसा की है। 'अंधेर नगरी' और 'विषस्य विषमौषधम्' के कथानकों में पर्याप्त उपहसनीयता है। इनका व्यंग्य भी काफी तीखा है।

गुजराती में भारतेन्दु के समकालीन कवि नर्मद ने राजनैतिक विचारधारा का कोई नाटक नहीं लिखा। उनके समकालीनों में से भी किसी लेखक का इस विषय से सम्बन्धित नाटक उपलब्ध नहीं होता। इस समय के गुजराती नाटकों में प्रासंगिक रूप से राष्ट्रीय चेतना अवश्य उभर आई है। नर्मदयुगीन नाटककारों का ध्यान विशेषतः समाज-सुधार की भावना के प्रति आकृष्ट रहा है।

भारतेन्दु-नर्मदयुग के पश्चात् जो हिन्दी-गुजराती नाटक उपलब्ध होते हैं उनमें से बहुत ही कम नाटक ऐसे हैं, जिनमें राष्ट्रीयता या राजनीति को संपूर्ण रूप में नाट्य-वस्तु बनाया गया है। ऐतिहासिक या पौराणिक पात्रों तथा प्रसंगों के संदर्भ में इतस्ततः राष्ट्रीयता, देश-प्रेम, जन-सेवा इत्यादि भाव प्रकट हुए हैं। उदाहरणार्थ प्रसाद के स्कंदगुप्त, चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु आदि ऐतिहासिक नाटक राष्ट्रीयता एवं देश-भक्ति की भावना से ओत-प्रोत हैं। इसी प्रकार 'पंडित युग' के 'कान्त' के 'रोमन स्वराज्य' और 'गुरु गोविन्दसिंह' नाटक राष्ट्रीयता के उच्चादर्श को चरितार्थ करते हैं। 'रोमन स्वराज्य' में तो स्वराज्य के महान् स्वप्न को सिद्ध करने की ओर स्पष्टतः इंगित है।

हमारी राष्ट्रीयता तथा राजनीति के अविभाज्य अंग हमारे आर्थिक प्रश्न हैं। प्रेमचन्द का 'संग्राम' नाटक (१९२२) जमींदारों और किसानों के पारस्परिक संघर्ष से सम्बन्धित है जिसकी मूलभूत समस्या आर्थिक शोषण है। हलधर किसान इसका नायक है जो जमींदार के अत्याचारों के विरुद्ध संग्राम करता है। पुरुषोत्तमदास त्रिकमदास का गुजराती नाटक 'न्याय' (१९३१) अंग्रेजों के न्याय के नाटक को पेश करता है। इस कृति में राजनैतिक संघर्ष भी अंकित है। इसी लेखक की अन्य कृति 'सलिया पाछल' (१९३६) में गांधीयुगीन आंदोलनों की पृष्ठभूमि के साथ जेल-जीवन को नाट्यात्मक रूप प्रदान किया गया है। गुजरात के सार्वजनिक कार्यकर्ता इन्दुलाल याज्ञिक को राजनैतिक एवं आर्थिक समस्याओं का बड़ा गहरा ज्ञान है। उन्होंने अपने नाटक 'रणसंग्राम' (१९३८) में राजनैतिक क्रांति की अनुगामिनी आर्थिक क्रांति के प्रति दुर्लक्ष करने वालों पर मार्मिक व्यंग्य किया है। इस कृति में सामाजिक जीवन की यथार्थता भी प्रगट हुई है। पात्रों का चरित्रांकन बड़ा स्पष्ट और समीचीन है। आर्थिक शोषण से सम्बन्धित याज्ञिक जी की 'शोभारामनी सरदारी' नाट्यकृति (१९३८) सूरत नवसारी जिले के खेत-मजदूरों की दारिद्रता तथा विवशता का नग्न चित्र प्रस्तुत करती है। कांग्रेस शासन की इसमें कटु आलोचना की गई है। संघर्षात्मक वातावरण और सप्राण संवाद शैली के कारण यह नाटक रूक्षता तथा एकरसता के दोष से मुक्त है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् कांग्रेस ने कौंसिल में प्रवेश किया था और अपने मंत्रि-मंडल बनाकर देश के शासन की बागडोर संभाली थी। कांग्रेस ने लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए योजनाएँ तो बड़ी जल्दी बना ली थीं। पर उन्हें कार्यान्वित करने में 'धीरे-धीरे' की नीति अपनाई थी। फलतः देश उससे विशेष लाभान्वित नहीं हो सका था। वृन्दावन लाल वर्मा ने कांग्रेस मन्त्रि-मंडल की उसी नीति को लक्ष्य करके अपने 'धीरे धीरे' नाटक (१९४०) में व्यंग्य और कटाक्ष किया है। इसमें यह भी दिखाने की कोशिश की गई है कि किस प्रकार नेता लोग चुनावों में विजयी होने के लिए जनता को अनेक प्रकार के वचन देते हैं और निर्वाचित होने पर जन-हित की ओर से उदासीन हो जाते हैं। लेखक ने कटुताविहीन तटस्थ

भाव से विषय-निरूपण किया है। यही इस कृति की विशेषता है। अन्यथा यह नाटक कला का दृष्टि से सामान्य कोटि का है।

सेठ गोविन्ददास के राजनैतिक नाटक 'पाकिस्तान' (१९४६) मे पाकिस्तान की समस्या पर विचार प्रगट किये गये है है। यह नाटक पाकिस्तान की स्थापना के पूर्व प्रणीत हुआ है। परन्तु लेखक ने इस कृति म जो कुछ अपने मानस-चक्षुओ से देखकर चित्रित किया है, वही देश के विभाजन के पश्चात् प्रत्यक्ष होकर रहा है। लेखक न इसमे यह कल्पना की है कि भारत के महान् नेताओ के अनेक प्रयत्नो के बावजूद देश का बटवारा होता है और पाकिस्तान बनता है। परन्तु अल्प सख्यक जातियो की समस्या उसी तरह उलझी रहती है। दोनो देशो मे इससे तनाव बढता है। असतोष और अविश्वास फैलता है और सदा के लिए दोनो देश शत्रु बने रहते है। कुशल नाटककार की यह कल्पना आज भी सत्य है। यद्यपि हमारे देश मे साप्रदायिक समस्या बहुत ही जटिल बनी हुई है। सेठजी का यह नाटक नाट्य-कला की दृष्टि से सफल है। इसकी कथावस्तु सुगठित है। कार्य-व्यापार मे गतिशीलता है और पात्राकन काफी सुरेख और स्पष्ट है। शातिप्रिय और जहानआरा के चरित्रो का अत-र्द्वन्द्व काफी सूक्ष्मता से चित्रित हुआ है। दोनो पात्र साप्रदायिक एकता के सदेशवाहक हैं।

गुजराती मे स्वातत्र्य पूर्व राष्ट्रीय-चेतना प्रधान-नाटको मे जुगतराम भाई दवे कृत 'प्रहलाद' नाटक (द्वितीय आवृत्ति १९४८) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लेखक न गाधीजी के सत्याग्रह सिद्धात की तात्त्विक मीमासा अपने इस नाटक मे बडे अच्छे ढग से की है। इसमे प्रहलाद के पात्र द्वारा सत्याग्रह की आवश्यकता, अनिवार्यता और सफलता का निरूपण किया है। यह नाटक कई बार सफलतापूर्वक खेला जा चुका है। इसम गाधी-विचारधारा का सात्त्विक रूप प्रगट हुआ है।

१९४२ की क्राति को साकार करने वाली गुजराती रचना '१९४२" विषय एव शैली की दृष्टि से गणनापात्र है। रश्मि पचोली ने "भारत छोडो" के नारे को इस कृति मे एक नारी के अद्भुत त्याग और मातृत्व के कथानक के साथ गुम्फित किया है। इसका एक पात्र प्रकाश समाजवादी है। शाम साम्यवादी है। श्री अग्रेज़ी फौज का अफसर है। गुलाब काँग्रेसी नेता है। इन विभिन्न विचारधाराओ के पात्रो द्वारा लेखक न सन् बयालीस की राजनैतिक परिस्थिति, अग्रेजो के अत्याचार, लोकक्राति का वातावरण तथा प्रेम, सेवा और समर्पण की भावना अत्यत सफलता के साथ मूर्तरूप की है। इसमे चरित्राकन और वस्तु-विन्यास बहुत ही सतर्कता तथा सुदरता के साथ हुआ है। कार्य-व्यापार मे तनिक भी शिथि-लता नही है। लेखक ने समाजवादी विचारधारा को विशेष प्रश्रय दिया है। गुजराती और हिन्दी राष्ट्रीय रूपको मे इस कृति का विशिष्ट स्थान है।

स्वातत्र्योत्तर नाट्य-रचनाओ मे विनोद रस्तोगी का 'आजादी के बाद' (१९५२), रघुवीर शरण मित्र का 'भारतमाता' (१९५४), गौरीशंकर मिश्र का 'ठोस आजादी किसे' इत्यादि हिन्दी नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। 'आजादी के बाद' मे लेखक न स्वातत्र्य-प्राप्ति के पश्चात् समाज की पतनोन्मुख स्थिति का चित्र खीचा है और यह उद्देश्य प्रतिपादित किया है कि पूजीवादी शासन के स्थान पर श्रमिको की साम्यवादी सरकार की स्थापना वाछनीय है। इसमे शरणार्थी-समस्या, पतित नेतागिरी, काला-बाजार, भ्रष्टाचार आदि प्रश्नो को भी उभारा गया है। रघुवीर शरण मित्र न 'भारतमाता" नाटक राष्ट्रीय स्वतत्रता के शहीदो—चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह, सुखदेव इत्यादि—की घटनाओ को लेकर रचा है। यह नाटक

क्राति के चित्रो को यथार्थ रूप मे प्रस्तुत करता है। इसमे प्रचारात्मकता कम है और कलात्मकता अधिक है 'ठोस आज़ादी क्सि' मे राजनैतिक वादो पर व्यग्य है।

स्वातत्र्य प्राप्ति के पश्चात् जनता मे जो असतोष एव निराशा की भावना दृष्टिगत होती है उसका चित्रण दोता गाधी ने "तालावधी लोकभवाई" (१९४९) मे और इन्दुलाल याज्ञिक ने 'अक्कलना दुश्मन' (१९५४) मे बडी कटुता के साथ किया है। 'तालावधी' कृति लोकनाट्य भवाई के शैली-स्वरूप पर आधृत है। इसके प्रतिपाद्य विषय है—अनाज और कपडो का काला बाजार, 'क्यू' प्रथा, मँहगाई, 'मकानो की तगी' वाणी स्वातत्र्य पर सरकारी प्रतिबध, हडताल इत्यादि। लेकिन इस कृति मे लोगो की यातनाओ को उभारने मे सतुलन और सयम का निर्वाह नही कर सकी है। इसमे बीच-बीच मे हास्य और व्यग्य के प्रसगो का समावेश हुआ है जो नाटकीय दृष्टि से युक्तियुक्त है। 'अक्कलना दुश्मन' मे इन्दुलाल याज्ञिक जनता की उस घोर निराशा का चित्र खीचते है जो कल्याण राज्य की स्थापना न होने के कारण पैदा हुई है। लेखक का विचार है कि शासन-कर्ताओ मे बुद्धि का अभाव है। इसलिये कल्याण राज्य स्थापित नही हो सका है। इस नाटक मे लेखक की ताटस्थ्य दृष्टि का नितात अभाव है। यह रचना विशेषत प्रचारलक्षी है।

जशवत ठाकुर ने 'जनता जागे छे' (१९५३) मे जनता के जगने की और पचायती राज्य स्थापित करने की कहानी को नाट्यात्मक रूप दिया जाता है। इस राजनैतिक नाटक मे अकाल, किसान-जमीदार-विग्रह, समाधान की असफलता और किसान-क्राति के प्रसग सम्मिलित हैं। इस पर साम्यवादी विचारधारा का विशेष प्रभाव है।

उपरि उल्लिखित हिन्दी और गुजराती नाटको के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि दोनो भाषाओ के नाटककार युग-चेतना और राष्ट्रीय भावना से सदैव प्रभावित और प्रेरित रहे हैं। समसामायिक राजनैतिक, राष्ट्रीय और शासन-सम्बन्धी समस्याएँ नाट्य-सर्जकों को सचित एव सक्रिय बनाये रही हैं और उसीके फलस्वरूप ये कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं।

ग्राम-जीवन विषयक नाटक

भारत किसानो का देश है। किसान गाँवो मे बसे हुए हैं। किसानो की समस्याएँ ही गाँवो की समस्याएं हैं। हिन्दी और गुजराती के नाट्य-लेखको ने अपने सामाजिक नाटको मे किसानो की सभी सामाजिक समस्याओ को समाहित किया है। अन्य विषयक नाटको मे भी प्रसगानुसार किसानो की विभिन्न समस्याएँ समाविष्ट हुई है। फिर भी कतिपय नाटक ऐसे है जिनमे किसान, देहाती जीवन, ग्राम-पचायत इत्यादि विषयो को प्रमुखता एव प्राथमिकता प्राप्त हुई है। हिन्दी मे पृथ्वी थियेटर्स द्वारा अभिनीत शील कृत 'किसान' नाटक (१९५६) यहाँ विशेषत उल्लेखनीय है। उसमे लेखक ने ग्राम-जीवन की अत्यत स्पष्ट स्वाभाविक झाकी प्रस्तुत की है। यह नाटक किसानो की सामाजिक समस्याओ को विशेष रूप मे उभारता है। इसमे निरी प्रचार-लक्षिता नही है। कलागत सुदरताएँ भी इसमे अच्छी तरह उभर आई है। रगमचीय उपकरणो का इस कृति मे बडी ही कुशलता से निर्वाह हुआ है। इसी से यह अत्यधिक प्रभावोत्पादक बन गई है।

गुजराती मे कवि नानालाल के भावनाटक 'गोपिका' (१९३५) मे गाधीजी की

ग्रामोद्धार भावना अभिव्यक्त हुई। उसी के साथ कवि ने इसमे प्रकृति और संस्कृति को प्रमुखता प्रदान की है। रमणलाल वसंतलाल देसाई ने अपने नाटक 'ग्रामसेवा' (१९५४) मे शहरी पात्रो के द्वारा ग्रामजनो के उद्धार की भावना को केन्द्रस्थ बनाया है। भरत और सनातन शहर छोडकर गाँव मे सेवार्थ निवास करते है। ग्रामीण जनता उन्हें स्नेह और श्रद्धापूर्वक पूजती है। इससे वे अपने जीवन की धन्यता का अनुभव करते हैं। लेखक ने इसमे ग्रामीणो की सहृदयता और सरलता का अच्छा परिचय दिया है। यह कृति रंगमच को दृष्टि समक्ष रखकर लिखी गई है। चन्द्रवदन मेहता का द्विअंकी गीतिनाट्य 'कल्याण' (१९३५) नाटक कल्याण नामक ग्रामीण युवक के शौर्य की कहानी लेकर रचा गया है। कल्याण अपने गाँव की रक्षा के लिए शत्रुओ से लडकर अपना बलिदान दे देता है। यह करुण गीति-नाट्य अभिनयक्षम है।

हरिजनोद्धार सम्बन्धी नाटक

हिन्दी मे छुआछूत की समस्या को धनानन्द ने अपनी कृति 'समाज' (१९३०) मे नाटकीय रूप दिया है। इसके पात्रो मे विशुद्धानन्द सुधारवादी है और धनदास सनातनी है। दोनो मे वार्तालाप होता है और विशुद्धानन्द हरिजनोद्धार को ईश्वर का आदेश सिद्ध करता है। नाटक का नायक ज्ञानप्रकाश पिता के घोर विरोध के बावजूद अछूत कन्या शान्ता को अप-नाता है और गृह-त्याग करता है। अन्त मे सबका हृदय परिवर्तन होता है और अछूतोद्धार का नाट्यादर्श चरितार्थ होता है। कला की दृष्टि से 'समाज' सामान्य नाटक है।

'विस्तार' (१९५६)

पात्र रूप मे पेश किया है और भगियो की हडताल को नाट्य विषय बनाया है। तथाकथित सार्वजनिक सेवक केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए हरिजनोद्धार का दम भरते हैं। मौका पडने पर वे गरीब भगियो को धोखा देते हैं। परन्तु आधुनिक जनतान्त्रिक युग मे हरिजनो मे जागृति आई है। अत उनकी विजय निश्चित है। प्रजातन्त्र मे जनता ही सर्वेसर्वा है। वह अपने भाग्य का स्वय निर्माण करती है। यह युग-सत्य इस कृति मे चरितार्थ हुआ है। इसमे म्युनिसिपैलिटी के सभापति फूलशकर और मुक्ति भगी का चरित्र-चित्रण अत्यन्त सुरेख है। प्रसग और सलाप भी स्वाभाविक है। नाटक प्रभावजनक है।

'भूदान विषयक नाटक'

विनोबा भावे अपने भूदान आन्दोलन द्वारा देश मे त्याग और दान की सात्विक भावना फैला रहे हैं। सारा देश उनकी इस प्रवृत्ति म यथाशक्ति सहयोग प्रदान कर रहा है।

हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओ के कुछ नाट्य-लेखक इस शातिमूलक सात्विक आन्दोलन के प्रति आकर्षित हुए हैं। उन्होने 'भूदान' को नाटकीय रूप दिया है। आधुनिक हिन्दी नाटककारो मे सेठ गोविन्ददास ने सबसे पहले 'भूदान यज्ञ' नाटक (१९५३) लिखकर सत विनोबा के इस महान् अनुष्ठान की उपादेयता एव महत्ता को स्वीकार किया है। इस नाटक मे विभिन्न प्रान्तो की भूमिदान प्रवृत्ति का चित्र प्रस्तुत किया गया है और उसीके साथ तेलगाना के साम्यवादियो का हृदय परिवर्तन, विनोबाजी का दिव्य व्यक्तित्व, अहिंसा की विजय, दान की महिमा इत्यादि विषयो का समावेश किया गया है। विनोबाजी के साथ श्री जवाहरलाल नेहरू, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, श्री जयप्रकाश नारायण इत्यादि देश के नेताओ को पात्रो के रूप मे उपस्थित किया है। गोरखपुर, नालगुडा, वर्धा, पोचमपल्ली, दिल्ली, कलकत्ता, बिहार, बम्बई इत्यादि स्थानो की घटनाएँ इस नाटक म सम्मिलित हैं। इसमे व्याख्यानो, प्रार्थनाओ और वादविवादो की सहायता से भूदान यज्ञ की प्रचारलक्षी भावना पर अधिक बल दिया है। अन्त मे भविष्य मे इस महान् प्रवृत्ति की सफलता की सभावनाओ पर भी प्रकाश डाला गया है।

यह कृति उच्च नाट्य-कला का आदर्श प्रस्तुत नही करती। इसकी भावनागत उत्कृष्टता असदिग्ध है।

गुजरात के तपस्वी रविशकर महाराज के शुभाशीर्वाद के साथ जयमल्ल परमार ने अपना 'भूदान' नाटक सन् १९५४ ई० मे प्रकाशित किया। इसकी कथावस्तु वही है जिसे सेठ गोविन्ददास ने अपने 'भूदान' मे नाटकीय रूप दिया है। प्रारम्भ मे जयमल्ल परमार ने भारत की समस्त जनता द्वारा 'सर्वोदय' की भावना के प्रति श्रद्धा प्रगट करने का दृश्य प्रस्तुत किया है। तदनर जमीदार, किसान, डाकू, शान्तिकारी इत्यादि विभिन्न पात्रो के द्वारा हिंसा का जोरदार समर्थन किया जाता है। 'भगतबापू' अहिंसा और प्रेम की प्रतिमूर्ति हैं। उनमे पूज्य रविशकर महाराज ही साकार हुए हैं। वे सबका हृदय-परिवर्तन करते हैं और अहिंसा की भावना को सुदृढ करते हैं। वर्ग-सघर्ष और भावना-सघर्ष की सहायता से इस कृति का वस्तु-विकास होता है। प्रारभ मे समस्त नाटकीय वातावरण मे आतक और भय के कारण सक्रियता बनी रहती है। तदनर दान, त्याग, अहिंसा इत्यादि भूदान की मूलभूत भावनाओ के प्रचारार्थ नाटक मे लबे-लबे सभाषणो का आधार लिया गया है जिससे वस्तु-विन्यास मे शिथिलता आ गई है। अन्त मे विनोबाजी के गीतो के साथ 'भूदानयज्ञ' की पूर्णाहुति होती है। इस भावनालक्षी नाटक की सबसे बडी कमजोरी इसकी प्रचारवादिता है।

उपर्युक्त प्रकीर्ण विषयो के नाटको के आधार से यहाँ यह निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओ का नाट्य साहित्य युग-भावनाओ और युग-चेतनाओ को मुखरित करने मे पराङ्मुखी नही रहा। जागरूक नाटककारो ने यथाशक्ति और यथारुचि राजनैतिक, राष्ट्रीय एव अन्य समस्याओ को नाट्यात्मकता प्रदान की है। उपरि उल्लिखित नाटक उच्च साहित्यिकता का निर्वाह नही करते। ये आदर्श भावनाओ का यथार्थत. प्रगटीकरण करते हैं।

जीवनीपरक नाटक

'भारतेन्दु'

आधुनिक नाटककारो मे एक प्रवृत्ति और पाई जाती है। कतिपय नाटककारो ने आदर्श पुरुषों की जीवनियो को नाटक रूप मे ढाला है। हिन्दी मे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के जीवन-चरित्र से सम्बन्धित दो नाटक लिखे गये है. लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'कवि भारतेन्दु' (१९५५) और सेठ गोविन्ददास का 'भारतेन्दु' (१९५५)। मिश्रजी ने अपने नाटक का नामाभिधान तो 'कवि भारतेन्दु' किया है, किन्तु वे भारतेन्दु के केवल कवि रूप तक सीमित न रहकर उनके जीवन की कई मार्मिक घटनाओ को नाटक मे सन्निविष्ट करते हैं। सेठ गोविन्ददास के नाटक मे एक साथ भारतेन्दु का वैयक्तिक, पारिवारिक और साहित्यिक रूप प्रगट हुआ है। उन्होने स्वय भूमिका मे इसका निर्देश किया है। "मेरे मतानुसार हरिश्चन्द्रजी के जीवन मे जो प्रधान-प्रधान बातें हुईं, उन्हे भी इस नाटक मे कही न कही किसी न किसी रूप मे रखा है।" इसमे नाट्यात्मक अन्विति का निर्वाह सभव नही हो सका है। मिश्रजी ने अपनी कृति मे इसे बनाये रखने का सराहनीय प्रयत्न किया है। उनके वस्तु विकास मे सक्रियता और सघर्षात्मकता दृष्टिगत होती है जो सेठजी के 'भारतेन्दु' मे अनुपलब्ध है। दोनो नाटककारो ने भारतेन्दु के प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व का निरूपण करते हुए उनके अलौकिक गुणो को उजागर किया है। इसी के साथ दोनो ने माधवी और मल्लिका के साथ भारतेन्दु के प्रणय सम्बन्ध का भी उल्लेख किया है। इस कमजोरी के उद्घाटन से भारतेन्दु का मानवीय रूप अधिक स्पष्ट हुआ है। सेठ गोविन्ददास ने इसी सदर्भ मे भारतेन्दु बाबू की पत्नी मन्नोदेवी को भी प्रस्तुत किया है और यह दिखाया है कि भारतेन्दु के इन प्रणय प्रसगो की मर्मातक वेदना के कारण उनका करुण अवसान हुआ है। नाटक मे मन्नोदेवी की अतर्पीडा के साथ पाठक को कसकभरी हमदर्दी बनी रहती है। उनका व्यक्तित्व तप और ताप से निखरा हुआ है। इस प्रसग को लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटक मे सम्मिलित नही किया है। उनके नाटक मे माधवी की तेजस्विता प्रगट हुई है। भारतेन्दु की उदारता और महानता को दोनो नाटककार बडी खूबी के साथ उभार पाये है। साथ ही उनके ऋणी जीवन और 'घर फूंक मस्ती' की विचित्र प्रकृति पर भी प्रकाश डाला है। मिश्रजी के नाटक मे सवादो की सजीवता पाई जाती है। भाषा-शैली भी प्रवहमान तथा प्रभावोत्पादक है। इस विषय मे सेठजी का 'भारतेन्दु' कमजोर नाटक माना जायगा। उनके संवादो मे चुस्ती और चमत्कार का अभाव है। उनमे शैथिल्य अधिक है। रगमचीय आवश्यकताओ की पूर्ति सेठ गोविन्ददास के नाटक मे सुन्दर ढग से हुई है। उसमे समुचित दृश्य योजना है और प्रभावपूर्ण पात्र एव प्रसग सृष्टि है। यह सिद्धि मिश्र को हासिल नही हो सकी है।

'रहीम' (१६५५)

सेठजी का प्रस्तुत नाटक अब्दुल रहीम खानखाना के जीवन वृत्त से सम्बन्धित है। इस नाटक मे रहीम के जीवन का उत्कर्ष और अपकर्ष दिखाया गया है। उनके राग-विरागो का द्वन्द्वात्मक चित्र बडी खूबी के साथ प्रस्तुत किया गया है। अत मे रहीमजी सतोष की सास लेते हुए नजर आते हैं। नाटक मे रहीम द्वारा प्रयुक्त भाषा पात्रानुरूप फारसी मिश्रित उर्दू है। प्रसगानुकूल रहीम और तत्कालीन अन्य कवियो की कविताएँ भी इसमे उद्धृत की गई हैं। यह नाटक ऐतिहासिकता और साहित्यिकता का अच्छा समन्वय करता है।

'पग-ध्वनि' (१६५२)

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने इस छ अको की नाटिका मे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के प्रति अपना प्रेम भाव प्रगट किया है। इस कृति का विशेष सम्बन्ध गांधीजी की जीवनी और सिद्धान्तो मे है। इसमे लेखक ने नई शैली और नये शिल्प का प्रयोग किया है। "एक अक मे केवल एक दृश्य है। दृश्यो का परस्पर सपर्क नही है। नाटिका मे कोई कथानक भी नही है। केवल भावना के रेखा चित्र है। भूमि मे केवल प्यार की पीडा है। प्रस्तावना मे पूजा है। प्रथम अक मे गांधी-दर्शन दूसरे मे गांधी-भावना, तीसरे मे गांधी प्रभाव, चौथे मे गांधी-जीवन, पाचवें मे विरोध निराकरण और छठे मे गांधी आदर्श है। देश काल के अक परस्पर सम्बन्धित नही हैं।" लेखक के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि यह कृति हिन्दी नाट्य-साहित्य मे नवीन परपरा का सूत्रपात करती है। शान्ति-निकेतन नोआखाली, पूना, दिल्ली इत्यादि स्थानो की घटनाएँ इस नाटक मे समाहित हैं। गांधीजी की कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियो का रेखाकन कर अत मे लेखक ने इस कृति मे महाभिनिष्क्रमण का निरूपण किया है। इसमे 'बा' की करुण मृत्यु का दृश्य बडा ही हृदयविदारक है। छठे अक मे नागरिकता, सभ्यता, हिंसा-अहिंसा, सत्य, धर्म इत्यादि की भाव-मूर्तियाँ प्रगट होकर वार्तालाप करती हैं। यह अक प्रतीक परपरा का निर्वाहक है। इस रचना की वर्णन शैली बडी मार्मिक और रोचक है। भाषा शुद्ध साहित्यिक और गभीर है। मुसलमान पात्रो का उर्दू प्रयोग स्वाभाविक है। शास्त्रीजी का यह नवीन प्रयोग श्लाघनीय है।

'मृत्युंजय' (१६५८)

लक्ष्मीनारायण मिश्र का प्रस्तुत नाटक पूज्य महात्मा गांधी के जीवन चरित्र पर आधृत है। इसमे पात्रो के रूप मे गांधीजी के साथ सरदार पटेल, मीराबहन, सरोजिनी नायडू, आचार्य नरेन्द्रदेव, मौलाना आज़ाद और देवदास गांधी का आगमन होता है। 'बा' की मृत्यु के बाद नाटक का प्रारभ होता है और गांधीजी की हत्या के साथ उसकी समाप्ति होती है। इस नाटक मे मिश्रजी की प्रभावोत्पादक भाषा, सप्राण शैली और सुन्दर नाट्य-शिल्पविधि का दर्शन होता है। परन्तु इसमे रगमंचीय उपादानो का अभाव है और अधिकाश सवाद भाषणो का रूप लिए हुए हैं। इस कृति मे सबसे ज्यादा खटकने वाली बात गांधीजी की विचारधारा का अस्पष्ट और असगत विवेचन है। कृतिकार ने विभिन्न पात्रो द्वारा जो विचार प्रगट किये हैं, वे बहुत ही विवादास्पद हैं।

जिस प्रकार हिन्दी मे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और कवि रहीम के जीवन चरित्रो

पर आधृत नाटक प्रणीत हुए, ठीक उसी प्रकार गुजराती मे तत्त्वदर्शी अखो और कवि नर्मद के जीवन वृत्तों को लेकर नाट्य कृतियो की रचना हुई ।

'अखो'

जीवनी परक नाटको मे सबसे पहला नाटक 'अखो' है, जिसके रचयिता चन्द्रवदन मेहता हैं । मेहताजी का यह द्विअंकी नाटक सन् १९२७ मे प्रगट हुआ । इसमे गुजरात के वेदांती कवि अखा की जीवनी के सभी महत्त्वपूर्ण प्रसगो का समावेश किया गया है । अखा की बहन का अवसान, पडोसिन जमना को अखा का भगिनी तुल्य समझना, जमना का स्वर्णमाला के विषय म अखा पर अविश्वास करना, अखा की अतर्पीडा तथा ससार त्याग इत्यादि घटनाओ ने इस चरित्रात्मक रूपक मे अग्र स्थान ग्रहण किया है । तदतर अखा की काशीयात्रा, ब्रह्मानद गुरु की प्राप्ति और ज्ञान दीक्षा का उल्लेख भी इसमे है । अत मे अखा के तत्त्वदर्शन, काव्य प्रणयन एवम् परलोक गमन के निरूपण के पश्चात् इस नाटक का शांत रस मे पर्यवसान होता है । यह कृति अखा के सत-चरित्र का सम्यक् रूप से उद्घाटन करती है । इसमे उसकी सभी घटनाओ का सुश्लिष्ट निरूपण हुआ है । अखा के विचार सघर्ष और मनोमथन का चित्रण नाटक मे बहुत ही हृदयस्पर्शी है । इसकी आनदाश्रित शांत रस मे परिणति अत्यन्त कलात्मक तथा प्रभावोत्पादक है । १९२७ मे बम्बई म लेखक ने स्वय इस कृति का सफलतापूर्वक अभिनय किया था ।

'नर्मद' (१९३७)

यह चन्द्रवदन मेहता की दूसरी जीवनी परक नाट्य रचना है । कवि नर्मद के व्यक्तित्व और कृतित्व के साथ ही साथ समकालीन सामाजिक जीवन के यथार्थ प्रसंगो को भी इस रचना म समाहित किया है । वीर नर्मद स्वभावत रूढ़ियो और परपराओ के विध्वसक तथा नवीन आदर्शों के सस्थापक थे । इस क्रातिमूलक दृष्टिकोण के कारण नर्मद को सर्वदेशीय सघर्ष सहना पडा । व जीवन पर्यंत विषमताओ से लडे । उसी का वास्तविक चित्र इस नाटक म पूरे कला कौशल के साथ लेखक ने प्रस्तुत किया है । इसका रचना-विधान विशिष्ट प्रकार का है । वस्तु सगठन, सवाद, भाषा-शैली, दृश्यांतर इत्यादि का इस प्रकार आयोजन किया गया है कि यह नाटक कई घटना-स्थलो, प्रसगो और पात्रो के होते हुए भी अभिनय क्षम है । लेखक न स्वय इसे खेला भी है ।

हिन्दी क चरित्रात्मक नाटको म गुजराती के 'अखो' और 'नर्मद' की सी उच्चकोटि की अभिनेयता नही पाई जाती । इधर गुजराती नाट्य-साहित्य म हिन्दी की 'पग-ध्वनि' और 'मृत्युजय' की सी रचनाओ का अभाव है । आश्चर्य है राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी का महान् व्यक्तित्व गुजराती नाटको म साकार क्यों नहीं हुआ !!

प्रकीर्ण नाटक

हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओ मे कुछ नाटक ऐसे है, जिनमें विशिष्ट विषमों को नाटक रूप मे ढाला गया है, उनकी स्वतन्त्र विवेचना यहाँ प्रस्तुत की जाती है ।

'विकास' (१९४०)

सेठ गोविंददास का यह हिन्दी नाटक सृष्टि के विकास से सम्बन्धित स्वप्न नाटक है। नाटक के नायक और नायिका दोनो सृष्टि-विकास पर वाद विवाद करते है। फिर नायक को नींद आ जाती है। स्वप्न मे नायक के सम्मुख वह ब्रह्म मूर्त्त रूप होती है। वह देखता है कि उसने स्वय आकाश का रूप धारण किया है और उसकी पत्नी पृथ्वी है। आकाश की यह मान्यता है कि समस्त सृष्टि सामूहिक रूप से विकास कर रही है। परन्तु पृथ्वी इसका प्रतिवाद करते हुए यह मत प्रगट करती है कि मानव-जाति न पतनोन्मुख है और न उत्थानोन्मुख। नियति के पतन-उत्थान चक्र के साथ मानव-जाति घूमती रहती है। अत उसने कोई विशेष प्रगति नही की। दोनो अपने-अपने मत की पुष्टि के लिए इतिहास से प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। भगवान बुद्ध, सम्राट अशोक, ईसा मसीह और महात्मा गाधी से सम्बन्धित अनेक तथ्यों को उद्धृत कर वे दोनो अपने-अपने मत का समर्थन करते हैं। चीन और रोम से भी उदाहरण दिये जाते हैं। परन्तु दोनो मे से एक भी पराभूत नही होता। इतने मे युवक की आँखें खुल जाती हैं और नाटक भी समाप्त हो जाता है। लेखक स्वय इस कृति मे यह स्पष्ट नही कर पाया है कि वस्तुतः मानव आज विकास की ओर अग्रसर है या पतनोन्मुख है।

इस नाटक मे न कथानक की अन्विति है और न स्थान, समय इत्यादि की। चरित्र-चित्रण का इसमे कोई कौशल प्रगट नही हुआ है। यह सवादाश्रित श्राव्य नाटक है। पृथ्वी और आकाश के लम्बे सवाद प्रतिपाद्य विषय का विवेचन और विश्लेषण करते हैं। विषय की दृष्टि से यह नाटक मौलिक है और स्वप्न नाटक की आकर्षक शैली का इसमे अत्यन्त कुशलता पूर्वक निर्वाह हुआ है। इस दृष्टि से इस रचना का महत्व है।

गुजराती मे मानव विकास पर इस तरह का कोई नाटक उपलब्ध नही होता, किन्तु रंगमच और कला साधना से सम्बन्धित चन्द्रवदन मेहता के गुजराती नाटक 'धरागुर्जरी' (१९४४) और 'आराधना' (१९४८) आलोच्य दोनो भाषाओं मे अन्यतम हैं।

'धरा गुर्जरी'

यह विलक्षण कृति किसी खास नाट्य-प्रकार या शैली रूप पर आधृत नही है। इसमे विभिन्न कथा-तत्वों को एक विचारसूत्र से जोड़ा गया है। इसका मूलवर्ती विचार है, रगमच का पुनरोद्धार और नये रगमच का निर्माण। यही विचार इस विशृंखलित-सी नाट्य कृति के बिखरे चित्रों को समवेत करता है। इसका नायक ओभा गुर्जर है, जो रगमच के उद्धार के निमित्त सर्वस्व समर्पण करता है। उसकी प्रेरणामूर्ति धरा है, जिसके सयोग से 'चुगल खोर' और 'रूपमति बाज बहादुर' नामक अन्तर्नाटक खेले जाते हैं। इस कला साधना मे कला-कारों को अगणित कष्ट सहन पड़ते है। लेखक यह निर्देश करना चाहता है कि कला-कारो की अनन्य साधना तथा अचल निष्ठा के अभाव मे कला का विकास सम्भव नही है। इसी के साथ लेखक ने मनोरजन प्रवृत्तियो पर सरकार के कठोर नियत्रण एव कर की भी निंदा की है। अन्त में अद्यतन रगमचीय साधनों की आवश्यकता पर जोर दिया है। इस प्रकार यह कृति 'रगमच' की विभिन्न समस्याएँ प्रस्तुत करती है और अभिनय नाट्य प्रयोग के आदर्श का सूत्रपात करती है। इस कृति का अभिनय करना बहुत कठिन है। इसके कुछ ही दृश्य खेले जा सकते है। गुजराती के इस विशिष्ट नाटक का साहित्यिक मूल्य कम नही है।

'आराधना (१६४८)

चन्द्रवदन मेहता का यह नाटक कला साधना की श्रेष्ठता प्रतिपादित करता है। एक कला भवन मे कलादेवी, कवि, शिल्पी, दार्शनिक, चित्रकार इत्यादि एकत्रित होकर कला पर वाद-विवाद करते हैं। तरग नामक एक अन्य पात्र कल्पना विभोर'तथा निष्कपट है। उसकी सहृदयता एव निर्दयता को सभी विक्षिप्तता मानते हैं। परन्तु सरस्वती उसे सच्चा कलाभक्त मानती है और उसे ही सप्त सरिताओ द्वारा मुकट पहनाया जाता है। अन्त मे वह कला की बलिवेदी पर जीवनाहुति दे देता है। नाटक का प्रयोजन कला की उत्कृष्टता सिद्ध करना है और यह भी प्रस्थापित करना है कि कला साधना जीवन साधना है। उसके लिए सर्वस्व का समर्पण करना पहली शर्त है।

प्रतीकवादी नाटक

हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओ मे कुछ नाटक ऐसे हैं, जिनमे अमूर्त भावों को या तो किसी कथा वस्तु का आधार लेकर प्रगट किया गया है या उनका मानवीकृत रूप प्रस्तुत किया गया है। ऐसे नाटकों मे प्रतीकवादी शैली का आधार लिया गया है। सस्कृत मे इस परम्परा का सर्वप्रथम नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' है। अग्रेजी मे तो इस ढग की अनेक कृतियाँ लिखी गई हैं। मेटरलिंक, स्ट्रिन्डबर्ग, हाप्ट्समैन आदि के कई नाटक नाट्य-रूपकों या प्रतीक-वादी नाटकों के उत्तम उदाहरण हैं।

हिन्दी प्रतीकवादी नाटक

'कामना' (१६२७)

प्रतीक शैली का हिन्दी मे पहला नाटक 'कामना' है, जिसके रचयिता महाकवि जयशकर प्रसाद है। इसमे विवेक, सतोष, विनोद, विलास, दुर्वृत्ति, दम्भ इत्यादि पुरुष पात्र है और कामना, लालसा, लीला, वनलक्ष्मी इत्यादि स्त्री पात्र हैं। ये सब तारा की सतानें हैं। तारा की पुत्री कामना विलास के प्रति आकृष्ट होती है। विलास लालसा के प्रति आकर्षित है। वह स्वर्ण और मदिरा का प्रचार करता है। विवेक और सन्तोष विलास का विरोध करते हैं। दम्भ, दुर्वृत्त इत्यादि उसे साथ देते हैं। इससे अनाचार बढता है। अन्त मे विवेक और सतोष की विजय होती है। कामना सतोष को वरण करती है। इस प्रकार प्रसाद ने इस सांस्कृतिक नाट्य-रूपक मे सत्-असत् वृत्तियो का सघर्ष प्रस्तुत कर यह आदर्श प्रस्थापित किया है कि जीवन मे सुख और शान्ति तभी आती है, जब मनुष्य सतोष को अपनाता है। इसमे मनोविकारो को प्रतीक रूप मे ग्रहण किया गया है। नाटक का समस्त वातावरण प्रतीकात्मक है। कामना और लालसा को छोड़कर अन्य पात्र व्यक्तित्वशून्य हैं। सवाद, भाषा-शैली इत्यादि विषयानुरूप सशक्त एव प्रभावोत्पादक हैं।

'ज्योत्स्ना' (१६३४)

कविवर सुमित्रानद पत ने प्रस्तुत नाटक मे अपने कला, जीवन, समाज और शासन सम्बन्धी मौलिक विचारो को नाट्यात्मक रूप दिया है। इसमे ज्योत्स्ना, इन्दु, सध्या, छाया,

पवन, सुरभि, स्वप्न, कल्पना, उल्लू, झींगुर इत्यादि मानवीय रूप ग्रहण करते हैं। संसार में सर्वत्र अशांति है। अतः इन्दु अपना राज्य ज्योत्स्ना को सौंप देती है। वह पवन, सुरभि, स्वप्न, कल्पना इत्यादि के सहयोग से पृथ्वी पर प्रेम का राज्य स्थापित करती है। इस अत्यन्त क्षीण कथा को पंतजी ने इस नाटक में पाँच अंकों में गूँथा है। अतः इसका कथानक विशृंखलित हो गया है और इसके चरित्र अविकसित रह गये हैं। नाट्य-संघर्ष और सक्रियता का इसमें अभाव है। इस कृति की सफलता इसके सुन्दर दृश्य विधान और भव्य भावना निरूपण में है। इसके गीत भी अत्यन्त मधुर एवं मोहक हैं।

'छलना' (१६३६)

भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने अपने इस प्रतीकवादी नाटक में नारी जीवन की चिरन्तन समस्या प्रस्तुत की है। इस कृति का हमारे यथार्थ जीवन से विशेष सम्बन्ध है। कल्पना, कामना और चम्पी इसके नारी-पात्र हैं और बलराज तथा विलास पुरुष पात्र हैं। इन सब पात्रों को प्रतीक रूप में अंकित कर मानव मन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। कल्पना चंचल स्त्री-वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। वह गम्भीर, संयमी एवं दृढ़ बलराज को नहीं अपनाती। कल्पना के प्रति विलास आकृष्ट है, पर कल्पना उसमें पुरुषत्व का अभाव देखकर उससे दूर हो जाती है। दोनों में से किसी को न अपनाना कल्पना की छलना ही है। एक ओर नारी कामना है, जिसकी विलास के साथ विशेष मैत्री है। वह बलराज को अपनी ओर खींच नहीं सकती, क्योंकि उसमें चंचलता एवं कृत्रिमता है। तीसरी स्त्री चंपी है, जो परंपरावादी नारी जीवन को प्रगट करती है। वह पति द्वारा परित्यक्ता है, किन्तु फिर भी वह शान्त एवं संतुष्ट है। उसकी आदर्शप्रियता तथा सच्चरित्रता उसे सुखी बनाए हुए है। इस कृति में प्रतीक पात्रों की सहायता से यथार्थ जीवन का संघर्ष और आदर्श स्वाभाविक रूप से उभर आया है। इसके पात्र अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते। वे वर्ग विशेष के प्रतीक बनकर प्रत्यक्ष हुए हैं। इसमें अभिनेयता का अभाव नहीं है। इसकी भाषा व्यंजनापूर्ण है। परंतु इसकी प्रतीक योजना बड़ी स्थूल है।

'नवरस'

सेठ गोविन्ददास के इस नाटक में साहित्य के नवों रसों को पात्र रूप में उपस्थित किया गया है। इसका नायक वीरसिंह वीररस का प्रतीक है। नायिका प्रेमलता शृंगार रस का प्रतीकात्मक रूप प्रगट करती है। इसी प्रकार अन्य सभी पात्रों का विविध रसों के भावों और गुणों के आधार पर नामाभिधान हुआ है। पात्रों के वस्त्राभूषण भी रसों के भावों के अनुसार हैं। उनका पारस्परिक सम्बन्ध, व्यवहार, कार्य कलाप इत्यादि सब कुछ रसशास्त्र के नियमों का निर्वाह करता है। इस नाटक का मूल हेतु हिंसा और युद्ध की समस्या का समाधान प्रस्तुत करना है। इस विषय में सेठजी ने गांधीवादी विचारधारा का समर्थन करते हुए यह निर्देश किया है कि शान्ति स्थापना का एकमात्र उपाय अहिंसा है। नाटक में शान्ता के पात्र द्वारा गांधीजी के अहिंसा सिद्धान्त का प्रचार किया गया है। इस दृष्टि से यह नाटक कमजोर माना जायगा।

गुजराती प्रतीकवादी नाटक

'वडलो'

गुजराती मे प्रतीकवादी नाट्य परम्परा का प्रारम्भ कृष्णलाल श्रीधराणी के 'वडलो' नाटक से होता है। इसकी रचना नासिक जेल मे सन् १९३१ मे हुई। इस सुन्दर 'काव्य नाटक' मे एक ओर दीर्घ एकाकी के लक्षण विद्यमान हैं और दूसरी ओर 'लोक-भवाई' की पद्य परम्परा भी दृष्टिगत होती है। यह कुमार-कुमारिकाओ के द्वारा अत्यन्त सफलता पूर्वक खेला जा चुका है। इस कृति मे मुर्गा, कोयल, तोता, मैना, कौआ, मोर, हंस इत्यादि विभिन्न पक्षी पात्र रूप मे अवतरित हुए है। उसी के साथ किरण, तारे, चन्द्र, बादल, समीर झंझावात आदि का मानवीकरण हुआ है और झरने, फूल इत्यादि बातें करते हुए दिखाये गये हैं। तदन्तर ग्वाला, ग्वालिन और छोटे बच्चे मनुष्य सृष्टि का प्रतिनिधित्व करते है। लेखक ने इस वैविध्यपूर्ण पात्र सृष्टि के द्वारा समस्त सचराचर जगत् के सामूहिक जीवन की तुलना संभवतः एक विशाल परिवार से की है। बरगद इसका संरक्षण और संवर्द्धन करता है, जो पितामह तुल्य है। उसी के नीचे उगी हुई भिंडी उसकी महानता की ईर्षा करती है। अन्य सारी निसर्ग-सृष्टि उसे स्नेह-सम्मान और सेवा प्रदान करती है। दुर्भाग्य से एक बार जोरों से झंझावात आता है। वह बरगद को जड़ से उखाड़कर फेंक देता है। बरगद के ढहने पर भिंडी हँसती है और अन्य सभी रोते हैं। वैतालिक की विह्वल वाणी के साथ इस कृति का शोक में पर्यवसान होता है। मानव की उदारता, परोपकारिता, स्नेह, सौहार्द एवं ईर्षा आदि मनोवृत्तियों का इस कृति मे विविध पात्रों के द्वारा उद्घाटन हुआ है। इसके वाच्यार्थ से जितनी आनन्दोपलब्धि होती है, उतनी ही इसकी रहस्यात्मकता से भी होती है। इसकी कल्पना मे नवीनता एवं मौलिकता है और शैली में भव्यता एव गभीरता है। समग्र कृति एक सुष्ठु नवीन प्रयोग है।

'वीजली' (१९४६)

श्रीधराणी की इस प्रतीकात्मक कृति मे बिजली, मेघ इत्यादि की सहायता से कवि और उसके कृतित्त्व पर प्रकाश डाला गया है। सागर के उस पार जाने वाली स्त्री के साथ पुरुष हो लेता है। स्त्री उसे मना करती है पर पुरुष हठी है। आराधना और उपासना के सूक्ष्म-भेद को न समझने वाला पुरुष अन्त मे बिजली के प्रकाश से चौंधिया जाता है। बिजली आती है, उसे चूमती है और सागर मे डुबो देती है। इस कृति में कवि की सर्जनात्मक प्रतिभा को बिजली के रूप मे प्रस्तुत किया है। वातावरण, सवाद, भाषा-शैली और पात्र सृष्टि विषयानुरूप कलापूर्ण एव प्रभावपूर्ण हैं।

'पृथ्वीनां आंसु' (१९४२)

प्रस्तुत कृति दुर्गेश शुक्ल का द्विअंकी गीतिकाव्य है। इसमे कृतिकार ने पृथ्वी और मेघ को मानव रूप मे वार्तालाप और व्यवहार करते हुए चित्रित किया है। पृथ्वी मेघ की आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा करती है। मेघ का आगमन होता है। वह अतिवृष्टि करता है। फलतः सर्वत्र जल ही जल हो जाता है। इससे संक्षुब्ध एवं संत्रस्त पृथ्वी मेघ से प्रस्थान

की प्रार्थना करती है। तदनन्तर कुछ वर्ष मेघ का आगमन ही नहीं होता। अनावृष्टि से पृथ्वी पुनः दुःखी होती है। अतिवृष्टि और अनावृष्टि दोनों में पृथ्वी के आँसू ढल पड़ते हैं। अन्त में पृथ्वी की यही प्रार्थना है कि जीवन को प्रसन्न एवं समृद्ध बनाये रखने के लिए मेघ अति-वाद का त्याग करे। इस प्रतीकात्मक रूपक द्वारा लेखक ने मानव के रहस्यों का उद्घाटन किया है और निष्कर्ष रूप में यह भाव प्रगट किया है कि 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' इसमें काव्या-त्मकता एवं प्रतीकात्मकता का समुचित निर्वाह हुआ है। भाषा एवं शैली संगीतात्मक है। इस भावप्रधान नाटिका में चरित्रांकन की उपेक्षा की गई है। पात्र व्यक्तित्व शून्य हैं। रंगमंच एवं रेडियो के लिए यह नाट्य उपयुक्त है।

'विश्वकोनु' (१९५९)

दुर्गेश शुक्ल ने इस नृत्य नाटिका में एक शाश्वत प्रश्न उठाया है। यह विश्व किसका है ? प्रश्न का उद्भव-स्थान बालक का मन है। वह इन्द्र के दरबार में जाता है और प्रश्न करता है "विश्व किसका ?" कोई उत्तर नहीं देता। तब घास, पतंगे, फूल, खरगोश, किरण, झरने आदि एक-एक कर बालक के समीप पहुँचते हैं और अत्यन्त सरसता एवं स्वाभाविकता से उसके प्रश्न का एक ही उत्तर देते हैं कि "यह विश्व उसीका है, जो इससे प्रेम करता है।" इस कृति में लेखक ने सृष्टि में प्रेम की सात्विकता एवं सर्वोत्कृष्टता प्रमाणित करने के लिए फूल, पतंगे, झरने, घास इत्यादि सभी पात्रों को मानवीय रूप प्रदान किया है। वे प्रेम के प्रतीक बनकर अवतरित हुए हैं। यह कृति अत्यन्त सफलतापूर्वक अभिनीत हो सकती है। इसकी प्रतीक योजना परिपुष्ट नहीं है। पात्रों का बाल-व्यवहार कृति की गंभी-रता को कम कर देता है। कहीं-कहीं नाट्यादर्श के प्रकाशन ने प्रचारात्मक रूप ले लिया है। इस दृष्टि से यह रचना सामान्य मानी जायगी।

इसके अनन्तर दुर्गेश शुक्ल के 'सुवर्ण पटनो रक्षक', जयन्ति दलाल के 'स्वर्ण कप' इत्यादि एकांकियों में भी प्रतीकवादी शैली का दर्शन होता है।

दसवाँ अध्याय

एकांकी

आधुनिक युग एकांकी का है। बहुअंकी नाटकों की अपेक्षा एकांकी नाटक आज अत्यधिक लोकप्रिय एवं लेखकप्रिय हो रहे हैं। इन दिनों संसार की समस्त भाषाओं में एकांकी नाटकों का प्रणयन अपेक्षाकृत प्रभूत रूप में हो रहा है। इस लोकप्रिय नाट्य प्रकार का आधुनिक रूप परंपरागत नहीं है। प्राचीन एक अंकी नाटक और अर्वाचीन 'एकांकी' के शिल्प, शैली और उद्देश्य में तात्त्विक अंतर है। यह निर्विवाद सत्य है कि यूरोप के यूनानी नाटकों और भारत के कतिपय संस्कृत रूपकों एवं उपरूपकों में एकांकी बीज रूप में विद्यमान है। यूनानी नाटककार एस्कीलस, सोफोक्लिस, और यूरिपाइड्ज के दुःखान्तकियों में आज के एकांकी के कुछ तत्त्व दृष्टिगत होते हैं। संस्कृत के रूपकों में व्यायोग, अंक, भाण, वीथी और प्रहसन एक अंकीय हैं। इसी प्रकार गोष्ठी, रासक, काव्य, उल्लाप्य, नाट्य-रासक, प्रेक्षणक, श्रीगदित, विलासिका इत्यादि उपरूपकों में भी एक अंक होता है। परंतु इन प्राचीन पश्चिमी और भारतीय नाटकों को वर्तमान एकांकी का जन्मदाता मानना युक्तियुक्त नहीं। आधुनिक एकांकी में और इनमें पर्याप्त भिन्नता है। आज का एकांकी न यूनानी दुःखान्त की की मूलगत भावना अपनाता है और न संस्कृत रसतत्त्व को ही स्वीकार करता है। उसका अपना विशिष्ट रचनातंत्र और आत्मतत्त्व है, जो नितांत मौलिक एवं स्वतंत्र है।

'पाश्चात्य एकांकी'

पाश्चात्य एकांकी के उद्भव की कहानी बड़ी मनोरंजक है। प्राचीन यूनानी नाटकों की अवनति के पश्चात् यूरोप में ईसाई पादरियों के द्वारा धर्मप्रचारार्थ 'मिस्टरी' (Mystery) और 'मिरेकल' (Miracle) नाटकों का प्रचलन हुआ। इन्हीं के साथ उपदेश प्रधान 'मोरेलिटी' (Morality) नाटक भी अस्तित्व में आये। विशिष्ट प्रकार के ये सभी नाटक एक अंकी ही थे। आरंभ में ये नाटक गिरजाघरों में खेले जाते थे। परंतु बाद में इनका सार्वजनिक स्थानों पर अभिनय होने लगा। इन्होंने परवर्ती सभी नाट्य-प्रकारों के लिए पूर्व पीठिका प्रस्तुत की। शेक्सपीयर के नाटकों में उपलब्ध 'अंतर्नाटक' (Interludes) इन्हीं के परिवर्तित रूप हैं। इंगलैण्ड के प्रेक्षागृहों में मुख्य नाटक के अभिनयारंभ के बहुत पहले पहुँचने वाले प्रेक्षकों के मनोरंजनार्थ ३०-४० मिनट के छोटे-छोटे स्वतंत्र प्रहसन खेले जाते थे, जिन्हें 'करटेन रेजर्स' (Curtain Raisers) कहते थे। कभी कभी मुख्य-नाटक के अंत में भी इसी प्रकार के 'आफ्टर पीसेज़' (After Pieces) अभिनीत होते थे। कालांतर में, इनकी इतनी लोकप्रियता बढ़ी कि ये मुख्यनाटय का ही स्थान ग्रहण करने लगे और इनकी स्वतंत्र कला-त्मक सत्ता स्थापित होने लगी। ये ही पश्चिमी आधुनिक एकांकी के जनक हैं। प्रारंभिक एकांकी का रूप अत्यंत अव्यवस्थित और अस्पष्ट था। परंतु क्रमशः विकसित होते-होते

महायुद्ध के अनन्तर तो वह अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत साहित्य-प्रकार बन गया। आज पश्चिमी एकाकी एकाकी कला का सर्वोच्च आदर्श उपस्थित करता है।

'एकाकी का स्वरूप'

एकाकी के रचना-विधान के बारे मे कोई सुनिश्चित शास्त्रीय सिद्धान्त नही है, क्योंकि एकाकी ने तो गत अर्द्धशताब्दी के पूर्व ही जन्म लिया है। उसके सर्वमान्य मानदड अभी निश्चित होने शेष है। फिर भी सामान्य रूप से यह सर्व स्वीकृत सिद्धान्त है कि एकाकी एक अक का नाट्य-प्रकार है और उसमे घटना बाहुल्य और कथा विस्तार का अभाव रहता है। एकाकी अपने परिमित क्षेत्र मे प्रभावोत्पादक शैली तथा सुगठित सवाद द्वारा सघर्षात्मक परिस्थिति का सर्जन कर रचनाकार के आदर्श को इस प्रकार अभिव्यजित करता है कि पाठक या दर्शक उससे अभिभूत हो जाता है। इसमें जीवन की किसी एक महत्त्वपूर्ण घटना या प्रसग अथवा समस्या का चित्रण रहता है। समूचे जीवन को चित्रित करना बहुअकी नाटक का कार्य है। "एकाकी मे विस्तार के अभाव मे प्रत्येक घटना कली की भाँति खिल-कर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता के समान फैलने की उच्छृखलता नही।"[1] समय और स्थान के अपने सीमित दायरे मे एकाकी अत्यत उच्चस्तरीय नाटकीय कौशल द्वारा चरम लक्ष्य को अभिव्यजित करता है। इसमे अनावश्यक पात्र, अप्रधान घटना और असगत वार्तालाप का तनिक भी अवकाश नही रहता। ध्येय की एकाग्रता और प्रभाव की एकता एकाकी के अपरिहार्य अग हैं। विशृखलता तथा विस्तार से उसके सविधान सौष्ठव का ह्रास हो जाता है। "उच्च कोटि की अन्विति और मितव्ययता एकाकी का प्रमुख लक्षण है।"[2] एकाकीकार किसी एक घटना या समस्या को नाटकीय लाघव से सपूर्ण एकाग्रता तथा क्षिप्रता के साथ चरम सीमा तक पहुँचा देता है और तत्पश्चात् अत्यत प्रभावोत्पादक एव साकेतिक ढग से एकाकी का पर्यवसान होता है। इसके वस्तु विन्यास म कौतूहल तत्त्व का समावेश और चरित्राकन मे सूक्ष्म मनोविश्लेषण का निर्वाह आवश्यक माना गया है। एकाकी क पात्र जीवन की वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करते है। उत्तम एकाकीकार अनावश्यक पात्रो की भीड नही करता। एक प्रसग और सीमित पात्रो की सहायता से उच्च कोटि के एकाकी की सृष्टि सिद्धहस्त लेखक के लिए ही सभव है। आज के एकाकी पात्रो के अतर्लोक के आरोह अवरोहो को प्रगट करते है।

नाटक सवाद की कला है। एकाकी भी सवादाश्रित है। सार्थक सवाद विधान एकाकी कला का उत्कर्ष करता है। असगत बातो का एकाकी मे कोई स्थान नही है। सवादो मे स्वाभाविकता, सजीवता तथा सक्षिप्तता का होना अत्यावश्यक है। "एकाकी मे एक-एक शब्द की गणना होती है, क्योकि उसमे थोडे शब्दो द्वारा अधिक से अधिक प्रभाव उत्पन्न करना होता है।"[3] उत्कृष्ट एकाकी की भाषा-शैली व्यजनापूर्ण एवम् कलायुक्त होती

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा—'शिवाजी नाटक'—भूमिका, पृ० ६।

२ 'One act play is characterised by superior unity and economy"—Percival wilde 'The craftmanship of one act play's P 17

३. "You have a small number of words with which to accomplish a large effect, therefore every word must count"—Richard walter Eaton—The Construction of one act play' P 30

है। सर्वर्षमय वातावरण की सृष्टि एकाकी मे गतिशीलता पैदा करती है। सफल एकाकी का अत सदैव अत्यत मार्मिक एवम् चमत्कारपूर्ण होता है, जो अपनी अमिट छाप पाठक या दर्शक के चित्त पर चिरकाल के लिए छोड जाता है। वस्तुत एकाकी नाटक कष्ट-साध्य साहित्य विधा है।

'हिन्दी एकाकी'

हिन्दी एकाकी के प्रारम्भ के विषय मे बडा मतभेद है। अधिकाश विद्वान् उसका प्रारम्भ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से मानते है।[1] इन विद्वानो की दृष्टि सस्कृत परपरानुवर्ती एक अकीय रूपको पर केन्द्रित है। भारतेन्दु युग मे यथार्थत सर्वप्रथम हिन्दी एकाकी उपलब्ध होते है। भारतेन्दु ने स्वय 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३), 'प्रेमयोगिनी' (१८७५), 'विषस्य विषमौषधम्' (१८७६), 'भारत दुर्दशा' (१८८८), 'अधेर नगरी' (१८८१ इत्यादि एकाकी रचे। उनके समकालीन बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र, लाला श्रीनिवासदास, किशोरीलाल गोस्वामी, इत्यादि ने भी एकाकी नाटको का प्रणयन किया। इस काल के ये सभी एकाकी सस्कृत रूपको और उपरूपको की शैली का सर्वांश रूपेण निर्वाह करते है।

इसके बाद डॉ दशरथ ओझा ने "हिन्दी एकाकी की प्रथम अवस्था तेहरवी शती के जैनलघु रास मे पाई है।"[2] ये रास शैली के एकाकी भी प्राचीन भारतीय परपरा का ही निर्वाह करते हैं। अत. एकाकी की भारतीय उत्पत्ति के विषय मे उपर्युक्त प्रथम वर्ग के विद्वानो की और डॉ० ओझा की मान्यता मे कोई विशेष विचार-भेद नही है। इन सब विद्वानो के साथ हम भी दृढतापूर्वक यह मानते हैं कि हिन्दी की "एकाकी नाट्य-शैली यूरोप से गोद ली हुई नही, प्रत्युत अपने ही देश मे उत्पन्न हुई है।"[3] परन्तु हिन्दी के जो विद्वान जयशकर प्रसाद के 'एक घूट' (१९२९) को हिन्दी का प्रथम एकाकी मानते है[4], उनकी दृष्टि आधुनिक हिन्दी एकाकी के उस शिल्प स्वरूप पर केन्द्रित है, जो वस्तुत पाश्चात्य नाट्यानुवर्ती है। यही उस एक अकीय नाटक का सही स्वरूप है, जिसे हम आज एकाकी (one act play) कहते हैं। इस दृष्टि से 'एक घूट' से पूर्व हिन्दी का कोई ऐसा एकाकी उपलब्ध नही होता, जिसमे पाश्चात्य एकाकी के तत्त्व सन्निविष्ट हो। अत प्रसाद के इस एकाकी को प्रथम स्थान देना युक्तियुक्त ही है। 'एक घूट' के बाद पाश्चात्य शैली के एकाकी लेखन की परपरा बहुत तेजी से आगे बढी और देखते ही देखते हिन्दी मे कई प्रभावशाली एकाकीकार प्रकाश मे आये।

---

१. (अ) डॉ. सोमनाथ गुप्त, 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' पृ० २०३।
 (आ) डॉ० भोलानाथ, 'सेठ गोविददास अभिनदन ग्रथ'—पृ० ३७८।
 (इ) डॉ० सत्येन्द्र, 'हिन्दी एकाकी'—पृ० ११।
 (ई) डॉ० रामचरण महेन्द्र, 'हिन्दी एकाकी उद्भव और विकास' प्र० सा०, १९५८, पृ० ५३।
२. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० ४५८।
३. डॉ० दशरथ ओझा—'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० ४५८।
४. (अ) डॉ० नगेन्द्र—'आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० १३२।
 (आ) डॉ० बच्चन सिंह—'हिन्दी नाटक, पृ० २०६।
 (इ) डॉ० पाडुरगराव—'आधुनिक हिन्दी रूपक, पृ० २१६।

'प्रसाद का एक घूट' (१९२९)

एक घूट प्रसाद का अन्यापदेशिक (Allegorical) एकाकी है।[1] इसमे एक अक और एक दृश्य है। इसकी समस्या विवाह और प्रेम है। आनन्द, कुज,मुकुल, रसाल वनलता, चदुल, झाड़ू वाला आदि इसके पात्र हैं। इन सभी पात्रों का प्रसाद ने मानवीय भावो तथा विचारो के प्रतीकों के रूप मे प्रयोग किया है। इस कृति द्वारा लेखक ने आधुनिक दाम्पत्य जीवन की विसवादिता और अनियन्त्रितता पर अपने विचार प्रगट किये है और अन्त मे सवादी एव आनन्दाश्रित गार्हस्थ्य जीवन की महिमा गाई है। "इस कृति मे पद्धति नाटकीय रहने पर भी यह सवादात्मक निबन्ध सा ज्ञात होता है"[2] इसमे न चरित्राकन समीचीन है और न घटना-प्रवाह वेगवान है। सस्कृत परपरानुसार इसमे विदूषक जनांतिक पूर्व-रग, सवाद आदि हैं और उसी के साथ पाश्चात्य एकाकी के ढग की चरमसीमा, सघर्ष सृष्टि, रचना-विधि इत्यादि है।" कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि एकाकी की टेक्नीक का 'एक घूट' मे पूरा निर्वाह है।"[3]

रामकुमार वर्मा (१९२९)

१९२९ के अनन्तर हिन्दी एकाकियों का अभूतपूर्व विकास हुआ। इसी समय हमे सपूर्ण पाश्चात्य शैली के एकाकी उपलब्ध होते हैं। इसके पुरस्कर्ता रामकुमार वर्मा हैं। उन्होने सर्वप्रथम पाश्चात्य एकाकी कला का अपनी कृतियो मे बहुत ही सफलतापूर्वक समावेश किया। इस दृष्टि से वे आधुनिक हिन्दी एकाकी के पथ प्रदर्शक हैं।[4] प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त का यह कहना कि हिन्दी एकाकी नाटक को वर्माजी ने "कोई नया पथ नही सुझाया, या टेक्नीक इत्यादि मे वर्मा जी ने कुछ नया अन्वेषण नही किया"[5] युक्तियुक्त प्रतीत नही होता। १९२९ के अनन्तर रामकुमार वर्मा के अतिरिक्त अन्य कोई प्रतिभाशाली एकाकीकार नही हुआ, जिसने इस प्रकार की कृतियाँ रची हो। उन्ही के एकाकियो मे सबसे पहले हमे पाश्चात्य एकाकी की सभी विशेषताएँ उपलब्ध होती है। अत वर्माजी की यह देन निर्विवाद रूपेण अत्यन्त महत्त्व रखती है।

वर्माजी का पहला एकांकी 'बादल की मृत्यु' है,[6] जो सन् १९३० मे प्रकाशित हुआ

---

१. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा—'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० २०५।
२. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा—'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' पृ० २०५।
३. डॉ० नगेन्द्र : 'आधुनिक हिन्दी नाटक' पृ० १३२।
४. यह मत हिन्दी के कई विद्वानों ने प्रकट किया है—
(अ) श्री रामनाथ सुमन—भूमिका' 'चारु मित्रा' पृ० ८।
(आ) डॉ० सत्येन्द्र—'हिन्दी एकाकी', पृ० ४९।
(इ) प्रो० अमरनाथ गुप्त—'एकाकी नाटक,' पृ० ७३।
(ई) डॉ० रामचन्द्र महेन्द्र—'हिन्दी एकाकी उद्भव और विकास', पृ० १३५।
५ 'हस' का 'एकाकी नाटक विशेषाक अंक'- मई १९३८ पृ० ७२३।
६. डॉ० श्रीपति शर्मा का कथन है कि "उनका (डॉ० रामकुमार वर्मा का) प्रमुख एकाकी बादल की मृत्यु १९३० मे लिखा गया, जो निश्चित रूप से मेरी राय में हिन्दी का प्रथम एकाकी है।"—हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव पृ० २६४।

पर अंग्रेजी का प्रभाव स्पष्ट है। शॉ की व्यंग्य-वक्रोक्तियों ने उन्हें विशेष रूप से आकर्षित किया है—उनकी कथावस्तु, शैली और विचारधारा पर भी शॉ का बहुत कुछ प्रभाव है।'[1] इस विदेशी प्रभाव की अतिशयता के कारण इनके नाटकों में अवास्तविकता आ गई है। इनके 'शैतान' एकांकी में शॉ के 'डेविल्स डिसाइपल्स' और 'श्यामा' में उन्हीं के 'केन्डिडा' का अनुकरण स्पष्ट है। इस अनुकरण प्रवृत्ति में इन्हें विशेष यश प्राप्त नहीं हुआ। १९३६ के पश्चात् इनकी कृतियाँ मौलिक, प्रौढ़ तथा परिपक्व बनी है। भुवनेश्वर जी का सबसे पहला एकांकी 'श्यामा एक वैवाहिक विडम्बना' सन् १९३३ में सर्वप्रथम 'हंस' पत्रिका में प्रकाशित हुआ। तदंतर 'मृत्यु' (१९३६), 'स्ट्राइक' (१९३८), 'रोशनी और आग (१९४१) 'सीको की गाडी' (१९५०) इत्यादि अन्य एकांकी प्रगट हुए। इन एकांकियों की अधिकांश समस्याएँ प्रेम एवं कामवासना से सम्बन्धित हैं। पात्र सुशिक्षित समाज से लिये गये हैं जो कुंठाग्रस्त तथा विकृतियुक्त हैं। भुवनेश्वर प्रसाद ने पात्र तथा प्रसंग निरूपण में पूरी यथार्थता निभाई है। इनके पात्रों का आन्तरिक द्वन्द्व बड़ी ही कुशलता तथा सूक्ष्मता से अंकित हुआ है। यह इनकी एकान्तिक विशेषता है। हिन्दू समाज के कठोर नियन्त्रण, रूढ़ियों के क्रूर बन्धन तथा सामाजिक एवम् पारिवारिक जीवन की अपरिवर्तनशील मान्यताएँ किस प्रकार व्यक्ति के जीवन को कुंठित और अवरुद्ध कर देती है, इसके जीवित चित्र भुवनेश्वर प्रसाद के एकांकियों में उपलब्ध होते हैं। उसी के साथ उनमें यौन समस्या भी उभरकर सामने आती है। इसका जो समाधान प्रस्तुत किया जाता है, वह प्रतीतकर नहीं होता।

इनके एकांकियों में बड़ा तीखा चुभता हुआ व्यंग्य रहता है। उनकी शैली और शिल्प पूरी तरह यथार्थवादी हैं। उनमें भुवनेश्वरजी की वैयक्तिक प्रतिभा का बहुत अच्छा परिचय मिलता है। 'वे सफल टैक्नीशियन हैं।'[2]

सेठ गोविन्ददास

हिन्दी के उन नाटककारों में सेठ गोविन्ददास का नाम अग्रगण्य है, जिन्होंने बहुअंकी नाटकों के साथ एकांकियों का भी सफलतापूर्वक प्रणयन किया है। सन् १९३६ से अब तक इनके लगभग सौ एकांकी प्रकाशित हो चुके हैं। 'सप्तरश्मि', 'पंचभूत', 'अष्टदल', 'एकादशी', 'स्पर्द्धा' इत्यादि इनके एकांकी संग्रह मुख्य है। सेठजी ने ऐतिहासिक एवं सामाजिक विषयों पर एकांकियों की रचना की है। इन पर गान्धीजी की विचारधारा का बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा है। इनकी कृतियाँ अधिकांश रूप से कलात्मकता से विहीन केवल प्रचारात्मक है।

इनके ऐतिहासिक नाटकों में ऐतिहासिक प्रसंगों और पात्रों के साथ-साथ राष्ट्रीयता, नैतिकता और मानवता का स्वर भी मुखरित होता है। कहीं-कहीं उनमें समकालीन समस्याओं पर व्यंग्य किया गया है। सामाजिक नाटकों में नारी-जीवन, विवाह समस्या, प्रेम, दाम्पत्य-जीवन इत्यादि को नाट्यात्मक रूप प्रदान किया गया है। सर्वत्र इनका व्यावहारिक आदर्शवाद प्रत्यक्ष है। इनके राजनैतिक एकांकियों में विभिन्न राजनैतिक पक्ष, चुनाव, मिनिस्ट्री, हड़ताल, नेतागीरी आदि विषयों ने प्राधान्य प्राप्त किया है।

---

१ 'आधुनिक हिन्दी नाटक' पृ० १३१।
२. 'आधुनिक हिन्दी एकांकी' डॉ० नगेन्द्र, पृ० १३६०।

"हिन्दी मे मोनोड्रामा लिखने का सर्वप्रथम श्रेय सेठजी को है।" (डॉ० नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक पृष्ठ ६६)। स्ट्रेन्डबर्ग और ओनील की शैली पर इन्होने 'प्रलय और सृष्टि', 'शाप और वर', 'सच्चा जीवन' आदि सफल एकपात्री नाटक (मोनोड्रामा) लिखे है। इनके द्वारा पात्रो की चारित्रिक विशेषताओ का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। इसके अलावा सेठजी न अपनी कृतिया मे 'उपक्रम' और 'उपसहार' की नयी नाटक शैली का भी प्रयोग किया है। नवीन नाट्य शैलियो के प्रयोग-कर्ता की हैसियत से ये सदैव स्मरणीय रहेंगे।

उदयशकर भट्ट

सस्कृत साहित्य के प्रकाड पडित और भारतीय सस्कृति के उपासक उदयशकर भट्ट का पहला एकाकी 'दुर्गा' सन् १६३४ मे 'सरस्वती' पत्रिका मे प्रकाशित हुआ। तदतर इन्होने कई एकाकी लिखे। इनके सात एकाकी सग्रहो म 'अभिनय एकाकी', 'समस्या का अन्त', 'धूमशिखा', 'पर्दे के पीछे' इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं। भट्टजी के कथानको मे पर्याप्त वैविध्य एव नावि-य है। पौराणिक, धार्मिक, सास्कृतिक, सामाजिक इत्यादि सभी विषयो के एकाकियो का इन्होने सर्जन कर अपनी व्यापक दृष्टि का परिचय दिया है। इसी क साथ प्रतीक रूपको, गीति-नाट्यो, भाव-नाट्यो, प्रहसनो इत्यादि का भी भट्टजी ने सर्जन किया है। इनके विषयो मे विस्तार है और शैली मे वैविध्य है। इनकी रचनाओ मे जीवन की यथार्थता और स्वाभाविकता के दर्शन होते है। उसी के साथ उनमे आदर्श का भी पूर्णत निर्वाह होता है। "भट्टजी प्राचीन सस्कारो का आदर्श लेकर नवीन यथार्थ के प्रति चिर जागरूक रहे है। उनमे मानव के प्रति सहज निष्ठा, जीवन के प्रति सच्चा अनुराग और इस निष्ठा तथा अनुराग को मूर्त रूप देने की लगन है।"[१]

भट्टजी के कई नाटको मे सामाजिक व्यग्य उभर आया है। ऐसी रचनाओ मे वे समस्याओ के मर्म तक पहुँच कर व्यग्य की सहायता से समाधान की ओर इगित भी करते है। इस दृष्टि से भट्टजी सदैव रचनात्मक रहे है। 'क्रातिकारी' (१६५३) एकाकी मे बीसवी शताब्दी के सामूहिक राष्ट्रीय जागरण की झाकी देने का प्रतीकात्मक प्रयत्न है।[२] भट्टजी रेडियो से दीर्घावधि तक मलग्न रहे हैं। इसी के फलस्वरूप 'एकला चालो रे', 'अमर अर्चना,' 'मेघदूत' 'वन महोत्सव', 'मदन दहन' इत्यादि सुन्दर ध्वनि रूपको का सर्जन हुआ है। भट्टजी ने उत्तम भाव-नाट्यो की सृष्टि की है। 'विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य' तथा 'कालिदास' उनके अत्यन्त प्रसिद्ध भाव-नाट्य है। हिन्दी मे भाव-नाटको के रचयिताओ म भट्टजी का स्थान सर्वोपरि है।

उपेन्द्रनाथ अश्क

उपेन्द्रनाथ अश्क के एकाकियो के विषय-वस्तु का सम्बन्ध सामाजिक जीवन की यथार्थता से है। उन्होंने मध्यवित्त वर्ग की कई छोटी-बडी समस्याओ को विविध पात्रो की सहायता स नाट्यात्मकता प्रदान की है। अश्क प्रारभ मे उर्दू मे लिखते थे। उन्होने सन्

---

१ 'पर्दे के पीछे' भूमिका' ० ७।

२ 'हिन्दी एकाकी उद्भव और विकास'—डॉ० रामचरण महेन्द्र, पृ० १६२।

१९३९ में सर्वप्रथम 'पापी', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'अधिकार का रक्षक' इत्यादि एकाकी हिन्दी में लिखे। उसके बाद तो 'चरवाहे, 'देवताओं की छाया में', 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ', 'तूफान से पहले' आदि कई एकाकी संग्रह प्रकाशित हुए। अश्क यथार्थवादी एकांकीकार हैं। उनका ध्यान मध्यवर्ग के ढकोसलों, बाह्याडंबरों, जीर्ण-शीर्ण परंपराओं के प्रति विशेषत आकर्षित हुआ है। उन्होंने इन सबका बड़ी ही कटाक्षपूर्ण एवम् व्यंग्यात्मक शैली में अपने एकांकियों में निरूपण किया है। ये जीवन और समाज की असंगतियों, कुरूपताओं, अस्वाभाविकताओं और रूढ़ियों पर बड़ा ही करारा व्यंग्य करते है। 'लक्ष्मी का स्वागत', 'सूखी डाली', 'अधिकार का रक्षक' इत्यादि में अश्क के उत्कृष्ट व्यंग्य एवं कटाक्ष के दर्शन होते हैं। 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ', 'जोंक', मस्तवाला का स्वर्ग' इत्यादि प्रहसनों में हास-परिहास की नाटकीय शैली द्वारा जीवन के चिंतनीय पक्ष पर प्रकाश डाला है।

अश्क के पात्र सामान्य जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें कोई विशिष्टता या असाधारणता नहीं होती। वे अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा सामान्य पात्रों में विशेषता पैदा कर देते हैं। 'घड़ी', 'आदि मार्ग' इत्यादि एकांकियों में मनोविश्लेषणात्मक ढंग से पात्रों का चरित्रांकन हुआ है। 'चरवाहे', 'चिलमन', 'खिड़की', 'चमत्कार', 'देवताओं की छाया में' इत्यादि एकांकियों में उन्होंने प्रतीकात्मक शैली का सफल और सुन्दर प्रयोग किया है। 'अंधी गली' तो प्रतीक शैली का उत्तम नाटक है। इन नये एकांकियों द्वारा उन्होंने समाज जीवन के स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किये है, जो यथार्थत उत्कृष्ट है। अश्क को अभिनय का बड़ा व्यापक और प्रत्यक्ष अनुभव है। फलत उनके सभी एकांकी बड़ी सफलता के साथ अभिनीत होते रहते हैं। रेडियो और सिनेमा से भी उनका अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। अतएव उनके नाटकों में साहित्यिकता तथा अभिनेयता का अपूर्व सामंजस्य पाया जाता है।

गणेश प्रसाद द्विवेदी

भुवनेश्वर प्रसाद की परम्परा में होते हुए भी गणेश प्रसाद द्विवेदी की सौन्दर्य चेतना विशेष जागृत है। अंग्रेजी साहित्य के गम्भीर अध्ययन के फलस्वरूप इनके एकांकियों में पाश्चात्य मनोविश्लेषणात्मक नाट्य-शैली का समुचित प्रयोग हुआ है। इनका प्रधान विषय सामाजिक जीवन है। उसी से संपृक्त प्रेमविवाह और कामवासना सम्बन्धी विविध समस्याएँ उभरे हुए रूप में हमारे सामने आती हैं। मानव मन की गुत्थियों को सुलझाना द्विवेदी जी को सहज साध्य है। 'सुहाग बिन्दी', 'दूसरा उपाय ही क्या है', 'सर्वस्व समर्पण' इत्यादि एकांकियों में नारी-स्वभाव के रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। 'वह फिर आई थी', 'परदे का अपर पार्श्व' और 'शर्माजी' में पुरुष के मन की गहराइयों को खोला गया है। इनके सभी एकांकी चरित्रप्रधान हैं। पात्रों के मन के सूक्ष्म विश्लेषण में द्विवेदी जी सभी को पीछे छोड़ देते हैं।[1] 'कामरेड' प्रणय त्रिकोणाश्रित एकांकी है। द्विवेदी जी की लेखनी में पात्रों के मनोगत भावों और व्यवहारों का रसमय वर्णन करने का पूरा सामर्थ्य है। यदा-कदा ये सकेतात्मक प्रयोग भी करते है, जिनके द्वारा शैलीगत सौन्दर्य में अभिवृद्धि होती है। द्विवेदी जी के चरित्रांकन, वस्तु-विधान, शैली-शिल्प इत्यादि सब पर इब्सन का प्रभाव अत्यधिक पड़ा है, जिससे नाटकीय वातावरण कभी-कभी विदेशी नजर आता है, जो समीचीन नहीं है। यह सब होते हुए भी द्विवेदी जी का हिन्दी एकांकी साहित्य में गणनापात्र स्थान है।

---

१. डॉ० नगेन्द्र 'आधुनिक हिन्दी नाटक' पृ० १४१।

जगदीशचन्द्र माथुर

हिन्दी एकांकी धारा को अत्यन्त कलात्मक एकांकियो द्वारा परिपुष्ट करनेवालो मे जगदीशचन्द्र माथुर अग्रगण्य है। इन्होने अपने एकांकियों मे रगमचीय रचना विधान एव साहित्यिक शैली-स्वरूप का अद्भुत सयोग किया है। इनका सर्वप्रथम एकांकी 'मेरी बाँसुरी' सन् १६३६ मे प्रगट हुआ। लेखक ने स्वय इस एकांकी के विषय मे लिखा है कि 'मेरी बाँसुरी' आधुनिकतम भाषा-शैली के प्रयोगो से परिपूर्ण है। इसमे कालेज के उच्चशिक्षा प्राप्त विद्यार्थियो का व्यग्यात्मक चित्र है।"[1] पर यह प्रयोगिकता एव व्यग्यात्मकता माथुर जी के अन्य एकांकियो मे भी दृष्टिगत होती है। 'भोर का तारा', 'कलिंग विजय', 'रीढ की हड्डी', 'मकडी का जाला', 'खण्डहर', 'ओ मेरे सपने' आदि इनके प्रसिद्ध एकांकी हैं, जिनम उच्चवर्गीय लोगो की सामाजिक समस्याए समाविष्ट हैं। ये एकांकी हमारे दभी समाज के खोखलेपन का पर्दा फाश करते हैं। माथुरजी के प्रारम्भिक नाटकों मे गम्भीर वातावरण है। 'ओ मेरे सपने' सग्रह के सभी नाटक प्रहसनात्मक है। इनके नाटको मे बडी दक्षता से वास्तविक जीवन प्रतिबिंबित हुआ है। इनकी कृतियो मे उच्चस्तरीय सगठन सौष्ठव होता है और व्यक्तित्व-सम्पन्न पात्र-सृष्टि होती है। अभिनेयता के उच्च गुणो से वे विभूषित तो होते ही हैं। माथुर जी के 'कलिंग विजय' और 'भोर का तारा' एकांकियो का वातावरण सास्कृतिक है और पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है। इन कृतियो मे इनका जीवन-दर्शन एव आदर्श चिंतन अत्यन्त कलात्मक ढग से साकार हुआ है।

माथुर जी के नाटको के सवाद पात्रानुरूप सरल, स्वाभाविक तथा प्रभावोत्पादक है। शैली बडी चमत्कारपूर्ण तथा गतिशील है। ये अपने नाटको मे रग-सकेत बहुत विस्तृत रूप मे देते हैं, ताकि अभिनयकार सरलता से उन्हें खेल सकें। वस्तुत माथुर जी बडे सुलझे हुए नाटककार हैं।

विष्णु प्रभाकर

नये एकांकीकारो मे विष्णु प्रभाकर बडे लोकप्रिय हैं। अब तक इनके कई एकांकी प्रकाशित हो चुके हैं। 'प्रकाश और परछाइं', 'मैं दोषी हूँ', 'इन्सान' इत्यादि इनके प्रसिद्ध एकांकी हैं। इनकी कृतिया के कथानक समाज-जीवन पर आधृत हैं। पात्रो के मनोविश्लेषण म प्रभाकर जी बहुत ही दक्ष हैं। इस विषय मे उन्होने स्वय लिखा है कि "सबसे अधिक रुचि मुझे मनोवैज्ञानिक नाटक लिखने मे है। सामाजिक, घरेलू या राजनैतिक कैसा भी कथानक हो, मैं उसका ताना-बाना मनोवैज्ञानिक अध्ययन पर ही बुनता हूँ। मरे लिए मनोवैज्ञानिक अध्ययन का अर्थ है कि मनुष्य जो कुछ दिखाई देता है केवल वही नहीं है, उसके अतिरिक्त वह और कुछ भी है, बल्कि वह 'और कुछ भी' ही अधिक है। आदर्श और यथार्थ का समन्वय मुझे प्रिय है। मानवता मेरा लक्ष्य है।"[2] प्रभाकर जी ने अपने ये विचार अपनी रचनाओ मे अक्षरश चरितार्थ किये हैं।

विष्णुप्रभाकर के एकांकियो मे राष्ट्रीयता एव देश-प्रेम की भावना स्पष्टत मुखरित

---

१ 'ओ मेरे सपने'—भूमिका, पृ० २।

१ 'साहित्य सन्देश' में लेख "मैं नाटक कैसे लिखता हूँ"—लेखक—श्री विष्णुप्रभाकर दिसम्बर १६५५ का अक पृ० २६१।

हुई है। समकालीन राजनैतिक समस्याओं को इन्होंने नाटकीय रूप प्रदान किया है। इनके विषय में डॉ० सत्येन्द्र ने लिखा है कि "इस एकांकीकार में न तो भावुकता का अतिरेक मिलेगा और न बौद्धिक कड़वाहट, न व्यक्तिवादी अहम्मन्यता—आधुनिक व्यवस्थायें मानव के रूप की प्रतिष्ठा के लिए व्यग्र इस लेखक ने एकांकी की कला को निरुद्विग्न सुषमा से अभिमण्डित कर दिया है।"[1]

लक्ष्मीनारायणलाल

नये उदीयमान एकांकीकारों में लक्ष्मीनारायणलाल का नाम मूर्द्धन्य है। एकांकी के क्षेत्र में इन्होंने वस्तु और शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त उत्तम प्रयोग किये है। इनके एकांकियों में नागरिक समस्याओं के साथ-साथ ग्रामीण जीवन की जटिलताओं का भी निरूपण है। लक्ष्मीनारायणलाल जीवन की विकृतियों और असंगतियों को पहचान कर अपनी गहरी पैठ और अन्तर्दृष्टि से उन्हें प्रतीक रूप में प्रस्तुत करते हैं। 'पर्वत के पीछे' और 'ताजमहल के आंसू' में इनकी सर्जनात्मक शक्ति का सम्यक् परिचय प्राप्त होता है। इनका प्रेरणा स्रोत ग्रामीण संस्कार और वातावरण है। वहां के जीवन का सूखता हुआ शापग्रस्त विकृत रूप इन्हें विशेष आकृष्ट करता है। 'मडवे का भोर' एकांकी इनकी उत्कृष्टतम कृति है। 'पर्वत के पीछे', 'मुर्गा होगी', 'नई इमारत' इत्यादि रचनाओं में विविध सामाजिक समस्याएं सम्पूर्ण यथार्थता के साथ उभर आई हैं। इनमें तीक्ष्ण व्यंग्य और पैना कटाक्ष मिलता है। उनकी भाषा-शैली और संवाद रचना अत्यन्त प्रभावोत्पादक तथा हृदयगम है। रंगमंच पर इनके नाटकों को पर्याप्त सफलता मिली है। ये स्वयं हिन्दी रंगमंच के निर्माण में निष्ठापूर्वक सक्रिय कार्य कर रहे है।

विनोद रस्तोगी

नवीन एकांकीकारों में विनोद रस्तोगी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने सामाजिक एवं ऐतिहासिक नाटक लिखे है। 'पुरुष का पाप' एकांकी संग्रह में ऐतिहासिक धरातल पर सामाजिक समस्याओं को उभारा गया है। इनमें नारी के प्रति पुरुष के पाशविक व्यवहारों की भर्त्सना की गई है। 'ये एकांकी नारी की मनोवृत्ति को उत्कर्ष की ओर ले जाने तथा पुरुष के हृदय में उसके प्रति ममता जगाने एवं नारी के शौर्य, बलिदान और सद्गुणों की गौरव-गाथा गान के लिए लिखे गये हैं।"[2] इन कृतियों में पुरुष के अज्ञात मन का सूक्ष्म विश्लेषण भी है। 'आजादी के बाद' नवीन शैली-शिल्प का एक दर्शनीय नाटक है, जिसमें विस्थापितों की समस्या के साथ-साथ समसामयिक राजनैतिक एवं आर्थिक पहलुओं पर भी प्रकाश डाला गया है। "अंधेरा, फिसलन और पाँव" सफल एकांकी के उत्कृष्ट उदाहरण हैं, जो पुरस्कृत भी हो चुके है। इनके सभी एकांकी कई बार अच्छी तरह खेले जा चुके है। रस्तोगीजी से भविष्य में और भी उत्तम नाटकों की आशा है।

इनके उपरांत गिरिजाकुमार माथुर, भारत भूषण अग्रवाल, विमला लूथर, सत्येन्द्र

---

१. 'हिन्दी एकांकी'—डॉ० सत्येन्द्र पृ० १८६।

२. श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय 'साहित्य संदेश', भा० १५, अं० १२, पृ० ५१३।

शरत्, धर्मवीर भारती, मार्कण्डेय, शिवसागर मिश्र, मनतकुमार पापाए, ब्रजकिशोर नारायण इत्यादि नवीन लेखको ने सामाजिक जीवन की विभिन्न समस्याओं पर अच्छे एकाकी रचे हैं, जिनमे सगठन सौष्ठव एव कलागत सौन्दर्य का सफलतापूर्वक समन्वय हुआ है। पुराने खेवे के नाट्यकारो मे हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्दवल्लभ पत, जैनेन्द्रकुमार, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावन लाल वर्मा, सद्गुरु शरण अवस्थी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, चन्द्रगुप्त विद्यालकार इत्यादि न भी सुन्दर एकाकी लिखे है। इन सब लेखको के द्वारा हिन्दी एकाकी साहित्य समृद्ध एव परिपुष्ट हो रहा है। आज एकाकी नाटक का भविष्य यथार्थत उज्ज्वल है।

गुजराती एकांकी

गुजराती एकाकी की उत्पत्ति के विषयो मे विद्वानो मे किसी प्रकार का मतभेद नही है। गुजराती के सभी विद्वान इस विषय मे एकमत है कि एकाकी साहित्य विधा का प्रारम्भ मुख्यत पश्चिमी एकाकी नाटक की प्रेरणा से ही हुआ है[1] और उसकी आयु आज चार दशक से अधिक नही है। उसका रचनातन्त्र पूरी तरह पाश्चात्य एकाकी का अनुसरण करता है। यह सत्य है कि गुजराती की क्षेत्रीय विशिष्टताओ के कारण गुजराती एकाकी ने कतिपय विशेष लक्षणो को आत्मसात किया है, किन्तु इससे उसके सत्त्व एव स्वत्व मे अभिवृद्धि ही हुई है। आज गुजराती एकाकी भारत की अन्य भगिनी भाषाओ के एकाकियो की पक्ति मे माननीय स्थान ग्रहण कर सकता है, इसमे तनिक भी सदेह नही है।

गुजराती मे एकाकी नाटक के जन्मदाता बटुभाई उमरवाडिया हैं। उनका सर्वप्रथम एकाकी सग्रह "मत्स्यगंधा अने गागेय अने बीजा नाटको" सन् १९२५ मे प्रकाशित हुआ। इस सग्रह का "लोम हर्षिणी' लघु नाटक एकाकी के समस्त तत्त्वो को अपनाए हुए है, जिसकी रचना सन् १९२२ मे हुई। बटुभाई उमरवाडिया ने स्वय उपर्युक्त सग्रह की प्रस्तावना मे यह स्पष्ट किया है कि "इन नाटको का स्वरूप अग्रेजी 'वन-एक्ट प्ले' पर आधारित है।" अत यह स्पष्ट है कि गुजराती एकाकी का प्रारम्भ सन् १९२२ मे हुआ है।

बटुभाई उमरवडिया

गुजराती एकाकी के जनक बटुभाई उमरवाडिया इब्सन शैली के सर्वप्रथम सफल प्रयोगकर्ता हैं। उनकी दृष्टि गभीर तथा सूक्ष्मदर्शी है। जीवन के व्यापक अनुभव तथा गहन चिंतन का परिचय उनकी रचनाओं मे सर्वत्र सुलभ है। उन्होने गुजराती लेखको के सामने यह आदर्श उपस्थित किया कि एकाकी-सृष्टि गभीर उत्तरदायित्वपूर्ण है। बटुभाई ने 'लोम हर्षिणी' (१९२२) के पश्चात् 'हसा' का प्रकाशन १९२३ मे किया। तदतर १९२४ मे 'अशक्य आदर्शो' तथा 'मत्स्यगधा अने गागेय' और १९२७ मे अतिम कृति 'शैवालिनी' प्रगट हुई। उनका नाट्य सग्रह 'मालादेवी अने बीजा नाटको' १९२७ मे प्रकाशित हुआ।

---

१ (अ) श्री उमाशकर जोशी ' 'शैली अने स्वरूप' पृ० ७९, १९६० ।
(आ) श्री अनन्तराम रावल 'साहित्य विहार' पृ० १९९' १९५९ ।
(इ) श्री जयति दलाल 'जवनिका' 'नेपथ्य' पृ० १, १९४? ।
(ई) श्री गुलाबदास ब्रोकर गुजरातीना एकाकी' पृ० ६, १९५८ ।

वटुभाई की कृतियाँ पौराणिक एवं सामाजिक विषयों से सम्बन्धित हैं। परन्तु प्रेम, कामवृत्ति एवं नारी भावना सर्वत्र उभर आई है। वटुभाई को फ्रॉयड के मनोविश्लेषण के सिद्धान्त ने भी प्रभावित किया है। उसका प्रभाव कहीं-कहीं इनकी रचनाओं पर पड़ा है। इनके नाटकों का संवाद सौष्ठव विशेष उल्लेखनीय है। ये वस्तु-संकलना तथा नाटकीय संघर्ष एवं सक्रियता का पूरी तरह निर्वाह नहीं कर पाये हैं। पहले एकांकीकार होने के कारण वटुभाई के समक्ष कोई गुजराती कृति आदर्श रूप में नहीं थी। फलतः उन्हें स्वयं अपना मार्ग निर्माण करना पड़ा। इसलिए उनके नाटकों में कलागत सौंदर्य पूरी तरह नहीं निखर पाया है। उनमें न प्रतिपाद्य हेतु स्पष्ट हो सका है और न शैली-शिल्प में परिपक्वता आन पाई है। इनके एकांकी न लक्ष्य-साधक हैं और न प्रभावपूर्ण हैं और उनमें अभिनेयता का भी अभाव है। यह सब होते हुए भी वटुभाई के एकांकियों की ऐतिहासिक महत्ता असंदिग्ध है।

यशवंत पंड्या

शॉ, इब्सन और ऑस्कर वाइल्ड से प्रभावित यशवंत पंड्या गुजराती नाट्य क्षेत्र में वटुभाई के समकालीन एवं समकक्ष हैं। वटुभाई की रचनाओं में जो त्रुटियाँ दृष्टिगत होती हैं, उनका परिहार इनके एकांकियों में होता हुआ प्रतीत होता है।

यशवंत पंड्या के पहले एकांकी 'फाँफवा' (१९२५) में एक अंक और एक दृश्य है। उसमें सुसंकलित एवं सुशृंखलित वस्तु-विन्यास है। यह गुजराती का सर्वप्रथम सफल एकांकी है।[1] उसमें कार्य-साधक, पात्र-सृष्टि, सुन्दर संवाद-योजना और चमत्कारयुक्त अंत है। उसके अतिरिक्त 'मदन मंदिर' पंड्याजी का पौराणिक एकांकी संग्रह है, जो आधुनिकता के अधिक समीप है। इन कृतियों में उनकी नजर ऊपरी सतह पर टिकी हुई है, वे गहराई तक नहीं पहुँच पाये हैं। परन्तु इनके बाल-नाटक 'घर दीवड़ी' और 'त्रिवेणी' में 'मदन मन्दिर' की अपरिपक्वता नहीं रहने पाई है। उन नाटकों में हृदय की उदात्तता और भावों की निर्मलता है। पंड्याजी का अन्य उल्लेखनीय एकांकी संग्रह 'शरतना घोडा' है। नाट्योचित संवाद-संयोजन स्वाभाविक वस्तु संकलना, कौतूहलवर्द्धक, कार्य व्यापार, चमत्कारपूर्ण अंत और उच्चकोटि की कलात्मक दृष्टि के कारण यशवंत ने गुजराती एकांकी साहित्य में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया है।

प्राणजीवन पाठक

वटुभाई और यशवंत पंड्या के समकालीन प्राणजीवन पाठक हैं, जो उन्हीं की परंपरा में परिगणित होते हैं। उन्होंने 'अनुपम अने गोरी', 'रुद्र मुख अने रजना' तथा 'हिमकान्त' नामक एकांकियों की रचना १९२५ ई० में की। तदंतर 'अनंता' इनका अत्यन्त प्रसिद्ध दीर्घ एकांकी है। पाठकजी की कृतियों पर इब्सन का प्रभाव अधिक स्पष्ट है। 'अनंता' बहुत ऊँची साहित्य कृति है, जिसमें भावप्रवणता तथा शैलीगत सुन्दरता का सुभग संयोग हुआ है। इनकी रचनाओं में दृश्य बाहुल्य रहता है, जो वस्तु-विन्यास को शिथिल बना देता है। पाश्चात्य यथार्थवादी एकांकी शैली के पुरस्कर्ताओं में पाठकजी भी सदैव स्मरणीय रहेंगे।

---

१ (अ) श्री गुलाबदास ब्रोकर 'गुजरातीना एकांकी', पृ० १०।
(आ) श्री चुन्नीलाल मडिया 'श्रेष्ठ नाटिकाओ', १९५६, पृ० ४।

उमाशंकर जोशी

गुजराती एकाकी का उत्कृष्ट रूप कवि उमाशंकर जोशी के यथार्थवादी एकाकियो के सग्रह 'सापना भारा' (१६३२) मे दृष्टिगोचर होता है। इसमे ग्रामीण सामाजिक जीवन की विकृतियो और विरूपताओ के अत्यन्त वास्तविक चित्र अंकित हुए हैं। 'सापना भारा', 'बारणे टकोरा' 'खेतरने खोले', 'कडलाँ' इत्यादि सभी एकांकियों मे जोशीजी की पैनी दृष्टि, गहरी सूझ, अप्रतिभ सर्जन शक्ति तथा उत्कृष्ट कला का पूरा परिचय प्राप्त होता है। इनका प्रेरणा स्रोत ग्रामीण जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव है। जोशीजी ने अत्यन्त समभाव तथा सहानुभूतिपूर्वक पात्रो की सृष्टि की है और बडी ईमानदारी के साथ देहाती समाज को उसकी सारी कमजोरियो के साथ बहुत ही कलात्मक ढग से पेश किया है। इन कृतियो मे ग्राम-जीवन के कृष्णपक्ष की अतीव करुण कहानी अंकित है, अत ये करुणान्तिकाओ के अधिक समीप हैं। इन सबका अत बहुत ही हृदयस्पर्शी एव विचार-प्रेरक है। पाठक या दर्शक को ये बडे जोरो से झकझोर देती हैं और उसे नये सिरे से सोचने को विवश कर देती हैं। 'सापना भारा' की सभी कृतियो मे सुश्लिष्ट वस्तु सकलना, सुरेख चरित्रांकन, उपयुक्त वातावरण, पात्रानुरूप कथोपकथन तथा नाट्योचित सघर्ष सृष्टि है। जोशीजी के इन नाटको की एक और विशेषता उल्लेखनीय है। वह है ग्रामीण बोली का अत्यन्त स्वाभाविक प्रयोग। गुजराती एकाकी साहित्य मे जोशीजी ही ने सर्वप्रथम देहाती समाज और उसकी बोली का सुन्दर और स्वाभाविक प्रयोग किया है। वस्तुतः 'सापना भारा' के एकाकी उत्कृष्ट एकाकी कला का आदर्श उपस्थित करते हैं। सन् १९५१ मे उमाशकर जोशी के 'शहीद' नामक अन्य एकाकी सग्रह का प्रकाशन हुआ। उसमे विषय-वस्तु और शैली-स्वरूप की दृष्टि से पर्याप्त वैविध्य है। परन्तु वह पुरोगामी सग्रह की उच्च कक्षा प्राप्त नही कर सका है।

जयति दलाल

रगमचीय और साहित्यिक दोनो दृष्टियो से उत्कृष्ट कोटि के यथार्थवादी एकाकी-नाटको के स्रष्टा जयति दलाल हैं। इन्होने १९३३-३४ म नाट्य-रचना का प्रारम्भ किया। १९४० म इनका पहला सग्रह 'जवनिका' नाम से प्रकाशित हुआ। तदतर 'पहली प्रवेश', 'बीजो प्रवेश' और 'त्रीजो प्रवेश' नामक तीन अन्य सग्रह प्रगट हो चुके हैं। इन सभी सग्रहो मे शहरी जीवन अपनी समस्त विचित्रताओ और विशेषताओ के साथ प्रत्यक्ष हुआ है। जयति दलाल ने अपनी असाधारण सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा अभिजात वर्ग के तथा उच्च शिक्षा प्राप्त मध्यवित्त वर्ग के दभ, आडम्बर, ईर्षा, कामुकता, प्रदर्शनप्रियता तथा सदेह-शीलता को बडे ही कौशल से नाटकीय रूप प्रदान किया है। इनके नाटक सामाजिक और राजनैतिक विषयो से सम्बन्धित हैं। उनमे विषय-वस्तु की विविधता चरित्र चित्रण की सूक्ष्मता तथा सवादो की चमत्कारिता है। इनके नाटको मे नाटकीय सघर्ष और कार्य व्यापार का पूरी तरह निर्वाह हुआ है। पात्रों का अत्यन्त सूक्ष्म मनोविश्लेषण जयति दलाल को सहज साध्य है। इनकी सबसे बडी विशेषता इनकी व्यग्यमूलक शैली है। बर्नार्डशॉ की तरह ये सामाजिक असगतियो और विकृतियो पर बडे ही करारे व्यग्य और तीखे कटाक्ष करते हैं। अपनी वक्रोक्तियों के द्वारा ये अपने एकाकियो मे तथाकथित उच्चवर्ग के खोखलेपन तथा ढकोसलो

का पर्दाफाश करते है। कभी-कभी उन उक्तियो मे हास-उपहास का भी पुट रहता है। इनकी इस व्यग्यात्मकता मे यदा-कदा अनभिप्रेत और अनावश्यक बुद्धि-चातुर्य या कटुता भी आ जाती है, जो इनकी नाट्य-कृतियो को तनिक क्षति पहुँचाती है।

जयति दलाल गुजराती के समर्थ प्रयोगकार हैं। इन्होने अत्यन्त सफलतापूर्वक नाट्य-शैली और स्वरूप के कई प्रयोग किये हैं। एकाकी के रचना शिल्प के विषय मे इनकी बहुत ही पैनी सूझ है। साथ ही इन्हे रगमच का भी निकट का बडा गहरा अनुभव है। फलत इनकी समस्त रचनाएं पूरी तरह अभिनेय हैं। उनमे विषय शिल्प और रगमच विषयक काफी वैविध्य, और नाविन्य दृष्टिगत होता है। निस्सदेह जयतिभाई के एकाकी गुजराती मे ध्रुवपद के अधिकार हैं।

चन्द्रवदन मेहता

अर्वाचीन नाटककारो म चन्द्रवदन मेहता का बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये अर्वाचीन अद्यतन गुजराती रगमच के स्रष्टा हैं।[1] सन् १९२० से इनका रगमच के साथ सक्रिय सम्बन्ध है। ये नाटककार के अतिरिक्त अभिनेता और दिग्दर्शक भी हैं। इन्होंने अपने अनवरत प्रयत्नो से गुजराती रगमच को व्यावसायिक नाटक मडलियो के दूषणो से मुक्त कर यथार्थवादी, स्वस्थ एव स्वच्छ धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। इस दृष्टि से चन्द्रवदन मेहता सदैव स्मरणीय रहेंगे। रगमच और अभिनय की आवश्यकता ने इन्हें १९२४-२५ से नाट्य-रचना की ओर प्रवृत्त किया। आज तक इनके कई एकाकी प्रकाशित हो चुके है। 'अखो, 'वरवहु अने बीजा नाटको' 'प्रेमनु मोती अने बीजा नाटको', 'रग भडार' इत्यादि इनके प्रसिद्ध एकाकी सग्रह है। 'धारा सभा' और 'देडकानी पाचशेरी' प्रहसन परपरा के उत्कृष्ट एकाकी हैं, जिनमे उन्मुक्त हास्य के साथ-साथ गभीर कटाक्ष भी समाविष्ट है। इनकी सभी रचनाएँ यथार्थवादी धरातल पर अवस्थित हैं और अभिनेयता के सर्व गुणो से सम्पन्न हैं। मेहताजी प्रयोगशील रचनाकार है। इन्होने रगमच की दृष्टि से अपनी रचनाओ मे कई नवीन प्रयोग किय हैं। इनकी विशिष्ट कृति 'प्रीतभई' मे एकाकी और रेडियो नाटिका की शैलियो का सुभग-समन्वय हुआ है। नाटक और रगमच के व्यवधान को दूर करने के इनके भगीरथ प्रयत्नो के फलस्वरूप गुजराती एकाकी का क्षेत्र आज अधिकाधिक व्यापक बना है। यह चन्द्रवदन मेहता का अविस्मरणीय योगदान है।

इन्दुलाल गाधी

गुजराती एकाकीकारो मे कवि-एकाकीकार के रूप मे इन्दुलाल गाधी विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं। सन् १९३१-३२ मे इन्होने नाटक लिखना प्रारम्भ किया। आज तक इनकी कई कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इनके विशेष उल्लेखनीय सग्रह 'नारायण अने बीजा नाटको' (१९३२), 'पलटना तेज अने बीजा नाटको' (१९३५), 'अधकार अने बीजा नाटको' (१९३७), 'गोमती चक्र अने बीजा नाटको' (१९४४), 'पथ्थरना पारेवा' (१९४९) वगैरह हैं। इन्दुलाल गाधी मूलत कवि है। अत इनकी सभी कृतियो म काव्यात्मकता तथा

---

१ श्री विजयराय कल्याणराय वैद्य। 'गुजरात साहित्य सभा कार्यवाही', सन् १९५५, पृ० ३८।

भावनाशीलता का विशेष पुट रहता है। इसके फलस्वरूप नाट्य-प्रवाह मे मदता आ जाती है और वस्तु सकलना मे सुश्लिष्टता का अभाव रहता है। इनकी कृतियो मे ग्राम-जीवन का यथार्थवादी वातावरण और ग्राम बोली का सुष्ठु प्रयोग उपलब्ध होता है। इस दृष्टि से इनकी कृतियाँ यथार्थवादी कही जा सकती है। इनके कतिपय एकाकी शहरी जीवन की समस्याएँ भी प्रस्तुत करते है। इन्दुलाल गाधी के कथानको मे नारी जीवन अधिक महत्त्व प्राप्त करता है। विवाह और दापत्य-जीवन की समस्याएं सर्वत्र उभर आई हैं। 'पगरखानो पालियो' इनका बहुत ही लोकप्रिय एकाकी प्रहसन है, जो कई बार सफलतापूर्वक खेला जा चुका है। नारायणी' मे गूगी नायिका साधन जो पार्ट अदा करती है, वह अत्यन्त हृदयगम है। इन्दुलाल गाधी के रचना-कौशल का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि सवादो की स्वाभाविकता और भाषा-शैली की मनोहारिता क कारण इनके एकाकियो की लोकप्रियता सदैव बनी रहेगी।

दुर्गेश शुक्ल

गुजराती नाट्य साहित्य मे गीति नाटको के प्रयोगकर्ताओ मे दुर्गेश शुक्ल का विशिष्ट स्थान है। इनका 'पृथ्वीना आसु' (१९४२) नामक गीति नाट्य बडी स्वाभाविकता से काव्यात्मकता और वास्तविकता को एक साथ अपने म समेटे हुए है। इस सग्रह के कुछ एकाकी प्रतीकात्मक शैली मे लिखे गये हैं। सस्कृति के सरक्षको की शोषणप्रियता तथा युद्धप्रियता को 'सुवर्ण घटनो रक्षक' और 'हैये भार' की प्रतीक योजना द्वारा बहुत ही कलात्मक ढग सेँ उपस्थित किया है। यथार्थ-जीवन की विषमताओ का चित्रण 'जीवतां मूएला', पडना पतीका', 'घरडी जुवानी' इत्यादि एकाकियो मे हुआ है। शुक्लजी के विषयो और नाट्य-स्वरूपो मे पर्याप्त वैविध्य है। इनकी कुछ नाट्य कृतियाँ ग्राम समस्याओ को वास्तववादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करती हैं। दुर्गेश शुक्ल सदैव मानवतावादी कलाकार रहे है। इनकी समस्त रचनाओ मे इनका मानवतावादी आदर्श मुखरित होता है। 'उत्सविका' सग्रह साप्रतिक समस्याओ पर प्रकाश डालता है।

चुनीलाल मडिया

नवोदित एकाकीकारो म चुनीलाल मडिया अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न एकाकीकार है। 'रगदा', 'विष विमोचन', 'रक्त तिलक' इत्यादि इनके सुप्रसिद्ध एकाकी सग्रह है। इनकी अधिकाश कृतियाँ सौराष्ट्र के ग्राम-जीवन से सम्बन्धित हैं। 'महाजन न खोरडे', 'खोटना छोरू', दीकरी नी मा', 'घूटडे घूटडे पी मा', 'शेर माटी', 'वाली मारी कोयल' इत्यादि एकाकियो मे इन्होने सौराष्ट्र के एक अचल की उसकी समस्त सुन्दरताओ और कुरूपताओ के साथ साकार किया है। मडिया लिखने के लिए नही लिखते। आतरिक अनिवार्यता से विवश होकर इनकी कृतियाँ नाट्यात्मक रूप ग्रहण करती है, यह तथ्य प्रत्येक एकाकी प्रमाणित करता है। इनके एकाकियो म सगठन-सौष्ठव है और हृदयस्पर्शी चित्रण है। मडिया का सौराष्ट्र की जन बोली पर असाधारण प्रभुत्व है। इनकी नाट्य-रचनाओ मे उसका बहुत स्वाभाविकता तथा सफलता के साथ प्रयोग हुआ है। उमाशकर जोशी के पश्चात् सभवत चुनीलाल मडिया ही जन बोली के सिद्धहस्त एकाकीकार हैं। इनकी कृतियाँ कलागत

समस्त सुन्दरताओं को अपनाये हुए हैं। वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण, संवाद-योजना, वातावरण सृष्टि, उद्देश्योद्घाटन इत्यादि सभी तत्वों में मडिया को बड़ी कामयाबी हासिल हुई है। ये मानव-मन के विश्लेषक हैं। चरित्रों के अन्तर्मन में प्रवेश कर उसके अज्ञात स्तरों को खोलना इन्हें सहज साध्य है। इनकी कृतियाँ अभिनेय हैं। ये अपने एकांकियों में सदैव लम्बे-लम्बे रंग संकेत देते हैं, ताकि अभिनेताओं को उन्हें खेलने में सरलता रहे। हमें मडिया से भविष्य में और अधिक उत्कृष्ट एकांकियों की आशा है।

शिवकुमार जोशी

शहरी जीवन की विविध अर्वाचीन समस्याओं को नाट्यात्मक रूप प्रदान करने वाले शिवकुमार जोशी ने एकांकी क्षेत्र में अत्यल्प अवधि में ही काफी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है। इन्होंने सन् १९५२ में अपना पहला एकांकी संग्रह 'पांख विनाना पारेवा अने बीजा नाटको' प्रकाशित किया। तदंतर 'अनंत साधना अने बीजा नाटको' नामक एकांकी संग्रह १९५५ में प्रगट हुआ। इनके अधिकांश नाटकों के विषय सामाजिक हैं। प्रेम, विवाह, कामवासना इत्यादि से सम्बन्धित 'सुजाता', 'मुक्त प्रसून', 'माटी पगा' इत्यादि एकांकी इनकी कारयित्री प्रतिभा का सम्यक् परिचय देते हैं। 'प्रसन्न दाम्पत्य' प्रसन्न दाम्पत्य-जीवन को चरितार्थ करता है। 'सूनी' एकांकी में स्वप्न नाटक का सफल प्रयोग हुआ है। इनकी कतिपय रचनाएँ प्रहसन परंपरा का भी निर्वाह करती हैं। इनके नाटकों में विषयगत तथा शिल्पगत वैविध्य का अभाव नहीं है। ये स्वयं बड़े अच्छे अभिनेता हैं। अत: इनके सभी एकांकियों में अभिनेयता के गुणों का समावेश हुआ है। इनकी भाषा में सरसता, सरलता और स्वाभाविकता है। शैली प्रवाहमान तथा प्रभावोत्पादक है और संवाद मधुर एवं मार्मिक हैं। इनका दृष्टिकोण अधिक रोमांटिक है। अत: इनके पात्रों में प्रणयकांक्षा तथा कामपिपासा उभर आती है। सांप्रतिक शहरी जीवन के सभी पहलुओं का वैविध्यपूर्ण निरूपण शिवकुमार जोशी के एकांकियों का सबल अंश है।[1]

गुजराती के अन्य उल्लेखनीय एकांकीकार ये हैं: रमणलाल वसंतलाल देसाई, रामनारायण पाठक, धूमकेतु, कृष्णलाल श्रीधराणी, धनसुखलाल मेहता, गुलाबदास ब्रोकर उमेश कवि, यशोधर मेहता, करसनदास माणेक, रंभाबेन गांधी, भास्कर वोरा, पुष्कर चंदरवाकर इत्यादि। इन सबके सुन्दर एकांकी संग्रह उपलब्ध होते हैं, जिनमें पर्याप्त विविधता और विशेषता है। शिल्प-शैली के कई नवीन प्रयोग आधुनिक गुजराती एकांकियों में दृग्गोचर होते हैं। वस्तुत: आधुनिक गुजराती एकांकी एकांकी कला के उत्कृष्ट रूप को प्रगट करते हैं।

हिन्दी गुजराती एकांकियों का तुलनात्मक अध्ययन

समस्त भारतीय भाषाओं के आधुनिक एकांकी पाश्चात्य एकांकियों के अनुवर्ती हैं। उनका प्रारंभ भी पश्चिमी एकांकी साहित्य की प्रेरणा से हुआ है। जैसा कि पूर्ववर्ती पृष्ठों में निर्देश किया जा चुका है, हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के आधुनिक एकांकी साहित्य

१. श्री गुलाबदास ब्रोकर : 'गुजरातीना एकांकी' पृ० २२

रामकुमार वर्मा के 'अधकार' मे प्रेम, वासना और सयम की विवेचना की गई है। गुजराती एकाकीकार वटुभाई उमरवाडिया और यशवत पड्या ने अपने पौराणिक एकाकियो मे प्रेम और वासना के यथार्थ चित्र प्रस्तुत किये हैं। इनमे आदर्शोद्घाटन की प्रवृत्ति नही है। अपने 'उत्सर्ग' मे रामकुमार वर्मा जी ने बुद्धि पर हृदय की विजय प्रदर्शित की है। चुनीलाल मडिया का 'विषविमोचन', एकाकी श्रमण, गोमा, माडव्य, भद्रत इत्यादि पात्रो द्वारा यह आदर्श चरितार्थ करता है कि विषविमोचन का एकमात्र उपाय सत्य कथन है। हिन्दी 'उत्सर्ग' और गुजराती 'विषविमोचन' मे विषय साम्य नही है। कलागत सौन्दर्य समान रूप से प्रगट हुआ है।

हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओ के एकाकियो मे कतिपय विषयो मे समानता है। यथा गुजराती के रमणलाल देसाई कृत 'महाशिवरात्रि' मे और हिन्दी के विष्णु प्रभाकर कृत शिवरात्रि' मे हरिणो के द्वारा महाशिवरात्रि के पवित्र त्यौहार के दिन शिकारी के हृदय-परिवर्तन की प्रसिद्ध कथा अकित है। वटुभाई उमरवाडिया की कृति 'मत्स्यगंधा अने गागेय' और उदयकर भट्ट के एकाकी 'मत्स्यगधा' मे विषय, पात्र और उद्देश्य मे पूर्णत समानता है। इसी प्रकार श्रीराम शर्मा ने अपने हिन्दी एकाकी 'जलदान' मे और रवीन्द्र ठाकुर ने अपने सगीत रूपक 'कर्णकुती मे दानवीर कर्ण तथा माता कुती के महाभारत के युद्ध मे मिलन की मर्मस्पर्शी घटना को नाट्यात्मकता प्रदान की है। दोनो भाषाओ के भावनाट्य राधा' और 'प्रेमनु मोती' मे राधा का प्रेम समान रूप से प्रगट हुआ है और एकसा शैली-शिल्प है। आलोच्य भाषाओ की अन्य कृतियो मे विषय की दृष्टि से बहुत भिन्नता है। उनके कलापक्ष मे समानता अवश्य है। अत मे यह उल्लेख्य है कि पौराणिक वस्तु को लेकर दोनो भाषाओ मे बहुत कम एकाकी लिखे गये हैं।

'ऐतिहासिक एकाकी'

हिन्दी और गुजराती के ऐतिहासिक एकाकियो मे ऐतिहासिक प्रसगो और पात्रो की सहायता से वर्तमान जनजीवन मे सास्कृतिक चेतना जगाने का लक्ष्य दृष्टि समक्ष रखा है। कुछ एकाकी ऐसे भी है, जो अतीत के उज्ज्वल चरित्रो को आदर्श रूप मे प्रस्तुत करते है। कतिपय एकाकी वर्तमान युग की विविध समस्याओ को उभारते है।

हिन्दी मे ऐतिहासिक एकाकी-लेखको मे रामकुमार वर्मा का नाम मूर्द्धन्य है। उन्हे प्राचीन भारतीय सस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा और भव्य ऐतिहासिक पात्रो के प्रति ममता एवम् आकर्षण है। 'उनका प्रत्येक एकाकी ऊँची मानवीय भावनाओ से ओत-प्रोत है, पर सभी की पृष्ठभूमि भारतीय सस्कृति है।'[1] रामकुमार वर्मा के समान गुजराती मे कोई ऐतिहासिक नाटककार नही होता।

हिन्दी मे जो ऐतिहासिक एकाकी उपलब्ध होते हैं, उनमे प्रचुर मात्रा मे वैविध्य है। भारतीय इतिहास के लगभग सभी युगो से सम्बन्धित रचनाएँ हिन्दी मे प्राप्त होती है। भगवान बुद्ध के जीवन और सिद्धान्तो के आधार पर सद्गुरुशरण अवस्थी ने 'महाभिनिष्क्रमण', भारतभूषण अग्रवाल ने 'पलायन', आरसीप्रसादसिंह ने 'पुर्नमिलन', हजारीप्रसाद द्विवदी 'सुदिन्य' और राघी ने 'बुद्ध की घाटी' की रचना की है। इन कृतियो मे

---

१ डॉ सत्येन्द्र: 'साहित्य सन्देश' अक्तूबर १९५२।

भगवान बुद्ध के जीवन प्रसगो के साथ-साथ उनके गभीर सिद्धान्तो और आदर्शों का भी निरूपण हुआ है। 'पलायन' मे लेखक ने महाभिनिष्क्रमण को पलायनवादी कार्य माना है। इसमे तथागत के अतर्द्वन्द्व का सूक्ष्मता से चित्रण है। बौद्धयुग से लगाकर हर्षवर्द्धन के समय तक की कालावधि भारतीय इतिहास मे 'स्वर्णयुग' के नाम से अभिहित होती है। वह हमारे महान सास्कृतिक उत्थान का समय है। इस युग से सम्बन्धित हिन्दी मे कई नाटक मिलते हैं। रामकुमार वर्मा कृत 'समुद्रगुप्त पराक्रमाक', समुद्रगुप्त की न्यायप्रियता की भाकी प्रस्तुत करता है। उनके 'विक्रमादित्य' मे राजा विक्रमादित्य के उज्ज्वल चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। 'चारुमित्रा' मे चारुमित्रा की देशभक्ति एवम् स्वामी-भक्ति और 'कौमुदी महोत्सव' म मौर्ययुगीन गौरव एवम् गरिमा का चित्रण है। इसके अलावा इनके 'स्वर्णश्री', 'कादम्ब या विष', 'विक्रमार्चन' इत्यादि अन्य एकाकियो के कथानको का इसी काल से सम्बन्ध है। इन सब कृतियो मे वर्माजी ने राष्ट्रीयता, देश-प्रेम, इत्यादि आदर्शों को प्रस्तुत किया है और साथ ही पात्रो के अतर्द्वन्द्व को बडी ही सफलता से चित्रित किया है। 'चारुमित्रा' तो रामकुमार वर्मा के उत्कृष्ट एकाकियो मे से एक है, जो चारुमित्रा के पात्र द्वारा सेवा और समर्पण के आदर्श को प्रत्यक्ष करता है। विक्रम के चरित्र पर डॉ सत्येन्द्र ने 'विक्रय का आत्ममेध' एकाकी लिखा है। इसमे बाह्यद्वन्द्व एवम् अतर्द्वन्द्व के सजीव चित्रण के साथ आत्मबलिदान का आदर्श प्रगट हुआ है। वैकुंठनाथ दुग्गल ने 'राष्ट्रधर्म' नामक अपने नाटक मे यह प्रतिपादित किया है कि महाराजा हर्ष का युग शाति और अहिंसा की उपासना का युग था। उस युग का यह आदर्श आज 'राष्ट्रधर्म' बन सकता है। हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म के सघर्ष को 'अजेय भारत' मे प्रत्यक्ष किया गया है। दुग्गलजी की यह रचना अपेक्षाकृत उत्कृष्ट है। मौर्ययुगीन नाटको मे जगदीशचन्द्र माथुर का 'कलिंगविजय' विशेष उल्लेखनीय है। इसमे अत्यत कुशलता से कलिंग-विजय के पश्चात् अशोक की प्रणयलीला और वैराग्य भावना का दिग्दर्शन कराया गया है। स्कन्दगुप्तयुगीन एकाकी 'भोर का तारा' मे माथुरजी ने गुप्त कालीन वातावरण को चित्रित कर देश के लिए समर्पण करने की युगभावना प्रगट की है।

अशोक के जीवन से सम्बन्धित हिन्दी मे विंध्याचल गुप्त कृत 'सम्राट् अशोक' और विष्णु प्रभाकर कृत 'अशोक' एकाकी उपलब्ध होते हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी ने अशोक की तीन सतानो पर तीन एकाकी लिखे हैं सघमित्रा पर 'सघमित्रा', महेन्द्र पर 'सिंहविजय' और कुणाल पर 'नेत्रदान'। इनमे चरित्रोत्कर्ष की भावना निहित है।

गुजराती मे मौर्यवश, गुप्तवश और हर्षवर्धन के वश से सम्बन्धित कोई उल्लेखनीय घटना-प्रधान या चरित्र-प्रधान एकाकी नही लिखा गया है। बौद्ध युग को साकार करने वाला गुजराती एकाकी 'प्रज्ञा' यहाँ विशेषत उल्लेखनीय है। इसके रचयिता दुर्गेश शुक्ल ने प्रज्ञा नायिका द्वारा नारी-जीवन के उत्थान-पतन की कहानी अकित की है। प्रज्ञा वारांगना है। अखड भिक्षु अपने व्यक्तित्व तथा उपदेशो से उसका जीवन-परिवर्तन करता है। तदन्तर वही विचलित होकर उसे विपथगामी बनाना चाहता है। पर प्रज्ञा अपने शान्त, निर्मल चरित्र से अखड भिक्षु को सन्मार्ग पर लाती है। इस कृति मे प्रज्ञा और अखड का बडा ही सुन्दर मनोविश्लेषण हुआ है। चुनीलाल मडिया ने मगध साम्राज्य के जैन-धर्मावलबी महाराजा श्रेणिक के मरण की करुण घटना पर आश्रित 'सम्राट श्रेणिक' नामक गुजराती एकाकी का प्रणयन किया है। इस कृति की यह विशेषता है कि इसमे इसके नायक महाराजा श्रेणिक प्रारम्भ से अन्त तक आते नहीं हैं, फिर भी कथानक के विकास मे उनकी उपस्थिति सर्वत्र अनुभूत होती

चरित्र प्रधान एकांकी है। चन्द्रवदन मेहता के 'ग्रमरफल' में राजा भर्तृहरि और रानी पिंगला की सुप्रसिद्ध कहानी और 'आणलदे' में सौराष्ट्र के देवरा और आणलदे की प्रणयकथा को नाटकीय रूप प्रदान किया गया है। चन्द्रवदन मेहता के इन सभी ऐतिहासिक नाटकों के वस्तु विन्यास में सजीवता, चरित्रांकन में स्वाभाविकता तथा भाषा-शैली एवम् संवादों में रोचकता है। ये सभी अभिनेय हैं।

कवि नर्मद के बहुअंकी गुजराती नाटक 'कृष्णा कुमारी' की ही कथावस्तु को रामकुमार वर्मा कृत 'कलंक रेखा' और सेठ गोविन्ददास कृत 'कृष्णाकुमारी' नामक हिन्दी एकांकियों में समाविष्ट किया गया है। हरिकृष्ण प्रेमी का 'विषपान' भी कृष्णाकुमारी के चरित्र पर प्रकाश डालता है।

इन सभी हिन्दी और गुजराती के ऐतिहासिक एकांकियों के इस अन्तरंग दर्शन के बाद हम निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि हिन्दी में अपेक्षाकृत बहुत अधिक ऐतिहासिक एकांकियों का प्रणयन हुआ है। दोनों भाषाओं के इन एकांकियों में न विषयों में अधिक साम्य है और न चरित्रों में ही विशेष समानता है।

है। यह गुजराती का एक श्रेष्ठ एकांकी है। तदनंतर मडिया ने अपने 'अभिषेक' एकांकी में विन्ध्यगिरि निवासिनी गुल्लिकायजी बुढ़िया व भगवान बाहुबलि की श्रद्धा तथा भक्ति द्वारा दूध चढ़ाने के प्रसंग को नाटकीय रूप देकर यह प्रतिपादित किया है कि हृदय की निर्मल भावना ही अन्ततोगत्वा विजयिनी है। इसके उपरान्त चुनीलाल मडिया के 'वस्त्रार्थ' नाटक में भगवान महावीर की ज्ञान-प्राप्ति को नाट्यात्मकता प्रदान की गई है। मडिया के नाटक वस्तु विन्यास, चरित्रांकन तथा संघर्षोद्घाटन की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। हिन्दी एकांकियों में कहीं इस प्रकार की जैन धर्माश्रित घटनाएँ और चरित्र दृष्टिगत नहीं होते।

हिन्दी एकांकी-लेखकों को छत्रपति शिवाजी के तेजस्वी व्यक्तित्व ने आकृष्ट किया है। रामकुमार वर्मा ने अपने 'शिवाजी' एकांकी में विभिन्न ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा शिवाजी के देशानुराग, मातृभक्ति सच्चरित्रता, शौर्य इत्यादि विशेषताओं को उजागर किया है। सेठ गोविन्ददास कृत 'शिवाजी का सच्चा स्वरूप' में भी शिवाजी के उपर्युक्त गुण प्रगट हुए हैं। मुगल-युग के ऐतिहासिक चरित्रों में से औरंगजेब पर रामकुमार वर्मा का "औरंगजेब की आखिरी रात" नामक अत्यन्त सुन्दर और सुप्रसिद्ध नाटक है। मेहरुन्निसा के प्रणयवृत्त पर आधृत लक्ष्मीनारायणलाल ने 'नूरजहाँ की एक रात' और धर्मवीर भारती ने 'संगमरमर पर एक रात' की रचना की है। इसी संदर्भ में लक्ष्मीनारायणलाल के "जहाँआरा का स्वप्न' और 'ताजमहल के आँसू' तथा हरिकृष्ण प्रेमी का 'हुस्न की जंजीरें' विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सब कृतियों में नारी हृदय की कोमल भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। उनका मनोविश्लेषण उत्कृष्ट कोटि का है। महारानी लक्ष्मीबाई की शक्ति और वीरता को देवराज दिनेश का 'अमर वीरांगना' नाटक साकार करता है। रामकुमार वर्मा के 'दुर्गावती' में भी नारी का शक्ति-रूप प्रगट हुआ है। भुवनेश्वरकृत 'सिकंदर', 'अकबर' और 'चंगेजखां' प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों को तत्कालीन वातावरण के साथ प्रस्तुत करते हैं।

गुजराती में हिन्दी नाटकों के उपरिनिर्दिष्ट विषयों को नहीं अपनाया गया है। उनके स्थान पर भारत के इतिहास के कतिपय अन्य अंशों तथा गुजरात के इतिहास से संबद्ध विशिष्ट पात्रों और प्रसंगों का नाटकों में गुम्फित किया गया है। दुर्गेश शुक्ल ने अपने 'छेल्लो चिराग' एकांकी में दिल्ली के आखरी मुगल बादशाह बहादुरशाह की कारावास की कहानी अंकित की है और उसके विशिष्ट व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला है। इनके अन्य एकांकी 'अमीचन्द' में सिराजुद्दौला को हराने के लिए अमीचन्द द्वारा किये गये उस षड्यन्त्र का वर्णन है, जिसके फलस्वरूप बंगाल की बरबादी हुई। रामकुमार वर्मा कृत 'औरंगजेब की आखिरी रात' के औरंगजेब की अन्तर्पीडा की तरह इस एकांकी के अमीचन्द की अन्तर्पीडा का बड़ा ही अच्छा प्रकाशन हुआ है। अंग्रेजों ने हमारे भारतीय इतिहास को विकृत रूप में पेश किया है। भारतीय इतिहास के उज्ज्वल नट रत्नों को बागी या गद्दार घोषित किया गया है। आज सिराजुद्दौला नाना साहब, हैदरअली, टीपू सुलतान इत्यादि हमसे इन्साफ चाहते हैं। यह कल्पना दुर्गेश शुक्ल के 'एक स्वप्न' में मूर्त्तरूप हुई है। जयभिक्खुकृत 'पन्नादाई' में मेवाड की पन्ना दाई का त्याग और समर्पण की अमर कहानी अमिट है।

गुजरात के इतिहास से सम्बन्धित चन्द्रवदन मेहता के तीन एकांकी उपलब्ध होते हैं, 'मुजफ्फर शाह' 'संध्याकाल' और 'प्रभात चावड़ो'। 'मुजफ्फर शाह' में गुजरात के बादशाह मुजफ्फर शाह की सहृदयता एवं उदारता के हृदयस्पर्शी प्रसंग चित्रित हैं। 'संध्याकाल' एकांकी गुजरात के अन्तिम राजा करण वाघेला का करुण इतिवृत्त प्रस्तुत करता है। 'प्रभात चावड़ो

चरित्र-प्रधान एकाकी है। चन्द्रवदन मेहता के 'श्रमरफल' में राजा भर्तृहरि और रानी पिंगला की सुप्रसिद्ध कहानी और 'आगलदे' मे सौराष्ट्र के देवरा और आगलदे की प्रणयकथा को नाटकीय रूप प्रदान किया गया है। चन्द्रवदन मेहता के इन सभी ऐतिहासिक नाटको के वस्तु विन्यास मे सजीवता, चरित्राकन मे स्वाभाविकता तथा भाषा-शैली एवम् संवादो मे रोचकता है। ये सभी अभिनेय हैं।

कवि नर्मद के बहुअंकी गुजराती नाटक 'कृष्णा कुमारी' की ही कथावस्तु को रामकुमार वर्मा कृत 'कलक रेखा' और सेठ गोविन्ददास कृत 'कृष्णाकुमारी' नामक हिन्दी एकाकियो मे समाविष्ट किया गया है। हरिकृष्ण प्रेमी का 'विषपान' भी कृष्णाकुमारी के चरित्र पर प्रकाश डालता है।

इन सभी हिन्दी और गुजराती के ऐतिहासिक एकाकियो के इस अन्तरग दर्शन के बाद हम निष्कर्ष रूप मे यह कह सकते है कि हिन्दी मे अपेक्षाकृत बहुत अधिक ऐतिहासिक एकाकियों का प्रणयन हुआ है। दोनो भाषाओ के इन एकाकियो मे न विषयों में अधिक साम्य है और न चरित्रो में ही विशेष समानता है।

'सामाजिक एकांकी'

हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओ मे विषय की दृष्टि से सामाजिक एकाकियो का क्षेत्र अतिशय व्यापक है। व्यक्ति और समाज के सभी पहलू इसके परिवेश मे आ जाते है। किन्ही एकांकियो मे विभिन्न सामाजिक समस्याओं को उभारा गया है, तो किन्ही मे स्त्री और पुरुष के यौन-संबध पर प्रकाश डाला गया है। कुछ एकाकी-लेखक ऐसे हैं, जो परपरागत सामाजिक आदर्श उपस्थित करते हैं और कतिपय एकाकीकार व्यक्ति की विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियो द्वारा सर्जित कुठाओ तथा ग्रन्थियों को खोलने का प्रयत्न करते हैं। आधुनिक एकाकियो मे समाजगत परंपराओ और रूढियो पर व्यंग्य और कटाक्ष भी किये जाते है और उसी के साथ प्रहसनात्मक शैली में उनकी खिल्ली भी उड़ाई जाती है। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी और गुजराती सामाजिक एकाकियो मे पर्याप्त व्यापकता और विविधता है।

'सामाजिक कुप्रथाएँ'

आज सामाजिक कुप्रथाएँ व्यक्ति के सर्वदेशीय विकास को अवरुद्ध कर रही हैं। पुरानी रूढियाँ तथा परपराएं व्यक्ति की प्रगति मे बाधक है। इस तथ्य का उद्घाटन रामकुमार वर्मा, उदयशकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर इत्यादि हिन्दी एकाकीकारो ने और उमाशंकर जोशी, जयन्तिदलाल, चुनीलाल मडिया, शिवकुमार जोशी आदि गुजराती एकांकीकारों ने अपनी कृतियों मे किया है।

हिन्दी मे रामकुमार वर्मा के 'एक तोले अफीम मे' शिक्षित लड़के के गंवार लड़की से विवाह और दहेज के सामाजिक प्रश्न को नाटकीय रूप दिया गया है। विष्णु प्रभाकर कृत 'सस्कार और भावना' मे अन्तर्जातीय विवाह और रूढियो की पुजारिन माता के सघर्ष को दिखाया है। लक्ष्मीनारायण लाल ने 'मड़वे का भोर' मे एक ग्रामीण परिवार के उस कड़वे भोर को बताया हैं, जब घर की लड़की दूसरे के घर अन्तर्वेदनाओं को लिये विदा होती है।

विश्वभर 'मानव' के 'सकीर्ण' मे विवाह की कुरीतियो, कृत्रिम सामाजिक मानदडो और विनाशकारी परपराओ पर बेधक प्रकाश डाला गया है। उनका 'दो फूल' कुलीनता की समस्या उभारता है। बृहस्पति के 'सासबहू' मे पारिवारिक विसवादिता को प्रत्यक्ष किया गया है। 'दड' विधवाओं की दयनीय स्थिति का चित्र है। हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने 'सेवामन्दिर' मे उसी विषय को नाट्यात्मकता प्रदान की है। दहेज प्रथा ने कई घरो को उजाड दिया। इस हत्यारी कुप्रथा का यथार्थ रूप हमे सत्येन्द्र के 'बलिदान' मे उपलब्ध होता है। 'पीले हाथ' म वृन्दावनलाल वर्मा ने सामाजिक एव व्यक्तिगत स्वार्थो पर प्रहार किया है। सद्गुरुशरण अवस्थी न 'वे दोनो' मे प्रकाशान्तर से परपरागत विवाह प्रथा पर व्यग्य किया है।

उपर्युक्त विवाह सम्बन्धी सभी सामाजिक समस्याओ ने गुजराती नाटकारो को भी नाट्य-रचना के लिए प्रवृत्त किया है। अनमेल विवाह, दाम्पत्य-जीवन की विसवादिता, पारिवारिक कलह आदि जटिल प्रश्न गुजराती सामाजिक नाटको मे उभर आये है। पन्नालाल पटेल के 'जमाई राज' मे पारिवारिक कुचक्र और वैवाहिक जटिलता का निरूपण है। 'बाँकडे' मे जयति दलाल ने वृद्ध विवाह पर कटाक्ष किया है। 'चाँल्लो' मे वह विवाह के समय सगे-सम्बन्धियो से वसूल किये जाने वाले धन की निंदा करते हैं। शिवकुमार जोशी कृत 'माटीपगा' मे विधवा समस्या को प्रत्यक्ष किया गया है। समाज मे आज भी कन्या का जन्म अनाहूत एव अनिच्छनीय है। पुत्र जन्म पर परिवार आनन्द का अनुभव करता है और पुत्री के पैदा होते ही सब नाक-भौं सिकोडने लगते है। इस सामाजिक विषमता को उभारकर जोशी ने 'शल्या' मे नाटकीय रूप दिया है। उनके 'उडण चकरलडी' मे भी सामाजिक समस्या का अकन है। समाज मे स्त्री का कोई स्थान नही है। स्त्री के प्रति किये जाने वाले अन्यायो का चुनीलाल मडिया कृत 'गदुनीपा' मे दर्शन होता है। जयति दलाल ने अपने एकाकी 'गुलाब अणे मोगरो' मे दाम्पत्य-जीवन की विसवादिता को नाट्यात्मकता प्रदान की है।

एक जमाना था जब हमारे देश म अतिथि देव की तरह पूजे जाते थे। किन्तु आज आर्थिक सघर्षो और पारिवारिक समस्याओ के कारण अतिथि प्रथा ने एक दूषण का रूप धारण कर लिया है। आज मेहमानो की आवभगत करना कम से कम शहरो मे तो किसी तरह सम्भव नही है। इस बात को उदयशकर भट्ट ने 'नये मेहमान' और 'दो अतिथि' मे स्पष्ट किया है। उपेन्द्रनाथ अश्क के 'जोक' मे भी मेहमानो का उपहास किया गया है। प्रभाकर माचवे का 'मकान मेहमान' भी इसी से सम्बन्धित है। गुजराती म उमाशकर जोशी ने मेहमान की समस्या को 'बारणे टकोरा' मे उठाया है और बडे ही मनोवैज्ञानिक ढग से निरूपित किया है। सम्मिलित परिवार आज जटिल सामाजिक समस्या है। इसने पारस्परिक वैमनस्य, परिवारिक अशाति, आत्म हत्या, ईर्षा, द्वेष इत्यादि दूषणो को पैदा किया है। आज सभी एक स्वर से यह घोषणा करते हैं कि अविभक्त परिवार गृह-कलह का मूल है। इस समस्या को विष्णु प्रभाकर ने 'बँटवारा' मे और अश्क ने 'सूखी डाली' और 'पापी' मे अकित किया है। बृहस्पति का 'सास बहू' इसी समस्या को उजागर करता है।

इस सम्मिलित परिवार की समस्या ने कई गुजराती एकाकी लेखको को आकृष्ट किया है। रमणलाल वसतलाल देसाई कृत 'अग्नि स्नान' गृह-कलह का विषादपूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। गुलाबदास ब्रोकर ने 'माँ' मे माता और पुत्र की अनबन सयुक्त परिवार की समस्या के रूप मे पेश की है। 'पडना पडघा' मे चुनीलाल मडिया ने उस माँ के सन्निपात को प्रदर्शित किया है, जिसका प्रिय पुत्र विवाह होने पर पत्नी का बन जाता है।

'यौन समस्याएँ'

इब्सन, शॉ, गाल्सवर्दी इत्यादि के यथार्थवादी समस्या नाटको का प्रभाव हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओ के एकाकियो पर पडा है। समस्या के नाटको की मूल समस्या काम-वासना (Sex) है। यौन-विकार से ग्रस्त पुरुष और स्त्रियाँ जो असयमित एव असामाजिक व्यवहार करती हैं, उसका अत्यन्त यथार्थ चित्रण आधुनिक एकाकियो मे हुआ है। इस वर्ग के एकाकियो का सूत्रपात हिन्दी मे भुवनेश्वर के 'कारवाँ' से और गुजराती मे वटुभाई उमरवाडिया के 'मत्स्यगधा अने गागेय' से होता है।

भुवनेश्वर ने 'एक साम्य हीन साम्यवादी' मे एक ऐसे साम्यवादी का चित्र खीचा है, जो एक मजदूर स्त्री को अपनी वासना-तृप्ति का साधन बनाता है। 'शैतान' मे स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को कामवासना पर आधृत दिखाया है। 'प्रतिभा का विवाह' प्रेम और विवाह की कामजनित समस्या की विवेचना करता है। 'रोमान्स' मे एक भाई की तथाकथित बहिन के साथ रोमास की यथार्थ कहानी निरूपित है। इन एकाकियो मे विवाहितो का प्रणय त्रिकोण बनता है। रामकुमार वर्मा ने 'परीक्षा नाटक' मे २० वर्षीया युवती का ५० वर्ष के बूढे के साथ विवाह करवाकर जातीय विकार को उभारा है। 'रूप की बीमारी', '१८ जुलाई की शाम' इत्यादि इनके अन्य एकाकियो मे कामवृत्ति के रहस्यो को खोला गया है। सेठ गोविंददास कृत 'मानवमन'* कामग्रस्त मानवमन के अज्ञात स्तरों का उद्घाटन करता है। 'निर्माण का आनन्द' मे सेठजी ने एक ऐसे छात्र का चरित्राकन किया है, जो सहपाठिनी के सानिध्य के बिना अध्ययन नही कर सकता। यौन-समस्या को उदयशकर भट्ट ने भी अपने कतिपय नाटको मे प्रमुखता दी है। 'वर निर्वाचन' और 'आत्मदान' मे सुशिक्षित युवतियो के प्रणय प्रसगो का निरूपण है। उपेन्द्रनाथ अश्क के 'खिडकी' एकाकी मे प्रतिज्ञा करने वाले प्रेमी के मनोभावो को खोला है। 'उपचेतना का छल', 'प्रेम से पहले', 'सारस' इत्यादि एकाकियो मे विष्णु प्रभाकर ने कामवासना की प्रबलता और प्रधानता को यथार्थवादी शैली मे प्रतिपादित किया है। गणेशप्रसाद द्विवेदी कृत 'सुहाग बिन्दी', 'दूसरा उपाय ही क्या है', 'परदे का अपर पार्श्व', 'वह फिर आयी थी', 'सर्वस्व समर्पण', 'कामरेड' इत्यादि एकाकियो मे प्रेम और वासना के चित्र अकित हैं। प्रभाकर माचवे कृत 'ललित कला' 'क्लब', लक्ष्मीनारायणलाल कृत 'नयी इमारत', सत्येन्द्र शरत् कृत 'गुडबाई अनिता' इत्यादि एकाकी आधुनिक मनोवैज्ञानिक समस्याएँ चित्रित करते हैं।

गुजराती मे प्रेम, कामवासना और मानासिक कुठाओ से सम्बन्धित अनेक एकाकी उपलब्ध होते हैं। वटुभाई उमरवाडिया और यशवत पड्या के नाटको मे काम समस्या ने प्राधान्य प्राप्त किया है। उनके पौराणिक पात्र भी आधुनिक ढग के यौन-विकार से मुक्त नही है। वटुभाई कृत 'लोमहर्षिणी', 'अशक्य आदर्श', 'माला देवी' तथा यशवत पड्या कृत 'कुब-जाना कामण', 'झाकलनु मोती', तुलसी पूजा' इत्यादि कामवासना सम्बन्धी समस्यामूलक एकाकी हैं। तदन्तर जयती दलाल कृत 'अजन' मे नर्स के साथ उच्च वर्गीय व्यक्ति के काम-जनित सम्बन्ध को विषय वस्तु बनाया है। ज्वलत अग्नि' मे गुलाबदास ब्रोकर ने विवाह की समस्या को मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। शिवकुमार जोशी के 'मुक्ति प्रसून' मे शरणार्थ नारी के साथ किये गये दुराचार की और अवैध पुत्र की समस्यामूलक घटना प्रस्तुत की है। इसका प्रधान विषय कामवासना है। उमाशकर जोशी ने 'अणनेत्री से' मे पुरुष की कामलोलुपता तथा स्त्री के प्रति दुर्व्यवहार का यथार्थ चित्र अकित किया है।

'कडला' मे उन्हो ने एक ग्रामीण युवती के साथ एक सोनी के द्वारा किये गये दुराचार की कथा निरूपित की है। एक विधवा बहू के साथ उसके ससुर द्वारा किये गये व्यभिचार की घटना ने 'सापना भारा' मे नाट्यात्मकता प्राप्त की है। चुनीलाल मडिया कृत 'दीकरीनीमा' मे ग्रामीण पुरुषो के चारित्रिक पतन को उभारा है। 'प्रो० पुलिन' मे यौनविकार और नारी स्वभाव का यथार्थवादी निरूपण है। 'शरबती मलमल' भी इसी परम्परा का एकांकी है। शिवकुमार जोशी के 'अनन्त साधना' मे प्रेम और कामवासना की प्रबलता को सुनीति, यदुनाथ इत्यादि पात्रो की सहायता से प्रत्यक्ष किया गया है।

'नारी समस्याएँ'

उपरिविवेचित नाटको मे पुरुष और स्त्री से सबधित कामवासना के विविध रूपो का प्रगटीकरण हुआ है। तदतर नारी-जीवन की कतिपय समस्याओ ने भी दोनो भाषाओ के सामाजिक नाटको मे प्रमुखता प्राप्त की है। नारी सदैव पुरुष के द्वारा प्रताडित और प्रपीडित रही है। परपरानुवर्तिनी नारी तो पुरुष के अत्याचारो को चुपचाप सहकर जिंदगी काट देती है। किन्तु आधुनिक नारी पुरुष के प्रति विद्रोह करती है। आधुनिक एकाकियो मे इन दोनो प्रकारो के नारी रूप दृष्टिगत होते हैं। तीसरे प्रकार की वे नारियाँ हैं, जो अपने व्यक्तित्व और चरित्र से अपने और पति के जीवन को सुदर और सवादी बनाती हैं। हिन्दी-गुजराती के एकांकियो मे नारी-जीवन के ये तीनो रूप प्रकट हुए हैं।

रामकुमार वर्मा के 'दस मिनट' नाटक मे नारी के सतीत्व को उभारा गया है और उसके प्रति आदर्शवादी भावना प्रगट की गई है। सेठ गोविंददास ने अपने एकपात्री नाटक 'शाप और वर' मे नारी-जीवन के सनातन और अधुनातन दोनो पहलू अत्यत प्रभावोत्पादक ढग से अकित किये है और अत मे यह प्रतिपादित किया है कि नारी का परपरागत जीवन ही श्रेयस्कर है। उदयशकर भट्ट ने 'स्त्री का हृदय' मे स्त्री-हृदय की उस विशालता को प्रदर्शित किया है, जिसके कारण वह अत्याचारी पति को चाहती है। 'आदि मार्ग' मे उपेन्द्रनाथ अश्क नारी के दो रूप पेश करते है। एक मे नारी पति के अत्याचारो को सहकर उसके साथ रहना पसद करती है। दूसरे मे वह पति, पिता और परिवार को छोडकर इब्सन की 'नोरा' की तरह अपना मार्ग आप प्रशस्त करती हैं। जगदीशचद्र माथुर कृत 'रीढ की हड्डी' वर की पसदगी मे युवती को सपूर्ण अधिकार देने की हिमायत करता है। इसमे नारी के स्वतत्र व्यक्तित्व को उभारा गया है। 'अश्क' के 'कैद' मे नारी निष्क्रिय और असमर्थ है। उनके 'उडान' मे वह सक्रिय और समर्थ है। प्रभाकर माचवे कृत 'पचकन्या' में नारी के आधुनिक रूप ही प्रतिबिंबित हुए हैं, यद्यपि कथानक पौराणिक है।

गुजराती मे उमाशकर जोशी ने 'खेतरने खोळे' म नारी के भव्य बलिदान की कथा अकित कर उसके आदर्श रूप को प्रगट किया है। 'दुर्गा' एकाकी मे दुर्गा के पात्र द्वारा नारी के मातृत्व, प्रणयाकाक्षा तथा पतिपरायणता के मनोवैज्ञानिक दृश्य उपस्थित किये हैं, जो वस्तुत मनोज्ञ हैं। गुलाबदास ब्रोकर कृत 'घरकुकडी' मे नारी की मातृत्व भावना को उजागर किया गया है। जयति दलाल ने 'पासनुं' मे नारी के विद्रोह और समर्पण को एक साथ यथार्थवादी भित्ति पर उपस्थित किया है। कृष्णलाल श्रीधराणी कृत 'पियोगीरी' मे सदेहशील पति के द्वारा पत्नी-हत्या का करुण प्रसग समाविष्ट है। उमेश कवि का 'जुवानीनुं नाणुं' आधुनिक नारी की निर्लज्जता का पर्दा फाश करता है। चुनीलाल मडिया के 'सामर्थ्य'

मे श्रौर शिवकुमार जोशी के 'आटोपगा' मे नारी-जीवन की करुण कहानी अकित है। 'दुर्गेश-शुक्ल' ने 'मेघली रातें' एकाकी मे पुरुष की बुद्धि पर स्त्री के हृदय की विजय दिखाई है। इसमे नारी के समर्पण श्रौर सहनशीलता के मनोहर दृश्य सकलित हैं। बटुभाई उमरवाडिया के मालादेवी एकाकी मे नारी की बलिदान भावना प्रगट हुई है। गुलाबदास ब्रोकर ने अपने 'एकसवारे' श्रौर 'कमला' एकाकियो मे आधुनिक नारी के दभ श्रौर विचित्र व्यवहार पर कटु आलोचना की है।

वेश्या-जीवन पर विष्णु प्रभाकर ने हिन्दी मे 'साहस' श्रौर जयति दलाल ने गुजराती मे 'मानी दीकरी' एकाकी की रचना की है। दोनो मे वेश्या-जीवन का हृदय-भेदक चित्र है। इसी के साथ सामाजिक यथार्थ भी ईमानदारी से उनमें उभर आया है।

गुजराती मे प्रेम की सुखानुभूति श्रौर दापत्य-जीवन की प्रसन्नता के मनोहारी चित्र शिवकुमार जोशी के नाटको मे उपलब्ध होते है। 'प्रसन्न दापत्य' 'फोइबा आव्या', 'पाख बिनाना पारेवा', 'सुजाता' इत्यादि एकाकी नाटक जीवन की मधुरता श्रौर मोहकता प्रस्फुटित करते हैं। 'गुलाबरमतीती' मे दुर्गेश शुक्ल ने यह बताया है कि माता पिता के यौन-विकार का बच्चो के जीवन पर कैसा विपरीत प्रभाव पडता है। गुलाबदास ब्रोकर कृत गुजराती के सुप्रसिद्ध नाटक 'धुम्रसेर' मे पिता की मनोव्यथा का अत्यत सुदर प्रगटीकरण हुआ है। यह कृति पात्र के अतर्द्वन्द्व का बडा ही सफल निरूपण करती है। इस प्रकार के एकाकी हिन्दी मे दृष्टिगत नही हुए। इब्सन की 'नोरा' का नारी रूप बहुत ही कम गुजराती एकाकियो मे प्रगट होता है। हिन्दी मे 'आदिमार्ग', 'उडान' ,'रीढ की हड्डी' इत्यादि मे नारी के स्वतत्र व्यक्तित्व को अधिक प्रश्रय दिया गया है।

'हास्य श्रौर व्यग्य'

हिन्दी श्रौर गुजराती के कई एकाकीकारो ने सामाजिक, राजनैतिक या अन्य सार्वजनिक विषयों पर हास्य एवम् व्यग्यपूर्ण कृतियो का निर्माण किया है। इनमे से बहुत ही कम रचनाएँ ऐसी हैं, जिनका उद्देश्य केवल हास्य के लिए हास्य की सृष्टि करना है। अधिकाश एकाकी प्रहसनो के पीछे गभीर सुधारवादी उद्देश्य निहित हैं। वे व्यक्ति श्रौर समाज के दूषणो को हास्य के माध्यम स प्रत्यक्ष करते है।

हिन्दी एकाकीकारो मे रामकुमार वर्मा के कई एकाकी प्रहसनात्मक है। 'फ्रोक' मे अधविश्वासो पर 'सही रास्ता' मे वकील, प्रोफेसर, कवि, सेठ इत्यादि पर, 'रगीन स्वप्न' म रगीन तबीयत के युवको पर, 'कवि पतग' मे कवियो की कल्पनाप्रियता पर, फिमेल पार्ट' मे आधुनिक युवतियो पर श्रौर 'रूप की बीमारी मे युवको की सुदर बनने की आकाक्षा पर व्यग्य किया गया है। इनके अन्य हास्योत्तेजक एकाकियो मे 'पृथ्वी का स्वर्ग' 'फैल्ट हैट' 'एक तोला अफीम की कीमत' इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं।

सेठ गोविंददास ने भी कुछ हास्य रस के एकाकी लिखे हैं। उनके 'वह मरा क्यो ?' मे फौजी अफसर की अनुभवहीनता को उपसहनीय बनाया है। 'उठाश्रो खाश्रो खाना' मे बुफे डिनर पर व्यग्य है। 'आधुनिक यात्रा' म रेल की कठिनाइयो पर, 'चौबीस घटे' मे रेडियो का अतिशय श्रवण शौक पर, 'भूखहडताल' मे तथाकथित सत्याग्रहियो पर श्रौर 'यु० नी०' तथा 'आई० सी०' मे राजनैतिक दभ पर हास्य पैदा किया गया है। इन सब मे शिष्ट हास्य की उत्पत्ति हुई है।

उपेन्द्रनाथ अश्क के 'तौलिए', 'पक्का गाना', 'जोक', 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ', 'आपस का 'समझौता' इत्यादि व्यंग्यात्मक प्रहसन विविध सामाजिक विषयो पर हास्य व्यंग्य की सृष्टि करते हैं। 'तौलिए' मे मानव-स्वभाव की विचित्रता पर हास्योद्रेक है। 'पक्का गाना' रेडियो के शास्त्रीय-संगीत पर व्यंग्य है। इसी तरह 'अधिकार का रक्षक' के द्वारा अश्कजी ने सार्वजनिक नेताओं पर करारी चोट की है। 'स्वर्ग की झलक' के द्वारा नवीन युग की पत्नी को पसद करने वाले युवकों की आलोचना की गई है। 'मस्केबाजो का स्वर्ग', 'पैंतरे', 'छठा बेटा' इत्यादि अश्क के अन्य प्रहसन समाज की समस्याओ को उभारते हैं और हास्य एवम् विनोद की उत्पत्ति भी करते है। हिन्दी मे अश्क समर्थ हास्य रस के स्रष्टा हैं।

विष्णु प्रभाकर ने भी सफल प्रहसन लिखे हैं। 'उनके गीत के बोल' मे सिनेमा के कुत्सित गीतो पर कटाक्ष है। 'मूर्ख' मे बहुपत्नित्व की निंदा की गई है। 'सरकारी नौकरी' मे क्लर्क जीवन का, 'पुस्तककीट' मे खूब रटने वाले विद्यार्थी का, 'कार्यक्रम' मे सभी महोदयो का और 'कांग्रेसमैन बनो' मे अवसरवादियो का मजाक उड़ाया गया है। प्रभाकर माचवे के कई व्यंग्यमूलक एकांकी उपलब्ध होते हैं। 'अदालत के पास', 'होटल', 'लैटरबक्स', 'दीवार' 'वधू चाहिए', 'नाटक का नाटक', 'पागलखाने मे' इत्यादि नाटकों मे गंभीर कोटि का हास्य परिलक्षित होता है। इनमे आधुनिक सभ्यता प्रेम, विवाह, राजनैतिक एवम् सामाजिक समस्याओ पर मार्मिक व्यंग्य है। जगदीशचद्र माथुर के 'मेरी बाँसुरी' मे कालेज के विद्यार्थियो का व्यंग्यात्मक चित्र अकित है। 'ओ मेरे सपने' के सभी प्रहसनो मे उन्मुक्त हास्य है।

गुजराती मे गभीर व्यंग्य तथा मार्मिक कटाक्ष जयति दलाल की कृतियो मे दृष्टिगोचर होता हैं। उनकी रचनाएँ विचार-प्रधान तथा समस्या-मूलक हैं। अत उनकी बहुत कम रचनाओ मे उन्मुक्त हास्य उपलब्ध होता है। उनके सुप्रसिद्ध एकोक्ति रूपक 'अविराम' मे पति के प्रति पत्नी की हास्य एवम् व्यंग्य पूर्ण उक्तियो की सृष्टि की गई है। 'पारखु' मे उस डॉक्टर पर कटाक्ष किया गया है, जिसे आमदनी नही होती। 'वेमो निशाके' में नयी शादो पर मजाक है। 'हैया सगडी' मे बेकारो की उम्मीदवारी पर हास्य सृष्टि है। 'जोइए छे जोइए छे' मे विवाहेच्छु व्यक्ति एवम् विवाह विज्ञापन पर व्यंग्य किया गया है। 'उपाध्याय न आटो' मे उन लोगो पर मार्मिक कटाक्ष है, जो घर के लोगो की तो चिंता नही करते और अन्य लोगो की सहायता करने को दौड जाते हैं।

उमाशंकर जोशी ने 'परखु' मे उस मा की मजाक उड़ाई है जो बीमारी के बहाने लडकी से खूब काम लेती है और उसके विवाह को तत्पर नही होती। यह सुदर हास्योत्तेजक एकाकी है। ब्राह्मणो की रूढिग्रस्तता और पतनावस्था पर धूमकेतु कृत 'लाडू दाल' मे कटाक्ष है।

चद्रवदन मेहता गुजराती के सफल हास्यरस के नाट्यकार हैं। उनके अधिकाश नाटक प्रहसन परपरा के निर्वाहक हैं। 'रगभडार', 'लागनगालो', 'वरवहु', 'वहालोवहाली' इत्यादि मेहताजी के हास्यरसाश्रित एकाकी हैं। इन सभी कृतियो का विषय विवाह-समस्या है। 'रगभडार' मे विवाह करने की युक्ति पर 'लागनगालो मे 'कोन्ट्रैक्ट मैरेज' पर 'वरवहु' मे 'प्रेमी' पात्र के अदले बदल पर और 'वहालोवहाली मे प्रेमी-प्रेमिका के भागने पर हास्य एवम् व्यंग्य है।

दुर्गेश शुक्ल ने 'एटम बोम' मे एक जमीदार की अज्ञानता की खिल्ली उडाई है।

उनके 'वायुनो-डायरो' मे ग्रामजीवन पर निर्दोष हास्योत्पत्ति हुई है। 'पाघडी परिषद' म विवाह विषयक हास्य समाविष्ट है। धनसुखलाल मेहता के 'सरी जतु सूरत' भी निर्बन्ध-हास्य पैदा करता है। 'सातडे मीडे शून्य' मे चुनीलाल मडिया ने कालेज क छात्रो के व्यवहारो पर कटाक्ष किया है। उनके 'हु ने मारी वहु' मे पारिवारिक जीवन पर मधुर हास्य है। मडिया कृत "वर पधरावो सावधान" और शिवकुमार जोशी कृत "पडापडी" मे विवाह विषय को उपहसनीय बनाया है।

हिन्दी और गुजराती के इन हास्यजनक एकाकियो मे से अधिकाश एकाकी विषय की दृष्टि से सामाजिक हैं। इनमे हास्य कटाक्ष और व्यग्य द्वारा सामाजिक यथार्थ को प्रभावशाली और मनोरजक ढग से अभिव्यक्त किया है। ये जातीय कुरीतियो, रूढिगत सस्कारो, समाज के बाह्याडम्बरो, कृत्रिमताओ, रागद्वेषो, विषमताजन्य कुठाओ और विकृतियो पर प्रहार करते हैं। इस दृष्टि से ये सभी कृतियाँ यथार्थवादी हैं। इनके पीछे छिपी हुई लेखको की शुभाशयता और मगलकारी भावना भी पूर्णत प्रगट हुई है।

राजनैतिक समस्याएँ

हिन्दी मे उदयशकर भट्ट का "अधिकार का रक्षक" उन सार्वजनिक नेताओ की आलोचना करता है जो जनता के अधिकारो के रक्षक कहे जाते हैं। पर वस्तुत वे अपने ही अधिकारो की रक्षा करते हैं। 'नेता' मे आधुनिक स्वार्थांध नेताओ को चित्रित किया है। "सुदामा के तादुल" एकाकी मे सेठ गोविन्ददास ने ऐसे नेता को अकित किया है जो चुनाव के समय वचन देता है और चाटुकारी करता है पर मिनिस्टर बनने पर किसी से भेंट नही करता। "अधिकार लिप्सा" मे अधिकार न छोडने की स्वार्थी मनोवृत्ति का चित्र है। "मैत्री" मे नेतागिरी की स्पर्धा का यथार्थ दर्शन है। मोहनसिंह सेंगर अपने "भूतपूर्व मिनिस्टर" एकाकी द्वारा राजनैतिक नेताओ की दुर्बलताओ को प्रत्यक्ष करते हैं। भुवनेश्वर का "साम्य-हीन साम्यवादी" एक कम्युनिस्ट युवक की दुश्चरित्रता का पर्दाफाश करता है। रामकुमार वर्मा ने भी कम्युनिस्टो पर 'रेशमी टाई' मे प्रहार किये हैं। "बडे आदमी की मृत्यु" मे उदयशकर भट्ट यह बताते हैं कि आज के तथाकथित बडे आदमी तब तक पूजे जाते हैं जब तक वे विशिष्ट पदो पर आसीन होते हैं। उनके मरने पर तो उनके प्रति किसी की हार्दिक सहानुभूति नही होती।

राजनैतिक कार्यकर्त्ताओ की जो कटु आलोचना हिन्दी के इन एकाकियो मे गई है, ठीक उसी प्रकार की आलोचनात्मक दृष्टि गुजराती के राजनीति विषयक एकाकियो मे पाई जाती है। उमाशकर जोशी कृत "हवेली" मे लोगो की उस मनोवृत्ति को निंदा की गई है जो मत्रिपद प्राप्त होते ही सब तरह से लाभान्वित होने की फिक्र शुरू कर देते हैं। "नलिनी" मे जयन्ति दलाल न आधुनिक नेताओ पर कटाक्ष किया है जो दुनिया-भर के विषयो म रस लेते हैं और अपने परिवार का ध्यान रखने का अवकाश ही नहीं पाते। इसी तथ्य का प्रकाशन उनके "ओछाया" मे भी हुआ है। रमणलाल वसतलाल देसाई कृत "भावनानु खून' एक गभीर युग-सत्य का उद्घाटन करता है। हमारे नेता आज राष्ट्रपिता महात्मा गाधी के नाम का अमर्यादित उपयोग करते हैं। किन्तु उनकी भावनाओ को तनिक भी नही अपनाते। वस्तुत आज गाधी की भावनाओ का खून हो रहा है। चन्द्रवदन मेहता ने आज के "विधानवाद" पर कटु आलोचना की है। "धारासभा" में हास्य वयग्यपूर्ण शैली मे मत्रियो और विधानवादियो

पर मार्मिक प्रहार है। शिवकुमार जोशी कृत "मधराते मेहमान" में विधानसभा के उस कार्य-व्यस्त सदस्य की दयनीय स्थिति पर व्यंग किया है जिसे मनोरंजन का अवकाश प्राप्त नही होता और जो मध्यरात्रि के समय किसी बंगले के निकट चुपचाप विश्राम लेता हुआ संगीत का आनन्द ले लेता है। इस प्रकार आपके गुजराती एकांकी समसामयिक राजनैतिक जीवन की झांकी प्रस्तुत करते हैं।

राष्ट्रीय चेतना

हिन्दी मे "स्वर्ण विहान" मे स्वातन्त्र्य पूर्व दु.खी भारत का यथार्थ चित्र अंकित किया गया है। उनका "राष्ट्र मंदिर" स्वतंत्रता प्राप्ति के निमित्त हिन्दू, मुस्लिम और अंग्रेज तीनो जातियो के सम्मिलित प्रयत्नो को साकार करता है। सेठ गोविन्ददास ने "अर्धजाग्रत" द्वारा १९३८-४२ तक की राष्ट्रीय चेतना को उभारा है। उदयशंकर भट्ट अपने 'क्रान्तिकारी' मे १९४२ के क्रान्तिकारी आंदोलन की सजीव झांकी प्रस्तुत करते हैं। इसमे देशभक्ति, त्याग और समर्पण का आदर्श अंकित है। सुधीन्द्र के 'खून की होली' मे स्वातन्त्र्य संग्राम के सैनिकों पर भारतीय पुलिस के अत्याचारो का निरूपण है। "राम रहमान" मे उन्होंने आजाद हिन्द फौज की राष्ट्रीयता प्रत्यक्ष की है। सत्येन्द्र कृत "स्वतंत्रता का अर्थ" एकांकी मे देश-प्रेम और राष्ट्र सेवा की भावनाएँ अंकित हैं। विष्णु प्रभाकर का "हमारा स्वाधीनता संग्राम" एकांकी संग्रह १८५७ से १९४७ तक के राष्ट्रीय आंदोलन को प्रस्तुत करता हैं। इसी प्रकार त्रिलोचन कृत "भूखे भेड़िये," केदारनाथ मिश्र कृत "काल दहन" और जयनाथ नलिन कृत "विद्रोही की गिरफ्तारी" और "देश की मिट्टी" राष्ट्रीयता के आदर्श को उभारते हैं।

गुजराती में कृष्णलाल श्रीधराणी के "झबक ज्योति" मे राष्ट्रीय आन्दोलन और देश सेवा की भावना अंकित की गई है। उमाशंकर जोशी का "मुक्ति मंगल" १८५७ से १९४७ तक के राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रस्तुत करता है। उन्होने 'विदाय' मे देशसेवा की सर्वोपरिता सिद्ध की है। उनका "शहीद स्वप्नु" एकांकी १९३२ का राष्ट्रीय आन्दोलन साकार करता है। "गाजरनी पीपुडी" मे सार्वजनिक सेवा मे निष्ठा के अभाव को उभारा है। जयति दलाल ने अपने एकांकी "दिन पलटयो" मे राष्ट्रीय चेतना को प्रत्यक्ष किया है। उनका "तरंग साथे मनना तरंग" एकांकी स्वातंत्र्योत्तर नैतिक पतन पर प्रकाश डालता है। "इतिहासनुं एक पानु" द्वारा गुलाबदास ब्रोकर १९४२ की क्रांति का विवरण प्रस्तुत कर राष्ट्रीय जागरण को साकार करते हैं। चुन्नीलाल मडिया कृत "दीप निर्वाण" में शहादत की सार्थकता का मर्मस्पर्शी दृश्य है।

इस प्रकार हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओ के एकांकियो में स्वातंत्र्य-पूर्व और स्वातंत्र्योत्तर परिस्थितियो के संदर्भ मे राष्ट्रीय, चेतना और जनजागरण की झांकियाँ प्रस्तुत की हैं।

आर्थिक प्रश्न

कतिपय एकांकियो मे गरीबी, अमीरी, मजदूर, किसान, आर्थिक-संघर्ष इत्यादि को नाटकीय रूप दिया गया है। उदयशंकर भट्ट कृत "उन्नीस सौ पैंतीस," विष्णु प्रभाकर कृत "साहस," धर्मवीर भारती कृत "आवाज का नीलाम" इत्यादि हिन्दी एकांकी दारिद्रय के हृदय विदारक दृश्य उपस्थित करते हैं। गुजराती मे जयन्ति दलाल के "पायरणा अने चन्दरवा" मे

दुर्गेश शुक्ल के "धरडी जुवानी" और "पडना पतीका" मे', पन्नालाल पटेल के "वैतरणी ने काठे" मे, गुलाबदास ब्रोकर के "गजब छे" मे, चुन्नीलाल मडिया के "घूटडे घूटडे पी माँ" मे और पुष्करचन्द खाकर के "पियरो पडोशी" में भीषण दरिद्रता की समस्याएँ अंकित हैं जिन्हे शीघ्रातिशीघ्र हल करना अनिवार्य है। हिन्दी मे उदयशकर भट्ट ने "दस हजार" मे तथा उपेन्द्रनाथ अश्क ने "लक्ष्मी का स्वागत" में और गुजराती मे जयति दलाल ने "सोयनुं नाकु" में पूँजीपतियो की धनलोलुपता की निंदा की है और तज्जन्य सामाजिक विषमता पर प्रकाश डाला है। व्यावसायिक जगत् के यथार्थ चित्र सेठ गोविन्ददास ने "धोखेबाज" द्वारा और गुलाबदास ब्रोकर ने "शेर बाजार" द्वारा पेश किये हैं।

अन्य विषय

उपरिलिखित विषयो के अतिरिक्त हिन्दू मुस्लिम ऐक्य, अछूतोद्धार तथा साहित्यिक समस्याओ पर भी दोनो भाषाओ में एकाकी रचे गये है। हिन्दी में उदयशकर भट्ट के "मदिर के द्वार पर" में तथा भगवतीचरण वर्मा के 'चौपाल' में अछूतोद्धार की समस्या ली गई है। इसी समस्या का निरूपण गुजराती में उमाशकर जोशी ने अपने "ढेडना ढेड भगी" में और चन्द्रवदन मेहता ने "सनातन धर्म" में किया है। उदयशकर भट्ट कृत "एक ही कब्र' में और उपेन्द्रनाथ अश्क कृत "तूफान से पहले" हिन्दी एकाकी तथा जशवत ठाकुर कृत "स्वप्न द्रष्टा" गुजराती एकाकी हिन्दू मुस्लिम ऐक्य से सम्बन्धित हैं।

रामकुमार वर्मा ने अपने हिन्दी एकाकी "घर और बाहर" में एक ऐसे कवि का व्यग्यचित्र अंकित किया है जो कविता करना नही जानता फिर भी कवि होने का दम भरता है। इधर गुजराती में भी यशवत पडया ने अपने "फाफवा" में साहित्यकार के मिथ्याभिमान पर मार्मिक व्यग्य किया है। चन्द्रवदन मेहता का सुप्रसिद्ध गुजराती एकाकी 'देडकानी पाँच शेरी" गुजराती साहित्यकारो की विशेषताओ पर व्यग्य और विनोद करता है और बेचनशर्मा उग्र का हिन्दी गीति रूपक "हवाई हैदराबाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन" हिन्दी साहित्यकारो की हँसी उडाता है। दोनो की शैली और विषय वस्तु में बडी ही मनोरजकता है। रामकुमार वर्मा का "कलाकार का सत्य", गणेशप्रसाद द्विवेदी का "गोष्ठी", उदयशकर भट्ट का "नया नाटक" इत्यादि हिन्दी एकाकी और उमाशकर जोशी का "लता मडप," जयति दलाल का "सम सेवको," शिवकुमार जोशी का "जीवता खडेरो" इत्यादि गुजराती एकाकी साहित्यिक विषयो पर आधारित हैं।

गीति नाट्य

गीति नाट्य पद्य बद्ध रचना है। पद्यबद्धता के साथ उसमे भावमयता का भी प्राधान्य रहता है। भावो की अभिव्यक्ति वैसे तो गद्य मे भी सभव है। परन्तु पद्य मे यह सभावना अत्यधिक होती है। अतएव सभी भावनाट्य विशेषत पद्यात्मक होते हैं। गीति-नाट्य मे नाटक को कविता मे और कविता को नाटक मे बलात् समाविष्ट करने का बाल-प्रयत्न नही होता। गद्य के स्थान पर पद्य का प्रयोग करने से भी गीति नाट्य नही बनता। इसकी कथा वस्तु, भावसृष्टि, वातावरण इत्यादि मे इतनी उदात्तता और काव्यमयता होती है कि उसे पद्यात्मक रूप देना अनिवार्य बन जाता है। गीति नाट्य में कविता और नाटक का अपूर्व समन्वय पाया जाता है। इसका लिखना अत्यत कठिन है। विश्व साहित्य में

उत्तम कोटि के गीति-नाट्य बहुत ही अल्प संख्या में रचे गये है। पश्चिम का एक समीक्षक नाटक का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण गीति नाट्य को ही मानता है। उसका यह कथन है कि गीति-नाट्य नाटक सर्वोच्च धारा है और सदैव बनी रहेगी।[1]

पश्चिम मे गीति-नाट्य परपरा वैसे तो यूनानी नाटको से मानी जा सकती है, क्योकि यूनानी नाटको में कविता और नाटक का सुन्दर सयोग दृष्टिगोचर होता है, परन्तु आधुनिक परम्परा के गीति-नाट्यो का प्रचलन यूरोप मे उन्नीसवी शती के उत्तरार्द्ध से हुआ है। मेटरलिक, सिंज, ब्राउनिंग, स्विनबर्न इत्यादि के नाटक इसी प्रकार के है। सस्कृत मे यथार्थ गीति-नाट्य की सृष्टि नही हुई। गीति तत्त्वों की प्रचुरता कर्पूरमजरी, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र इत्यादि रूपको में अवश्य पाई जाती है।

हिन्दी मे गीति नाट्य के पुरस्कर्त्ता जयशकर प्रसाद हैं। उनका 'करुणालय' (१६१२) हिन्दी का पहला गीति-नाट्य है। इसमें रोहित के अतर्द्वन्द्व को चित्रित किया गया है। उसके सामने पिता की आज्ञा और जीवन रक्षा इन दो में से एक की पसदगी का प्रश्न है। वह इन्द्र की प्रेरणा से जीवन-रक्षा प्रयत्न श्रेयस्कर मानता है। पर वह पिता की अवहेलना भी नही करता। प्रसाद ने हरिश्चन्द्र का अतर्द्वन्द्व अकित किया है। नाटक के अत में शुनःशेप की आर्तवाणी और अजीगर्त की पशुवृत्ति के सयोग मे नाट्कीय संघर्ष चरमोत्कर्ष प्राप्त करता है जो समीचीन है। वैसे यह सामान्य रचना है।

मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' (१६२५) हिन्दी का दूसरा गीति-नाट्य है। इसमे नाट्य-तत्त्व कम हैं और काव्य तत्त्व अधिक है। गुप्त जी ने इसमे गांधीवादी आदर्शों का स्थूल निरूपण अधिक किया है। अतः इसमे आतरिक संघर्ष प्रगट नही हो पाया है। इसका मुख्य पात्र मघ है जो गांधी सिद्धान्तो का प्रतीक है। वह मानवता का प्रेमी है। इस कृति में सारी घटनाएं बिखरी हुई है। इसका उद्देश्य सत् और असत् का सघर्ष अकित करना है। लेखक को उसमे सफलता मिली है। सुरभि, ग्रामभोजक इत्यादि के व्यक्तित्व विकसित नही हो पाये है।

सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त' और हरिकृष्ण प्रेमी का 'स्वर्ण विहान' गीति-नाट्य के बहुत निकट नही पहुँच पाते।

भगवतीचरण वर्मा का 'तारा' गीति-नाट्य नायिका तारा की वासना और धर्म-भावना का सघर्ष चित्रित करता है। इस मे मानसिक द्वन्द्वों का समुचित निरूपण हुआ है। इस दृष्टि से यह सफल गीति-नाट्य है। वर्मा जी ने 'महाकाल' और 'द्रोपदी' नामक दो अन्य गीति-नाट्य रचे हैं। 'महाकाल' मे काल की शक्ति का और 'द्रोपदी मे द्रोपदी के चरित्र का अकन है। द्रोपदी के मनोमंथनों के सुष्ठु प्रगटीकरण के कारण 'द्रोपदी' अपेक्षाकृत सफल गीति-नाट्य है।

उदयशकर भट्ट कृत 'विश्वामित्र', 'मत्स्यगंधा' और 'राधा' हिन्दी के 'उत्कृष्ट' गीति-नाट्य हैं। इनकी कथाओ का आधार पुराण है। भट्ट जी ने इनकी भाव-सृष्टि मे

---

१. "The greatest examples of Drama are poetic drama, and the highest schools of Drama are and must ever be schools of poetic drama."

—F. W. chandler.

Aspects of Modern Drama. P. 240.

प्रभावोत्पादकता, विचारों में नवीनता, कल्पना मे मौलिकता तथा पात्रो मे वैयक्तिकता का निरूपण किया है। तीनो नाटकों में आन्तरिक संघर्ष तथा मानसिक द्वन्द्व बड़ी ही सफलता पूर्वक अभिव्यक्त हुआ है। इन कृतियों में काव्यात्मकता, भावमयता तथा नाट्यतत्त्वों का तनिक भी अभाव नही है। चरित्रांकन सूक्ष्म एवं सारगर्भित है। वस्तु-विन्यास स्वाभाविक है और अंत प्रभावोत्पादक है। वस्तुतः ये तीनों कृतियाँ हिन्दी की प्रौढ़ गीति-नाट्य परम्परा का सूत्रपात करती हैं।

सुमित्रानंदन पंत ने 'रजत शिखर' और 'शिल्पी' नामक गीति-नाट्य-संग्रह प्रकाशित किये है। इनमें नाट्यतत्त्व कम हैं। अभिनेयता का नितांत अभाव है। ये विशेषतः कवि की गंभीर विचार सृष्टि के परिचायक हैं। इनमें जीवन, जगत्, ईश्वर, भौतिकता. विज्ञान इत्यादि पर पंतजी का दर्शन अभिव्यक्त हुआ है। ये पठनीय अधिक हैं। इनमें प्रतीकात्मकता का भी प्रयोग हुआ है।

धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' हिन्दी का एक अत्यंत उत्कृष्ट गीति-नाट्य है जिसकी विवेचना इस प्रबन्ध के पौराणिक नाटकों के अध्याय में की गई है।

गुजराती में गीति-नाट्य की परम्परा उमाशंकर जोशी कृत 'प्राचीना' (१६४४) से प्रारम्भ होती है। 'प्राचीना' में उत्कृष्ट कोटि की काव्यात्मकता है। उसी के साथ संवाद संयोजन तथा चरित्रांकन में नाट्यात्मकता का पूर्ण उन्मेष हुआ है। कर्ण, कुब्जा, बाल राहुल, गांधारी इत्यादि के चरित्र विकास में कवि ने बड़ी सतर्कता एवं कुशलता का परिचय दिया है। कर्ण का पात्र तो बहुत ही भव्य एवं दिव्य है। इस कृति में प्राचीन पात्रो की सहायता से अर्वाचीन जीवन का यथार्थ दर्शन प्रत्यक्ष होता है। शिल्प एवं शैली विषयानुरूप गम्भीर तथा गरिमापूर्ण है। इस कृति में गीति-नाट्य के अधिकाश तत्त्व समाविष्ट हुए हैं। परन्तु इसमें गीति-नाट्य के सम्पूर्ण स्वरूप का उन्मेष नही हो सका है।

दुर्गेश शुक्ल की 'उर्वशी' (१६४८) रचना गीति-नाट्य के अधिक समीप है। उसमे सागरकन्या उर्वशी और मनुजपुत्र पुरवा की प्रणय कथा अंकित है। समग्र कथा तत्व प्रियतम-प्रेयसी के मिलन, प्रणय तथा वियोग तक सीमित हैं। इसमे अंक विभाजन, पात्रांकन, संवाद इत्यादि गीति-नाट्य के बाह्यावयव उपलब्ध होते है। इसमें चरित्रगत संघर्ष सृष्टि भी दृष्टिगत होती है। पात्रों के भावोद्‌गार द्वन्द्वमूलक हैं। लेखक ने प्रणयोल्लास के साथ-साथ करुण हृदयोद्‌गार अंकित करने का सफल प्रयत्न किया है। तज्जन्य मानसिक आन्दोलनों का चित्रण वस्तुतः श्लाघनीय है।

'श्री मंगल' पद्य रूपक संग्रह है। इसके रचयिता प्रेमशंकर भट्ट ने इसे नृत्य एवं गीतप्रधान संगीतिका की स्वरूप शैली मे ढाल दिया है। सूत्रधार, नर्तक-नर्तिकावृन्द, गायकवृन्द, परिचारिकावृन्द तथा प्रवक्ता इत्यादि की सहायता से कथानक का विकास होता है। इसमे नाट्यांशों का अधिक समावेश नही हो पाया है। यह रेडियो के अधिक उपयुक्त है। इसके मधुर गेय गीतों मे पूरी रसात्मकता है। इस दृष्टि से 'श्री मंगल' अवश्य उपादेय है।

हसित बूच का 'सूरमंगल' फागुकाव्यो और प्रसंग-चित्रो का संग्रह है। इसमें कथानक का अभाव है। इसकी समस्त रचनाएँ संगीत रूपक की कोटि मे परिगणित करने हैं। उनमे गेयता का विशेष ध्यान रक्खा गया है। सुस्पष्ट चरित्रांकन, संघर्षात्म स्थिति, सुष्ठु संवाद योजना इत्यादि का इस संग्रह मे अभाव है। गीति-नाट्य

तत्वो को समाविष्ट करने का इसमे प्रयत्न अवश्य किया गया है ।

तदतर गजेन्द्रशाह, रवीन्द्र ठाकुर, अविनाश व्यास, शिरीष मेहता इत्यादि नवोदित गीतकारो ने गीति-नाट्य का आविष्कार करने का गणनापात्र उद्योग किया है । अभी गुजराती मे उत्कृष्ट गीति नाट्य का आविर्भाव शेष है ।

हिन्दी और गुजराती के गीति-नाट्यो का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि दोनो भाषाओ के गीति-नाट्यो मे पौराणिक प्रसगो का अधिकाश उपयोग किया गया है । इनके पात्र उदात्त भावनाओ के सदेशवाहक है । दोनो भाषाओं की इन रचनाओ मे कवियो की दृष्टि आदर्शोद्घाटन की ओर विशेष रही है । चरित्राकन और वस्तु-विन्यास के प्रति अपेक्षित ध्यान नही दिया गया है । एक-दो रचनाओ को छोडकर शेष मे आन्तरिक द्वन्द्व और मानसिक सघर्ष की अभिव्यक्ति पूर्ण-रूपेण नही हो पाई है जो गीति-नाट्य के प्राणतत्व हैं । 'अधायुग' और 'विश्वामित्र और दो भाव नाट्य' ये कृतियाँ दोनो भाषाओ म अपेक्षाकृत उत्कृष्ट गीति-नाट्य हैं ।

रेडियो नाटक

रेडियो नाटक का माध्यम ध्वनि है । उसका रसानद श्रवणेन्द्रिय द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है । अतएव रेडियो नाटक श्रव्य काव्य या श्रव्य-नाटक है । यह नवीनतम नाट्य प्रकार है । रेडियो नाटक और रगमचीय नाटक मे मूलभूत अतर है । रगमचीय नाटक दृश्य भी है और श्रव्य भी । रेडियो नाटक केवल श्रव्य है । रगमचीय नाटक प्रेक्षक समूह के समक्ष रगमच पर अपने समक्ष उपकरणो के साथ प्रत्यक्ष होता है । उसके अभिनेतागण अपनी वेशभूषा और आवश्यक प्रसाधनो के साथ चतुर्विध अभिनय करते हुए मच पर दृष्टिगत होते हैं । विभिन्न प्रकार की कलाओं का प्रदर्शन रगमच पर सहज साध्य है । इन सब लाभो से रेडियो नाटक वचित रहता है । रेडियो-सेटवाला प्रत्येक घर इसका प्रेक्षागृह है । श्रोताओ और कलाकारो के मध्य कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही रहता । केवल शब्दो की सहायता से रेडियो-नाटक श्रव्य बनता है । प्रत्यक्ष प्रदर्शन की सुविधा न होने से रेडियो नाटक की सफलता का एकमात्र आधार सशक्त सवाद योजना है । वह केवल सवादो पर आधृत है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रेडियो नाटक के सवाद कितने प्रभावशाली तथा शक्तिशाली होने चाहिएं । ध्वनि या शब्द सकेतो के माध्यम से श्रोताओ के मानस पटल पर भावचित्र अकित होते हैं और वे अपने कल्पना चक्षुओ द्वारा उनके प्रत्यक्षीकरण का आनद लेते हैं । रेडियो नाटक को प्रेक्षणीय बनाने के लिए उच्च-कोटि का रचना-कौशल अपेक्षित है । रगमचीय नाटक की भाति रेडियो नाटक मे विषय-वस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, वातावरण, शैली, उद्देश्य सब कुछ होता है । परतु ये सभी तत्त्व रेडियो नाटक मे विशेष कला-कौशल से समोजित होते हैं । रेडियो नाटककार को रेडियो की सीमाओ और सुविधाओ को सदैव दृष्टिसमक्ष रखकर नाट्य सर्जन करना पडता है । अतएव उसका कार्य बहुत कठिन एवम् कष्ट-साध्य है ।

जैसा कि ऊपर कहा गया है रेडियो नाटक श्रव्य काव्य या श्रव्य-नाटक है । उसे दूसरे शब्दों मे ध्वनि नाटक भी कह सकते हैं । रेडियो नाटक मे ध्वनि का तीन रूपो मे उपयोग होता है भाषा, ध्वनि-प्रभाव और सगीत । रेडियो नाटक कथनोपकथनाश्रित है । कथनोपकथन या तो गद्यात्मक होते हैं अथवा पद्यात्मक । कभी-कभी गद्य पद्य मिश्रित सवादो

का भी उसमे उपयोग होता है। रेडियो नाटक के सवादो की भाषा मे प्रसाद गुण का होना अनिवार्य है। क्लिष्ट या अस्पष्ट सवाद उसे असफल बना देते हैं। सरलता, स्वाभाविकता तथा सरसता रेडियो नाटक की भाषा के प्रधान गुण है। अभीष्ट प्रभाव की उत्पत्ति तथा प्रसगानुरूप वातावरण की सृष्टि के निमित्त नाट्य प्रसारण के समय वर्षा, विद्युत, आंधी-तूफान, नदी-नालों पक्षी-पशु इत्यादि की ध्वनियो का उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार भावाभिव्यक्ति को सबल बनाने और अपेक्षित वातावरण का निर्माण करने के लिए वाद्य सगीत की सहायता ली जाती है। दृश्यातर मे भी उसी का व्यवहार होता है। इन उपकरणो द्वारा नाटक को प्रभावोत्पादक बनाया जाता है। एक समर्थ स्रष्टा ही रेडियो नाट्य शिल्प मे प्राण प्रतिष्ठा कर सकता है।

रेडियो नाटक का सक्षिप्त होना आवश्यक है। पन्द्रह-बीस मिनट या अधिक से अधिक आध घटे मे वह समाप्त होना चाहिए। रेडियो नाटक अको मे विभाजित नही होता। वह एक दृश्य का भी होता है और अनेक दृश्यो का भी। उसमे सकलनत्रय का निर्वाह अपेक्षित नही है। रेडियो के शक्तिशाली माध्यम द्वारा आज गद्य नाटक के उपरात काव्य-नाटक, सगीत रूपक, एक पात्री नाटक, रेडियो रूपक, इत्यादि अन्यान्य रूपक विधाओ का प्रसारण होता है।

भारत मे ऑल इडिया रेडियो के दिल्ली केन्द्र से सर्वप्रथम हिन्दी नाटक और बबई केन्द्र से सर्वप्रथम गुजराती नाटक का प्रसारण प्रारभ हुआ। आज हिन्दी नाटक भारत के लगभग सभी केन्द्रो से और गुजराती नाटक अहमदाबाद, बडौदा, राजकोट और बबई केन्द्रो से प्रसारित होते हैं। प्रारंभ मे विशिष्ट शैली-शिल्प के रेडियो नाटको के अभाव मे दोनो भाषाओ मे रगमचीय नाटक प्रसारित होते रहे। पिछले कुछ वर्षो से रेडियो को ध्यान मे रखकर नाटक लिखे जाने लगे हैं। जो रगमचीय नाटक रेडियो पर भी बहुत अधिक सफल हुए। उनके लेखको मे हिन्दी मे रामकुमार वर्मा, उदयशकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीशचन्द्र माथुर आदि और गुजराती में उमाशकर जोशी, जयति दलाल, चन्द्रवदन मेहता, दुर्गेश शुक्ल इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं।

आज रेडियो पर लगभग सभी प्रकार के हिन्दी गुजराती नाटक प्रसारित होते है। यहाँ यह सभव नही है कि दोनो भाषाओ के उन समस्त रेडियो प्रसारित नाटको का विवरण प्रस्तुत किया जाय। जिन जिन लेखको की रचनाएँ समय-समय पर रेडियो स्टेशनो पर प्रसारित होती हैं उनमे से कतिपय ये है हिन्दी मे रामकुमार वर्मा, उदयशकर भट्ट, सेठ गोविन्द दास, विष्णु प्रभाकर, लक्ष्मीनारायणलाल, विनोद, रस्तोगी, प्रभाकर माचवे भारतभूषण अग्रवाल, धर्मवीर भारती, रामवृक्ष बेनीपुरी, सत्येन्द्र शरत् इत्यादि और गुजराती मे उमाशकर जोशी, जयति दलाल, चन्द्रवदन मेहता, दुर्गेश शुक्ल धनसुखलाल मेहता, गुलाबदास ब्रोकर, इन्दुलाल गांधी, चुनीलाल मडिया, शिवकुमार जोशी, भास्कर वोरा, अदीमर्जबान, रवीन्द्र ठाकुर, पिनाकिन ठाकुर आदि। इन लेखको ने साहित्यिक नाटको के साथ रेडियो के उपयुक्त नाटको की भी सृष्टि की है। आज हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओ के नाटककार रेडियो नाट्य शिल्प की विशिष्टता से पूरी तरह परिचित हैं। रेडियो के नवीन माध्यम ने कई नये लेखको को भी पैदा किया है। हिन्दी और गुजराती के कुछ लेखक तो केवल रेडियो के ही लिए लिखते हैं।

रेडियो द्वारा प्रसारित प्रारभिक दोनो भाषाओ के नाटको के कथानक अधिकतर

ऐतिहासिक एव पौराणिक ही थे। स्वातन्त्र्योत्तर रेडियो नाटको मे यथार्थ जीवन की सामाजिक समस्याएँ बहुत ज्यादा उभर आई है। राष्ट्रीय सरकार की स्थापना ने अन्यान्य कई राष्ट्रोत्कर्षक विषयो को प्रमुखता प्रदान की है। हास्य और व्यग्य पर आधारित इन दिनो कई नाटक प्रसारित होते है। हिन्दी मे प्रभाकर माचवे, चिरजीत, उपेन्द्रनाथ अश्क और अमृतलाल नागर ने तथा गुजराती मे चन्द्रवदन मेहता, अदीमर्जबान और फिरोज आटिया ने हास्यरसाश्रित रेडियो नाटको की सृष्टि की है।

आज रेडियो सभ्य जीवन का अनिवार्य अग बन गया है। रेडियो केन्द्र उत्कृष्ट कोटि के कार्यक्रमो को प्रसारित करने के लिए विशेष सक्रिय एव सचेष्ट हैं। अतएव सत्वशील रूपको की बहुत बडी सख्या मे आवश्यकता उत्पन्न हो रही है। दोनो भाषाओ के नाटककार अधिकाधिक रेडियो नाटको की सृष्टि कर इस वामन स्वरूप नाट्य प्रकार की विराट शक्ति को प्रगट करने का भगीरथ प्रयत्न करेंगे ही, इसमे सदेह नहीं।

ग्यारहवाँ अध्याय

रंगमंच

पीछे हम यह कह चुके हैं कि संस्कृत साहित्य में नाटक 'दृश्यकाव्य' माना जाता है। अभिनय उसका अनिवार्य अंग है। भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र मे विविध नाट्य तत्वो के सूक्ष्म विवेचन के साथ-साथ रंगमंच और उसके अंगोपांगो का भी सविस्तार वर्णन किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि संस्कृत नाटक के साथ रंगमंच का अविभाज्य संबंध रहा है। संस्कृत नाटक अवश्य अभिनीत रहे होंगे। दुर्भाग्य से आज हमारे पास ऐसे कोई साधन उपलब्ध नही हैं जिनकी सहायता से संस्कृत नाटक संबंधी रंगमंच के प्रादुर्भाव और विकास का क्रमिक इतिहास प्रस्तुत किया जा सके। छोटा नागपुर के निकट रामगढ नामक पहाड़ियों मे कर्नल जे० आर० ओसली ने सन् १८४६ के लगभग दो गुफाएँ ढूँढ निकाली जिनसे अशोक कालीन "शिलालिपि" मे लेख खुदे हुए हैं। इन गुफाओ के नाम हैं "सीतावेंगा" और "जोगीमारा"। डॉ० थियोडोर ब्लोक ने सन् १८६४ मे इनने पर्याप्त निरीक्षण और परीक्षण के पश्चात् इन्हें प्राचीन नाट्यगृहो के अवशेष माना है।[1] ये रंगशालाएँ ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व की हैं। यहाँ नाटक खेले जाते थे तथा कविता पाठ होते थे। इसका समर्थन कई विद्वानों ने किया है।[2] पर बर्गेस आदि कतिपय विद्वानो ने इसका खंडन करते हुए यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि ये गुफाएँ निवास स्थान का ही काम देती थीं और यदा-कदा इनके मध्यखण्ड मे नृत्यसंगीत के आयोजन होते थे। जो कुछ भी हो, यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में हमारे यहाँ नाट्यगृह थे और नाटको का अभिनय होता था। मध्ययुग मे यह परंपरा तो टूट गई, पर लोक नाटको के खुले रगमच जारी रहे। "लोकनाटक" नामक इस प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में जिन लोकनाटको का विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत किया गया हैं वे सभी इसी 'लोकरंगमच' पर खेले जाते रहे है।

'दृश्यकाव्य' के नाम से अभिहित संस्कृत के सभी नाटक 'रंगमंचीय' थे। "आ परितोषाद्विदुषा न साधु मन्ये प्रयोग विज्ञानम्" कालिदास का यह आदर्श सभी नाट्य स्रष्टाओ के दृष्टि-समक्ष रहता था। किन्तु आगे जाकर कई ऐतिहासिक कारणो से नाटक के इस रूप मे परिवर्तन हुआ और वह दो भागो मे विभक्त हो गया। एक रंगमंचीय नाटक और दूसरा वह नाटक जिसकी रचना या तो रंगमंच की माग को पूरा करने के लिए नही की गई या जिसमे रंगमंचीय गुण नही हैं। इन दो भागों मे पात्र सृष्टि, भाषा-शैली, दृश्य-विधान, संवाद-योजना, दृष्टिकोण आदि कई बातो में भिन्नता दृष्टिगत होती है। पूर्व अध्यायो में हम

---

१. The Indian Stage—Vol I—Hemendranth Das Gupta 1934 Edition, p. 40.

२. (अ) The Theatre of the Hindus—by H. H. Wilson Etc., P. 221.
(आ) हमारी नाट्य परपरा :—श्री० श्रीकृष्णदास, प्र० सं० १६५६, पृ० १३८।

अधिकांश दूसरे भाग के हिन्दी और गुजराती नाटको का विवेचन कर चुके है। यहाँ हम 'रंग-मंच' और उसके सदर्भ मे दोनो भाषाओ के कुछ 'रंगमंचीय' नाटको का अध्ययन करेंगे।

अंग्रेजो के आगमन के पश्चात् रंगमच का आधुनिक युग शुरू होता है। अर्वाचीन ढंग के रंगमच का सर्वप्रथम प्रारंभ कलकत्ता मे हुआ। सन् १७५७ ई० के प्लासी युद्ध के समय कलकत्ता मे आज के मिशन-रो के पूर्वोत्तर भाग मे लाल बाजार मे अंग्रेजो का 'प्ले हाउस' नामक नाट्य-ग्रह था—[1] जहाँ अंग्रेजो के द्वारा अंग्रेजी नाटक खेले जाते थे। युद्ध मे उसके ध्वस होने पर सन् १७७५ ई० मे पुन उसका निर्माण हुआ। कलकत्ता के अंग्रेजी रगमच की यह परम्परा उन्नीसवी शताब्दी तक चलती रही। इससे प्रेरित तथा प्रभावित होकर हेरेसिम लेबेडेफ नामक रूसी यात्री ने सन् १७६५ ई० मे कलकत्ता के मध्य भाग मे एक नाट्यगृह स्थापित किया और बाबू गोलोकनाथ नामक बगाली भाषाविद् की सहायता से 'छद्मवेश' नामक बगला नाटक सर्वप्रथम दिनाक, २७ नवम्बर १७६५ के दिन खेला।[2] इसमे बंगाली पुरुषो के साथ स्त्रियो ने भी भाग लिया।[3] तत्पश्चात् नाट्यगृह और नाटक मण्डलियाँ क्रमश बनी और टूटी। पर बंगाली नाट्याभिनय की यह परम्परा लेबेडेफ के अनन्तर आज तक अक्षुण्ण रूपेण जारी रही है। समस्त भारत मे बंगाली रंगमंच सर्वप्रथम प्रारम्भ हुआ और उसका चरमोत्कर्ष भी हुआ। उसने हमारे देश की रगमचीय प्रवृत्ति को नेतृत्व प्रदान किया। उसे-कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध और सम्पन्न बनाने वाले नाट्याचार्य गिरीशचन्द्र घोष और शिशिर भादुड़ी यहाँ श्रद्धापूर्वक स्मरणीय हैं।

जहाँ तक हिन्दी और गुजराती रंगमचो का प्रश्न है उनका विकास बंगला रगमंच के अनन्तर हुआ है। परन्तु बंगला रंगमंच ने उन्हें प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नही किया। उन का विकास अन्य स्रोतो से हुआ। इस विषय की विवेचना करने के पूर्व यहाँ हम उस "इन्दर सभा" का परिचय प्राप्त कर लें जिसका सम्बन्ध हिन्दी-गुजराती दोनो के रंगमंचो से समान रूप से है।

'इन्दर-सभा'

अवध के सुप्रसिद्ध नवाब वाजिदअली शाह (शासन काल १८४७—१८८७ ई०) के समकालीन सैयद आगाहसन 'अमानत' (सन् १८१६—१८५८ ई०) थे। उन्होने लखनऊ मे "इन्दर-सभा" गीतिनाट्य (ओपेरा) की सन् १८५३ ई० मे रचना की। यह हिन्दी-उर्दू का प्राचीनतम उपलब्ध रगमंचीय नाटक है। यह कहा जाता है कि 'अमानत' वाजिदअलीशाह के दरबारी कवि थे। उन्होने अपने आश्रयदाता की आज्ञा से ही 'इन्दर-सभा' नाटक लिखा। लखनऊ के 'कैसरबाग' मे एक रंगमंच बनाया गया जहाँ इस नाटक का अभिनय किया।" यह मत श्री राम बाबू सक्सेना के "A Histoty of Urdu Literature" (उर्दू साहित्य का इतिहास) नामक ग्रन्थ के आधार पर प्रचलित हुआ। हिन्दी और गुजराती के कई लेखको ने

१. The Indian Stage, Vol I—Hemendra Nath Das Gupta, 1934, Edition, P. 176.

२. The Indian Stage, Vol I—Hemendranath Das Gupta, 1934 Edition, P. 220.

३. Ibid, p. 220.

इस मत को ग्रहण किया है।[1] किन्तु श्री सक्सेना के इतिहास पर आधृत यह मत अब गलत साबित हुआ है। प्रयाग विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग के प्राध्यापक श्री मसीहुज्जमाँ इस मत का खण्डन करते हुए अपने एक लेख मे लिखते है कि "यह बात बिलकुल अप्रमाणित है। 'अमानत' का वाजिदअलीशाह के दरबार से कभी कोई सम्बन्ध नही रहा।"[2] इससे यह स्पष्ट है कि 'इन्दर-सभा' की रचना अमानत ने स्वेच्छापूर्वक की थी। लखनऊ विश्वविद्यालय के उर्दू के प्राध्यापक श्री सैयद मसऊदहसन रिजवी भी अपनी पुस्तक 'इन्दर-सभा' मे प्रो० मसीहुज्जमाँ के कथन का समर्थन करते हैं।[3] आकाशवाणी लखनऊ से प्रसारित एक वार्ता मे श्री एस० इहतिशाम हुसैन भी यही राय पेश करते है कि यह गलत है कि "नवाब वाजिदअली शाह के कहने से आगाहसन 'अमानत' ने यह ड्रामा (इन्दरसभा) लिखा था कि 'अमानत' वाजिदअली शाह के दरबारी शायर थे। इन बातो को मैं इसलिए नही मानता क्यो कि 'अमानत' ने खुद 'इन्दरसभा' लिखने की वजह अपने दोस्त हाजी मिर्जा आबिदअली की फरमाइश बताई है।"[4]

इन प्रमाणो से यह सिद्ध होता है कि अमानत की 'इन्दरसभा' का वाजिद अलीशाह से कोई सम्बन्ध नही है। अब प्रश्न यह है कि 'इन्दरसभा' का वाजिदअलीशाह से सम्बन्ध कैसे जुड गया ?

इसका कारण यह है कि नवाब वाजिदअलीशाह के जमाने में भी रासलीलाएँ प्रचलित थी। इन्ही रासलीलाओ के आधार पर विविध घटनाओ को लेकर रगीले वाजिदअलीशाह ने राधाकृष्ण के 'रहस' (रास या रासलीला) लिखे थे। जो गोमती नदी की ओर कैसरबाग में स्थित उसके "रहसखाने" मे नृत्य, सगीत, अभिनय आदि के द्वारा खेले जाते थे[5] और जिनमें कई स्त्रियाँ और पुरुष भाग लेते थे। इस प्रकार 'रहस' का सम्बन्ध वाजिदअलीशाह से है और 'रहस' से प्रभावित होकर आगाहसन, 'अमानत' लखनवी ने उसी के

---

१. (क) हिन्दी
   (अ) अधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५० से १९००) डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० २७१।
   (आ) हिन्दी नाटक उद्भव और विकास डॉ० दशरथ ओझा, पृ० ३६६।
   (इ) भारतेन्दु नाट्य साहित्य, डॉ० नरेन्द्र कुमार शुक्ल, पृ० ३७।
   (इ) हिन्दी के पौराणिक नाटक, डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० २२०।
   (ख) गुजराती :—
   (अ) गुजराती के अभिनयाचार्य श्री जयशकर 'सुन्दरी' अपनी हस्तलिखित डायरी में (पृ० ३) लिखते है :—"बम्बई प्रदेश की रगभूमि से सम्बन्धित सभी लोग दृढतापूर्वक यह मानते हैं कि वाजिदअली शाह ने अपनी नर्तकियों के द्वारा 'सब्जपरी', 'पुखराजपरी' आदि का अभिनय करवाया था और उसमें उन्होंने स्वयं राजा इन्द्र का पार्ट लिया था। यह खेल (इन्दरसभा) राजमहल में खेला गया था।" (अनूदित)
   (आ) श्री मूलजी भाई पी० शाह का एक पत्र मेरे नाम।
२. हिन्दुस्तानी (इलाहाबाद) में प्रकाशित लेख—लेखक—प्रो० मसीहुज्जमाँ। अंक—अक्टूबर-दिस० १९५८, पृ० ५३-५४।
३. हमारी नाट्य परम्परा—श्री० श्रीकृष्णदास, पृ० २०६-७।
४. "सारग" आल इण्डिया रेडियो का पाक्षिक पत्र, अक—२२, अप्रैल सन् १९४९ ई०, वार्ता—'ड्रामा और नाटक' पृ० ३०।
५. 'कादम्बिनी' मार्च १९६२ में लेख—"उर्दू के प्रधान नाटककार और निर्देशक वाजिदअलीशाह"—ले० प्रो० मसीहुज्जमाँ, पृ० २१।

ढग पर "इन्दरसभा" नाटक बनाया[1]। इसलिए 'इन्दरसभा' का सम्बन्ध वाजिदअलीशाह से जुड गया है ऐसा प्रतीत होता है।

'इन्दरसभा' शृगार-प्रधान गीतिनाट्य (Opera) है। इसका विषय प्रेम और शृगार से सम्बन्धित है। राजा इन्द्र इसका नायक है। उसके सामने सभी परियाँ नाचती हैं। एक परी जिसका नाम 'सब्जपरी' है गुलफाम नामक इसान स प्यार करती है। इद्र इसे पसद नही करता। उस परी को कष्ट देता है। उसकी परीक्षा ली जाती है। उसमे सफल होने पर परी को अपने प्रियतम गुलफाम का साक्षात्कार होता है। इस छोटे से कथानक को अमानत ने 'इन्दरसभा' मे भारतीय और फारसी नाट्य-तत्वों के समिश्रण द्वारा प्रस्तुत किया है।

'इन्दरसभा' का रचना-विधान 'रहस' (रास) से मिलता-जुलता है। प्रारम्भ म निर्देशक रगमच पर आकर प्रेक्षको को सबोधित कर कहता है —

'सभा मे दोस्तो! इन्दर की आमद आमद है।
परी जमालो के अफसर की आमद आमद है।"

तत्पश्चात् राजा इन्द्र प्रवेश करता है और अपना परिचय वह स्वय देता है—

'राजा हूँ मैं कौम का और इन्दर मेरा नाम।
बिन परियों के दीद के मुझे नहीं आराम॥'

फिर इन्द्र परियोको लाने की आज्ञा देता है। प्रत्येक परी का पहले परिचय दिया जाता है। तदन्तर उसका प्रवेश होता है। आकर वह भी अपना परिचय देती है। यथा —

पुखराजपरी —'गाती हूँ मैं और नाच सदा काम है मेरा।
आफाक मे पुखराजपरी नाम है मेरा॥'

इस प्रकार सब्जपरी, नीलमपरी, गुलफाम आदि सभी पात्र क्रमश मच पर आते हैं। नाच-गान होना है। सगीत और पद्यात्मक सवादो द्वारा कथा विकास होता है। बीच-बीच मे आवश्यक रगमचीय सूचनाएं सगीतकार या निर्देशक देता है। इस तरह यह नाटक अभिनीत होता है।

'इन्दरसभा' की रचना के समय सभी लोकनाटको के अभिनय मे अश्लीलता आ गई थी। यात्रा, स्वाग रासलीला, भवाई आदि सभी मे स्थूल शृगार भावना और बीभत्स गीतो की भरमार थी। अमानत कृत 'इन्दरसभा' भी इस विषय मे उसी परम्परा का निर्वाह करती है। 'इन्दरसभा' का वातावरण अत्यन्त अश्लीलता एव अभद्रता से परिपूर्ण है। उसमे शृगारिक गानो की भरमार है। विलासी वातावरण के अनुरूप ठुमरी, गजल, वसत, होली आदि राग-रागनियो की रचनाएँ उसमे हैं। नृत्य और सगीत उसके अविभाज्य अग हैं।

'इन्दरसभा' की भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन सबसे पहले रोजेन नामक एक जर्मन विद्वान ने किया। इसकी भाषा फारसी शब्दो से भरी हिन्दी-उर्दू है। चौबोलो, छदो और गीतो का प्रयोग हिन्दी की प्रवृत्ति का परिचय देता है। ब्रजभाषा और अवधी के शब्दो का भी इसमे प्रयोग हुआ है। खडी बोली तो सर्वत्र है ही। इसके अतिरिक्त 'लखनवी टकसाली उर्दू' और विनष्ट उर्दू का भी बहुत काफी प्रयोग हुआ है।

वाजिदअलीशाह के जमाने मे अमानत की 'इन्दरसभा' सबसे पहले लखनऊ मे खेली

---

१. 'हिन्दुस्तानी में लेख— 'इन्दरसभा',—ले०—प्रो० मसीहुज्जमा, अक अक्टूबर-दिसम्बर १९५८-पृ० ४१।

गई। उसे अभूतपूर्व मफलता तथा अप्रत्याशित लोकप्रियता प्राप्त हुई। प्रो० ममीहुज्ज़मा का कथन है कि 'इन्दरसभा' जब लखनऊ मे खेली गई तो उसमे परियो का पार्ट भी लडको ने किया था। इसको देखकर लोगो ने इतना पसद किया कि मोहल्ले मोहल्ले यह खेला जाता रहा। लखनऊ मे उसकी धूम मच गई। ड्रामा का नाम ही आमतौर से 'इन्दरसभा' हो गया। बहुत सी नाटक कपनियाँ कायम हो गई जो अपन अपने तौर पर "इन्दरसभाएँ" खेलने और मुल्क मे दौरे करने लगी।"[1] भारतीय और यूरोपीय भाषाओ म इसके अनुवाद हुए। 'इन्दरसभा' का जर्मन भाषा मे अनुवाद करनेवाले जर्मन विद्वान रोजेन ने अपनी किताब में 'इन्दरसभा' के सोलह प्रकाशनो का वर्णन किया है जिनमे उर्दू के अतिरिक्त चार नागरी लिपि में और एक मराठी लिपि में है। लन्दन की इण्डिया आफिस लायब्रेरी सूची में 'इन्दरसभा' के ४८ प्रकाशनो का विवरण है जिनमें से ११ नागरी, ५ गुजराती, और १ गुरुमुखी लिपि में है।[2]

'इन्दरसभा' की इस असाधारण लोकप्रियता से प्रेरित होकर अन्य लेखको द्वारा लिखी गई ग्यारह 'इन्दरसभाएँ' आज उपलब्ध होती है। इनमें मदारीलाल कृत 'इन्दरसभा' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अमानत की इदरसभा के एक वर्ष बाद ही हिन्दी में "नाटक छैल बटाऊ रानी मोहना का" (१८५४) 'मुद्द-दरसभा' आदि ओपेरा अमानत की रचना शैली पर रचे गये।[3]

'नाटक छैल बटाऊ' का गुजराती सस्करण बम्बई के पारसी लेखक नशरवानजी खानसाहब ने 'विक्टोरिया नाटक मडली के लिए तैयार किया। बम्बई म भी 'इन्दरसभा' के प्रयोग पारसी नाटक कम्पनियो द्वारा किये जाने लगे।[4] तदुपरात "उसके अनुकरण पर खुरशेद सभा', फररोख सभा' 'हवाई सभा' 'बदर सभा' आदि गीतिनाट्यो (Operas) की अन्य लेखको ने रचनाएँ की और उन सबका अभिनय भी हुआ। तदन्तर बालको के लिए "बुलबुली इन्दरसभा" भी लिखी गई जिसे बम्बई के बच्चो ने खेला। दर्शक इसे देखकर प्रसन्न हो गए।"[5]

'इन्दरसभा' के अभिनय की जनप्रियता क्रमश समस्त भारत मे फैल गयी। इसे बम्बई की पारसी थियेट्रिकल कम्पनियो ने भारत के कई प्रमुख नगरो म खेला।[6] तदुपरात गुजराती और मराठी नाटक मण्डलियो ने भी 'इन्दरसभा' के प्रयोग किये।[7] 'इन्दरसभा' का

---

१. हमारी नाट्य-परम्परा—श्री कृष्णदास, पृ० २०३।
२ 'हिन्दुस्तानी' में लेख—'इन्दरसभा'—ले० प्रो० ममीहुज्ज़मा, अक—अक्टूबर-दिसम्बर-१९५८, पृ० ५६।
३. (क) हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डॉ० सोमनाथ गुप्त, पृ० १२।
   (ख) आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०-१९००)—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय पृ० २२३।
४ (अ) अभिनयकला—ले० श्री नरसिंहराव भोलानाथ दिवेटिया, आवृत्ति पहली, १९३०, पृ० ७७।
   (आ) प्रवेशको-गुच्छ-१—श्री० बलवतराय कल्याणराय ठाकुर पहली आवृत्ति-१९५६।
५ हस्तलिखित डायरी—श्री जयशकर 'सुन्दरी', पृ० ६४।
६ (अ) 'बाँध गठरिया' भा० २—श्री चन्द्रवदन मेहता जी, १९५४ नो पहली आवृत्ति, पृ० ५६।
   (आ) मराठी रगभूमि—श्री० श्रा० वि० कुलकर्णी, पृ० १०६।
७ (अ) 'गुजराती नाट्य पत्रिका', अक १, अप्रैल १९५६, पृ० ४०।
   (आ) 'मराठी रगभूमि ग्रन्थ' में 'डोंगरेयाची कम्पनी' नामक परिच्छेद—ले० श्री श्रा० वि० कुलकर्णी, द्वि० आ०, १९६१, पृ० १०६।

व्यापक प्रभाव इससे भी जाना जा सकता है कि कई थियेट्रिकल नाटकों में 'इन्दरसभा' विशेष प्रसंग के रूप में जुड़ी[1] और कइयों के गायन 'इन्दरसभा' के गायनों की तर्जों पर रचे गए।[2] वस्तुतः 'इन्दरसभा' का हमारे आलोच्य रंगमंच के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

व्यावसायिक रंगमंच

व्यावसायिक रंगमंच उन नाटक मंडलियों या थियेट्रिकल कम्पनियों से सम्बन्धित है जिनकी स्थापना व्यवसाय, व्यापार के हेतु होती है और जिनका प्रधान लक्ष्य धनोपार्जन होता है। वे मंडलियाँ, जिनका प्रयोजन नाट्याभिनय द्वारा कला और साहित्य की साधना करना होता है या जिनकी प्रवृत्ति अर्थलाभ के लिए नहीं, अपितु आनन्द प्राप्ति निमित्त होती है और जिनमें शौकिया तौर पर सभी सदस्य सम्मिलित होते हैं, अव्यावसायिक रंगमंच के अन्तर्गत आती हैं। हिन्दी-गुजराती रंगमंच का विशेष सम्बन्ध व्यावसायिक रंगमंच से रहा है। अतः सर्वप्रथम यहाँ उसका आलोचनात्मक इतिहास प्रस्तुत करना युक्तियुक्त होगा। तत्पश्चात् अव्यावसायिक रंगमंच का विवरण पेश किया जाएगा।

पारसी रंगमंच

हिन्दी गुजराती अधिकांश अभिनेय नाटकों का रंगमंच पर प्रवेश पारसी रंगमंच द्वारा हुआ है। इस पारसी रंगमंच का सम्बन्ध भारतीय संस्कृत रंगमंच से न होकर पाश्चात्य रंगमंच से रहा है। पारसी रंगमंच वस्तुतः गुजराती रंगमंच है, जिसका जन्म बम्बई में गुजराती भाषी पारसी सज्जनों के प्रयत्नों से हुआ है। इसी पारसी गुजराती रंगमंच पर हिन्दी-उर्दू नाटकों का सर्वप्रथम अभिनय बम्बई में प्रारम्भ हुआ और कालान्तर में उसने अखिल भारतीय रूप ग्रहण कर लिया। इसी पारसी गुजराती रंगमंच का इतिहास हिन्दी व्यावसायिक रंगमंच का इतिहास है। 'हिन्दी का कोई अपना रंगमंच नहीं है।'[3] इस मत का समर्थन हिन्दी के कई विद्वानों ने किया है।[4] हिन्दी रंगमंच कहलाने वाली और इस नाम को सार्थक करने वाली कोई स्थायी चीज हिन्दी जगत् के पास अभी तक भी नहीं है।[5] आशा की जाती है कि हमारे स्वतन्त्र्योत्तर प्रयत्नों के फलस्वरूप हिन्दी का रंगमंच अस्तित्व में आएगा।

---

१. उदाहरणार्थ—नजीरबेग का 'हरिश्चन्द्र नाटक', रामभजन मिश्र 'स्वतन्त्र' का 'हरिश्चन्द्र नाटक', हाफिज मुहम्मद अब्दुल्ला का 'शकुन्तला' नाटक, रामभजन मिश्र का 'प्रह्लाद नाटक' आदि—भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य—ले० डॉ० गोपीनाथ तिवारी, पृ० ८५१।

२ देखिए—'रानसिंह ने विमलदेवी' नामक नाटक—ले० वाघजी भाई आशाराम ओझा—मोरबी सुबोध आर्य नाटक मण्डली, बीजी आवृत्ति, १८६२।

३ महाकवि जयशंकर प्रसाद : 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', तृतीय संस्करण, संवत २००५ वि, पृ० १०६।

४. अ—डा० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक, षष्टम् संस्करण—१९६०, पृ० ९।
आ—श्रीकृष्णदास : हमारी नाट्य परम्परा, पृ० ६०७।
इ—डॉ० दशरथ सनाढ्य—हिन्दी के पौराणिक नाटक पृ० २१६।

५. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—ले० डॉ० सोमनाथ गुप्त, पृ० ६८।

अमानत कृत 'इन्दर सभा' (१८५३) के और पारसी व्यावसायिक रंगमंच के उद्‌भव के पूर्व इंगलैण्ड से अभिनेताओं की कम्पनियाँ भारत के पश्चिमी भाग में बम्बई और अन्य बड़े-बड़े शहरों में आती और अंग्रेजी खेलो का प्रदर्शन करती।[1] इनके अतिरिक्त रशियन, इटेलियन और फ्रेंच कलाकारो का भी इसी प्रकार आगमन होता।[2] सन् १८४५ में यूरोप की किसी ओपेरा कम्पनी ने अपने खर्च से बम्बई में ग्रांटरोड पर 'रॉयल थियेटर' नामक एक छोटा-सा नाट्यगृह बनवाया।[3] इस नाट्यगृह में पश्चिमी लोगों द्वारा अभिनीत नाटकों एवं ओपेराओ से अंग्रेजी अफसरों और उनसे सम्बन्धित अन्य लोगो का मनोरंजन होता था। अधिकतर शेक्सपियर के ही नाटक खेले जाते थे। बम्बई के तत्कालीन नगरपति सर जगन्नाथ शंकरसेठ ने उक्त नाट्यगृह सन् १८४७-४८ के करीब खरीद लिया।[4]

इन यूरोप से आने वाली नाट्य-कम्पनियो के अंग्रेजी नाटको तथा स्कूल-कॉलिजों के अंग्रेजी 'कॉन्सर्टों' को देखकर बम्बई के कुछ पारसी नवयुवको ने सन् १८५२ ई० मे पहली अवैतनिक 'पारसी नाटक मण्डली' शुरू की।[5] तदन्तर कई शौकिया नाटक मण्डलियाँ अस्तित्व में आयीं। उनमे से दो एक मण्डलियाँ शेक्सपियर के अंग्रेजी नाटकों के प्रयोग करती थी। एक-दो ईरानी नाटक मण्डलियाँ फारसी में नाटकों का अभिनय करती थी और शेष सभी पारसी मिश्रित गुजराती में नाटक खेलती थी। 'रुस्तम और सोराब' सबसे पहला गुजराती नाटक बम्बई मे सन् १८५३ मे 'पारसी नाटक मण्डली' द्वारा खेला गया।[6] इस मण्डली को प्रेरणा और प्रोत्साहन देने वाले सुप्रसिद्ध देश नेता स्व० दादाभाई नौरोजी थे और एक प्रसिद्ध महाराष्ट्री सज्जन डॉ० भाऊदाजी इसकी परामर्शदात्री समिति मे थे। बम्बई मे सन् १८५३ से १८६६ के बीच लगभग बीस अवैतनिक नाटक मण्डलियाँ क्रमशः अस्तित्व मे आयी।[7] उनमें से कुछ तो बन्द हो गईं और कुछ आगे चलकर पेशेवर नाटक मण्डलियों के रूप मे परिवर्तित हो गईं।

फारसी के समर्थ विद्वान, सुप्रसिद्ध गुजराती नाट्यकार, पत्रकार, समाज सुधारक और शिक्षा-प्रेमी केखुशरू नवरोजी काबराजी के मार्ग दर्शन मे बम्बई मे सन् १८६७-६८ मे सबसे पहली व्यावसायिक नाटक मंडली का प्रारंभ हुआ जिसका नाम 'विक्टोरिया नाटक मंडली था।[8] इस मंडली के चार मालिको में से एक पारसी नाट्य-सृष्टि के सर्वमान्य नेता,

---

१. 'गुजरात एक परिचय' नामक कांग्रेस स्मृतिग्रंथ में 'रंगभूमि ना सो वर्ष' नामक लेख। —ले० श्री चन्द्रवदन मेहता—पृ० २२६।
२. 'बांध गठरिया' भाग २, ले० श्री चन्द्रवदन मेहता प्रथम आवृत्ति, पृ०५३।
३. ,, ,, ,,
४. ,, ,, ,,
५. "पारसी नाटक तख्तानी तवारीख"—डॉ० धनजीभाई० न० पटेल० १९३१, पृ० २।
६. 'गुजराती नाट्य' में 'आपणी रंगभूमि' लेख—ले०—डा० डी० जी० व्यास, अक्तूबर, १९५६, पृ० ५।
७. "गुजरात एक परिचय" नामक कांग्रेस स्मृतिग्रंथ में 'रंगभूमि' शीर्षक लेख—ले० श्री हरकान्त शुक्ल, पृ० २२४।
८. (अ) पारसी नाटक तख्तानी तवारीख—डॉ० धनजीभाई न० पटेल, पृ० २।
(आ) डॉ० शिरागुष काबराजी—'गुजराती साहित्य परिषद् नी त्रैमासिक पत्रिका', पुस्तक पहेलुं—अंक त्रीजो, पृ० २१३।
(इ) हस्तलिखित डायरी—श्री जयशंकर 'सुंदरी', पृ० २०।

अनुभवी दिग्दर्शक एवम् सफल अभिनेता श्री दादाभाई रतनजी ठूठी थे और सचालन समिति के अध्यक्ष थे 'रोयल थियेटर' के मालिक महाराष्ट्री सद्गृहस्थ श्री विनायक जगन्नाथ शकर-सेठ। श्री के खुशरू काबराजी ने इसका मंत्री पद ग्रहण किया था। इस मडली ने सन् १८६६ मे सबसे पहले के खुशरू काबराजी का ''बेजन अने मनी जेह' नामक गुजराती नाटक खेला[1] जिसका कथानक प्राचीन ईरानी इतिहास से सबधित है। तत्पश्चात् 'निन्दाखानु', 'हरिश्चन्द्र', 'लवकुश' आदि कई नाटक खेले। खुरशीद बालीवाला ने सर्वप्रथम विक्टोरिया नाटक मडली के नाटक 'बेजन मनी जेह' (१८६६) मे एक स्त्री की भूमिका ली थी। इसमें उन्हें असाधारण सफलता प्राप्त हुई थी।[2] इसी प्रकार पेस्तनजी फरामजी मादन ने इसी मडली के 'दादे दरियाव' याने 'खुशरू नो खाविन्द खुदा' नामक गुजराती नाटक मे 'मावान' नामक नारी पात्र का अभिनय कर अतिशय प्रसिद्धि प्राप्त की थी।[3] 'विक्टोरिया नाटक मडली' के प्रारंभिक अभिनेताओं मे दादाभाई रतनजी ठूठी, खुरशीद बालीवाला, उनके पिता मेरवानजी बालीवाला, नसरवानजी फरामजी मादन, उनके भाई पेस्तनजी फराम जी मादन आदि थे। आगे जाकर इस मडली के मालिकों और अभिनेताओं मे काफी परिवर्तन हुए और इसके दो विभाग भी हो गये विक्टोरिया नाटक मडली और ओरिजिनल विक्टोरिया नाटक मडली।

हिन्दी-उर्दू भाषा का प्रारंभ .

प्रारभ मे ही बम्बई बहुभाषाभाषी नगर रहा है। अत भावे, किर्लोस्कर, डोंगरे आदि मराठी नाटक मडलियाँ बम्बई मे बसे हुए सभी प्रातो के लोगो के लिए अपने मराठी नाटकों के साथ हिन्दी म भी नाटक खेलती थी। बम्बई के सर जगन्नाथ शकरसेठ के ग्राट-रोड थियटर में भावे नाटक मडली अथवा सागलीकर नाटक मडली ने १८५४ ई० मे "राजा गोपीचन्द" नामक पहला हिन्दी नाटक खेला। इस प्रकार हिन्दी नाटक का सर्वप्रथम अभिनय बम्बई मे एक मराठी नाटक मडली द्वारा हुआ।[4] यह नाटक मडली सन् १८४३ मे महाराष्ट्र के अतर्गत सागली रियासत के महाराजा सर चितामणिराव आप्पा साहब पटवर्धन के प्रोत्साहन से उनके एक आश्रित श्री विष्णुदास भावे ने प्रारभ की थी।[5] इस मडली ने सर्वप्रथम 'सीता स्वयवर' नामक मराठी पौराणिक पद्य नाटक १८४३ ई० मे खेला।[6] यह मडली

---

१. (अ) गुजराती साहित्य परिषद नी त्रैमासिक पत्रिका, पु० १—अक ३ 'स्व० केखुशरू काबराजी' लेख—लेखक—डॉ० शियावक्ष काबराजी, पृ० २'३।
   (आ) पारसी नाटक तख्ता नी तवारीख—डॉ० धनजीभाई न० पटेल पृ० २।
   (इ) 'स्मारक ग्रथ' गुजराती नाट्य शताब्दी महोत्सव, पृ० १३।
   (ई) हस्तलिखित डायरी—श्री जयशकर 'सुदरी' पृ० २१।

२. पारसी नाटक तख्ता नी तवारीख—डॉ० धनजीभाई न० पटेल। १९३१, पृ० ६०।

३. वही पृष्ठ २०५।

४. (अ) बाध गठरिया, भा० २ . श्री चन्द्रवदन मेहता, पृ० ५३।
   (आ) 'गुजराती नाट्य पत्रिका' में लेख—'आपणी रगभूमि'—ले० डा० जी० व्यास 'अक्टूबर १९५९' पृ० ६।

५. मराठी रगभूमि—ले० श्री आप्पा विष्णु कुलकर्णी, द्वि० आ० १९६१, पृ० १५ और ३६।

६. मराठी रगभूमि—ले० आ० वि० कुलकर्णी पृ० ३६।

सागली के बाहर बम्बई, सौराष्ट्र और गुजरात मे घूम-घूमकर अपने नाटक प्रदर्शित करती थी। इन नाटको के सवाद मराठी से अनूदित हिन्दी मे होते थे और गीत मूल मराठी मे ही रहते थे, क्योकि मराठी गीतो का हिन्दी मे पद्यबद्ध अनुवाद करना कठिन माना जाता था।

बम्बई मे ठाकर सेठ का जहाँ नाट्यगृह था उस ग्राट रोड विभाग मे अधिकाश मुसलमान रहते थे। इसके अतिरिक्त लखनऊ की ओर से कुछ उर्दूदाँ मुसलमान पारसी नाटक कम्पनियो मे नौकर हो गये थे। व्यापारिक और व्यावहारिक मनोवृत्ति के पारसी मालिको को हिन्दी-उर्दू (हिन्दुस्तानी) भाषा मे नाटक खेलने पर अखिल भारतीय क्षेत्र प्राप्त होने की ओर उसके द्वारा धनोपार्जन करने की सपूर्ण सभावना दृष्टिगत होने लगी थी। इन सब बातो से प्रेरित होकर 'विक्टोरिया नाटक मडली' के मालिको मे से एक मालिक सोराब जी पटेल एम० ए० (दाजी पटेल) ने "सोने के मूल की खुरशीद" नामक हिन्दी-उर्दू नाटक सर्वप्रथम बम्बई मे सन् १८७१ मे विक्टोरिया थियेटर मे खेला जिसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई।[1] यह नाटक एदलजी खोरी कृत गुजराती नाटक "सोनाना मुलनी खोरशेद" का अनुवाद था। इसके अनुवादक थे बेहरामजी फरदुनजी मर्जबान। 'सोने के मूल की खुरशीद' की अत्यधिक लोकप्रियता से प्रेरित एव प्रोत्साहित होकर बम्बई की अन्य पारसी नाटक मडलियो ने भी गुजराती नाटको के साथ हिन्दी-उर्दू नाटक खेलने शुरू किये। इनमे एल्फिन्स्टन एल्फ्रेड, ओरिजिनल विक्टोरिया, एम्प्रेस विक्टोरिया, न्यू एल्फ्रेड आदि नाटक मडलियो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपरिलिखित गुजराती रगमच के अध्येताओ के प्रमाणो से यह सिद्ध होता है कि पारसी नाटक मण्डलियो का प्रारम्भ न 'इन्दरसभा' की प्रेरणा से हुआ और न इन मण्डलियो ने इन्दरसभा के अनुकरण पर हिन्दी उर्दू नाटक खेलने शुरू किये। वस्तुत. बम्बई मे आने वाली यूरोपीय ड्रामेटिक कम्पनियो के खेलो को और बम्बई के यूरोपीयन क्लबो के नाट्य प्रयोगो को देखकर तथा उनसे प्रेरणा प्राप्त कर पारसी नाटक मण्डलियो ने जन्म लिया। प्रारम्भ मे वे 'एमेच्योर क्लबो' के रूप मे थी। आगे जाकर व्यावसायिक नाटक मण्डलियो के रूप मे उनका परिवर्तन हो गया। इसका प्रामाणिक विवरण ऊपर प्रस्तुत किया गया है। अतएव अब डॉ० दशरथ ओझा का यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत नही कि "इन्दरसभा" के व्यवसाय को देखकर कतिपय उत्साही पारसी-सज्जनो ने एक थियेट्रिकल कम्पनी खोलने का सकल्प किया।"[2] सच बात तो यह है कि 'इन्दरसभा' (१८५३) के उद्भवकाल से ही बम्बई मे पारसी ड्रामेटिक क्लबो का प्रचलन था और पारसी लोग अग्रेजी तथा पारसी गुजराती भाषा मे नाटक खेलते रहते थे। हा, इसमे कोई सदेह नही कि 'इन्दरसभा' की अखिल भारतीय लोकप्रियता से प्रभावित होकर पारसी, गुजराती और मराठी नाटक मण्डलियो ने उसे भी खेलना शुरू कर दिया था। इसका उल्लेख पीछे 'इन्दरसभा' की विवेचना करते समय किया जा चुका है।

१. (अ) श्री फरामजी गुस्तादजी दलाल का "रनी बोधनो रास वधारो :— के० न० काबरा स्मारक अक 'मे लेख—'श्री० काबराजी नो नाटक तख्ता साथेनो संबध, एक जूना खेलाडीना नाजर'- पृ० ५६।

(आ) श्री चद्रवदन मेहता—'बाँध गठरिया' भा० २, प्र० आ० १९५४, पृ० ५५।

(इ) डॉ० डी० जी० व्यास का 'गुजराती नाट्य' नामक पत्रिका के "आपणी रगभूमि" नामक लेख- पृ० ७ अक-२ अक्तूब०—१९४६, पृ० ६।

(ई) श्री जयशकर 'सुन्दरी' की हस्तलिखित डायरी पृ० ५४।

(२) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा-पृ० २६६।

नाट्य साहित्य विषयक लगभग सभी हिन्दी शोधग्रन्थों में यह निर्देश किया है कि पेस्तनजी फरामजी ने १८७० के आसपास बम्बई में 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी नामक सबसे पहली पारसी नाटक मण्डली खोली।'[1] यह कथन पुनः विचारणीय है। पीछे कहा जा जा चुका है कि बम्बई की सबसे पहली व्यावसायिक पारसी नाटक कम्पनी "विक्टोरिया नाटक मण्डली" थी, जिसकी स्थापना सन् १८६७-६८ ई० में हुई थी और जिसके मालिक थे दादाभाई रतन जी ठूँठी। इसके मुख्य अभिनेता (१) दादाभाई, रतन जी ठूँठी, (२) खुरशीद बालीवाला (३) मेरवानजी बालीवाला (४) पेस्तनजी फरामजी मादन (५) नसरवानजी फरामजी मादन आदि थे।[2] विक्टोरिया नाटक मण्डली के दूसरे मालिक कुँवरजी नाजर के साथ मनमुटाव हो जाने के कारण दादाभाई सोराब जी, पटेल एम० ए० ने उससे अलग होकर 'ओरिजिनल विक्टोरिया नाटक मण्डली' (न कि ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी) की स्थापना सन् १८७४-७५ के आसपास की थी।[3] इसके अभिनेताओं में दादा भाई पटेल, नसरवानजी फरामजी मादन, पेस्तनजी फरामजी मादन, सोराबजी ओगरा आदि प्रमुख थे। ये सभी पहले "विक्टोरिया" में काम करते थे। दादाभाई पटेल के अवसान के पश्चात सन् १८७६ में पेस्तनजी फराम जी "ओरिजिनल विक्टोरिया नाटक मण्डली" के मालिक बने।[4] दादाभाई पटेल के अलग होने के बाद पुरानी विक्टोरिया नाटक मण्डली कुँवरजी नाजर के हाथ में रही जिसके अभिनेता थे कुँवरजी नाजर, खरशीद बालीवाला, मेरवानजी बालीवाला आदि।[5] खुरशीद बालीवाला ने इस मण्डली में इतनी दक्षता से कार्य किया कि उत्तरोत्तर विकास करते करते वे सन् १८८१ ई० में मालिक बन गये।[6]

यदि काल क्रमानुसार देखा जाय तो सन् १८६७-६८ में 'विक्टोरिया नाटक मण्डली,' सन् १८७० में 'एल्फिन्स्टन नाटक मण्डली,' सन् १८७१ में 'एल्फ्रेड नाटक मण्डली,' सन् १८७४-७५ में 'ओरिजिनल नाटक मण्डली' और १८७६ में 'एम्प्रेस विक्टोरिया नाटक मण्डली' स्थापित हुई थी। इससे यह सिद्ध होता है कि 'ओरिजिनल विक्टोरिया' सर्व प्रथम नहीं थी।

पारसी रंगमंच का अखिल भारतीय रूप

पारसी-गुजराती नाटक 'बेजन और मनीजेह' और हिन्दी उर्दू नाटक "सोने के मूल

१. (अ) डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—'आधुनिक हिन्दी साहित्य' पृ० २०३।
(आ) डॉ० श्रीकृष्णलाल—"आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास"।
(इ) डॉ० दशरथ ओझा—"हिन्दी नाटक उद्भव-पृ० २०३ और विकास" पृ० ३६६।
(ई) डॉ० श्रीपति शर्मा—'हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव।"
(उ) डॉ० वेदपाल खन्ना पृ० ४०६
"हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन"-पृ० ८८।
(ऊ) डॉ० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल : "भारतेन्दु का नाटक साहित्य"-पृ० ४०।
(ए) श्री श्रीकृष्णदास : "हमारी नाट्य परम्परा" पृ० ६०३।
२. (अ) पारसी नाटक तख्तानी तवारीख : डॉ० धनजी भाई न० पटेल पृ० १०५, १०६ और ११०।
(आ) श्री जयशंकर 'सुंदरी' की डायरी- पृ० ५०-५१।
३. (अ) श्री जयशंकर भाइ 'सुंदरी' की डायरी-पृ० १७१।
(आ) पारसी नाटक तख्तानी तवारीख—डा० धनजी भाई न० पटेल पृ० १३८।
४. पारसी नाटक तख्तानी तवारीख—ले० डॉ० धनजी भाई न० पटेल-पृ० १८६।
५. पारसी नाटक तख्तानी तवारीख- ले० डॉ० धनजी भाई न० पटेल-पृ० १३७।
६. पारसी नाटक तख्तानी तवारीख—ले० डॉ० धनजी भाई न० पटेल-पृ० १६३।

की खुरशीद" के सफल अभिनय के पश्चात् "विक्टोरिया नाटक मंडली" ने गुजराती और हिन्दी दोनों भाषाओं में नाट्याभिनय की परम्परा स्थापित कर दी। १८७२ तक बम्बई की सभी पारसी नाटक मण्डलियों का प्रवृत्ति केन्द्र बम्बई ही था।[1] तत्पश्चात् "विक्टोरिया नाटक मण्डली" सर्वप्रथम अपने हिन्दी-उर्दू नाटक लेकर हैदरराबाद के दीवान सर सालार जग बहादुर के आमंत्रण पर सन् १८७२ में हैदराबाद गई।[1] फिर १८७४ मे दिल्ली में इस मण्डली ने ही सबसे पहले पारसी लेखक नसरवानजी खानसाहब कृत "गोपीचंद राजा" नामक हिन्दी-उर्दू नाटक खेला।[1] सन् १८७७ के दिल्ली के शाही दरबार के समय इसने फिर से दिल्ली जाकर अपने कई नाट्य प्रयोग कर अपूर्व सिद्धि प्राप्त की। जहांगीर खंभाता ने सन् १८७६ में "पारसी एम्प्रेस विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी" की तो स्थापना ही दिल्ली में की, जिसे दिल्ली के कुछ धनिकों का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् "विक्टोरिया नाटक मण्डली" ने जयपुर, लखनऊ, बनारस, कलकत्ता, रंगून आदि भारत के कई शहरों मे जाकर नाटक खेले। इसे देखकर अन्य अनेक पारसी नाटक मण्डलियों ने भी अखिल भारत की यात्राएँ शुरू की जिनमे से "एल्फिन्स्टन," एल्फ्रेड," ओरिजिनिल विक्टोरिया" "एम्प्रेस विक्टोरिया," आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन मण्डलियों ने भारत के सभी प्रमुख शहरो के अतिरिक्त बिलोचिस्तान, नेपाल, रंगून, मॉडले, सिंगापुर आदि की यात्राएँ की और अपने हिन्दी-उर्दू नाटक खेलकर धनोपार्जन किया। सन् १८८५ में खुरशीद वालीवाला के नेतृत्व मे 'विक्टोरिया नाटक मण्डली' इण्डियन एण्ड कालोनीयल एक्सीबिशन में नाटक खेलने के लिए लन्दन भी गई और विनायकप्रसाद 'तालिब' के हिन्दी नाटक 'हरिश्चन्द्र' का वहाँ प्रयोग किया। इस प्रकार एक गुजराती-पारसी नाटक मण्डली ने भारत मे सबसे पहले विलायत जाने का महान साहस किया।

इन पारसी-गुजराती नाटक कम्पनियों के मालिक, अभिनेता और लेखक सदा बदलते रहे। कभी घाटे के कारण और कभी आपसी फूट के कारण ये कम्पनियाँ टूट जाती या दो भागों में विभक्त हो जातीं और दोनो भाग स्वतंत्र रूप से अपना-अपना व्यवसाय जारी रखते। अभिनेता और लेखक भी आर्थिक प्रलोभनो या अन्य किन्ही कारणों से कम्पनियाँ बदलते रहते। बम्बई की ये पारसी कम्पनियाँ सन् १९३५ तक किसी न किसी तरह अपना अस्तित्व बनाये रही। रेडियो एव सिनेमा के आगमन के पश्चात् वे धीरे-धीरे काल कवलित हो गईं।

अन्य हिन्दी नाटक मण्डलियाँ

पारसी नाटक मण्डलियों के अनुकरण पर धौलपुर में 'पेटर्न कम्पनी', बाँस बरेली में "हर मैजेस्ट्री विक्टोरिया ड्रामेटिक थियेट्रिकल कम्पनी,' चितौरा मे 'इन्डियन इम्पीरियल थियेट्रिकल कम्पनी, वगैरा कम्पनियाँ खुली, जिन्होंने नाटक, अभिनय, मंच आदि सभी बातों में पारसी कम्पनियों का ही अनुकरण किया। इनके उपरान्त काठियावाड की "सूर विजय नाटक मण्डली' भी बहुत मशहूर थी जो दिल्ली, बरेली, आगरा आदि उत्तर भारत के प्रमुख

---

१. डॉ० टी० जी० व्यास—गुजराती नाट्य पत्रिका में 'आपणी रंगभूमि' लेख—आक्टूबर १८५१—पृ० ७।
२. पारसी नाटक तख्तानी तवारीख—पृ० १२३ ले० डॉ० धनजी भाई न० पटेल।
३. पारसी नाटक तख्तानी तवारीख—पृ० १४७-४८ ले० डॉ० धनजी भाई न० पटेल।

नगरों की यात्रा पर अपने धार्मिक नाटक हिन्दी में खेला करती थी। दुर्लभराम रावल और लवजी त्रिवेदी इसके मालिक थे। गुजराती के यशस्वी रंगमंचीय नाटक लेखक नथूराम सुन्दरजी शुक्ल ने इस मण्डली को 'सूरदास' उर्फ 'बिल्वमंगल' नामक नाटक लिख दिया था जिसके अनेक प्रयोग बहुत ही सफलतापूर्वक हुए थे। इस कम्पनी की रंगमंचीय सजावट बड़ी शानदार थी। लवजी भाई का सूरदास का पार्ट निश्चय ही लाजवाब था। अंधे सूर बनकर जब वे गाते—"सेवक की सुधि लीजो रे श्याम सलोने," तब तो प्रेक्षक रो देते थे। आगाहश्र ने अपना हिन्दी 'सूरदास' उसी को सामने रखकर तैयार किया था।[1] 'सूरदास' के अतिरिक्त पंजाब के मुंशी किशनचन्द्र जेबा के 'सीता वनवास,' 'गंगावतरण' और 'महात्मा विदुर" तथा पं० राधेश्याम कथावाचक के 'श्रवणकुमार,' 'बालकृष्ण,' 'उषा अनिरुद्ध' इत्यादि नाटक इसी कम्पनी ने खेले थे।

सौराष्ट्र की 'वांकानेर-आर्यहित वर्धक संगीत नाटक कम्पनी' ने 'राजा गोपी चन्द' 'रणजीतसिंह' 'रामायण' 'पोरस सिकन्दर', 'सूरश्याम', 'कलियुग की सती , आदि कई नाटक हिन्दी में खेले थे। यह मंडली नागपुर, इन्दौर, कराची, भोपाल, रतलाम वगैरा शहरों की यात्राएँ करती थी। "मुंबई गुजराती नाटक मण्डली" ने भी बम्बई में हिन्दी-उर्दू नाटक खेले थे। तत्कालीन अधिकांश गुजराती नाटक मण्डलियाँ गुजराती के साथ साथ पारसी कम्पनियों के अनुकरण पर हिन्दी-उर्दू नाटकों का भी अभिनय करती थी।

हिन्दी प्रदेशों की व्यावसायिक कम्पनियों में मेरठ की "व्याकुल भारत नाटक कम्पनी" विशेष उल्लेखनीय है जिसकी स्थापना उच्च कोटि के संगीत और कुशल लेखक विश्वम्भर सहाय व्याकुल ने की थी। इस कम्पनी ने शुद्ध हिन्दी के ही नाटक खेले। 'व्याकुलजी' द्वारा रचित 'बुद्धदेव' नाटक कम्पनी का सर्वोत्तम नाटक था जिससे इसे बड़ी प्रसिद्धि एवम् प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। तदन्तर जनेश्वरप्रसाद 'मायल' के 'सम्राट चन्द्रगुप्त' नाटक के खेलों ने भी इस बहुत ही लोकप्रियता दिलवाई। व्यवस्था के अभाव में कुछ दिनों के बाद यह कम्पनी बंद हो गई।

अभिनेता

वैसे तो पारसी नाटक कम्पनियों में कई यशस्वी अभिनेता थे पर सन् १८६७ से १८८५ तक के यशस्वी पारसी अभिनेताओं में उल्लेखनीय दादा भाई ठूठी, खुरशीद बालीवाला, कावसजी खटाऊ, दादाभाई पटेल, पेस्तनजी मादन, जहाँगीर खम्भाता, सोराबजी ओगरा आदि हैं। आगे चलकर ये सभी अभिनेता स्वतन्त्र रूप से कम्पनियों के मालिक या डायरेक्टर बन गये और समस्त भारत में अपने खेल दिखाने लगे। प्रमुख अभिनेत्रियों में मिस मेरी फेन्टन (मेहरबाई), मिस गोहर, मिस मुन्नीबाई आदि सदा अमर रहेंगी जिन्होंने अपने उत्तम अभिनय द्वारा इन कम्पनियों को धन और यश से लाभान्वित किया और जनता का पूर्ण मनोरंजन किया।

पारसी नाटक कम्पनियों के हिन्दी-उर्दू नाटकों में भी अत्यन्त सफलतापूर्वक अभिनय करने वाले गुजरात के अभिनयाचार्य श्री जयशंकर भोजक 'सुन्दरी' यहाँ विशेष रूप से स्मरणीय हैं। उन्होंने सन् १८६७ में नौ वर्ष की आयु में हिन्दी-उर्दू नाटकों में सर्वप्रथम भाग लेना आरम्भ किया। उन्हें इसमें असाधारण सफलता और लोकप्रियता प्राप्त हुई। इनके हिन्दी-उर्दू के

१ मेरा नाटक काल—पं० राधेश्याम कथावाचक १९५७, पृ० ३५।

संवाद और भूमिकाएँ आज भी रंगमचीय इतिहास में अविस्मरणीय है। कलकत्ता में श्री दादाभाई ठूठी से अभिनय की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त कर जयशकर भाई बम्बई पहुँचे और वहाँ की 'मुबई गुजराती नाटक मण्डली' के कई गुजराती नाटकों मे भाग लेकर अमर कीर्ति सम्पादित की। मराठी रंगमच के यशस्वी अभिनेता बाल गधर्व के ये प्रेरणा-गुरु माने जाते हैं।[1] आज जयशंकर भाई ७७ वर्ष के हैं। श्रेष्ठ अभिनेता और दिग्दर्शक के रूप मे उन्हें भारत सरकार द्वारा राष्ट्रपति पदक प्रदान किया गया है।

इनके अतिरिक्त इस सिलसिले में कावसजी खटाऊ की एल्फ्रेड कम्पनी के गुजराती लेखक, अभिनेता और दिग्दर्शक अमृत केशव नायक (जन्म १८७७ ई० और मृत्यु १९०७ ई०) का नाम भी विशेषतः स्मरणीय है। ये अहमदाबाद के गुजराती होते हुए हिन्दी-उर्दू अत्यन्त शुद्ध और स्वाभाविक ढग से बोलते थे। इन्होने 'एल्फ्रेड कम्पनी' के साथ कई बार दिल्ली, लखनऊ, बनारस, कलकत्ता, लाहौर आदि की यात्राएं की थी। ये हिन्दी-उर्दू नाटको का दिग्दर्शन करने के अतिरिक्त स्वयं उनमें भूमिकाएँ भी लेते थे और उनमे 'लखनवी उर्दू' इतनी सफाई से बोलते थे कि उत्तर भारतीय जनता उन पर मुग्ध हो जाती थी। पं० राधेश्याम कथावाचक लिखते है कि "अमृतलाल निश्चय ही अच्छे एक्टर और डायरेक्टर थे, गानों के बोल बनाते थे—उसी के साथ-साथ तर्जें भी।"[2] प० नारायणप्रसाद बेताब भी अपनी पुस्तक 'बेताब चरित' मे उक्त कथन का समर्थन करते हुए यह निर्देश करते हैं कि 'अमृतलाल केशवलाल नायक बड़े सुज्ञ और साहित्यिक पुरुष थे। वे मेरे मित्र और एल्फ्रेड कम्पनी के डायरेक्टर थे। उनका कद छोटा था मगर डायरेक्टरी का ज्ञान बहुत बडा था।"[3] नारायणप्रसाद बेताब, आगाहश्र, मेहदी हसन 'अहसन' और राधेश्याम कथावाचक के कई नाटको का अमृत केशव नायक ने सफल दिग्दर्शन और अभिनय किया था। उन्होने सुप्रसिद्ध गुजराती लेखक स्व० मणिलाल नभुभाई की 'प्राण विनिमय' रचना का हिन्दी मे और हिन्दी के लेखक प० बालकृष्ण भट्ट के "शिवशंभु शर्मा के चिठ्ठे" और भारतेन्दु बाबू हरिश्चद्र के 'भारत दुर्दशा' का गुजराती मे अनुवाद किया था। दुर्भाग्य से तीस वर्ष की अल्पायु में उनका अवसान हो गया।

हिन्दी-गुजराती नाटको मे समानरूप से अभिनय करने वाले अन्य गुजराती नाटको मे मूलजी भाई, आशाराम ओझा, लवजी भाई त्रिवेदी, वल्लभ केशव नायक, मास्टर मोहन, अशरफखाँ आदि का नाम चिरस्मरणीय रहेगा।

गुजराती रंगभूमि

इस अध्याय के प्रारम्भिक पृष्ठो मे मराठी की जिस 'भावे नाटक कम्पनी' (१८५३) का उल्लेख किया है वह सौराष्ट्र-गुजरात मे यात्राएँ करती थी और अपने नाटकों का प्रदर्शन करती थी। इन नाटकों के संवादों की भाषा हिन्दी थी और गीत मराठी ही थे। इनके खेलो से प्रेरणा पाकर सन् १८६५ मे नागर युवकों ने, सन् १८६६ मे सारस्वत ब्राह्मणों ने और सन् १८७५ में लुहाणा गृहस्थों के लड़को ने जूनागढ़ में अव्यावसायिक गुजराती नाटक

१. 'गुजरात : एक परिचय'—कांग्रेस स्मृतिग्रंथ में 'रंगभूमि ना सौ वर्ष' नामक लेख-लेखक श्री चंद्रवदन मेहता।

२. मेरा नाटक काल—कविरत्न पं० राधेश्याम कथावाचक' १९५७, पृ० ६३।

३. 'बेताब चरित'—ले० पं० नारायण प्रसाद बेताब पृ० ७५।

मडलियाँ शुरू की थी ।[1] उक्त मण्डलियो के अतिरिक्त सगीत-नाटक खेलने वाली "किर्लोस्कर नाटक मण्डली" "राम० भाऊ नाटक कम्पनी" इत्यादि अन्य मराठी नाटक मण्डलियाँ भी सौराष्ट्र-गुजरात मे आती रहती थी । इन मराठी नाटक मण्डलियो का प्रभाव इस प्रदेश की कई नाटक मण्डलियो पर पडा ।[2] मोरबी नाटक मण्डली मे नाटको मे प्रारम्भ के कुछ वर्षों तक पात्रो के सवाद हिन्दी मे होते थे और गायन गुजराती मे गाये जाते थे ।[3]

बम्बई मे अपने हिन्दी-उर्दू नाटको के साथ एक गुजराती नाटक कम्पनी सन् १८७३ मे कवि दलपतराम कृत 'वेन चरित्र-कमला वैधव्य' नामक शुद्ध गुजराती नाटक का अभिनय किया । इसके कुछ ही मास पश्चात् करणघेलो' नामक गुजराती ऐतिहासिक नाटक एल्फिन्स्टन नाटक मण्डली के दिग्दर्शक कुँवरजी नाजर ने पेश किया । यह क्रम कई वर्षों तक जारी रहा । जब बम्बई रगमच पर पारसियो द्वारा हिन्दी उर्दू नाटकों के प्रयोगो का अतिरेक होने लगा तब शुद्ध गुजराती के नाटको को खेलने के लिए विशिष्ट प्रकार की गुजराती नाटक मण्डली शुरू करने की आवश्यकता सभी लेखक, दिग्दर्शक और अभिनेता करने लगे । इसी के फलस्वरूप गुजराती भाषी पारसी और हिन्दू सज्जनो ने एकत्रित होकर सन् १८७५ में 'नाटक उत्तेजक मण्डली' नामक सस्था की स्थापना की । श्री केखुशरू काबराजी इसके मत्री बने । इस मण्डली ने दीवान बहादुर रणछोड भाई उदयराम कृत 'हरिश्चन्द्र', 'नल-दमयंती' आदि प्रसिद्ध गुजराती नाटक । खेले 'हरिश्चद्र' का नाट्याभिनय तो इतना सफल रहा कि इस मण्डली की १८ वर्ष की जीवनावधि मे इसने उसके ११०० प्रयोग किये ।[4] इस नाटक की अतिशय लोकप्रियता देखकर खुरशीद बालीवाला ने उसी के अनुकरण पर विनायक प्रसाद 'तालिब' से हिन्दी मे 'हरिश्चद्र' नाटक लिखवाया और उसे सफलता पूर्वक खेला ।[5] रणछोड भाई के अतिरिक्त कवि नर्मद और काबराजी के भी शिष्ट गुजराती नाटक इसी मण्डली ने खेले ।

इस मण्डली के मालिक के साथ झगडा हो जाने से नरोत्तम मेहताजी ने कुछ शिक्षको के सहयोग से सन् १८७८ ई० मे 'गुजराती नाटक मण्डली' नामक दूसरी मण्डली की रचना की । इसने सर्वप्रथम रणछोड भाई उदयराम के अत्यन्त प्रसिद्ध नाटक 'ललिता दु ख दर्शक' का अभिनय किया । इसे इतनी सफलता और लोकप्रियता प्राप्त हुई कि वर्षों तक इसके

---

१. 'गुजराती नाट्य' का अगस्त १९५५ का अक, पृ० २७ ।

२. (अ) साठीनु वाङ्मय—श्री दाह्याभाई पीताम्बरदास देरासरी, आवृत्ति १९११, पृ० १११ ।
 (आ) गुजराती साहित्यना वधु मार्ग सूचक स्तभो—श्री कृष्णालाल, मोहनलाल झवेरी, प्र० आ० १९३०, पृ० १८६ ।
 (इ) अभिनय कला—श्री नरसिंह राव भोलानाथ दिवेटिया, पृ० १०४ ।

३. 'रणछोडभाइ उदयराम शताब्दी स्मारक ग्रथ' में लेख : 'रणछोड़भाई—गुजरातना आद्य-नाटककार'—ले० सर रणभाई नीलकठ, पृ० ८३ ।

४. 'स्त्रीबोध पत्रिका'—काबराजी स्मृति अंक पृ० ६० ।

५. (अ) श्री जयशकर 'सुन्दरी' की 'डायरी' पृ० ५७ ।
 (आ) 'मेरा नाटककाल'—प० राधेश्याम कथावाचक, पृ० २१ ।

नोट—श्री चन्द्रवदन मेहता का यह मत है कि इस गुजराती 'हरिश्चन्द्र' नाटक के कइ पारसी नाटक कम्पनियों ने हिन्दी में भाषातर और रूपातर करवाये । कुछ ने तो उनमें आगाहश्र की जोशीली शायरी भी जोडी और उन्हें भारत के सभी छोटे-बडे शहरों में और परदेशों में अभिनीत किया—'रगभूमिना सोवरस', पृ० २२७ ।

प्रयोग होते रहे। इस नाटक से प्रभावित होकर एक वृद्धा ने अपनी पुत्री की सगाई छोड़ दी। इस प्रकार यह नाटक परोक्ष रूप से समाज सुधार का कार्य भी करने लगा।[1] उन दिनों किसी भी आवारा लड़के को इस नाटक के नायक 'नन्दकुमार' के नाम से सम्बोधित करने का गुजरात में प्रचलन सा हो गया एक था। दर्शक की असाधारण लोकप्रियता के पश्चात् यह गुजराती नाटक मण्डली सन १८८६ ई० में 'मुंबई गुजराती नाटक मण्डली' के रूप में परिवर्तित हो गई। गुजराती रंगमंच के इतिहास में इस मण्डली का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। नाट्याचार्य जयशंकरभाई 'सुन्दरी' ने इसी के कई नाटकों में नायिका की भूमिकाएँ लेकर अमर कीर्ति सम्पादित की। इसके सुप्रसिद्ध नाटक "सौभाग्य सुन्दरी" में 'सुन्दरी' नामक नायिका का अत्यन्त सफल अभिनय करने के कारण जयशंकरभाई स्वयं 'सुन्दरी' ही के नाम से सम्बोधित होने लगे और आज भी यह सम्बोधन जारी है। गुजराती रंगभूमि को संस्कारिता और सचरित्रता के उच्च गुणों से विभूषित कर उसे नवीन दिशा की ओर प्रवृत्त करने का उदात्त कार्य जयशंकरभाई ने किया। उनकी गुजराती रंगमंच की सेवाएँ चिरकाल तक स्मरणीय रहेंगी इसमें संदेह नहीं। इस मंडली के सफल दिग्दर्शक बाबूलाल नायक भी यहाँ उल्लेखनीय हैं। वे भी 'सुन्दरी' के साथ पुरुष पात्र का उत्तम अभिनय करते थे। इनके अतिरिक्त 'सिद्ध ऐसा' नाटक लेखक मूलशंकर मुलाणी और सुविख्यात संगीतकार पंडित वाडीलाल भी इसके साथ संलग्न थे।

सन् १८९० से १९२२ ई० तक गुजराती-नाट्य प्रवृत्ति अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई थी। केवल बम्बई में ही लगभग १२ स्थायी व्यावसायिक मंडलियाँ थीं जिन्होंने पर्याप्त सम्पत्ति और कीर्ति सम्पादित की। उनमें से 'आर्यनोनिग्दर्शक नाटक समाज', 'रॉयल नाटक मंडली', पारसी इम्पीरियल थियेट्रिकल कम्पनी आदि उल्लेख्य हैं।

पीछे यह निर्देश किया जा चुका है कि 'भावे', 'किर्लोस्कर' आदि मराठी नाटक मंडलियाँ सौराष्ट्र में आकर अपने हिन्दी नाटक खेलती थीं। उनसे प्रेरणा प्राप्त कर सौराष्ट्र में भी शौकिया और पेशेवर नाटक मंडलियाँ खुलने लगी थीं। बम्बई की पारसी थियेट्रिकल कंपनियों ने भी इस प्रवृत्ति को बड़ा बल दिया। सौराष्ट्र में सर्वप्रथम नरभेराम नामक एक ब्राह्मण ने सन् १८७८ में एक छोटी-सी व्यावसायिक नाटक मंडली की स्थापना की। उसी वर्ष वाघजीभाई आशाराम ओझा की प्रसिद्ध 'भारती आर्य सुबोध नाटक मंडली' खुली। वाघजीभाई उच्च कोटि के विद्वान्, कवि और नाट्यकार थे। उनके भाई मूलजीभाई आशाराम ओझा ऊँचे दर्जे के अभिनेता एवम् दिग्दर्शक थे। इस मंडली ने विशेषता पौराणिक, धार्मिक और ऐतिहासिक नाटक खेले। इसी परम्परा में सौराष्ट्र की 'वाँकानेर आर्य हितवर्धक नाटक मंडली' (१८८९ ई०), 'वाँकानेर सत्यबोधिक नाटक कम्पनी (१९०६), 'वाँकानेर नृसिंह गौतम नाटक समाज' (१९०६) आदि परिगणित होती हैं। इन मंडलियों ने गुजरात सौराष्ट्र के अतिरिक्त मध्य भारत और राजस्थान के कई भागों की यात्राएँ की और गुजराती के साथ-साथ हिन्दी और उर्दू के भी कोई नाटक खेले।

अहमदाबाद मिशन हाईस्कूल के अध्यापक, संगीत और नाट्यकार डाह्याभाई धोलशाजी झवेरी ने सन् १८८९ में 'देशी नाटक समाज' नामक नाटक मंडली का सूत्रपात किया। उत्तम कोटि के उपदेशात्मक नाटकों के प्रणयन एवम् प्रदर्शन द्वारा डाह्याभाई ने ३५ वर्ष के अपने अल्प जीवन (काल) में गुजराती रंगमंच की बड़ी सेवा की, तदुपरान्त गुजराती के यशस्वी नाटककार श्री जयंति दलाल के पिता श्री घेलाभाई दोलतराम दलाल

१. रणछोड़भाई उदयराम स्मारक ग्रंथ पृ० ८२।

ने अहमदाबाद में सन् १९०५ मे 'श्री देशी नाटक कम्पनी' खोली जिसके द्वारा कई गुजराती नाटको क प्रयोग हुए।

इसी कालावधि मे सूरत, बडोदा, पालिताणा, धांगध्रा, कच्छ इत्यादि में भी व्यावसायिक नाटक मडलियाँ खुली और उनके द्वारा कई नाट्य प्रदर्शन हुए। सन् १९२२ तक लगभग ३०० पारसी गुजराती व्यावसायिक नाटक मडलियाँ अस्तित्व में आईं। उनमें से आज केवल 'देशी नाटक समाज', 'लक्ष्मी कला केन्द्र', 'गुजरात कला मंदिर' इत्यादि तीन-चार मडलियाँ ही जीवित रह पाई है। अन्य सभी काल-कवलित हो गईं।

रंगमंचीय नाटक लेखक

बम्बई की पारसी-गुजराती नाटक मडलियो द्वारा उनकी शैशवावस्था में तो केवल पारसी-गुजराती मिश्रित भाषा के नाटक खेले जाते थे। आगे चलकर शुद्ध गुजराती नाटको के अभिनय होने लगे। सन् १८७२ ई० के पश्चात् बम्बई का रगमच दो धाराओ में विभक्त हो गया। एक धारा थी हिन्दी-उर्दू नाटकों की और दूसरी थी गुजराती नाटको की। यहाँ यह भी सकेत करना आवश्यक है कि दीर्घावधि तक बम्बई और गुजरात की अधिकाश कम्पनियाँ दोनो भाषाओ में नाटक खेला करती थीं। उनके अभिनताओं और दिग्दर्शकों का दोनो भाषाओ पर समान अधिकार था।

हिन्दी-उर्दू नाटककार—

पारसी कम्पनियो के उद्भव काल में उनके हिन्दी-उर्दू नाटक पारसी लेखको द्वारा ही लिखे जाते थे। उनमें से मुख्य ये थे · बेरामजी फरदुनजी मर्जबान, नशरवानजी मेरवानजी खानसाहब आदि। आगे चलकर प्रत्येक कम्पनी वैतनिक रूप से अपने हिन्दी उर्दू भाषी लेखक रखने लगी।

लगभग १८७३ से मुन्शी मोहम्मदमियाँ "रौनक" विक्टोरिया नाटक मडली से सम्बद्ध थे। पारसी नाटककार नशरवानजी खानसाहब के सभी हिन्दी-उर्दू नाटकों में इन्होने सशोधन किया।

बनारस निवासी विनायक प्रसाद 'तालिब' भी 'विक्टोरिया' से उस समय सलग्न थे जब खुरशीद बालीवाला उसके मालिक थे। ऊपर यह निर्देश किया जा चुका है कि गुजराती के सर्वप्रथम रगमचीय नाटककार रणछोडभाई उदयराम के गुजराती हरिश्चन्द्र नाटक की अभूतपूर्व सफलता को देखकर बालीवाला ने 'तालिब' से उक्त नाटक के अनुकरण पर हिन्दी-उर्दू हिन्दुस्तानी में हरिश्चन्द्र नाटक लिखवाया था जिसे खेलकर 'विक्टोरिया' ने समस्त भारत में अत्यत लोकप्रियता प्राप्त की। यह स्मरणीय है कि व्यावसायिक नाटक मडलियो में धार्मिक नाटक लिखने का प्रारम्भ 'तालिब' ने और उन्हे खेलने का प्रारम्भ खुरशीद बालीवाला ने 'विक्टोरिया नाटक मडली द्वारा किया। 'हरिश्चन्द्र' 'रनकतारा', 'भर्तृहरि' आदि धार्मिक नाटको के अतिरिक्त 'तालिब' ने अन्य सामाजिक एव ऐतिहासिक नाटको का भी प्रणयन किया।

रगमचीय पौराणिक नाटक लेखको मे प० नारायणप्रसाद 'बेताब' ने बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त किया है। उन्होने सर्वप्रथम बमनजी काबराजी कृत गुजराती नाटक 'दोरंगी दुनिया' के आधार पर 'कसौटी' नामक नाटक एक पारसी नाटक मण्डली के लिए लिखा जो

१९०३ मे लाहौर मे खेला गया। फिर ये कावसजी खटाऊ की 'एल्फ्रेड' कम्पनी के वेतनभोगी नाटककार बन गये[1]। प्रारम्भ मे इन्होने 'कत्लेनज़ीर', 'ज़हरी साँप' आदि उर्दू के नाटक लिखे। फिर 'महाभारत', 'रामायण', 'कृष्णसुदामा', 'गणेश जन्म' आदि पौराणिक नाटक बोलचाल की हिन्दी मे लिखे। 'मोरबी आर्य सुबोध,नाटक मण्डली' द्वारा अभिनीत गुजराती नाटक 'सती द्रौपदी' (बापजी आगाराम ओझा कृत) की अनपेक्षित सफलता को देखकर उसी के आधार पर कावसजी खटाऊ ने नारायणप्रसाद 'बेताब' से 'महाभारत' नाटक लिखवाया था।[2] पारसी कम्पनियो मे सुरुचिपूर्ण हिन्दी नाटकों का प्रचलन करने का श्रेय 'बेताब' को है।[3] खटाऊ कम्पनी के समर्थ गुजराती दिग्दर्शक अमृत केशव नायक के निधन (१९०७) पर उनके स्मारक रूप मे 'बेताब' ने अपने एक नाटक का नाम'अमृत' रक्खा था।[4] यह घटना दोनो लेखकों के घनिष्ट प्रेम का उत्तम प्रमाण प्रस्तुत करती है।

मुंशी मेंहदी हसन 'अहसन' लखनवी ने 'चलता पुर्जा' नामक एक नाटक किसी गुजराती उपन्यास के कथानक का आधार लेकर लिखा था।[5] भारत के सर्वश्रेष्ठ नट[6] और न्यू-एल्फ्रेड कम्पनी के डायरेक्टर सोहराबजी ओगरा ने उस नाटक को कई शहरो मे बड़ी ही सफलता से खेला। उस नाटक की अतिशय लोकप्रियता से अहसन साहब भी बहुत मशहूर हो गये। उन्होंने न्यू एल्फ्रेड कम्पनी के लिए और भी कई नाटक लिखे।

व्यावसायिक रंगमंचीय नाटक लिखने मे आगाहश्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। रंगमंचीय नाटक-संसार मे आगाहश्र को 'भारतीय शेक्सपीयर' कहा जाता है। उन्होने शेक्सपीयर के कुछ नाटकों को रूपान्तरित किया है। उर्दू के आलोचकों ने उन्हे उर्दू का 'मारलो' कहा है क्योकि इनके नाटको पर मारलो की शैली का पर्याप्त प्रभाव है।[7] आगाहश्र का सम्बन्ध बंबई की एल्फ्रेड कम्पनी और इम्पीरियल कम्पनी से तथा कलकत्ता की भारत कंपनी से रहा है। इन्होंने 'शेक्सपीयर नाटक कंपनी' नामक अपनी निजी कम्पनी भी खोली थी जिसका अल्पायु मे ही निधन हो गया। इनके नाटकों के चलचित्र (फिल्म) भी बने हैं। आगाहश्र ने 'मुरीदे हवस', 'पाकदामन', 'असीरे हिर्स', 'मीठी छुरी', 'खूबसूरत बला' आदि उर्दू के बहुत लोकप्रिय नाटक लिखे। 'बेताब' के पौराणिक नाटको की अत्यधिक लोकप्रियता से प्रभावित होकर आगाहश्र उर्दू के साथ-साथ हिन्दी मे भी नाटको का प्रणयन करने लगे। वे दोनो भाषाओ पर अधिकार रखते थे[8]। हिन्दी 'सीता' नाटक का पूर्वार्द्ध आगाहश्र ने और उत्तरार्द्ध 'बेताब' ने लिखा है।[8] इनके हिन्दी नाटको मे गणना पात्र है—'सूरदास', (पं०-नथूराम कृत गुजराती 'सूरदास' की अनुकृति) 'सीता वनवास', 'भीष्म प्रतिज्ञा', 'गंगावतरण' 'श्रवणकुमार', 'आँख का नशा', 'समाज सुधार', 'धर्मी बालक' आदि। इन्होने १६ उर्दू और १० हिन्दी नाटक रचे।

तालिब, बेताब और आगाहश्र के रंगमचीय नाटको का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा नही

१. मेरा नाटक-काल—पं० राधेश्याम कथावाचक, पृ० ३५।
२. साहित्यालोचन—डॉ० श्यामसुन्दरदास, पृ० २२७।
३. बेताब चरित्र—श्री नारायण प्रसाद बेताब पृ० ७६।
४. ,, ,, पृ० ८७।
५. ,, ,, पृ० ८७।
६. हिन्दी के पौराणिक नाटक—डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० २२५।
७. बेताब चरित्र—श्री नारायणप्रसाद 'बेताब' पृ० १११।
८. बेताब चरित्र—श्री नारायणप्रसाद 'बेताब' पृ० १५।

था। उनका प्रदर्शन करने वाली पारसी कम्पनियो का स्तर तो और भी अधिक निम्न कोटि का था। जनता की रुचि इससे विकृत होती थी। ऐसे समय में बरेली निवासी प० राधेश्याम कथावाचक का पौराणिक नाटक लेखक के रूप में रगमचीय जगत् मे आगमन हुआ। उन्होंने अपने नाटको द्वारा प्राचीन गौरव और आदर्श को जनता के समक्ष उपस्थित कर सुरुचिपूर्ण वातावरण की सृष्टि करने का सत्प्रयत्न किया। उस समय पारसी नाटको के अग थे - अनौचित्यपूर्ण कथानक, बीभत्स वार्तालाप, भौडी हँसी-मजाक, नाच गान, रोना-चिल्लाना, चमत्कारी दृश्य-विधान आदि। इन बातो का प० राधेश्याम ने सर्वथा परित्याग तो नही किया, परन्तु समसामयिक परिस्थित्यानुसार भाषा, भाव और शैली मे यथासम्भव परिवर्तन एवम् परिष्कार कर नवीन मार्ग को प्रशस्त किया। डॉ० सोमनाथ गुप्त ने इस विषय मे उचित ही लिखा है कि—"अनेक विरोधी परिस्थितियो के होते हुए भी उन्होंने रगमच पर शुद्ध हिन्दी भाषा का प्रवेश कराया और दर्शक-मण्डली मे सुरुचि-प्रसार का सतत उद्योग किया।"[1] इसमे सदेह नही कि प० राधेश्याम के पौराणिक नाटक हिन्दी रगमचीय नाटको मे बहुत ऊंचा स्थान रखते है।[2] पडित जी का बम्बई की 'न्यू एल्फ्रेड' काठियावाड की 'सूरविजय', बरेली की 'व्याकुल भारत' आदि नाटक कम्पनियो से सम्बन्ध रहा है। 'वीर अभिमन्यु' इनका सबसे प्रसिद्ध नाटक है जो १९१४ ई० मे रचा गया और ४ फरवरी १९१६ के रोज सबसे पहले 'न्यू एल्फ्रेड' द्वारा दिल्ली में अतीव सफलतापूर्वक खेला गया। पारसी रगमच पर हिन्दी नाटक के नाम से खेला जाने वाला यह सबसे पहला नाटक था। तत्पश्चात् पडित जी ने 'श्रवणकुमार', ,उषा अनिरुद्ध', 'परमभक्त प्रहलाद', 'श्री कृष्णावतार', 'रुक्मणीमगल', 'द्रोपदीस्वयवर', 'ईश्वरभक्ति' आदि हिन्दी पौराणिक नाटको की रचना की। 'ईश्वरभक्ति' का निर्माण 'मोरवी आर्य सुबोध नाटक मण्डली' के गुजराती नाटक "अबरीष" (हरिशकरमाधव जी भट्ट कृत के आधार पर हुआ है।[3] राधेश्याम जी ने "मशरिकी हूर' नामक उर्दू नाटक लिखकर उर्दू नाट्य जगत् मे भी अपना स्थान स्थिर किया। इस प्रकार पडित जी ने प्रतिभा सम्पन्न नाटककार के रूप मे कीर्ति प्राप्त की। इनकी हिन्दी भाषियो के प्रति एक शिकायत रही कि "बरसो के परिश्रम के बाद हम लोग स्टेज को इन्दरसभा' से उठाकर 'महर्षि बाल्मीकि' तक लाए, परन्तु हिन्दी भाषी हमारे पोषक न बने, इसलिए हम और न बढ पाये।"[4] वस्तुतः हिन्दी भाषा भाषियो के लिए यह चिन्तनीय विषय है।"

गुजराती नाटककर

पुरानी पारसी-गुजराती नाटक मण्डलियाँ अपने नाटक अन्य कम्पनियो द्वारा अनुकरण किये जाने के डर से छपवाती नही थी। केवल कथासार और गायन (ओपेरा) प्रकाशित कर देती थी। इसलिए इन लगभग ३०० नाटक मण्डलियो के द्वारा खेले गये हजारो नाटको मे से आज कुछ ही नाटक उपलब्ध होते है और जो उपलब्ध होते हैं व वस्तुत किन लेखको के हैं इसका निर्णय करना भी कठिन है, क्योंकि इन व्यावसायिक नाटक मण्डलियो के मालिक अपने लेखको और मुन्शियो द्वारा नाटक लिखवाकर अपने ही नाम से प्रगट करवाते थे। बहुत थोडे ही ऐसे नाटक है जिन पर सही रचयिताओं के नाम छप हैं। पारसी-गुजराती

१. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डॉ० सोमनाथ गुप्त, पृ० ११७।
२. हिन्दी के पौराणिक नाटक—डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० २२६।
३. मेरा नाटक काल श्री प० राधेश्याम कथावाचक पृ० १६५।
४. साहित्य सदेश भा० २७ अक १-२ पृ० १००।

रगमच के शिष्ट कोटि के नाटककारो मे सर्वप्रथम उल्लेखनीय केखुशरू काबराजी (१८४२-१९०४) है जो सर्वतोमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। उनके 'बेजन मनी जेह' नामक गुजराती नाटक स पारसी-गुजराती रगमच का सूत्रपात होता है। इस नाटक की कथा "फिरदौसी के शाहनामे" पर आधारित है। इनका दूसरा रगमचीय नाटक 'लवकुश' है जिसकी कथा रामायणाश्रित है। इनक अन्य नाटक हैं—'नदबत्तीसी', निंदाखानु', 'सीताहरण', 'भोलीजान', 'दुःखी गुल' आदि। इन नाटको के कथानक या तो हिन्दू पुराणो से लिये गये है या ईरानी इतिहास स। काबराजी के अग्रेजी नाटको के रूपान्तर भी उपलब्ध होते है। इनका घनिष्ठतम सम्बन्ध 'विक्टोरिया नाटक मण्डली' और 'नाट्य उत्तेजक मण्डली' से रहा है। काबराजी के अतिरिक्त पारसी गुजराती नाटक कम्पनियो से सलग्न अन्य पारसी नाटककार थे एदलजी खोरी, धनजी भाई न० पटेल, केखुशरू काबराजी, बेरामजी, फरदुनजी, मर्जबाना, नसरवानजी, मेरवानजी, खान साहब आदि। इन लेखको के नाटक ईरानी-फारसी कथाओ के आधार पर रचे गये है या अग्रेजी नाटको के रूपातर है। इन प्रारम्भिक रगमचीय नाटको मे न गुजराती भाषा की शुद्धि है और न नाट्य तत्त्वो का समीचीन समावेश हुआ है। अग्रेजी नाटको क अधानुकरण पर वे रचे गय हैं। वे सभी रगमचीय नाटक सन् १८५२ से सन् १८६० के बीच तत्कालीन जनता का मनोरजन करते रह।

श्री कखुशरू काबराजी के मन्त्रित्व मे प्रस्थापित 'नाटक उत्तेजक मडली' (१८७५ ई०) शुद्ध गुजराती भाषा के नाटक खेलने वाली सर्वप्रथम नाटक मडली थी जिसे "गुजराती रगभूमि क नाटको के पिता" रणछोडभाई उदयराम का सहयोग प्राप्त हुआ था। इनके नाटको की विवेचना पिछले अध्यायो मे की जा चुकी है। इनके 'हरिश्चन्द्र' और 'नल दमयती' इन दो नाटको को "नाटक उत्तेजक मडली" ने अत्यन्त सफलतापूर्वक खेला था। तत्पश्चात् 'गुजराती नाटक मडली' (१८७८) द्वारा अभिनीत इनका "ललिता दुःख दर्शक" नाटक अतिशय लोकप्रिय हुआ। आगे जाकर इस मडली ने रणछोडभाई के लगभग सभी नाटक खेले। रणछोडभाई गुजराती रगमच एव नाटक के जनक माने जाते हैं।

रगमच को दृष्टि समक्ष रखकर जनमन रजन तथा उसी के साथ उद्बोधन के उच्चाशय को दृष्टि समक्ष रखकर नाटक लिखने वालो मे "मोरबी आर्य सुबोध नाटक मडली" के मालिक और सचालक वाघजी भाई, आशाराम ओझा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'सीता स्वयवर', 'रावण वध', 'ओखाहरण', 'भर्तृहरि', 'चन्द्रहास', 'त्रिविक्रम', 'पृथुराज, राठोर', 'सती रणकदेवी' आदि इनके लगभग २५ पौराणिक ऐतिहासिक नाटक हैं। हिन्दी रगमचीय नाटककार प० राधेश्याम कथावाचक की भाँति वाघजी भाई, आशाराम ओझा ने पुराने रगमच की बीभत्सता, अश्लीलता तथा कुरुचि को निर्मूलकर उसके स्थान पर सद्वृत्ति, सचरित्रता एव सुरुचि की प्रस्थापना करन के लिए नाट्य रचना की। जिस प्रकार प० राधेश्याम का 'वीर अभिमन्यु' नाटक अत्यन्त लोकप्रिय हुआ उसी प्रकार वाघजी भाई के 'भर्तृहरी' नाटक को अप्रत्याशित लोकप्रियता प्राप्त हुई। कहा जाता है कि 'भर्तृहरि के अभिनय को देखकर कई लोग घर बार छोडकर भर्तृहरि की भाँति 'जोगी' हो गय। इन क नाटको मे यद्यपि साहित्यिकता का अभाव है तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्याकन करन पर वे महती प्रशसा क अधिकारी बनत हैं। सस्कृत नाटक प्राचीन लोककथा, रास और अग्रेजी नाटक के तत्त्वो का मिश्रितरूप इनके नाटको म पाया जाता है।

'वाकानेर नाटक मडली' से सलग्न सस्कृत काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र के ग्रथो के

भाषांतरकार वयोवृद्ध कवि नथुराम सुन्दरजी शुक्ल भी शिष्ट रंगमंचीय नाट्य लेखक थे। इनके उपदेशात्मक नाटकों के गीत इतने अधिक जनप्रिय हुए थे कि आज के सिनेमा के गीतों की भाँति उन दिनों वे घर घर गाये जाते थे। इनके नाटकों में धार्मिक एवं ऐतिहासिक चरित्रों की प्रधानता है और सदाचार नीति तथा बोध की मनोवृत्ति स्पष्टतः परिलक्षित होती है। इनके उल्लेखनीय नाटक हैं — 'सूरदास', 'मीराबाई', 'नरसिंह मेहता', 'शिवाजी' आदि।

अहमदाबाद के डाह्याभाई, घोलशाजी झवेरी भी नीतिवादी परम्परा के रंगमंचीय नाटककार थे। इन्होंने 'देशी नाटक समाज' नामक अपनी स्वतन्त्र नाटक मंडली खोलकर उसी के द्वारा स्वरचित आदर्शप्रधान नाटक प्रस्तुत किये। डाह्याभाई शिष्ट, संस्कारी और शिक्षित अध्यापक थे। इन्हें रणछोड़भाई उदयराम की भाँति नाटकों के द्वारा समाज सेवा की अदम्य आकांक्षा थी। इन्होंने नाटक लेखक के अतिरिक्त नाटक मंडली के संचालक और दिग्दर्शक का भी कार्य संभाला और अपनी ३७ वर्ष की अल्पायु (१८६७ १६०२ ई०) में ही काफी प्रसिद्धि प्राप्त की। ये संगीतज्ञ, विद्वान एवं शिष्ट कवि थे। अपने शिष्ट नाटकों और लोकप्रिय बोधप्रद गीतों के कारण डाह्याभाई गुजराती रंगमंच के इतिहास में सदा अविस्मरणीय रहेंगे। इनकी रचनाओं पर शेक्सपीयर के नाटकों और जैन रासों की शैली का प्रभाव दृष्टिगत होता है। डाह्याभाई के 'अश्रुमती', 'उमादेवडी', 'वीणावेली', 'उदयभाण', 'सती संयुक्ता', 'मोहिनीचन्द्र' आदि सफल नाटक हैं। 'अश्रुमती' इनमें अत्यधिक प्रख्यात है। डाह्याभाई के नाटकों में साहित्यिक तत्त्वों का अभाव और उपदेशात्मकता का आधिक्य खटकता है। पर उनमें हास्यरस की उपकथाओं की योजना इस त्रुटि का परिहार करती है।

नाटकों द्वारा गुजराती रंगमंच पर शिष्टता, संस्कारिता और किंचित् साहित्यिकता का सूत्रपात करने का श्रेय मूलशंकर हरिनन्द मूलाणी को भी प्राप्त होता है। लगातार ४० वर्ष तक इनका विविध नाटक मंडलियों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। 'मुंबई गुजराती नाटक मंडली', 'रायल नाटक मंडली', 'काठियावाड नाटक मंडली' आदि मंडलियों ने इनके कुल मिलाकर लगभग ५० नाटक खेले जिनमें पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक आदि सभी प्रकार के नाटकों का समावेश होता है। तपूर्ण सफल नाटकों में 'कुंदबाला', 'मूलराज', 'विक्रमचरित', 'सौभाग्य सुन्दरी', 'वसंतप्रभा', 'भाग्योदय', 'कृष्णचरित' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके नाट्य-विधान एवं रचना-तन्त्र पर संस्कृत, अंग्रेजी, बंगाली और मराठी नाटकों का प्रभाव दीख पड़ता है। जीवन के विविध प्रश्नों और समाज की विभिन्न समस्याओं का का समावेश मूलाणी ने अपने नाटकों में किया है। ये नवीन रचना-शैली के नाटककार हैं।

नडियाद के अध्यापक, कवि, चित्रकार फूलचन्द शाह (१६०७-१६५४) 'महासती अनसूया', 'सुकन्या सावित्री', 'महाश्वेता कादम्बरी', 'मालती माधव' आदि सुरुचिपूर्ण शिष्ट नाटकों के स्रष्टा के रूप में सदा याद रहेंगे। इनमें साहित्यिकता भी है और लोकरुचि की समानता भी। दोनों का गंगा जमुना संगम इनकी रचनाओं में हुआ है। परिणामस्वरूप ये बहुत लोकप्रिय नाटककार बन सके हैं। 'विद्या विनोद नाटक समाज' के अतिरिक्त अन्य नाटक मंडलियों से भी इनका सम्बन्ध रहा है। कालिदास, भवभूति और बाण की प्रशिष्ट कृतियों को गुजराती रंगभूमि पर सर्वप्रथम प्रस्तुत करने का यश इन्हें प्राप्त होता है। प्रेक्षकों के कौतूहल का अन्त तक निर्वाह करने की क्षमता वाले इनके नाटक संगीत के अतिरेक के कारण तनिक अप्रिय बन जाते हैं। उनमें अभिनेयता तो विपुल मात्रा में है पर विषय की विविधता का अभाव है।

रगमचीय नाटककारो मे बैरिस्टर नृसिंह विभाकर (१८८८-१९२५) का स्थान अनन्य है। इन्होंने अपने इगलैड के प्रत्यक्ष रगमचीय अनुभव और स्वानुभूत पाश्चात्य सस्कारो के कारण गुजराती रगमच पर नवीन आदर्श और शैली का उदाहरण पेश किया। समाज-सुधार, देशभक्ति और जन-कल्याण के नवीनतम आदर्शों को लेकर इन्होंने नाट्योपासना की। इनके छ नाटक हैं: "सुधाचन्द्र," "मधुवसरी," "मेघमालिनी," "अबजोना बधन," "सिद्धार्थ बुद्ध" और "स्नेह सरिता"। इनमे उपयुक्त आदर्शों और आकाक्षाओ को समाविष्ट करने का सफल उद्योग किया गया है। 'सुधाचन्द्र' (१९१६) मे विदेशियो के प्रति सचेत रहने का और 'मधुवसरी' (१९१७) मे 'होमरूल' का आदर्श उपस्थित किया गया है। 'मेघमालिनी' (१९१८) मे पूँजीपति और मजदूर के सघर्ष को समाजवादी दृष्टिकोण मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न है। इस प्रकार विभाकर ने गुजराती रगमचीय नाटको को पुरानी लीक से हटाकर नये प्रगतिशील मार्ग पर चलाने का भगीरथ प्रयत्न किया। सौभाग्य से इन्हे 'गुजराती नाट्य मडली" के मालिक तथा समर्थ अभिनेता बापुलाल नायक का सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ था जिसके फलस्वरूप इन नवीन नाटको का प्रयोग सभव हो सका। यद्यपि इन नाटको को पूर्णत नाट्योचित स्वरूप प्राप्त नही हो सका है और रगमचीय सीमाओ के कारण ये शत-प्रतिशत सफलतापूर्वक खेले नही जा सके हैं तथापि तत्कालीन स्थिति को देखते हुऐ यह नि सकोच कहा जा सकता है कि बैरिस्टर विभाकर का व्यावसायिक रगमच के क्षेत्र मे यह नवीन प्रयोग अभिनन्दनीय एव चिरस्मरणीय रहेगा।

इन प्रथम पक्ति के रगमचीय नाट्यकारो के अतिरिक्त अन्य लेखको मे छोटालाल सुखदेव शर्मा, हरिहर दीवाना, प्रभुलाल द्विवेदी, रघुनाथ ब्रह्मभट्ट, मणिलाल पागल, प्रफुल्ल देसाई, रामु सागाजी, प्रबोध जोशी आदि निर्देश करने योग्य है।

रंगमचीय नाटको की विशेषताएँ

ऊपर जिन व्यावसायिक नाटको और नाटककारो का उल्लेख हुआ है उनके स्पष्टत दो वर्ग हैं एक पारसी-नाटककारो तथा उन्ही का अनुकरण करने वाले अन्य हिन्दू-मुस्लिम नाटककारो का वर्ग, जिसने रोमाचकारी, चमत्कारपूर्ण तथा अस्वाभाविकताओ से भरे हुए नाटक लिखे और दूसरा उन हिन्दी-गुजराती नाटककारो का वर्ग जिसने रगमचीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उपदेशात्मक, सुरुचिपूर्ण शिष्ट नाटक रचे। इन दोनो वर्गों के नाटको के विषय, उद्देश्य, भाषा-शैली आदि मे पर्याप्त अन्तर है।

प्रारभिक पारसी-गुजराती नाटक मडलियो के पारसी नाटककारो के समक्ष नाट्य-रचना का कोई आदर्श नही था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है बम्बई मे यूरोप से आने वाली नाटक कम्पनियाँ शेक्सपीयर आदि के नाटक खेला करती थी और इसके अलावा अग्रेज अफसर अपने मनोरजनार्थ रात्रि-क्लबों म यदा कदा शौकिया तौर पर अग्रेजी नाटक और ओपेरा का अभिनय किया करते थे। इन्हे देखकर पहले पहल पारसियो ने बम्बई मे ड्रामेटिक क्लब खोले और तत्पश्चात् वहा अव्यावसायिक क्लब व्यावसायिक नाटक मडलियो के रूप मे परिवर्तित हो गए। इन क्लबो और मडलियो क कर्णधार पारसी लोग थे, जिन्हे पारसी-गुजराती और अग्रेजी का ज्ञान था। फलत उन्होने शेक्सपीयर, शेरीडन आदि के नाटको का भौंडा अनुकरण कर अशुद्ध पारसी-गुजराती भाषा मे रगमचीय नाटको की रचना की। तदुपरात उन्होने शेक्सपीयर आदि के अग्रेजी नाटको के अनुवाद भी किये। इन लेखको को न तो नाट्य-शास्त्र का ज्ञान था, न नाट्योचित विषयो का। परिणामस्वरूप ये आर

रंगमंचीय नाटक भाषा की कृत्रिमता, चरित्रांकन की अस्वाभाविकता तथा वस्तु-विन्यास की अस्त-व्यस्तता के कारण नाटक के मूल स्वरूप का आविष्कार नही कर सके। पारसी सज्जन अपने नाटकों को कृत्रिम रंगमंचीय साधनों द्वारा इस ढंग से प्रस्तुत करते थे कि दर्शकगण चकित हो जाते थे।

इन पारसी नाटकों के विषय, जैसा कि ऊपर कहा गया है, शेक्सपीयर के नाटकों से चुने जाते थे और उसी के साथ ईरानी इतिहास, शाहनामा, अरेबियन नाइट्स आदि के कथाशों का नाट्य रूपान्तर किया जाता था। इन नाटकों के प्रयोगों के अन्त म 'कोमिक' (प्रहसन) खेलने की उन दिनों प्रथा थी। ये 'कोमिक' मूल नाटकों के विषय से बिलकुल भिन्न होते थे। वे हास-उपहास द्वारा सामाजिक जीवन की समस्याएँ प्रस्तुत करते थे। किन्तु यह प्रस्तुतीकरण बड़ा अश्लील, स्थूल एवं कुरुचिपूर्ण रहता था। ये प्रारंभिक पारसी-गुजराती रंगमंचीय नाटक, (१८५३-१८६७) और 'कोमिक' तथा 'इन्दरसभा' ही हमारी दोनों आलोच्य भाषाओं के रंगमंचीय नाटकों के प्रारम्भकर्ता है।

बम्बई की 'विक्टोरिया नाटक मंडली' की स्थापना (१८६७-६८) के साथ व्यावसायिक रंगमंचीय हिन्दी गुजराती नाटकों का क्रमबद्ध इतिहास प्रारम्भ होता है। इसके पूर्व सांगली के भावे की मराठी नाटक मंडली ने अपने हिन्दी संवादों और मराठी गीतों वाले पौराणिक नाटक बम्बई में तथा सौराष्ट्र गुजरात में खेले थे। इसके बाद अन्य कई मराठी नाटक मण्डलियों ने भी अपने खेल किये थे। इन नाटकों का विषय वस्तु पौराणिक था और इनका प्रदर्शन लोक नाटकों और संस्कृत नाटकों का मिश्रित रूप सा था। मंच पर सर्वप्रथम कागज की सूँड वाले गणपति का आगमन होता। फिर सूत्रधार का प्रवेश होता जो हाथ में मजीरे लिए हुए प्रारम्भ से अंत तक प्रेक्षकों के समक्ष उपस्थित रहता। नाटक के अन्य पात्र गद्य में वार्तालाप एवं अभिनय करते और नाटक का पद्यांश सूत्रधार गाता। सौराष्ट्र की 'मोरबी नाटक मंडली' ने प्रारंभ में कई वर्षों तक इन मराठी मंडलियों के नाटकों का अनुकरण किया था, जिनमे हिन्दी गद्य और गुजराती गीत रहते थे।[1] मराठी नाटक मंडलियों के हिन्दी भाषा प्रयोग ने पारसी व्यावसायिक नाटक मंडलियों के मालिकों को भी हिन्दी उर्दू में नाटक खेलने की प्रेरणा दी। हिन्दी उर्दू भाषा प्रयोग के कारण ही पारसी गुजराती कंपनियाँ समस्त भारत में वर्तमान चलचित्रों की भाँति लोकप्रियता प्राप्त कर सकी।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यद्यपि पारसी गुजराती नाटक मंडलियाँ भाषा की दृष्टि से पारसी गुजराती और हिन्दी उर्दू इन दो प्रधान विभागों में विभाजित हो गई थी तथापि इनमें से अधिकांश मंडलियाँ दोनों भाषाओं में नाटक खेलती थीं। इन नाटकों के कथानक, रचना विधान, निरूपण पद्धति, रंगमंचीय प्रसाधन आदि में कोई विशेष उल्लेखनीय भेद नहीं था। अभिनेतागण भी भिन्न नहीं थे। तत्कालीन सभा सौराष्ट्र, गुजरात और उत्तर प्रदेश की नाटक मंडलियाँ बम्बई की इन कम्पनियों का हर दृष्टि से अनुकरण करती थीं।

मराठी और गुजराती नाटक मंडलियाँ अपने संवादों में जिस हिन्दी का प्रयोग करती थीं वह विशेषत संस्कृतनिष्ठ रहती थी। पर जो हिन्दी बम्बई की पारसी नाटक कम्पनियों द्वारा प्रयुक्त होती थी वह अधिकतर सरल उर्दू थी जिसे आम जनता आसानी से समझ सकती थी। इस विषय में नारायण प्रसाद 'बेताब' ने अपने 'महाभारत' नाटक में तत्कालीन लेखकों का आदर्श योग्य ढंग से स्पष्ट किया है —

---

१. मराठीनु वाङ्मय—श्री डाह्याभाई पीताम्बरदास देरासरी, १९११, पृ० ११२।

"न खालिस उर्दू, न ठेठ हिन्दी,
ज़बान गोया मिली जुली हो।
अलग रहे दूध से न मिसरी,
डली-डली दूध मे घुली हो॥"

तालिब, बेताब, आगाहश्र आदि के अधिकाश नाटक इसी भाषा के अन्तर्गत आते हैं। इन लेखको ने हिन्दी मे भी नाट्य-रचना की है, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। प० राधेश्याम कथावाचक तो प्रधानत. हिन्दी के ही नाटककार हैं।

यहाँ यह निर्देश करना अप्रासगिक नही होगा कि जिस प्रकार कई हिन्दी नाटको मे मुसलमान पात्र अरबी-फारसी मिश्रित उर्दू बोलते हैं और हिन्दू पात्र सस्कृतमय हिन्दी बोलते हैं उसी प्रकार पुराने रगमचीय गुजराती नाटको मे मुसलमान पात्रो द्वारा सरल उर्दू और हिन्दू पात्रो द्वारा गुजराती का प्रयोग होता रहा है।[1] सम्भवत इसका हेतु नाटक मे स्वाभाविक वातावरण की सृष्टि करना है। कतिपय प्रारंभिक रगमचीय नाटको को छोडकर शेष सभी के विषय पौराणिक एवम् ऐतिहासिक रहे हैं। पौराणिक नाटको के प्रसग पुराण, महाभारत तथा रामायण से लिये गये हैं। सीता, द्रौपदी, कृष्ण, सुदामा, अभिमन्यु' अम्बरीष, कस, रावण, राम, शिव, नल, दमयती, सत्यवान, सावित्री, भीष्म, श्रवणकुमार, आदि पौराणिक पात्र दोनो भाषाओ के इन नाटको मे समान रूप से उपलब्ध होते हैं। सारे भारत मे यह समय धार्मिक भावनाओ और प्राचीन सास्कृतिक मान्यताओ को उजागर करने वाला रहा है। जनता की अतर्निहित धार्मिक चेतना इन पौराणिक नाटको को देखने से सतुष्ट होती रही है। इसीलिए 'भर्तृहरि' (वाघजी भाई आशाराम कृत), 'हरिश्चन्द्र' (रणछोड भाई उदयराम कृत), 'सूरदास' (नथूराम शर्मा कृत), 'अम्बरीष' (हरिशकर भट्ट कृत) 'द्रौपदी स्वयवर' (वाघजीभाई कृत) आदि गुजराती नाटको ने अतिशय लोकप्रियता प्राप्त की। इन्हें देखकर पारसी नाटक कम्पनियो के मालिको ने भी अपने लेखको और मुशियो के पास इन्ही विषयो के हिन्दी-उर्दू नाटक लिखवाये और खेले।[2] पौराणिक नाटककारो मे हिन्दी मे प० राधेश्याम कथावाचक और गुजराती मे वाघजीभाई आशाराम ओझा सदैव स्मरणीय रहेगे। दोनो ने सुरुचि पूर्ण शिष्ट तथा उच्चादर्शोन्मुखी नाट्यसृष्टि की है। दोनो ने धार्मिक-पौराणिक पात्रो एवम् प्रसगो को अपने नाटको मे अकित किया है। दृश्य विधान तथा रगमचीय शिल्प मे भी दोनो लेखकों के नाटको मे पूर्णरूपेण समानता है। भाषा, भाव, वातावरण आदि की दृष्टि से प० राधेश्याम तथा वाघजीभाई के नाटकों मे उच्च स्तर का निर्वाह हुआ है। गुजराती मे वाघजीभाई के अलावा डाह्याभाई धोलशाजी, कवि, चित्रकार, फूल-

---

१. उदाहरण के लिए देखिए इस प्रबन्ध के अन्त में परिशिष्ट।

२ देखिए :—

'भर्तृहरि' :—गुजराती—वाघजीभाई आशाराम तथा हिन्दी—विनायक प्रसाद तालिब और मुरारीलाल 'कमल'।

हरिश्चन्द्र :—गुजराती—रणछोडभाई उदयराम और हिन्दी—विनायक प्रसाद तालिब।

सूरदास :—गुजराती—नथूराम शर्मा और हिन्दी—आगाहश्र।

द्रौपदी स्वयवर :—गुजराती—वाघजीभाई आशाराम और हिन्दी—नारायण प्रसाद बेताब तथा प० राधेश्याम कथावाचक।

अम्बरीष :—गुजराती—हरिशंकर भट्ट तथा हिन्दी ईश्वरभक्ति (अम्बरीष)—प० राधेश्याम।

चद शाह, नयूराम सुदरजी आदि के कई ऐतिहासिक, धार्मिक तथा सामाजिक रगमचीय नाटक उपलब्ध होते है। रणछोडभाई उदयराम के 'ललिता दु ख दर्शक', 'जयकुमारी विजय' आदि समाजलक्षी नाटक, नृसिंह विभाकर के 'मधुकरी', 'मेघमालिनी' इत्यादि राजनैतिक नाटक और मूलशकर मूलाणी के 'सौभाग्य सुदरी' जैसे पारिवारिक जीवन विषयक नाटक गुजराती के श्रेष्ठ रगमचीय नाटक हैं। इस कोटि के नाटक हिन्दी मे उपलब्ध नही होते। रगमच के अभाव के कारण हिन्दी मे यह नाट्य परपरा अदृश्य सी ही रही। जिसे हिन्दी का रगमच कहते हैं वह पारसी रगमच व्यापारिक मनोवृत्ति वाले धनलोलुप पारसी सेठों की सकीर्ण मनोवृत्ति का सदा शिकार बना रहा। जनता का सस्ता मनोरजन करने के लिए और उसकी कामजन्य वासनाओ को जाग्रत कर निकृष्ट कोटि का विनोद प्रदान करने के लिए उन नाटक कम्पनियो के मालिको ने "लैला मँजनू", "शीरी फरहाद", "चलता पुर्जा" और भूलभूलैया तक अपने लेखकों को सीमित रक्खा। फलत अधिकतर निम्नस्तरीय नाटको का ही सृजन सम्भव हो सका। केवल राधेश्याम कथावाचक ही इस कथन के अपवाद हैं।

'व्याकुल कपनी' के 'सम्राट चद्रगुप्त', 'विक्टोरिया नाटक मडली' के 'जहागीर नूर-जहाँ', 'एल्फ्रेड कम्पनी' के 'अलाउद्दीन' आदि कुछ अच्छे ऐतिहासिक नाटको को छोडकर हिन्दी मे व्यावसायिक रगमच पर ऐतिहासिक नाटको का भी अभाव रहा, जबकि गुजराती नाटक मडलियो ने 'पृथ्वीराज', 'महाराणाप्रताप सिंह', 'बीरबल और बादशाह', 'शूरवीर शिवाजी', 'दारा-औरगजेब', 'रणजीत सिंह', 'सती संयुक्ता', 'महाराजा अशोक' आदि अनेक ऐतिहासिक नाटक सफलतापूर्वक सर्वत्र खेले।[1] इसी प्रकार हमारे सामाजिक जीवन की सामयिक एव सर्वकालीन समस्याओ और अन्य प्रकीर्ण विषयो पर गुजराती रगमचीय नाटककारो ने कई नाटक रचे तथा विभिन्न नाटक मडलियो ने उनके अनेक प्रयोग किये।[2] इस प्रकार की कोई परम्परा हिन्दी मे नही है। अधिकाश रगमचीय हिन्दी-उर्दू नाटककारो ने 'इश्क' से सबधित काल्पनिक एव अस्वाभाविक कथाओ को अपने नाटकों मे चित्रित किया है। वे नाटक तत्कालीन रगमच पर रोमाचकारी दृश्यों और चमत्कारपूर्ण वातावरण की सृष्टि करते थे। उनके द्वारा प्रेक्षको की निम्नस्तरीय मनोवृत्ति सतुष्ट होती थी। इन नाटक कारो ने हमारे भव्य इतिहास, उज्ज्वल अतीत और महान परम्परा का ध्यान ही नही रखा। यह वस्तुत शोचनीय है।

पारसी-गुजराती थियेट्रिकल कम्पनियो मे गजल, ठुमरी आदि के रूप मे कुरुचिपूर्ण अश्लील गाने गाये जाते थे। बेताब, राधेश्याम आदि ने अपने पौराणिक नाटको मे शिष्ट गीतो को समाविष्ट किया है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि कतिपय पारसी-गुजराती कम्पनियों ने मराठी की किर्लोस्कर, डोगरेकर आदि मडलियो की देखादेखी अपने नाट्य प्रयोगो मे शास्त्रीय राग-रागिनियो की प्रथा प्रारभ की। आगे जाकर यह शास्त्रीय सगीत गुजराती नाटक मडलियो का अनिवार्य अग बन गया। इन मडलियो के सगीत निर्देशकों मे हमीरजी उस्ताद और पडित वाडीलाल सादर स्मरणीय हैं। दुर्भाग्य से पारसी कम्पनियो ने इस परम्परा का अत तक निर्वाह नही किया। १६२० के बाद गुजराती रगमच से भी उच्च-

---

१ देखिए—'गुजराती नाट्य शताब्दी महोत्सव स्मारक ग्रंथ में'—गुजराती नाटक कपनियों की नाट्य-सूची—स० श्री रमणिक श्री पतराय देसाइ पृष्ठ-१०१ से १०३।

२—देखिए वही—

स्तरीय सगीत ने सदा के लिए विदा ले ली । दोनो भाषाओ के रगमचीय नाटको मे सस्ते इश्की गानो की जो भरमार हुई, उसी के उत्तराधिकारी आज के सिनेमा के गीत हैं। एक और भद्दी बात इन नाटको मे देखी जाती थी । इनमे पात्र मौके-बेमौके गायन गाने लगते और पद्य मे ही बातचीत करने लगते । बडे-बडे राजा महाराजा और ऋषि-मुनि भी अपना गौरव भूलकर मच पर गाने और नाचने लगते और ग्राम्य रुचिवाली जनता का मनोरजन करते ।

पारसी-गुजराती रगमच पर सर्वसत्ताधीश नाटक कम्पनी का मालिक ही होता था। वह व्यवसाय की दृष्टि से अर्थोपार्जन के लिए अपनी कम्पनी चलाता था । उसे न साहित्य कला और सस्कार की चिन्ता थी और न जन कल्याण की ही परवाह थी । वह तो लोगो की सस्ती फरमाइशो और भद्दी भावनाओ को दृष्टि समक्ष रखकर अपने नाटककार के पास नाटक लिखवाता था और दिग्दर्शक, अभिनेता आदि के द्वारा रगमच पर प्रस्तुत करता था। अत. ये नाटक न आदर्श रगमचीय आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे न साहित्य की । भाषा की सरलता, भावो की अश्लीलता और प्रदर्शन की चमत्कारिता के कारण ये नाटक जन-साधारण मे अधिक लोकप्रिय हुए । रगमच की नित्य नवीन चटक-मटक, रोमाचकारी दृश्य-निर्माण, वैविध्ययुक्त अस्वाभाविक वेशभूषा, "ट्रिकसीन" आदि की सहायता से अशिक्षित एव अर्द्धशिक्षित प्रेक्षको की ग्राम्य रुचि की तुष्टि करने मे ये कम्पनी-मालिक अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते थे । आगे जाकर इसी रगमच पर 'हरिश्चन्द्र', 'वीर अभिमन्यु', 'सूरदास' आदि हिन्दी के और 'हरिश्चन्द्र', 'ललिता दु ख दर्शक', 'नल-दमयन्ती', 'भर्तृहरि', 'सूरदास' आदि गुजराती के शिष्ट नाटक भी खेले गये । पर रगमचीय अस्वाभाविकताएँ गई नही और इसी से इस रगमच का पतन हुआ ।

पारसी-और गुजराती नाटक मडलियो के लगभग सभी रगमचीय नाटको का प्रारम्भ 'मगलाचरण' या 'कोरस' से होता है । प० राधेश्याम और वाघजीभाई आशाभाई के नाटको मे मगलाचरण के पश्चात् सूत्रधार, नट, नटी आदि का आगमन होता है और प्रस्तावना के पश्चात् नाट्य वस्तु का आरम्भ होता है । यह सस्कृत-नाटको का प्रभाव है । इन नाटको के वस्तु-विकास, अक और दृश्य विभाजन तथा चरित्र-चित्रण मे पाश्चात्य नाट्य-शिल्प का अनुकरण दृष्टिगत होता है । उर्दू-नाटको मे 'मगलाचरण' के स्थान पर 'गायन' (कोरस) हैं और सूत्रधार, नटी आदि का उनमे अवतरण नहीं होता । आगाहश्र, बेताब, राधेश्याम के अधिकाश नाटको मे तीन अको की योजना है । पर रणछोडभाई उदयराम, वाघजीभाई, डाह्याभाई आदि गुजराती लेखको ने उससे अधिक अको की भी योजना की है । इन सभी नाटको मे जीवन की यथार्थता की ओर कम ध्यान गया है । कल्पना द्वारा प्रसगो या पात्रो का अतिरजित वर्णन इनमे अधिक पाया जाता है । प० राधेश्याम के नाटको को छोडकर हिन्दी-उर्दू के अन्य नाटककारो की रचनाओ मे अस्वाभाविक कल्पनाओ, कुरुचिपूर्ण चेष्टाओं और ग्राम्य मनोविनोदो की जो परपरा पाई जाती है, उसका रणछोडभाई, वाघजीभाई, डाह्याभाई आदि के गुजराती नाटको म नितात अभाव है । चरित्र-चित्रण, वस्तु विन्यास और रचनातत्र की दृष्टि स गुजराती रगमचीय नाटक हिन्दी-उर्दू के नाटको की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं । इसका कारण यह है कि गुजराती नाटक मडलियो के समक्ष रणछोडभाई उदयराम और केखुशरू काबराजी ने प्रारभ से ही महान प्रसगो और चरित्रो को रगमच पर प्रस्तुत कर जनजीवन मे आदर्श और उच्चता की भावना का सचार करने की सुदृढ परपरा प्रस्थापित

कर दी थी जिसका अनुसरण अधिकाश मडलियों ने किया। वाघजीभाई आशाराम, प० नथूराम शर्मा, कवि चित्रकार फूलचदभाई, डाह्याभाई घोलशाजी आदि अनेक सनिष्ठ गुजराती लेखको ने उक्त आदर्श प्रत्यक्ष करने का सतत प्रयत्न किया। हिन्दी-उर्दू मे नाटककार तो अगणित हुए, परतु प० राधेश्याम को छोडकर अन्य किसी ने नाटय लेखन मे आदर्शवादी दृष्टिकोण नही अपनाया।

पारसी-गुजराती रगमच की अनेक सीमाओ और क्षतियो के वावजूद भी हमे यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि इसने सर्वप्रथम हिन्दी-गुजराती रगमच का रूप व्यवस्थित एव स्थिर किया और शिष्ट मनोरजन के किसी अन्य साधन की अनुपस्थिति मे काफी लम्बे समय तक जनता की नैसर्गिक मनोरजन-प्रिय वृत्ति को तृप्त किया। यदि श्रेष्ठ नाटककार रगमच के प्रति उपेक्षा की भावना न रखकर उसे सहयोग और सुधार की दृष्टि से अपनाते तो आज दोनो भाषाओ मे रगमचीय स्थिति नितान्त भिन्न प्रकार की होती। प० राधेश्याम और रणछोड भाई ने इस दिशा मे मार्ग-प्रशस्त किया भी था, पर यह परम्परा आगे चली ही नही। शिक्षित और सस्कारी लोगो की निष्क्रियता एवम् उदासीनता के कारण यह व्यावसायिक रगमच अपने जीवन काल के अतिम वर्षों मे पूरा विपथगामी वन गया और उसका पतन हुआ। सिनेमा के प्रचार ने इस पतन मे बडा योग दिया। यह रगमच सिनेमा की होड मे खडा नही रह सका। उसकी जडें तो वैसे भी ढीली थी ही, इस नये ववण्डर ने उसे उखाड फेंका। यदि उसने जन-उत्कर्ष का ध्यान रक्खा होता, कला साधना का उच्चादर्श दृष्टि समक्ष रक्खा होता और पारस्परिक सहयोग तथा सदभावना से काम लिया होता तो पश्चिमी देशो के रगमच की भाँति उसे भी 'अमरत्त्व' प्राप्त होता। परन्तु यह सम्भव हुआ ही नही। 'भरत-मुनि' ने नटो के पतन का जो कारण बताया है और जिससे वे शापित हुए वही कारण इस पुराने रगमच के भी पतन का निमित्त बना। वह है . "कर्षयितोऽय लोक."।[1] वस्तुत. जनता को 'कर्षयित, करने वाला अवश्य ही विनष्ट होता है।

पृथ्वी थियेटर

जनता को सात्त्विक मनोरजन प्रदान करने और नाट्यकला की निष्ठापूर्वक सेवा करने के लिए बम्बई मे सन् १९४४ मे सुप्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूर ने 'पृथ्वी थियेटर' नामक हिन्दी नाटक मण्डली की स्थापना की। इस मडली ने भारत के बडे-बडे नगरो मे दीवार, पठान, गद्दार, आहुति, पैसा आदि वास्तववादी नाटक प्रस्तुत किये। इन नाटको और इनके प्रयोगो के द्वारा प्रेक्षकों को उच्चकोटि की कलात्मक दृष्टि और सन्निष्ठ व्यक्तित्त्व के अथक परिश्रम का परिचय प्राप्त होता रहा। इन नाटकों की भाषा परिष्कृत थी और कथानक प्रभावोत्पादक थे। आधुनिक पश्चिमी रगमच की सभी विशेषताएँ पृथ्वी थियेटर के मच पर दृष्टिगत होती थी। गीतो का अभाव, सप्राण सवाद, सघर्षात्मक वस्तु-तत्त्व, नाटकीय कार्य-व्यापार यथार्थवादी रगमच, ये पृथ्वी थियेटर के विशिष्ट लक्षण थे। 'पठान' तो उसका सर्वश्रेष्ठ सर्जन था। पृथ्वीराज की वैयक्तिक साधना ही इस थियेटर को जीवित रख रही

१ 'बुद्धिप्रकाश' पत्रिका में 'नवी रगभूमि' नामक लेख : लेखक---आचार्य रसिकलाल छोटालाल पारिख' अक---जून---१९५९ का।

थी। ६० कलाकारो के दल को साथ रखकर पृथ्वीराज ने भारत के सभी प्रदेशो की कई बार यात्राएँ की और अपने आठ नाटको के लगभग २५०० प्रयोग कर राष्ट्रीय रगमच की क्षति पूर्ति की। पृथ्वी थियेटर' वस्तुत किसी एक प्रदेश का नही, अपितु "अखिल भारतीय थियेटर" था। वह समस्त भारतीय जनता का राष्ट्रीय रगमच था। किन्तु तीव्र आर्थिक सकट और शारीरिक अस्वस्थता के कारण पृथ्वीराज ने अपना 'पृथ्वी थियेटर' १५ मई सन् १९६० के दिन सदा के लिये बन्द कर दिया।

अव्यावसायिक रगमंच

ऊपर यह निर्देश किया जा चुका है कि बम्बई के पारसी-गुजराती व्यावसायिक रगमच के जन्म (१८६७-६८) के पूर्व पारसी नवयुवको ने यूरोपीय नाटक कम्पनियो के प्रयोगो और अग्रेजी क्लबो के मनोरजन-कार्यक्रमो से प्रेरणा प्राप्त कर सन् १८५३ के आस-पास अपने क्लब शुरू किये और शौकिया तौर पर अग्रेजी तथा पारसी गुजराती भाषा के नाटक खेलने लगे। इन अव्यावसायिक रगमचीय प्रयोगो के फलस्वरूप ही व्यावसायिक रगमच की बम्बई मे स्थापना हुई। अव्यावसायिक रगमच की परम्परा बम्बई मे लगभग १९२० ई० तक प्रधानत पारसियो के द्वारा चलती रही। तत्पश्चात् सभी जातियो के लोगो के सयुक्त प्रयासो से आज तक वह जीवित है।

पारसी-गुजराती व्यावसायिक रगमच के भौंडे नाट्य प्रयोगो के प्रति तीव्र असन्तोष, रोष और विद्रोह की भावना लेकर गुजराती अव्यावसायिक रगमच का व्यवस्थित प्रारम्भ श्री चन्द्रवदन मेहता द्वारा एलिफन्स्टन कॉलेज, बम्बई मे सन् १९२० मे हुआ।[1] हिन्दी मे पारसी नाटक कम्पनियो के प्रति यह विद्रोहात्मक प्रतिक्रिया सन् १८८३ मे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द के 'नाटक' नामक लेख मे प्रगट हुई है। तत्पश्चात् प० बालकृष्ण भट्ट आदि ने भी खुलकर 'पारसी थियेटर' का विरोध किया।[2] इसी के साथ साहित्यिक और सस्कारी सज्जनो द्वारा काशी, कानपुर, प्रयाग आदि मे शिष्ट मनोरजन के लिए अव्यावसायिक नाटक मण्डलियो की स्थापना हुई। गुजराती मे व्यावसायिक रगमच के प्रति विद्रोहात्मक स्वर हिन्दी की अपेक्षा ३०-३५ वर्ष पश्चात् उठा। इसका कारण सभवत. यह है कि सन् १८७५ के आसपास शुद्ध गुजराती भाषा के शिष्ट व्यावसायिक रगमच का प्रारम्भ बम्बई मे "नाटक उत्तेजक मण्डली" के द्वारा शुरू हुआ जिसे गुजराती रगमच के पिता रणछोड भाई उदयराम का सहयोग प्राप्त हुआ। उनके सभी शिष्ट नाटक इस मण्डली द्वारा खेले गए। आगे भी यह परम्परा १९२० तक चलती रही। उधर गुजरात और सौराष्ट्र मे भी कई व्यावसायिक नाटक मण्डलियाँ शुरू हुई। उन्होने बाघजी भाई आशाराम, डाह्या भाई धोलशाजी, प० नाथूराम शर्मा, कवि चित्रकार फूलचन्द भाई, नृसिह विभाकर, मूलशकर मूलजी आदि आदर्शवादी नाटक लेखको के पौराणिक ऐतिहासिक नाटक खेले। इन नाटको से जनता की सुरुचि का विकास हुआ और उसकी नैतिक एव धार्मिक भावना परिपुष्ट हुई। अत गुजरात, सौराष्ट्र और बम्बई मे इन व्यावसायिक नाटक मण्डलियो के विरुद्ध विद्रोहात्मक भावना के प्रगट होने का प्रश्न ही पैदा नही हुआ। हिन्दी प्रदेशों मे ऐसी कोई प्रादेशिक

१. बिन धन्धादारी रगभूमिनो इतिहास—श्री धनसुख लाल मेहता, पृ० ४५।
२. हिन्दी प्रदीप, भा० २५, संख्या ९-१२।

नाटक मण्डलियाँ नही थी, फलत पारसी मण्डलियो ने उन प्रदेशो पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया और १८७२ से अपने अश्लील और अशिष्ट नाट्य प्रयोगो द्वारा जनता की रुचि को कुत्सित कर धनोपार्जन करना प्रारम्भ कर दिया। भारतेन्दु ने इन कम्पनियो के नाटको को भ्रष्ट कहकर रोकथाम का कार्य शुरू किया। गुजराती नाटक मण्डलियाँ भी १९२० के पश्चात् इन कम्पनियो का अनुकरण कर उसी अधोगति को प्राप्त होने लगी। चन्द्रवदन मेहता ने उस समय इनके खिलाफ आवाज उठानी शुरू की और १९२० म शिष्ट शौकिया रगमच की नीव डाली।

भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' नामक लेख मे यह बताया है कि हिन्दी भाषा का जो सबसे पहला नाटक खेला गया, वह है प० शीतलप्रसाद कृत 'जानकी मगल'। बनारस थियेटर मे सन् १८६८ मे ऐश्वर्यनारायण सिंह नामक सज्जन ने बडी धूमधाम से इस नाटक का प्रयोग करवाया था। यह नाटक आज अप्राप्य है। भारतेन्दु ने स्वय भी लोगो की मनोरजन पिपासा को परितृप्त करने के लिए पारसी कम्पनियो के जवाब मे अव्यावसायिक मण्डलियो की स्थापना की। किन्तु अव्यावसायिक रगमच व्यावसायिक रगमच से लोहा ले ही नही सका।[1] भारतेन्दु के मित्र प० प्रतापनारायण मिश्र ने (सन् १८८८) कानपुर के विद्वानो द्वारा अभिनीत नाटको मे 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'भारत दुर्दशा', 'गोरक्षा' आदि का निर्देश किया है। ये प्रयत्न स्थायी रूप से रगमच-प्रवृत्ति को वेग न दे सके।

हिन्दी मे अव्यावसायिक नाटक मण्डलियो की व्यवस्थित स्थापना की दृष्टि से सबसे पहले प्रयाग की 'रामलीला नाटक मण्डली' (१८९८) का नाम आता है। इसके सस्थापको मे से प० माधव शुक्ल ने इसके लिए 'सीय स्वयवर' नामक नाटक लिखा, जिसका अभिनय देखने के लिए महामना प० मदनमोहन मालवीय भी उपस्थित थे। नाटककार ने नाटक के एक दृश्य मे ब्रिटिश सरकार की कटु आलोचना की थी। उस दृश्य को देखकर उदार दल के मालवीय जी रुष्ट होकर चले गये थे। यह 'रामलीला नाटक मण्डली' सन् १९०७ तक चलती रही। तत्पश्चात् छिन्न-भिन्न हो गई। पुनः प० माधव शुक्ल ने उसका सगठन किया और 'हिन्दी नाट्य समिति' के नये नाम से उसका प्रारम्भ किया। कई नामाकित साहित्यकारो का शुक्लजी को सहयोग प्राप्त हुआ। उनके 'महाभारत' नाटक के अत्यन्त सफल अभिनय के कारण इस समिति की कीर्ति चारो ओर फैल गई। तदतर इसके द्वारा अन्य पौराणिक नाटक भी खेले गये। फिर प० माधव शुक्ल ने कलकत्ता मे "हिन्दी नाट्य परिषद्" की स्थापना की जिसने अनेक हिन्दी नाटक खेलकर ख्याति प्राप्त की।

सन् १९०९ मे काशी मे "नागरी नाट्यकला प्रवर्तन मण्डली" शुरू हुई। इसके सस्थापक भारतेन्दुजी के परिवार के लोग थे। कुछ दिनो बाद इसके दो भाग हो गये। एक का नाम 'भारतेन्दु नाटक मण्डली' और दूसरी का "काशी नागरी" नाटक मण्डली पडा। इन दोनो मण्डलियो ने पौराणिक एव ऐतिहासिक नाटक खेले जिनमे उल्लेखनीय हैं— महाराणा प्रताप, सत्य हरिश्चन्द्र, भीष्म पितामह, सुभद्राहरण, सम्राट अशोक आदि। अभिनेताओ के रूप मे इन मण्डलियो को कई लेखको और सस्कारी सज्जनो का सहयोग प्राप्त

---

१ आलोचना : ६—इतिहास विशेषाक—लेख—हिन्दी रगमच और नाट्य रचना का विकास—ले० श्री जगदीशचन्द्र माथुर, पृ० २६।

हुआ था। हिन्दी की इन अव्यावसायिक नाटक मण्डलियो पर पारसी रगमच का प्रभाव पडा था। पर्दे, मच रचना, दृश्य योजना आदि पारसी ढग पर ही थे। पर इनके नाटको की भाषा शुद्ध, गीत सुरुचिपूर्ण और अभिनय कलापूर्ण था। इनमे उच्चादर्श के पालन का आग्रह बना रहा।

उपर्युक्त मण्डलियो के अतिरिक्त विश्वविद्यालयो और अन्य शिक्षा सस्थाओ मे वार्षिक उत्सवो के अवसर पर खेले जाने वाले नाटको का अस्थायी और अव्यावसायिक रगमच भी अपना अस्तित्व कई वर्षों से बनाये हुए है। इस रगमच पर हिन्दी के अनेक साहित्यिक शिष्ट नाटक अभिनीत होते रहे हैं। यह नाट्य प्रवृत्ति मुख्यत छात्रो तक ही सीमित रहती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि १९२० के पूर्व भी गुजराती मे अव्यावसायिक रगमच का अस्तित्व था और उसके द्वारा अनेक नाट्य प्रयोग हुए थे। परन्तु उपर्युक्त हिन्दी की चार-पाच सुव्यवस्थित मण्डलियो जैसी गुजराती की कोई अव्यावसायिक नाटक मण्डलियाँ नही थीं। उनके स्थान पर गुजराती व्यावसायिक मण्डलियाँ विद्यमान थी जिनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। अव्यावसायिक रगमच के नाम पर स्कूलो, कालेजो और सार्वजनिक सस्थाओ के अनियतकालीन नाट्य प्रयोग ही थे। इनके उपरान्त लोग भी यदाकदा शौकिया तौर पर नाटक खेलते रहते थे। सन् १९१५ मे बडौदा मे और १९१६ मे कालोल मे रमणलाल वसन्त लाल देसाई कृत 'सयुक्ता' नाटक खेला गया। १९१७ मे पूना के इन्जीनियरिंग कॉलेज ने गुजराती के श्रेष्ठ उपन्यास 'सरस्वती चन्द्र' का नाट्य रूपान्तर अभिनीत किया। इन सभी प्रयोगो की प्रेरणाशक्ति व्यावसायिक रगमच के प्रति रोष या, विरोध की भावना नही थी। सन् १९२० के पश्चात् ही व्यावसायिक नाटक मण्डलियो की वीभत्सता और अश्लीलता से ऊबकर सस्कारी लोगो की विद्रोहात्मक भावना तीव्र बनी और उसके अगुआ बने चन्द्रवदन मेहता।

चन्द्रवदन मेहता के अव्यावसायिक रगमचीय प्रयोगो न नाट्य-जगत् मे क्राति पैदा कर दी। उन्होने अभिनय, दिग्दर्शन, नाट्य लेखन और जन-सपर्क द्वारा 'नये रगमच' का सूत्रपात किया। उनके दो नाटक 'अखो' और 'आग गाडी' ने नवीनतम प्रयोगो की नीव डाली। सन् १९२५ से १९३५ के बीच गुजराती अव्यावसायिक रगमच पर चन्द्रवदन मेहता का असाधारण व्यक्तित्व छाया हुआ रहा। परन्तु दु ख के साथ यह कहना पडता है कि उनकी प्रवृत्तियाँ व्यक्तिपरक ही बनी रही। उन्होने किसी ऐसी 'नाटक मण्डली' का निर्माण नही किया जो 'नये रगमच' को सदा के लिए स्थायित्व प्रदान करती।

सन् १९३७ मे सर्वप्रथम अहमदाबाद मे सुप्रसिद्ध मराठी नाटककार मामा वरेरकर की प्रेरणा से 'रग मडल' नामक अव्यावसायिक नाट्य सस्था की स्थापना हुई जिसे गुजरात के अच्छे कलाकारो का सहयोग प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् बम्बई, सूरत, बडोदा, राजकोट आदि नगरो मे शौकिया नाटक मण्डलियाँ खुली जिनमे से 'दर्पण', 'दर्शन', 'कलाक्षेत्र', 'भारतीय कला केन्द्र', 'नट-मण्डल' आदि उल्लेखनीय हैं। इन मण्डलियो मे से आज कई बन्द हो गई हैं। इन दिनो कुछ ही जीवित हैं।

हिन्दी-गुजराती का यह 'नया रगमच' अनेकाकी या एकाकी नाटक खेलता है। रगमचीय प्रसाधनो के उपयोग मे आज अधिक-स-अधिक यथार्थता एव स्वाभाविकता के निर्वाह का ध्यान रखा जाता है। नाटक की भाँति आज 'रगमच' जीवन के अधिक

निकट है। अव्यावसायिक नाटक मण्डलियों को अब अनेक उत्तम लेखकों और कलाकारों का सहयोग प्राप्त होता जा रहा है पर आर्थिक संकट, सहयोग और संगठन का अभाव, पारस्परिक ईर्षा और कार्यनिष्ठा की कमी के कारण अव्यावसायिक रंगमंचीय प्रवृत्ति पनपती नहीं है।

अन्त में दोनों आलोच्य भाषाओं के क्षेत्रों से सम्बन्धित इण्डियन नेशनल थियेटर (Indian National Theatre) और भारतीय जन नाट्य संघ (इप्टा) का उल्लेख यहाँ आवश्यक है जिनके सद्प्रयत्नों ने 'नये रंगमंच' की नींव को मजबूत बनाया और रंगमंच की टेकनीक में भी नयी परम्पराएँ शुरू की। आज ये संस्थाएँ भी अधिक सक्रिय नहीं हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने 'राष्ट्रीय रंगमंच' की कल्पना को साकार करने के लिए 'संगीत-नाटक अकादमी' की स्थापना की है और राज्य सरकारों ने भी जन-मनोरंजन एवं रंगदेवता की प्रतिष्ठा के हेतु इसी प्रकार के सद्प्रयत्न प्रारम्भ किये हैं। भविष्य उज्ज्वल है।

उपसंहार

हिन्दी और गुजराती के समस्त नाट्य साहित्य के पुरोगामी तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् अब यह सरलता से कहा जा सकता है कि दोनो भाषा-क्षेत्रो की सम्पूर्ण चिन्ताराशि, अनुभूति-परम्परा और सवेदनशीलता मे व्यापक साम्य है। इसी प्रकार आलोच्य नाटको के तत्त्वो, अभिव्यजना पद्धतियो, विकास परम्पराओ और बाह्यान्तर प्रवृत्तियो मे भी अद्भुत समानता है। जो अतर दृष्टिगत होता है वह वस्तुत अतर नही है, परन्तु दोनो भाषा-प्रदेशो की क्षेत्रीय विशिष्टता है। इस वैशिष्ट्य के भीतर निश्चय ही एक मूलभूत एकता है जिसे हम भारतीय साहित्य और सस्कृति की एकता कह सकते हैं। दोनो भाषाओ के नाट्य-साहित्य के प्रस्तुत अध्ययन से इस महान सत्य का पूर्ण साक्षात्कार हुआ है। यह इस परिश्रम की सबसे बडी उपलब्धि है।

यह सुविदित है कि भारत की सभी आर्य भाषाओ का सम्बन्ध वैदिक भाषा से लगाकर अपभ्र श भाषा तक अविच्छिन्न रूप से रहा है। पश्चिमी हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी का पश्चिमी भारत की 'अपभ्र श' भाषा से उद्भव असदिग्ध है। तेरहवी शती मे विरचित जैनाचार्यो के रास जिस लोकनाट्य परम्परा का निर्वाह करते हैं उसी के अवशिष्ट रूप गुजरात के रास-गरबे, राजस्थान के घुम्मर और अन्य रास तथा व्रजभूमि की रास लीलाएँ है। अपभ्रश कालीन लोकनाट्य परम्पराएँ आलोच्य भाषाओ की मूलवर्तिनी एकता का उद्घाटन करती है।

विभिन्न प्रकार के आधुनिक मनोरजन के साधनो के बावजूद भी आज भारत मे लोकनाट्य परम्परा के रासलीला, रामलीला, स्वाग, भवाई, कठपुतली, यात्रा, तमाशा, यक्षगान आदि कई जननाटक जीवित हैं और देश की कोटि-कोटि अशिक्षित और अर्द्धशिक्षित जनता का मनोरजन कर रहे हैं। उनके शिल्पविधान, सवाद-योजना, अभिनय शैली, रगमचीय प्रसाधन आदि मे विशेष अतर नही है। यह तुलनात्मक अध्ययन से सिद्ध होता है।

हिन्दी और गुजराती के साहित्यिक नाटको का व्यवस्थित प्रारम्भ १८५० ई० के अनतर हुआ है। इसके पूर्व हिन्दी मे जो नाटक उपलब्ध होते हैं वे व्रजभाषा नाटक है। रीवांनरेश विश्वनाथसिंह कृत 'आनन्द रघुनन्दन' 'गिरधरदास कृत नहुप' और गणेश कवि कृत 'प्रद्युम्न-विजय' यद्यपि उत्कृष्ट नाट्य कृतियाँ हैं किन्तु वे खडी बोली हिन्दी मे प्रणीत नही हैं। हिन्दी मे नवीन भाषा शैली के नाट्य स्रष्टा और प्रारम्भकर्त्ता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५) हैं। इसी प्रकार गुजराती मे कवि नर्मद (१८३३-१८८६) के युग से यह परम्परा शुरू होती है। दोनो युगनिर्माता समकालीन थे और दोनो ने अपनी-अपनी भाषाओ मे नये युग को जन्म दिया। तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा शैक्षणिक परिस्थितियाँ भी एक-सी ही थीं, जिन्होने नाट्य-परम्परा को अग्रगामी बनाने मे योग दिया। यहाँ पर विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि खडी बोली हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनूदित 'शकुन्तला' (१८६३) पौराणिक है और इसी प्रकार प्रथम गुजराती नाटक 'लक्ष्मी' (१८५१) भी पौराणिक है। 'लक्ष्मी' एक यूनानी नाटक का गुजराती रूपान्तर है जिसके रूपान्तरकार हैं कवि दलपतराम। यह एक अत्यन्त रोचक घटना है कि दोनो

भाषाओं के आदि नाटकों द्वारा हमारी नाट्य धाराओं का सम्बन्ध जगत् की दो महान नाट्य परम्पराओं (संस्कृत और यूनानी) से अनायास ही जुड़ जाता है।

हिन्दी और गुजराती के समस्त नाटकों का विषय की दृष्टि से अध्ययन करने पर हमें पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक राष्ट्रीय आदि विषयों पर रचनाएं उपलब्ध होती हैं।

पौराणिक नाटकों में भी तीन विभाग हैं। रामकथाश्रित, कृष्णकथाश्रित और अन्य कथाश्रित। भगवान राम के जीवन और कार्यों से सम्बन्धित दोनों भाषाओं में नाट्य-कृतियां प्राप्त होती हैं। परन्तु उत्तर भारत में 'रामलीला' का अतीव व्यापक प्रचार एवम् प्रसार होने के कारण हिन्दी नाटककारों का ध्यान रामकथा पर विशेषतः आकृष्ट हुआ है। फलतः हिन्दी में इस विषय के नाटक अधिक संख्या में उपलब्ध होते हैं। गुजराती में रामकथाश्रित पौराणिक नाटकों की संख्या अत्यल्प है।

दोनों भाषाओं के आद्य नाटककारों—हिन्दी के भारतेन्दुबाबू हरिश्चन्द्र और गुजराती के दीवान बहादुर रणछोड भाई उदयराम—ने कृष्णचरित्र पर नाट्य कृतियों का प्रणयन किया है। भारतेन्दुबाबू ने 'चन्द्रावली' की रचना और रणछोड भाई ने 'बाणासुर मद मर्दन' नाटक लिखा। इन दोनों कृतियों में विषय-वस्तु एवम् रचना विधान की दृष्टि से अधिक समानता नहीं है। 'चन्द्रावली' में जिस उच्चकोटि के काव्य सौन्दर्य, उदात्त प्रणय भावना, सम्यक् रसपरिपाक आदि के दर्शन होते हैं उनका 'बाणासुर मद मर्दन' में अभाव है। 'बाणासुर मद मर्दन' में रणछोड भाई की कारयित्रि प्रतिभा का सम्यक् उन्मेष नहीं हो पाया है। वैसे भी गुजराती में कृष्णकथा सम्बन्धी नाटकों की संख्या अपेक्षाकृत कम है और इस धारा के जो भी गुजराती नाटक उपलब्ध होते हैं वे सामान्य स्तर के ही हैं। हिन्दी में वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण, नाट्यशिल्प, अभिनेयता आदि की दृष्टि से इस धारा के नाटक—'चन्द्रावली' और 'कृष्णार्जुन युद्ध' श्रेष्ठ हैं।

भारत की अधिकांश भाषाओं में सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की जीवनकथा पर आधारित नाटक पाये जाते हैं। हरिश्चन्द्र की सत्यप्रियता, कर्तव्य परायणता तथा सच्चरित्रता ने एक साथ अनेक भारतीय नाट्यकारों को अपनी ओर खींचा और इसीलिए वे रूपक रचना की ओर प्रवृत्त हुए। गुजराती में रणछोड भाई उदयराम ने १८७१ में, बंगला में मनमोहन वसु ने १८७४ में, हिन्दी में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने १८७५ में, मराठी में अण्णा साहब किर्लोस्कर ने १८८० में और तेलुगु में वीरेशलिंगम् ने १८८०-९४ में राजा हरिश्चन्द्र पर नाट्य रचना की। यह साम्य भारतीय आदर्श साधना की एकरूपता एवम् एकवाक्यता का परिचय देता है। रणछोड भाई का 'हरिश्चन्द्र' नाटक अभिनय के सर्व तत्त्वों से विभूषित है। इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि उसके ११०० रंगमंचीय प्रयोग हुए और उसे असाधारण लोकप्रियता प्राप्त हुई। भारतेन्दु का 'सत्य हरिश्चन्द्र' उत्कृष्ट नाटक है। हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं में अन्य कथाश्रित पौराणिक नाटकों की संख्या काफी बड़ी है। दोनों के विषयों में विपुल वैविध्य एवम् नावीन्य है। समस्त पौराणिक नाटकों पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि गुजराती में कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के पौराणिक नाटकों में उत्कृष्ट कोटि के नाटकीय गुणों का निर्वाह हुआ है। इस परम्परा में कवि नानालाल की 'डोलन शैली' भी अतुलनीय है। यहां पर यह भी उल्लेख्य है कि धर्मवीर भारती का गीतिनाट्य 'अंधायुग' शैली, शिल्प, प्रतीक-योजना आदि

की दृष्टि से अन्यतम है।

हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओं के पौराणिक नाटको मे मूलवर्ती सांस्कृतिक चेतना एक है। दोनों के नाटक-रचयिताओं की प्रवृत्तियाँ भी समान ही हैं। विविध पौराणिक विषयो की सहायता से इन कृतिकारो ने या तो अतीत के उज्जवल आदर्शों का उद्घाटन कर उनकी पुनः प्रतिष्ठा करने का यत्न किया है या समकालीन सामाजिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय इत्यादि समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का उद्योग किया है।

पौराणिक नाटकों की भाँति हिन्दी-गुजराती के ऐतिहासिक नाटकों मे भी सांस्कृतिक चेतना तथा राष्ट्रीय भावना को उजागर किया गया है। दोनो भाषाओं के १६०० के परिवर्ती नाटको मे एक भी नाटक इतिहास के स्थूल तथ्यों का अकन नही करता। ऐतिहासिक इतिवृत्तो का आधार लेकर या तो भव्य भूतकालीन आदर्शों का निरूपण करना इन ऐतिहासिक नाटककारो का प्रयोजन है या इतिहास के पात्रों और प्रसगो की सहायता से आधुनिक विचारों और समस्याओं को प्रस्तुत करना आलोच्य नाटको का प्रधान उद्देश्य है। हिन्दी मे जयशंकर प्रसाद के और गुजराती मे नानालाल के ऐतिहासिक नाटक उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं।

महाराणा प्रताप और ध्रुवस्वामिनी देवी पर दोनो भषाओं मे नाटक उपलब्ध होते हैं। हिन्दी मे राधाकृष्णदास कृत 'महाराणा प्रतापसिह' (१८६७) और गुजराती मे गणपतराम राजाराम भट्ट कृत 'प्रताप नाटक' (१८८६) महाराणा प्रताप के त्याग एवम् बलिदान को प्रत्यक्ष करता है। यहाँ यह निर्देश करना रसप्रद होगा कि जब गणपतराम राजाराम अपने गुजराती नाटक के सर्जन के सिलसिले मे उदयपुर गये हुए थे, तो वहाँ उनकी भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से भेंट हुई थी और उन्होने अपना 'प्रताप नाटक' भारतेन्दु को सुनाया था। नाटक सम्बन्धी उनका अभिमत इस प्रबन्ध के सातवें अध्याय मे उद्धृत है। राधाकृष्णदास को 'महाराणा प्रताप सिंह' नाटक लिखने मे तीन-चार अन्य ऐतिहासिक ग्रंथो के साथ "कवि गणपतिराम राजाराम के गुजराती 'प्रताप नाटक' से बहुत कुछ सहायता मिली है।" इस बात को राधाकृष्णदास ने स्वय अपने नाटक के निवेदन मे सधन्यवाद स्वीकार किया है। भारतीय साहित्य मे आदान-प्रदान की परम्परा सदैव चली आ रही है और विभिन्न प्रदेशो के साहित्यकार परस्पर एक-दूसरे की रचनाओं से प्रभावित एव प्रेरित होते रहे हैं और आवश्यतानुसार उनका उपयोग भी करते रहे है। यह तथ्य भी मूलत. भारतीय साहित्य की एकता का ही निर्देशक है।

विशाखदत्त प्रणीत 'देवी चन्द्रगुप्तम्' नाटक के कतिपय अशो की खोज ने एक साथ हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के मूर्द्धन्य नाटककारो को नाट्य-लेखन की ओर प्रवृत्त किया है। जयशकर प्रसाद ने सन् १६३२ मे 'ध्रुवस्वामिनी' और कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी ने सन् १६२६ मे 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' की सृष्टि की। प्रसाद ने विवाह, मोक्ष एव नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की समस्या को अपनी रचना मे उभारा है, जबकि मुशी जी ने अनमेल विवाह की समस्या को नाट्यात्मक रूप प्रदान किया है। दोनो नाटको मे दो तीन मुख्य पात्रों को छोड़कर शेष सभी पात्रों एव प्रसगो मे अधिक समानता नही है। पर दोनो महान स्रष्टा अपने-अपने प्रतिपाद्य उद्देश्यों मे पूर्णतः सफल हुए हैं और नाट्य-कला की दृष्टि से भी दोनों ने उत्कृष्ट कृतियाँ सर्जित की हैं।

हिन्दी का पहला ऐतिहासिक नाटक भारतेन्दु कृत 'नीलदेवी' (१८८१) है और गुज-

राती मे सर्वप्रथम ऐतिहासिक नाटक नर्मद कृत 'कृष्णाकुमारी' (१८६६) है। दुःखान्त नाटको की परपरा मे गुजराती मे उपर्युक्त 'कृष्णाकुमारी' और हिन्दी मे श्रीनिवासदास कृत 'रणधीर और प्रेम मोहिनी' सर्वप्रथम हैं। ये नाटक समानरूपेण शेक्सपीयर की 'ट्रेजेडी' से प्रभावित है।

हिन्दी और गुजराती दोनो के नाटको मे इतिहास का आधार लेकर राष्ट्रीयता, मानवता, देशप्रेम, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य इत्यादि उच्च भावनाओ को सम्यक-रूपेण उद्घाटित किया है। इसी के साथ राष्ट्रपिता महात्मा गाधी के आदर्शों को भी इतस्तत इन नाटको मे नाटकीय रूप दिया गया है, यथा-सत्य, अहिंसा, सर्वधर्म, समभाव नारी प्रतिष्ठा मानव-महिमा इत्यादि। कतिपय ऐतिहासिक नाटको मे समाज सुधार, नीति, चरित्र तथा जातीय पुनरुत्थान के स्थूल प्रचार की प्रवृत्ति भी दृष्टिगत होती है।

हिन्दी की अपेक्षा गुजराती मे ऐतिहासिक नाटको की सख्या अत्यल्प है। यद्यपि जयशकर प्रसाद की भाँति गुजराती मे इस धारा के उत्तम सास्कृतिक-ऐतिहासिक नाटको का प्रणयन कर किसी भी नाट्यकार ने अपनी उच्चकोटि की कारयित्री प्रतिभा का उन्मेश नही किया, फिर भी कन्हैयालाल मुन्शी का 'ध्रुवस्वामिनी' और रसिकलाल छोटेलाल पारिख का 'शर्विलक' ये दो नाटक वस्तु-विन्यास एव चरित्राकन की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं। इसी परम्परा मे जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' भी परिगणित होता है। नानालाल के ऐतिहासिक भाव-प्रधान नाटक अपनी विशिष्ट शैली एव शिल्प के कारण यहाँ उल्लेख्य हैं। कुल मिलाकर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दी और गुजराती के ऐतिहासिक नाटक हमारी राष्ट्रीयता के निर्वाहक हैं।

भारत रूढिवादी देश है। यहाँ के अधिकाश लोग प्राचीन परम्पराओं और मान्यताओ के पुजारी हैं। हमारे देश मे राजनैतिक प्रश्नो से अधिक जटिल सामाजिक प्रश्न हैं। हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओ के नाट्यकारो ने अपने नाटको द्वारा विभिन्न सामाजिक समस्याओ को प्रत्यक्ष किया है। भारतेन्दु-नर्मद-युगीन नाटको मे सुधारवादी स्थूल दृष्टिकोण की प्रमुखता रही है। बालविवाह, अनमेलविवाह, विधवा जीवन, विषम दाम्पत्य जीवन, अधविश्वास, मद्यपान, मासाहार इत्यादि सामाजिक त्रुटियो की ओर प्रारम्भिक युग के नाटककारो का ध्यान आकृष्ट हुआ है और उन्होने उनका निरूपण कर समाधान भी प्रस्तुत किया है। इस युग के प्रहसनो मे भी हास्य, व्यग्य एव कटाक्ष द्वारा समाज सुधार की भावना उभरती है।

प्रथम एव द्वितीय विश्वयुद्ध जनित भीषण आर्थिक सघर्षो और भ्रष्टाचारो के कारण मानव मूल्यो का जो विघटन हुआ है और पाशविक वृत्तियो को जो प्रबलता प्राप्त हुई है उससे व्यक्ति और समाज की विभिन्न समस्याओ ने अत्यधिक जटिल रूप धारण कर लिया है। उसी के परिणामस्वरूप नये-नये गूढ मनोवैज्ञानिक एव नैतिक प्रश्न उभरकर सामने आये हैं। बीसवी सदी के हिन्दी और गुजराती सामाजिक नाटक उन नये सर्वग्राही समस्यामूलक प्रश्नो का बडी ही ईमानदारी और सचाई से यथार्थवादी निरूपण करते हैं। हिन्दी मे लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, पृथ्वीनाथ शर्मा, उदयशकर भट्ट इत्यादि और गुजराती मे कन्हैयालाल मुन्शी, चन्द्रवदन मेहता, जयन्ति दलाल, नन्दकुमार पाठक इत्यादि के नाटक प्रेम, विवाह, कामवासना इत्यादि से विशेषत सम्बन्धित हैं। अन्य कई नाटककारो ने इन्ही समस्याओ को प्रधानता दी है। इब्सन, शॉ, गाल्सवर्दी आदि पाश्चात्य

है। व्यक्ति और समाज के सभी पहलू इनके परिवेश में आ जाते है। दोनो भाषाओं के किन्ही एकांकियो मे विभिन्न सामाजिक समस्याओ को उभारा गया है तो किन्ही मे स्त्री और पुरुष के यौन सम्बन्ध पर प्रकाश डाला गया है। कुछ एकांकीकार ऐसे हैं जो परम्परागत सामाजिक आदर्श उपस्थित करते हैं और कतिपय एकांकी-लेखक व्यक्ति की विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियो द्वारा सर्जित कुंठाओं और ग्रन्थियो को खोलने का प्रयत्न करते है। आधुनिक एकांकियो मे समाजगत परम्पराओं और प्रणालिकाओ पर व्यग्य एव कटाक्ष भी किये गये हैं और उसी के साथ प्रहसनात्मक शैली मे उनकी खिल्ली भी उडाई गई है। जयशकर प्रसाद कृत हिन्दी का सर्वप्रथम एकांकी 'एक घूँट' (१६२६) और बटुभाई उमरवाडिया कृत गुजराती का सर्वप्रथम एकांकी 'लोमहर्षिणी' (१६२२) दोनो प्रकारान्तर से विवाह की सामाजिक समस्या को ही उभारते हैं। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओं के एकांकियो मे सामाजिक दायित्व का पूर्णत निर्वाह हुआ है। उसी के साथ उनमे विषय की व्यापकता तथा शैली की विविधता भी परिलक्षित होती है।

हिन्दी और गुजराती के अधिकाश गीति नाटको मे पौराणिक प्रसगो का ही समावेश हुआ है। उनके पात्र भारतीय उदात्त भावनाओ के सदेशवाहक हैं। दोनों भाषाओं के गीति नाट्य प्रणेताओं मे आदर्शोद्घाटन की प्रवृत्ति समान रूप से दृष्टिगोचर होती है। 'अधायुग' एव 'विश्वामित्र' और दो भावनाट्य', भाषा, भाव तथा शैली की दृष्टि से हिन्दी के उत्कृष्ट गीति नाट्य हैं। गुजराती मे गीति नाट्य का शिल्प विधान अभी निखरा नही है।

हिन्दी म रगमचीय परम्परा के अभाव के कारण पारसी-गुजराती रगमच ही हिन्दी का रगमच माना जाता है। इसने सर्वप्रथम हिन्दी और गुजराती रगमच का रूप व्यवस्थित किया और शिष्ट मनोरजन के किसी अन्य साधन के अभाव मे काफी लम्बे अरसे तक (सन् १८७२ से १६३२ तक) सारे भारत मे जनता की नैसर्गिक मनोरजन क्षुधा को परितुष्ट किया। उधर लखनऊ की 'इन्दर सभा' (१८५३) ने भी बम्बई, गुजरात और महाराष्ट्र मे एक जमाने मे बहुत अधिक लोकप्रियता प्राप्त की थी। पारसी-गुजराती नाटय मडलियो का और 'इन्दर सभा' का रगमचीय स्तर अत्यन्त निम्न कोटि का अवश्य रहा। परन्तु यह स्मरणीय है कि उनके कारण ही गुजराती की रगमचीय परम्परा सुदृढ बनी और हिन्दी प्रदेशो मे शिष्ट रगमच की आवश्यकता की भावना तीव्रतर बनी। हिन्दी और गुजराती के रगमचीय लेखको, अभिनेताओ तथा अन्य छोटे-मोटे कलाकारो को एक-दूसरे के निकट सपर्क मे लाने का अवसर भी इसी रगमच ने दिया। वह रगमच प्रादेशिकता की सकीर्ण सीमाओं का उल्लघन कर अखिल भारतीय रगमच का रूप धारण कर चुका था। अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं के कारण वह क्षयग्रस्त हुआ। तदन्तर 'पृथ्वी थियेटर' के यशस्वी सचालक एव महान कलाकार पृथ्वीराज कपूर ने भी अखिल भारतीय 'राष्ट्रीय रगमच' खडा करने का भगीरथ प्रयत्न किया। परन्तु व भी अधिक सफल नही हो सके। यह परम सौभाग्य का विषय है कि पिछले कुछ वर्षों से समस्त भारत मे सभी का ध्यान रगमच की सास्कृतिक प्रवृत्ति के प्रति प्रबल रूप से आकृष्ट हुआ है। चारो और व्यावसायिक-अव्यवसायिक रगशालाएँ अस्तित्व मे आ रही है। केन्द्रीय एव राज्य सरकारें भी अपने अपने ढग से 'अकादमिया' स्थापित कर रगमच के पुनरुत्थान एव विकास के लिए प्रयत्नशील हैं। इस सामूहिक अनुष्ठान के फलस्वरूप 'राष्ट्रीय रगमच' जन्म लेकर भारत की मूलभूत एकता को अधिक सुदृढ बनायेगा, इसमे कोई सन्देह नही। भविष्य वस्तुत उज्ज्वल है।

परिशिष्ट

गुजराती नाटकों में 'हिन्दी' प्रयोग

(१)

बम्बई के रंगमंच पर सन् १८७१ ई० मे सबसे पहला जो हिन्दी-उर्दू नाटक खेला गया था वह था—'सोने के मूल की खुरशीद'। यह नाटक एदलजी जमशेदजी, खोरी के गुजराती नाटक 'सोनाना मुलनी खोरशेद' का बेरामजी फरदुनजी मर्जबान द्वारा किया गया अनुवाद है। 'विक्टोरिया नाटक कम्पनी' ने इसे सर्वप्रथम खेलकर हिन्दी-उर्दू रगमच की परम्परा का सूत्रपात किया। इसकी 'प्रस्तावना' लेखक की हिन्दी-हिन्दुस्तानी सम्बन्धी विचार-धारा पर अच्छा प्रकाश डालती हैं और उसी के साथ बम्बई के सर्वप्रथम रगमचीय हिन्दी-उर्दू नाटक की भाषा के स्वरूप को स्पष्ट करती है। अत. उसे यहाँ अविकल रूप से उद्धृत किया गया है।

'सोने के मूल की खुरशीद'
"जबाने हिन्दुस्थानी
वखते गुजराती।"

इस कीस्सेग्यानों की जवान मे येह कलमजन अपनी तरफ से जाहेर करता हुये के अव्वल इस खेलकु येक आशानाने जबाने गुजराती मे तसनीफ कीया था, उस परसे इस कमत्रीन ने थोडी आरायेश अउर तवदील के साथ हीन्दुस्थानी जवान मे तरजमा कीया हुये। सबब उसका येह हुये के इस शहर मे नाटक याने खेल बाजी का शउक व खाहेश रोज बरोज अफजुनी पकडता हुये। अउर हर कीसम के सैंकडो लोग बा शउक से देखनेकु जमा होते हुयें। इहाँ हर तहरेह की कउम बसती हुयें, मगर जो तमाशा कीया जाता हुये सो फक्त पारसी गुजराती जबान मे, तो येह जवान अक्सर ईंगरेजी मुसलमानो अउर हेनदुओकु समजना व हल होना मोशकेल हुये। उसलीये कइयेक साहेबो ने खाएश इस अमरीकी कीइके अगर कोई खेल हीन्दुस्तानी जबान मे लीखा जावे तो येहां के बाशीनदे हर कउम को मोआफेक आवे, कीयु के हीदी जवान सारे हिंद मे मुरव्वेज हुये। येह मसलहेत वदे कु भी पसद आइ अउर येह था के जवान हीन्दुस्थानी मे आजतक कोइ खेल याने नाटक लीखा गया देखने मे नही आया था। बलके हीदुस्तानीओ मे उसका वुजुद भी नही हुये। तो फेर इस खेलकु अपने होसले के मवाफेक सलीस अउर रोजमररे की हीन्दी जवान मे के पारसी व हेनदुओ को आसान होवे, अउर समज मे आवे, तजरमा कीया हुये, कीयु के सख्त व फारसी, अरब्बी आमीज इबारत समजना अकसर उनहोकु मोशकेल हुये।

य इस दानावोपर वारजेफ होके हीदुस्थानी इस कमत्रीन की जवान नही हुये बलके काएदा वगेरेकी खुव तालीम भी ली नही हुये···मगर मेहेज दोस्तो की खुशनुदी के लीये इस कमत्रीनने मुआफेक ताकत अपने के जबाने हीदी मे इसके नकल करने की कोशिश कीई हुये, तो इबारत वदी मे अउर कवायदे मे अलबता खामी अउर खता रही होगी, अउर सभेकु

आसान होवे वहसी सलीस इबारत लीखने के सबब से इबारत भी रगीन व सगीन हुइ हये। बाद इस खुलासे के इस कीससे अव्वर पढ़ने वालो की जाते आली से उम्मेद रखता हुं के कोइ साहेब इबारत और काएदे की नावाकेफी का एबगीर न होये बलके उससे दरगुजर करे।

— बेरामजी फरदुनजी मरजवान

(२)

"श्री वांकानेर आर्यहितवर्धक" नामक गुजराती नाटक कम्पनी के लिए गुजराती नाटककार श्री मवकलाल देवशकर रावल द्वारा प्रणीत एव प्रकाशित हिन्दी 'महाराणा गोपीचद' के कतिपय अश निम्नांकित हैं। यह नाटक मध्यभारत एव राजस्थान के नगरो मे कई बार उक्त कम्पनी द्वारा खेला गया था।

गद्य.— (देवो की सभा)

'धन्य हुय धन्य हुय गोपीचन्द हुय।

जालंधर, मछेद्र—कोन-कोंन मबहूर भगवत मवानी पति आदेश।

(३)

शकर—कल्यान बेटा गोपीचन्द तेरा कल्याण हो धन्य हुय तेरी धैर्यता को, क्यों जोगी जालधर और मछेन्द्र माया का प्रभाव कैसा हुय ? (शीर भुकाते हुय) शरमींदा मत हो मयने तुमको प्हेले सें कहा था की तुम माया से बचे हो इसे तुमारे पर मायापती की कृपा हुय पर उस बरन अहकार सें वो वात तुम्हारे ध्यान मे न आइ इसलिये वो साधुओ को असाधुता प्राप्त करने द्वारा अहकार नीकालने के लीये तुमको यह चमत्कार दीखाया हुय।

बन्ने—जो होना था सो हो गया अब क्षमा कीजिये और मायापती आपकी माया आपके पास रहने दीजिये हम उसको नमन करते हुय।

विश्नु—हाँ वत्सो। तुम्हारे योगीयो ने उसको दुरसें नमस्कार करना चाहिये की वा तुम्हारी पास न आय।

शकर—पर विश्नु नीच जीवो को अहकार होता है तब उसका नाश हुय मगर उत्तम जीवो को अहकार होता तब उसमे सें कोमला अमृत फल प्राप्त होता हुय इसलीये जालधर और मछेन्द्र को अहकार हुआ तब उसमे से नया योगी गोपीचन्द फल प्राप्त हुआ।

विश्नु—हाँ शीशुली मगर गोपीचन्द ने थोरी देर मे जालधर जी का उपदेश सुनकर बडा तीव्र वैराग प्राप्त कीया हुय, धन्य हुय वो गुरू और शिष्य दोनो को।

शकर—बेटा गोपीचन्द तु पूर्वजन्म मे बडा दीव्यशाली योगी था मगर राजकी लालसा सें लेन योग धारन कीया था इसें तु गोपीचन्द राजा हुआ। अब तेरी राज की वासना मीट गई जिससे तु जोगीराज हुआ बेटा हम तेरे पर बहोत प्रस न हुए हुय तेरी जो ईच्छा होवे सो मेरे पास वर माग ले।

जी ने तुजे अमर बनाया है; अब चौद भुवन मे विचरने की रजा हय। तेरा दील चाहे वहाँ मेरा ध्यान धर और हम आशीरवाद देते हय की तेरे जैसे योगीयो का सदा विजय हो विजय हो!!

आवृत्ति पहेली, —'महाराजा गोपीचन्द',
सन् १९१२, परदा दसवा
पृष्ठ ९१। देवो की सभा।

गाना

गोपीचन्द—मैनावती माता नीर देखुं मय तेरे नयन मे
मैनावती—गोपीचन्द लडका बादल बरसे रे कंचन महल मे
गोपीचन्द—क्यो माता तुं करे कल्पना नील की रहत उदास
जो कोउ कहेव जीभ कटावुं करुं दुश्मन को नाश रे मैना
मैनावती—ना बेटा मय करूं कल्पना ना मैं रहूं उदास
ऋतु बदल बादल चढ आयो अब बरखन की आश रे···गोपी
गोपीचन्द—नाही बीज या बादल देखुं नाही म्हेल मे पाय
तेरे मन चिंता कछु और हय वो ना दे बताय · मैना
मैनावती—सच कहुं ना सतचड़े और जुठ कहे पतजाय
नाव पडा दरीया के बीच में पवन से डोले खाय ··गोपी
गोपीचन्द—नाव पड़ा दरीया के बीच में उतारूं पैले पार
माता हुकुम होवे जो तेरा बजाउं मय नीर धार···मैना
मैनावती—मुजे भरोसा पुत्र तीहारा, तुं है आज्ञाकार
राज पाट स्वप्ने की माया जाती जम के द्वार
गोपीचन्द लड़का, जोगी हो जारे, तज दे राज को
गोपीचन्द—माजी राज करन दे, जोगी मत कर रे मा मैनावती
छोटी हय अब उम्मर मेरी, मय क्या जानु जोग
चरचा करे मुलक के राजा, हसे शहर के लोग···माजी
मैनावती—मेरा वचन फीरे नहीं पीछा, कह वचन तुं लाख
तेरी सुरत तेरे बाप जयसी, हुई अग्नि मे खाख · गोपी
गोपीचन्द—भुला पडया भवसागर मे री, जामे नीर अपार
अब घटगट मेरी नाव पुरानी, कैसे उतरो पार माजी
मैनावती—धरो ध्यान तुम गुरू का प्यारे, जुठा सब ससार
सत्य की नाव धरम का नेजा, ले हो जावो पार गोपी

—महाराजा गोपीचन्द',
प्र० आ०, १९१२, पृ० ७४

(३)

गुजराती रगमचीय नाटको मे अमानत कृत 'इन्दरसभा' के अनुकरण का एक उदाहरण—

वाले क्तल हो गए और ईस शाहनशाहत से वड़ी दुश्मनाइ रखने वाले राजपूत लोग बहुत करके आपका लहू मुगल सग मिलाके अपने अच्छे दोस्त व वड़े मददगार हुवे है। मगर मेवाड का प्रताप अब तक अपनी ज़ीद छोड़ता नही है।

खानखानान—बादशाह सलामत, आप सच कहते हो। मेवाड की जमीं में जैसे जवामर्द परविरदिगार ने पैदा किये वैसे सारी जहान में कोई भी जगे पैदा किये नहीं होंगे। राणासिंक ने आपके बडे बावा के संग जो जंग किया था वह बात तवारीख मे से आपके देखने मे आई होगी।

अकबर—अजी, तवारीख की बात दूर रखके चितूर के जग की बात ही करो। मोला बरस के पट्टे ने और जेमल ने जो किया है वो मेरे खयाल से अब तक खिसता नही है। हार जीत खुदा के अख्तियार में है। लेकिन ऐसे बहादुर सिपहसालार की वोर दूं की हार हुई वो हार मन समजो। जग मे बडी जवामर्दी करके जेर होना, मगर जान कुर्बान करके जन्नत में जाना हंमेशा की जीत है, यो मैं मानता हूं।

'प्रताप नाटक'
लेखक—गणपतराम राजाराम भट्ट
छट्ठी आवृत्ति, १९१७
पृष्ठ ३१-३२

(५)

गुजराती रंगमचीय नाटको मे हिन्दू-पात्रो द्वारा प्रयुक्त 'हिन्दी' का उदाहरण—

मच्छेन्द्रनाथ—(गोरखनाथ ने) गोरखा !

गोरखनाथ—आज्ञा गुरु ?

मच्छेन्द्रनाथ—यह भर्तृहरि का वैराग्य कैसा है ?

गोरखनाथ—गुरु महाराज, उसका दृढ वैराग्य है। चार साधन सयुक्त है, ज्ञान का अधिकारी है, कुछ थोरा बोत संसारी पवन होगा, मगर आगे गुरु समर्थ है।

मच्छेन्द्रनाथ—सच कहता है गोरखा, (पूछी भर्तृहरि ने) आज्ञा भर्तृहरि कर्ण मुद्रा मे मत्र दे दउं। भजन करो तुम अलख निरंजन ! यह द्रग अजन ! हे भव भजन ! पच विषय मन सकोचन ! ब्रह्माकारं वृत्ति भवमोचन ! देख बच्चा भर्तृहरि, यह मन्त्र मे अहर्निश अलख निरंजन का ध्यान लगाना और चित्त कु विषय मे कभी जाने नही देना, योगाभ्यास कर सदा वैराग्य मे दृष्टि और ब्रह्माकार वृत्ति रखना।

भर्तृहरि—'गुरु महाराज, वैराग्यमां विचार के ही रीते राखवो ?'

मच्छेन्द्रनाथ—देख बच्चा भर्तृहरि, यह जगत् का मायाइ पसार अनादि काल से चला आता है, सो सब बाजीगर के तन्त्र माफीक हे, यह द्दश्य पदार्थ जो कुछ तेरी नजरें पडता हे, सो सब नाशवान हे, और यह पचभुतन का देह क्षण भंगुर हे, बडा विकारवान है।"

"अस्ति जायते वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति।" यह स्थूल के विकार हे, उसका एक रंग नही रहता। क्षण-क्षण मे पलट जाता है। और मल, मूत्र, रक्त,

गजल

केशरवा—(इन्दरसमानी ढबनी)

जलती हे खावींद, मेरे दिल मे यह चिराक;
मैं तुमारी बेगम, उधर जा बनी नापाक।
तुरक घर मे मे वसी मेरा क्या हे तिरस्कार;
मेरी भेण हे बीमला, उन्नेदीया मुजे धिक्कार।
मैने कसम खाया उधर, तुझे दिल्ली बुलाउँ;
सची बेगम बादशाह की, म्लेच्छ पानी पाउँ।
अर्ज मेरी यह हे खावींद, उस्कु ईहीं बोलाओ,
आप उस्की साथ नीक्का, पढके इहीं बीठाओ।

औरगजेब (राग उपरनो)

मात फिकर हे रखो प्यारी, जोधपूर मे जाउँ,
नीक्का उसमे पढके, तेरी सग मे बिठाउँ।
तेरी लुंडी जो न करूँ तो, तेरी हे कसम,
उस बिना न पीछा आउँ, मुगल का तुखम।
कहे तो गांउ उन्का करूँ, जाकर जमीनदोसा,
बोल उससे थया मे ज्यादे, करूँ तें छोड रोश।
हिंदु काफर क्या ये करते, बिन समज बकवाद;
खबर में जा लाउँगा उस्का, रखतें प्यारी दाद।
तेरा दिलकुं दिलगीरी, सो मेरा दिल बेचेन,
खुश मझे मे रहे तुं प्यारी, रख तुं दिल मे चेन।

—राजसिंह अने विमल देवी नाटक,
ले० वाघजी आशाराम ओझा आवृत्ति-२, १८६२ पृष्ठ ५६-६०

(४)

गुजराती रगमचीय नाटको मे मुसलमान पात्रो के द्वारा प्रयुक्त 'हिन्दी' का उदाहरण—

अकबर—(सरदारो सामु जोइ) मेर बहादुर सरदारो! तुमारे कीय हुवे कामो से मैं बडा खुश हूँ। परवरदिगार की पनाह स दील्ही की शाहनशाहत के सामे सिर उठाने वाले निमकहराम सूबे सीधे दौर हो गए। आमदखान ने आमदजान को ऐब लगान का कसद किया, उससे वो हैवान की तरह मारा गया। खान जमान न हाथ से खाना धूल करके धूल मे मिलने की राह लीयी, उसमे वो धूल मे मिल गया, खुदा कीसी को भी भलाई और बुराई का नतीजा देन को देर करता नही है।

खानखानान—जहाँपनाह! सरदारो ने की हुई जवामर्दी आखर तलक बरकत देती नही है। तखनसीन मे भी कुछ तेज होवे तब की हुई बहादुरी का तेज बढता है। चितूर में कायर उदाराणा ने आपकी चडाई होने की बात सुनते ही चल खाई, फिर उनके सरदारो ने बहुत सी जवामर्दी की, मगर वो किस काम की?

अकबर—मेरे काबिल उमराव! खुदा की खेर से दील्ही की बादशाही से बेवफाई करने

वाले क्तल हो गए और ईस शाहनशाहत से बडी दुश्मनाइ रखने वाले राजपूत लोग बहुत करके आपका लहू मुगल सग मिलाके अपने अच्छे दोस्त व बडे मददगार हुवे हैं। मगर मेवाड का प्रताप अब तक अपनी झीद छोडता नही है।

खानखानान—बादशाह सलामत, आप सच कहते हो। मेवाड की जमी मे जैसे जवामर्द परिवरदिगार ने पैदा किये वैसे सारी जहान मे कोई भी जगे पैदा किये नही होंगे। राणासिंह ने आपके बडे बाबा के सग जो जग किया था वह बात तवारीख मे से आपके देखने मे आई होगी।

अकबर—अजी, तवारीख की बात दूर रखके चितूर के जग की बात ही करो। सोला बरस के पट्टे न और जेमल ने जो किया है वो मेरे खयाल से अब तक खिसता नही है। हार जीत खुदा के अख्तियार में है। लेकिन ऐसे बहादुर सिपहसालार की बोर दूँ की हार हुई वो हार मत समजो। जग मे बडी जवामर्दी करके जेर होना, मगर जान कुर्बान करके जन्नत मे जाना हमेशा की जीत है, यो मैं मानता हूं।

'प्रताप नाटक'
लेखक—गणपतराम राजाराम भट्ट
छट्ठी आवृत्ति, १६१७
पृष्ठ ३१-३२

(५)

गुजराती रगमचीय नाटको मे हिन्दू-पात्रो द्वारा प्रयुक्त 'हिन्दी' का उदाहरण—

मच्छेन्द्रनाथ—(गोरखनाथ ने) गोरखा!

गोरखनाथ—आज्ञा गुरु?

मच्छेन्द्रनाथ—यह भर्तृहरि का वैराग्य कैसा है?

गोरखनाथ—गुरु महाराज, उसका दृढ वैराग्य है। चार साधन सयुक्त है, ज्ञान का अधिकारी है, कुछ थोरा बोत ससारी पवन होगा, मगर आगे गुरु समर्थ है।

मच्छेन्द्रनाथ—सच कहता है गोरखा, (पुछी भर्तृहरि ने) आज्ञा भर्तृहरि कण मुद्रा मे मन दे दउं। भजन करो तुम अलख निरजन! यह द्रग अजन! ह भय भजन! पच विषय मन सकोचन! ब्रह्माकार वृत्ति भवमोचन! देख बच्चा भर्तृहरि, यह मन मे अहर्निश अलख निरजन का ध्यान लगाना और चित्त कु विषय म कभी जान नही देना, योगाभ्यास कर सदा वैराग्य म दृष्टि और ब्रह्माकार वृत्ति रखना।

भर्तृहरि—'गुरु महाराज, वैराग्यमा विचार के ही रीते राखवो?'

मच्छेन्द्रनाथ—देख बच्चा भर्तृहरि, यह जगत् का मायाइ पसार अनादि काल से चला आता है, सो सब बाजीगर के तन्त्र माफीक ह, यह दृश्य पदार्थ जो कुछ तेरी नजरें पडता हे, सो सब नाशवान हे, और यह पचभुतन का देह क्षण भगुर हे, बडा विकारवान है।"

"अस्ति जायते वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्येति।" यह स्थूल के विकार हे, उसका एक रग नही रहता। क्षण क्षण मे पलट जाता है। और मल, मूत्र, रक्त,

मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र, उसका यह बना हे, उसमे सार वस्तु कौन-सी हे उसका विचार करना। अपना मन कुं बहोत समझाना के हे मन! यह नाशवंत पदार्थ मे क्या आसक्ति करता है? यह शरीर शत सहस्त्र वर्ष रहा तो भी क्या? आखीर सब अनित्य है और यह पंच विषय के जो जो कार्य हे सो सब बड़े दुःख-दायी है।

—'भर्तृहरि' नाटक,
लेखक—बाघजी भाई आशाराम,
सातमी आवृत्ति
१६२३, पृष्ठ १६२

संदर्भ ग्रन्थ सूची

हिन्दी

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र—अनुवादक डॉ० नगेन्द्र
२. आंध्र हिन्दी रूपक—डॉ० पाण्डुरंगराव
३. आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०—१९००)—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
४. आधुनिक हिन्दी नाटक—डॉ० नगेन्द्र
५. आधुनिक साहित्य—आचार्य नंददुलारे वाजपेयी
६. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (१९००-१९२५)—डॉ० श्रीकृष्णलाल
७. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—श्री जयशंकर प्रसाद
८. गुजराती और ब्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० जगदीश गुप्त
९. ज्यादा अपनी कम परायी—श्री उपेन्द्रनाथ अश्क
१०. जायसी ग्रन्थावली—सं० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
११. द्विवेदी अभिनंदन ग्रन्थ—
१२. *नया साहित्य नये प्रश्न—आचार्य नंददुलारे वाजपेयी*
१३. नाटककार अश्क—सं० श्रीमती कौशल्या अश्क
१४. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा
१५. प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक—डॉ० जगदीश चन्द्र जोशी
१६. प्रसाद के तीन ऐतिहासिक नाटक—श्री राजेश्वर प्रसाद अर्गल
१७' पुरानी राजस्थानी—डॉ० एल० पी० तेस्सितोरी, अनु० डॉ० नामवर सिंह
१८. बेताब चरित—श्री नारायणप्रसाद 'बेताब'
१९. भारत का संविधान—१९५०
२०. भारतेन्दु नाट्य साहित्य—डॉ० वीरेन्द्र कुमार शुक्ल
२१. भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य—डॉ० गोपीनाथ तिवारी
२२. भारतेन्दु ग्रन्थावली—श्री ब्रजरत्नदास
२३. मुंशीजी *और उनकी प्रतिभा—श्री सीताराम* चतुर्वेदी
२४. मेरा नाटक काल—पं० राधेश्याम कथावाचक
२५. राजस्थानी भाषा—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी
२६. रूपक रहस्य—डॉ० श्यामसुन्दरदास
२७. लोकधर्मी नाट्य परम्परा—डॉ० श्याम परमार
२८. संस्कृत नाटककार—श्री कान्तिकुमार भरतिया
२९. संस्कृत साहित्य का इतिहास—डॉ० कीथ अनु० डॉ० मंगलदेव शास्त्री
३०. संकेत—सं० श्री उपेन्द्रनाथ अश्क
३१. साहित्य—श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

३२. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रंथ—स. डॉ० नगेन्द्र
३३. साहित्यालोचन—डॉ० श्यामसुन्दर दास
३४. हमारी नाट्य परम्परा—श्री श्रीकृष्णदास
३५. हरिश्चन्द्र—श्री बाबू शिवनन्दन सहाय
३६. हिन्दी साहित्य कोष—प्र० ज्ञान मंडल, वाराणसी
३७. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा
३८. हिन्दी साहित्य—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
३९. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
४०. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डॉ० सोमनाथ गुप्त
४१. हिन्दी नाटक—डॉ० बच्चन सिंह
४२. हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और समीक्षा—प्रो० रामगोपाल सिंह
४३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
४४. हिन्दी नाट्य विमर्श—बाबू गुलाबराय
४५. हिन्दी नाट्य साहित्य—बाबू ब्रजरत्नदास
४६. हिन्दी के पौराणिक नाटक—डॉ० देवर्षि सनाढ्य
४७. हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव—डॉ० श्रीपति शर्मा
४८. हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाटककार—डॉ० रामचरण महेन्द्र
४९. हिन्दी भाषा का इतिहास—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
५०. हिन्दी नाटकों का विकास—श्री शिवनाथ एम० ए०
५१. हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० वेदपाल खन्ना
५२. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
५३. हिन्दी एकांकी—प्रो० अमरनाथ गुप्त
५४. ,, —डॉ० सत्येन्द्र
५५. ,, : उद्भव और विकास—डॉ० रामचरण महेन्द्र

गुजराती

१. अखो : एक अध्ययन—श्री उमाशंकर जोशी
२. अभिरुचि—श्री उमाशंकर जोशी
३. अगियारमी (लाठीनी) परिषदनो अहेवाल
४. अभिनय कला—श्री नरसिंहराव भोलानाथ दिवेटिया
५. अभिनेय नाटको—डॉ० धीरूभाई ठाकुर
६. आलोचना—श्री रामनारायण वि० पाठक
७. एकांकी : स्वरूप अने साहित्य—श्री नन्दकुमार पाठक
८. कविकर्म (लेख)—श्री उमाशंकर जोशी
९. काव्य तत्त्व विचार—आचार्य आनन्दशंकर बापुभाई ध्रुव
१०. कुरुक्षेत्र—श्री नानालाल दलपतराम कवि
११. गंधाक्षत—श्री अनन्तराम रावल
१२. गुजरात : एक परिचय—कांग्रेस स्मृति ग्रंथ

१३. गुजराती साहित्य नी रूपरेखा—श्री विजयराम क० वैद्य
१४. गुजराती साहित्यनां वधु मार्गसूचक स्तम्भो—दि० ब० कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी
१५. गुजराती साहित्यनां स्वरूपो (पद्य विभाग)—प्रो० मजुलाल र० मजमुदार
१६. गुजरातीनां एकांकी—सं. श्री गुलाबदास ब्रोकर
१७. गुजराती नाट्य शताब्दी महोत्सव स्मारक ग्रंथ
१८. गुजराती साहित्य : मध्यकालीन—श्री अनन्तराम रावल
१९. जवनिका—श्री जयन्ति दलाल
२०. दि० ब० रणछोडभाई उदयराम शताब्दी स्मारक ग्रंथ
२१. नागरिक गद्यावली—श्री ढोलरराय माकड
२२. नाट्यशास्त्र अने आचार्य अभिनव गुप्ताचार्य—श्री के० का० शास्त्री
२३ परिषद् प्रमुखोना भाषणो—बीजो गुजराती साहित्य परिषद्
२४. प्रवेश को : गुच्छ १—प्रो० बलवतराय क० ठाकुर
२५. पारसी नाटक तख्तानी तवारीख—डॉ० धनजीभाई न० पटेल
२६. बाँध गठरिया भा० २—श्री चन्द्रवदन मेहता
२७ बिन धंधादारी रंगभूमिनो इतिहास—श्री धनसुखलाल मेहता
२८. भवाई संग्रह—श्री महीपतराम रूपराम नीलकण्ठ
२९. रंगभूमि परिषदनो हेवाल (१९३७)
३०. राईनो पर्वत (विवेचन अने विवरण)—श्री अनन्तराम रावल
३१. बसंत विलास—म० आचार्य कान्तिलाल ब० व्यास
३२. शैली अने स्वरूप—श्री उमाशंकर जोशी
३३. श्रेष्ठ नाटिकाओ सं० श्री चुनीलाल मडिया
३४. समसवेदन—श्री उमाशङ्कर जोशी
३५ साठीना साहित्यनुं दिग्दर्शन—श्री डालाभाई पीताम्बरदास देरासरी
३६. साहित्य विहार—श्री अनन्तराम रावल
३७. साहित्य प्रवेशिका—श्री हिम्मतलाल गणेशजी अजारिया
३८. साहित्य विमर्श—श्री रामनारायण वि० पाठक
३९. गुजराती साहित्य परिषदनी कार्यवही—(१९२९ ई० १९५७ सुदी)
४०. रंगभूमि परिषद : (१९३७-१९३९)

संस्कृत

१. अग्निपुराण
२. अभिनव भारती—अभिनव गुप्त कृत
३. अभिज्ञान शांकुतलम्—कालिदास
४. उत्तर रामचरितम्—भवभूति
५. ऋग्वेद
६. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति—वामन
७. काव्यालंकार—भामह
८. काव्यानुशासन—हेमचन्द्राचार्य विरचित

९. काव्य प्रकाश—मम्मट
१०. दशरूपकम्—धनंजय
११. नाट्यदर्पण—रामचन्द्र गुणचन्द्र
१२. नाट्यशास्त्र—भरतमुनि
१३. महाभारत
१४. मालती माधव—भवभूति
१५. मालविकाग्नि मित्रम्—कालिदास
१६. रघुवंश—कालिदास
१७. रसगंगाधर—जगन्नाथ
१८. वक्रोक्ति जीवितम्—कुन्तक
१९. श्रीमद्भागवत
२०. सरस्वती कण्ठाभरणं—भोजदेव
२१. साहित्य दर्पण—विश्वनाथ

ENGLISH

1. Affinity of Indian Languages—Govt. of India Publication 1959.
2. Aspects of Modern Drama—F. W. Chandler
3. British Drama—A Nicoll
4. Contributions to the History of the Hindi Drama —Dr. Manmohan Ghosh.
5. Drama—Ashley Dukes.
6. European Theories of the Drama—Barrett. H. Clark.
7. History of Indian Literature—Weber.
8. History of Sanskrit Poetic—Dr. B. V. Kane.
9. Indian Drama—Government of India Publication.
10. Maxmuller's Version of the Rigveda. Vol. I.
11. Poetics—Aristotle.
12. The Art of the Dramatist—J. B. Priestly.
13. The Development of Dramatic Art—Donald clive.
14 The Drama and Dramatic Dance of Non-European Races —William Ridgeway.
15 The History of Sanskrit Literature. Vol. I. —Dr. S. N. Das Gupta & Dr. S. K. De.
16. The Indian Theatre—G. B. Gupta
17. The Indian Stage Vol. I.—Hemendra Nath Das Gupta.
18. The Indian Theater—Dr. R. K. Yagnik.
19. The Making of Litrature—R. A. Scott James.
20 The Grigin of Hindi Drama—Dr. M. M. Ghosh.

21. The Sanskrit Drama—Dr. A. B. Keith.
22. The Theatre of the Hindus—H. H. Wilson.
23. The Theory of Drama—A. Nicoll.
24. The Types of Sanskrit Drama—Dr. D. R. Mankad.
25. The Craftsmanship of One Art Play—Perceival wilds.
26. The Construction of one Art Play—Richard Walter Eaton.
27. Vasant Vilas—Editted by Prin. K. B. Vyas.
28. World Drama—A. Nicoll.

अन्य

मराठी : १. आत्मकथा—श्री बाल गांधर्व
२. मराठी रंगभूमि—श्री अप्पाजी विष्णु कुलकर्णी
३. लोक साहित्याची रूपरेखा—श्रीमती दुर्गाबाई भागवत

बंगला : १. बांगला साहित्येर कथा—श्री सुकुमार सेन

गुजराती : १. अप्रकाशित प्रबन्ध : भवाई—डॉ० सुधा देसाई
२. हस्तलिखित डायरी—श्री जयशंकर 'सुन्दरी'
३. हस्तलिखित पत्र—श्री मूलजीभाई पी० शाह

पत्र-पत्रिकाएँ

हिन्दी

१. आलोचना : त्रैमासिक—दिल्ली
२. 'इन्दु' पत्रिका—काशी
३. कादंबिनी—इलाहाबाद
४. जनपद : त्रैमासिक—काशी
५. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—काशी
६. हिन्दुस्तानी : त्रैमासिक—प्रयाग
७. राजस्थानी पत्रिका—उदयपुर
८. संस्कृति : त्रैमासिक—दिल्ली
९. साहित्य संदेश—आगरा
१०. साहित्यकार—इलाहाबाद
११. हिन्दी अनुशीलन—प्रयाग
१२. सारंग—दिल्ली
१३. निकष—इलाहाबाद
१४. हंस—बनारस
१५. प्रकाशन समाचार—दिल्ली

गुजराती

१. संस्कृति—अहमदाबाद
२. बुद्धिप्रकाश—अहमदाबाद
३ गुजराती नाट्य—बंबई
४. स्त्रीबोध—बंबई
५. गुजराती साहित्य परिषद पत्रिका : त्रैमासिक—बंबई
६. रंगभूमि—बंबई